आप चाहे सामाजिक कार्यकर्ता हों, शिक्षाविद् हों अथवा सामाजिक सरोकारों से जुड़े साधारण व्यक्ति, एन.जी.ओ. हों या पत्रकार - आप सबके लिए यह एक जरूरी किताब है। यहां आपको गरीबी पर वह संवाद मिलेगा जिसे देश की नौकरशाही कभी मानने को तैयार नहीं हो सकती।

तीसरी फसल नौकरशाही द्वारा पेश किए गए आंकड़ों के कुहासे को चीरती हुई भारतीय गांवों के लाखों-करोड़ों लोगों की व्यथा को सामने लाती है। अत्यंत सरल और सीधी सपाट भाषा में लिखी गई यह पुस्तक विषाद और व्यंग्य से भरी है और विशेषज्ञों की सुघड़ शब्दावली का मखौल उड़ाती है। इन सबके बावजूद 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के तत्कालीन स्थानीय संपादक डेरियल डेमोंट के शब्दों में कहें तो 'इसकी विषय वस्तु साधारण पाठक से लेकर अर्थशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों और योजना निर्माताओं सबके लिए समान रूप से महत्वपूर्ण है।' साईनाथ ने कुछ खास उद्देश्यों से भरपूर इस परियोजना पर जिस ढंग से काम किया और इसके लिए उन्होंने जो एक सर्वथा अनूठी और नई पद्धति विकसित की वह निश्चय ही लीक से हट कर है।
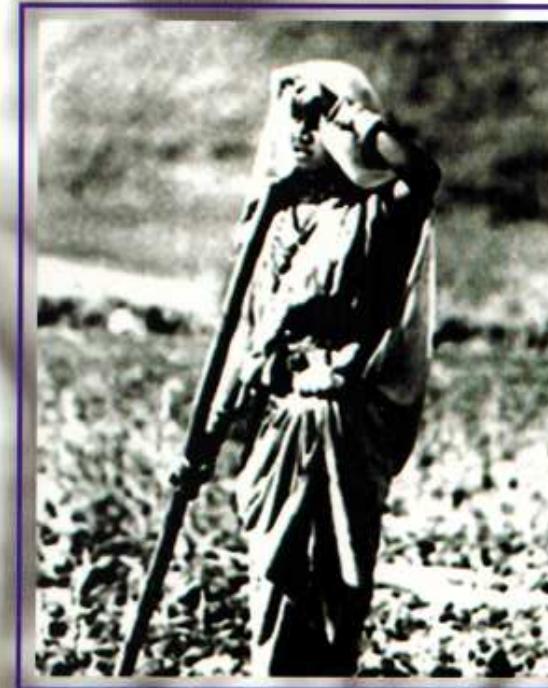
तीसरी फसल में दूरदराज के अंचलों की 68 रिपोर्टें, विषय से संबंधित 10 लेख और 29 तस्वीरें हैं। इसमें सूखे का चित्रण है, मौन भूख का विवरण है, अदृश्य सूदखोरी की कहानी है लेकिन साथ ही गरीबों ने अपने को जिंदा रखने की जो अजीबोगरीब रणनीति तैयार की है उसका भी अनूठा चित्रण है।

इसमें आपको बेहद वंचित लोगों की, शोषण के अविश्वसनीय तंत्र की और बड़े पैमाने पर सरकारी नीतियों की विफलता की दास्तान मिलेगी। आप पाएंगे कि किस तरह पर्यावरण का विनाश हो रहा है, शिक्षा व्यवस्था टूटती जा रही है और स्वास्थ्य प्रणाली चरमरा गई है फिर भी आपको ऐसे चेहरे दिखाई देंगे जो एक बेहतर जिंदगी के लिए भरपूर सम्मान के साथ संघर्ष कर रहे हैं।

तीसरी दुनिया
मूल्य 225 रुपये

पेंग्विन बुक्स द्वारा प्रकाशित 'एवरीबॉडी लव्ज़ ए गुड ड्राउट' का अनुवाद

तीसरी फसल

भारत के निर्धनतम ज़िलों की दास्तान

पी. साईनाथ

अनुवाद
आनंद स्वरूप वर्मा

अनेक राष्ट्रीय – अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित

तीसरी फसल

भारत के निर्धनतम जिलों की दास्तान

(एवरीबॉडी लव्ज़ ए गुड ड्राउट का अनुवाद)

तीसरी फसल

भारत के निर्धनतम जिलों की दास्तान

(एवरीबॉडी लव्ज़ ए गुड ड्राउट का अनुवाद)

पी. साईनाथ

अनुवाद
आनंद स्वरूप वर्मा

तीसरी दुनिया

पेंग्विन बुक्स इंडिया (प्रा.) लिमिटेड द्वारा
1996 में प्रकाशित
पी. साईनाथ की पुस्तक
'एवरीबॉडी लव्ज़ ए गुड ड्राउट' का
हिन्दी अनुवाद

प्रथम हिंदी संस्करण : 2003

अनुवादः आनंद स्वरूप वर्मा

प्रकाशकः
तीसरी दुनिया
Q - 63, सेक्टर–12
नोएडा – 201 301

मुद्रकः
आइडियाज़ एण्ड इम्प्रैशंस
L 5A, शेख सराय, फेस II
नई दिल्ली–110017. दूरभाष : 29250204

मूल्यः 225 रुपये

आवरण सहित सभी चित्रों के छायाकार : पी. साईनाथ
आवरण सज्जा : अखिल श्रीवास्तव

'Teesari Fasal: Bharat ke Nirdhantam Zilon ki Dastaan'
Hindi translation of P. Sainath's Book 'Everybody Loves a Good Drought'

अप्पन के लिए

पी. साईनाथ

स्वतंत्र पत्रकार पी. साईनाथ इस पीढ़ी के उन गिने–चुने पत्रकारों में से हैं जिन्होंने गरीबी, शोषण, भुखमरी, समाज के दलित और उत्पीड़ित वर्ग पर होने वाले अत्याचार तथा नयी आर्थिक नीति, उदारीकरण एवं औद्योगीकरण के फलस्वरूप आम आदमी पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों को ही अपनी पत्रकारिता का विषय बनाया और हर तरह का जोखिम उठाते हुए इन मुद्दों पर लगातार लिखते रहे। अत्यंत विषम परिस्थितियों में उन्होंने देश के निर्धनतम गांवों की यात्रा की और अपनी रपटों के जरिए पाठकों को बताया कि विकास के नाम पर किस तरह नौकरशाही और गांव का एक सुविधासंपन्न वर्ग आपसी साठगांठ के जरिए जनता को दिनोंदिन कंगाल बनाता जा रहा है।

1957 में मद्रास में जन्मे साईनाथ ने दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त की और फिर लगभग दस वर्षों तक साप्ताहिक 'ब्लिट्ज' से जुड़े रहे। 1993 में उन्हें टाइम्स ऑफ इंडिया फेलोशिप प्राप्त हुई और इस फेलोशिप के अंतर्गत उन्होंने देश के 9 निर्धनतम जिलों की रिपोर्टिंग की जिनका संकलित रूप उनकी बहुचर्चित पुस्तक 'एवरीबॉडी लव्ज़ ए गुड ड्राउट' है। इस पुस्तक का अब तक अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है और ब्रिटेन, कनाडा तथा आस्ट्रेलिया सहित दुनिया के 30 विश्वविद्यालयों में पत्रकारिता के पाठ्यक्रम में इसे शामिल किया गया है।

पी. साईनाथ को यूरोपियन कमीशन के नटाली प्राइज तथा संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संगठन द्वारा विकास संबंधी विषयों पर लिखने के लिए प्रतिष्ठित बोएर्मा जर्नलिज्म प्राइज सहित अनेक पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है। उन्हें जवाहरलाल नेहरू फेलोशिप भी प्रदान किया गया।

पी. साईनाथ जनपक्षीय पत्रकारिता करने वालों के लिए एक अनुकरणीय और आदर्श उदाहरण हैं।

आनंद स्वरूप वर्मा

आनंद स्वरूप वर्मा पिछले लगभग तीस वर्षों से भारत सहित तीसरी दुनिया के देशों में चल रहे साम्राज्यवाद और सामंतवाद विरोधी आन्दोलनों पर निरंतर लिखते रहे हैं। जनपक्षीय पत्रकारिता और वैकल्पिक मीडिया विकसित करने के उद्देश्य से 1980 में उन्होंने 'समकालीन तीसरी दुनिया' का संपादन–प्रकाशन शुरू किया। 1991 में उनकी पुस्तक 'दक्षिण अफ्रीकाः गोरे आतंक के खिलाफ काली चेतना' प्रकाशित हुई और 1994 में उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के प्रथम जनतांत्रिक चुनाव की दैनिक 'जनसत्ता' में रिपोर्टिंग की। नेपाल की राजनीति के विभिन्न पहलुओं में उनकी गहन दिलचस्पी है और हाल में नेपाल के माओवादी आन्दोलन पर उनकी पुस्तक 'रोल्पा से डोल्पा तक' प्रकाशित हुई।

उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकों का अनुवाद किया है जिनमें मुख्य हैंः

आज का भारत (रजनी पामदत्त), भारत का स्वाधीनता संग्राम (ई. एम. एस. नंबूदिरिपाद), भारतीय जेलों में पांच साल (मेरी टाइलर), माओ त्सेतुंग का राजनीतिक दर्शन (मनोरंजन मोहंती), भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता (न्गुगी वा थ्योंगो), भारत में विदेशी निवेश (मैथ्यू कूरियन), औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति (न्गुगी वा थ्योंगो), भारत में बंधुआ मजदूर (महाश्वेता देवी), बिहार में नक्सलवाद (कल्याण मुखर्जी), भारत में बच्चे और राज्य–नीति (मायरन वीनर), अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस का इतिहास आदि।

अनुक्रम

भूमिका

यह पुस्तक मेरी उन अनेक रिपोर्टों पर आधारित है जो मैंने 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के लिए देश के सबसे गरीब जिलों से भेजी थीं। मुझे टाइम्स फैलोशिप प्रदान की गयी थी और इस सिलसिले में मई 1993 में मेरी उन जिलों की यात्राएं शुरू हुई। इस पुस्तक से संबंधित शोध कार्य के उद्देश्य से उन जिलों में से किसी एक में अंतिम बार मैं जून 1995 में गया। तब और अब की रिपोर्टें गांव में रहने वाले लोगों की जीवन स्थितियों के बारे में हैं।

इसके पीछे उद्देश्य यह था कि उन स्थितियों को *प्रक्रियाओं* के संदर्भ में देखा जाए। प्रायः गरीबी और वंचनाओं के बारे में इस तरह लिखा जाता है गोया ये *घटनाएं* हों। कहने का मतलब यह कि जब कोई आपदा पड़ती है या जब लोग मारे जाते हैं तभी इन पर निगाह जाती है। भुखमरी से होने वाली मौतों अथवा लगभग अकाल जैसी स्थितियों से भी कहीं बढ़–चढ़कर गरीबी की विकरालता है। इनमें से कुछ की विकरालता अलग–अलग क्षेत्रों, अलग–अलग समाजों, अलग–अलग संस्कृतियों के अनुसार घटती–बढ़ती रहती है। लेकिन इनके मूल में जो कारक हैं वे काफी हद तक एक जैसे हैं। इन कारकों में महज आय और कैलोरी ग्रहण करने की मात्रा ही शामिल नहीं है। इनके अलावा भूमि, स्वास्थ्य, शिक्षा, साक्षरता, बाल–मृत्युदर और आम तौर पर मृत्युदर जैसे भी अन्य कारक हैं। कर्ज, परिसंपत्तियां, सिंचाई, पेयजल, स्वच्छता और नौकरी आदि की स्थितियां भी अपनी–अपनी भूमिकाएं निभाती हैं।

हो सकता है कि आप अनिवार्य तौर पर 2400 या 2100 कैलोरी प्रतिदिन ग्रहण करें और फिर भी गरीब बने रहें। भारत की समस्याएं सोमालिया अथवा इथियोपिया जैसे संकटों से भिन्न है। यहां भूख का मामला कहीं ज्यादा जटिल है जबकि यह भी गरीबी का एक पहलू है। यहां भूख का स्तर अपेक्षाकृत काफी कम है, यह कम दिखाई देता है और ऐसी स्थिति नहीं है जिसे सोमालिया और इथियोपिया की तरह टेलीविजन पर लम्बे–चौड़े दृश्यों में दिखाया जा सके। ऐसी स्थिति में प्रक्रिया की रिपोर्टिंग और भी ज्यादा चुनौतीपूर्ण तथा महत्वपूर्ण हो जाती है। ऐसे अनेक हैं जो भुखमरी के शिकार नहीं हैं लेकिन जिन्हें बहुत कम

पोषण प्राप्त है। ऐसे बच्चे दिखाई देंगे जो अपनी जरूरत से बहुत कम खाना पाते हैं लेकिन ऊपरी तौर पर बिल्कुल सामान्य दिखाई देते हैं। फिर भी पोषण की मात्रा कम होने से मानसिक और शारीरिक विकास को आघात पहुंचता है जिसका प्रभाव उन्हें जीवन भर झेलना पड़ सकता है। अगर किसी व्यक्ति को नाजुक क्षणों में स्वास्थ्य की न्यूनतम सुविधा भी उपलब्ध नहीं है तो उसे निश्चय ही उसी विनाश का सामना करना पड़ सकता है जैसा किसी भूख से पीड़ित व्यक्ति को करना पड़ता है।

गांवों में रहने वाले लाखों करोड़ों गरीब लोगों को स्वास्थ्य और शिक्षा की कौन सी सुविधा उपलब्ध है? क्या वे उन्हीं अधिकारों और उपलब्धियों का लाभ उठा पाते हैं जो अन्य भारतीयों को सुलभ है? अगर ऐसा नहीं है तो वह कौन सी चीज है जो उन्हें ऐसा करने से रोकती है? गरीबी को पालने–पोसने और बनाए रखने में सहायक शोषण के विभिन्न रूपों पर प्रायः एक सरसरी निगाह डाल दी जाती है।

लगभग तीन वर्ष पूर्व योजना आयोग द्वारा गठित एक 'विशेषज्ञ समूह' ने 'गरीबों के अनुपात और उनकी संख्या का आकलन' शीर्षक अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस समूह में भारत के अनेक प्रमुख अर्थशास्त्री थे और इन्होंने गरीबी के आकलन के सिलसिले में आयोग द्वारा अपनाए जा रहे तरीकों में तब्दीली लाने की सिफारिश की थी। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में बताया था कि गरीबी रेखा से नीचे जिंदगी गुजारने वाले लोगों की संख्या 31 करोड़ 20 लाख है। कहा जा सकता है कि यह कुल आबादी का लगभग 39 प्रतिशत है। बाद में इस समूह के अलावा कराये गये एक अन्य सर्वेक्षण में बताया गया कि आधिकारिक तौर पर गरीबी रेखा से नीचे रहने वालों की संख्या 1993–94 में घट कर कुल आबादी में 19 प्रतिशत रह गयी। इस सत्य तक पहुंचने के लिए योजना आयोग ने आंशिक तौर पर गणना करने की उसी पुरानी पद्धति का सहारा लिया था जो बदनाम हो चुकी थी। इस प्रक्रिया में इसने खुद अपने ही विशेषज्ञ समूह के सुझावों को दरकिनार कर दिया।

मजे की बात यह है कि इसी भारत सरकार ने कोपेनहेगन में सामाजिक विकास से संबंधित विश्व सम्मेलन में एक अजीब सी बात कही और वह भी तब जब देश में गरीबी में आयी कमी की घोषणा किए नौ महीने से भी कम समय गुजरा था। इस सम्मेलन में इसने एक दस्तावेज प्रस्तुत किया जिसमें कहा गया था कि 39.9

प्रतिशत भारतीय गरीबी रेखा से नीचे जीवन बसर कर रहे हैं। दरअसल इसका मकसद दानदाताओं से पैसे उगाहना था। आप जितना ही गरीब होंगे, आपको उतना ही ज्यादा पैसा मिलेगा। बाद में अभी 300 दिन भी नहीं बीते थे कि इसने देश के अंदर फिर वही 19 प्रतिशत वाला अनुमान प्रस्तुत किया। (आधिकारिक गरीबी रेखा के रहस्यों को लेकर जो लोग किसी उलझन में हैं वे इस पुस्तक के अंत में परिशिष्ट–1 देख सकते हैं।)

उस बहस के महत्व को स्वीकार करते हुए मैंने उसके काफी अंश को इस पुस्तक में शामिल कर लिया है। इसके पीछे मेरा उद्देश्य संख्या पर नहीं बल्कि लोगों पर ध्यान केन्द्रित करना था। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि दोनों के बीच कोई संबंध नहीं है। इस पुस्तक में जिन लोगों का उल्लेख किया गया है वे अन्य अनेक जिलों में रह रहे लाखों–करोड़ों अन्य भारतीयों की तरह हैं। (भारत में रहने वाले गरीबों में से लगभग 40 प्रतिशत भूमिहीन खेतिहर मजदूर हैं। अन्य 45 प्रतिशत छोटे या सीमांत किसान हैं। शेष 7.5 प्रतिशत ग्रामीण शिल्पी हैं। 'अन्य' से बाकी आबादी का हिस्सा बनता है। जिन जिलों की मैंने यात्रा की उनमें से अधिकांश लोग पहले दोनों समूहों के अंतर्गत आते हैं।)

स्वामी विवेकानंद ने एक बार भारतीय अभिजात वर्ग के उस कौशल की चर्चा की थी जिसके अंतर्गत वे घंटों तक इस बात पर बहस कर सकते थे कि पानी के गिलास को बायें हाथ से पकड़ना चाहिए या दायें हाथ से। मैं इस प्रवृत्ति से बचना चाहता था। इसीलिए मेरा पूरा ध्यान लोगों पर और उनकी समस्याओं पर केन्द्रित रहा।

अधिकांशतः मैंने इन जिलों का उस समय दौरा किया जब खेती का मौसम नहीं था। मेरे दिमाग में प्रायः यह सवाल उठा करता था कि उन 200–240 दिनों में गांव के गरीब क्या करते हैं जब इलाके में खेतीबारी नहीं होती है? वे किस तरह अपनी जिन्दगी गुजारते हैं? जिन्दा रहने का उनके पास कौन सा तरीका है? इस दौरान उन्हें किस तरह का काम मिलता है?

इन सवालों के जवाबों ने मुझे उन दस जिलों से भी आगे जाने को प्रेरित किया जिन्हें मैंने शुरू में अध्ययन का विषय तय किया था। इन इलाकों में से अधिकांश में आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा फसल कटने के साथ ही किसी दूसरे इलाके में चला जाता था। प्रायः वे अपने साथ अपने परिवार के सदस्यों को भी ले जाते

थे। इसलिए मैंने पहले से निर्धारित जिलों के अलावा उन जिलों की भी यात्राएं की जहां ये प्रवासी मजदूर जाकर रह रहे थे। यात्रा की समाप्ति पर मैंने पाया कि मैं देश के सात राज्यों में लगभग 80 हजार किलोमीटर घूम चुका था। इस पुस्तक में जो 68 रिपोर्टें हैं वे अधिकांशतः उन आठ जिलों से ही संबंधित हैं जिन पर मैंने खुद को केन्द्रित किया था। ये जिले हैं तमिलनाडु में रामनाद और पुडुकोट्टई, बिहार में गोड्डा और पलामू, उड़ीसा में मलकानगिरी और नवापाडा तथा मध्य प्रदेश में सरगुजा और झाबुआ। पुराने कोरापुट और कालाहांडी की भी कुछ रिपोर्टें हैं और ये दोनों जिले उड़ीसा में है। (उत्तर प्रदेश में मैंने दो जिलों में काम करना तय किया था लेकिन वह काम पूरा नहीं कर सका।)

इस परियोजना के शुरू के सवा साल के दौरान प्रत्येक जिलों के गांवों में मैंने लगभग एक महीने का समय बिताया। कुछ मामलों में मैं एकाधिक बार उन्हीं जिलों में वापस आया। पुस्तक के अंत में एक परिशिष्ट दिया गया है जिसमें उन स्थानों के कुछ बुनियादी आंकड़े शामिल किये गये हैं जिनकी मैंने यात्रा की थी और यह बताया गया है कि उन स्थानों में मैं किस समय गया।

जिलों का चयन करते समय मैंने इस बात को आधार बनाया था : 1992 में आधिकारिक गरीबी रेखा के नीचे रहने वाले लोगों का अलग–अलग राज्यों के हिसाब से जो प्रतिशत निकाला गया था वह अब मेरे लिए कोई *प्रस्थान बिन्दु* नहीं रह गया था। उस सूची में सबसे बुरी हालत में पांच राज्य थे। नीचे से अगर देखें तो इनका क्रम इस प्रकार था–उड़ीसा, बिहार, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और तमिलनाडु। प्रत्येक राज्य में सबसे बुरी हालत वाले दो जिलों का चयन करना कोई कठिन काम नहीं था। आम तौर पर सरकारी तथा स्वतंत्र विशेषज्ञ दोनों इस बात पर सहमत थे कि सबसे बुरी हालत में रहने वाले कौन से जिले हैं। अपने चयन को और पुख्ता करने के लिए मैंने इन जिलों के बीस से भी ज्यादा संकेतकों की जांच की जिनमें बाल मृत्युदर से लेकर सिंचाई सुविधा तक शामिल हैं।

इस पुस्तक में संकलित रिपोर्टों में से अधिकांश रिपोर्टें इन जिलों की यात्राओं के दौरान *टाइम्स ऑफ इंडिया* में सबसे पहले प्रकाशित हुई। आम तौर पर ये रिपोर्टें लगभग 800 शब्दों की थीं। यहां मैंने अपनी डायरी और टेप का सहारा लेकर तथा यात्रा के दूसरे दौर के अनुभवों को शामिल करते हुए रिपोर्टों को अंतिम रूप दिया है। कुछ मामलों में मैंने बाद की घटनाओं को भी 'पुनश्च' के अंतर्गत शामिल किया है।

मैंने शुरू में इस पुस्तक को पारंपरिक विषयों के अनुसार अलग–अलग हिस्सों में बांटने की कोशिश की : जमीन, पानी, जंगल, जनजातियां, दलित, महिलाएं, विकास आदि–आदि। लेकिन ऐसा नहीं हो सका। लगभग सभी रिपोर्टों में इनमें से कुछ अथवा अधिकांश चीजें शामिल थीं। आप किस तरह भूमि से संबंधित मसलों का कोई अलग हिस्सा तैयार कर सकते हैं जबकि यह मसला 40 रिपोर्टों में शामिल हो? इसलिए इसकी बजाय स्वास्थ्य और शिक्षा पर अलग खण्ड तैयार किये गये। इसी प्रकार जिन्दगी जीने की रणनीति पर। सूदखोरी और ग्रामीण ऋण व्यवस्था तथा अपराध पर। सूखे पर। विस्थापन पर। गांव के चरित्र पर। और इस मुद्दे पर कि इन स्थानों में गरीब लोग किस तरह गरीबी और उत्पीड़न के खिलाफ संघर्ष कर रहे हैं। ऐसा करते समय भी एक–दूसरे के क्षेत्र में विषयों के प्रवेश के पहुंचने के खतरे से बचना मुश्किल था।

यह रिपोर्टें गांव या जिले पर ही केन्द्रित हैं। बावजूद इसके इन रिपोर्टों में जिन मुद्दों पर विचार किया गया है वे राष्ट्रीय स्तर के हैं। इसीलिए कुछ हिस्सों की शुरुआत राष्ट्रीय परिदृश्य पर एक संक्षिप्त टिप्पणी के प्रयास के साथ हुई है। मिसाल के तौर पर स्वास्थ्य से संबंधित खण्ड में विभिन्न गांवों की तीन रिपोर्टें हैं। लेकिन अगर आपको इनके संदर्भों की जानकारी चाहिए तो इन रिपोर्टों से पहले दिये गये लेख को आप देख सकते हैं। इसमें भारत में जन स्वास्थ्य से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण जानकारी और आंकड़े मिल जाएंगे। यही बात कुछ अन्य हिस्सों पर भी लागू है।

इस पुस्तक में कोई पाद–टिप्पणी नहीं है। इसकी जरूरत ही नहीं थी। जो भी रिपोर्ट प्रकाशित हुई है उसके स्रोत उन्हीं रिपोर्टों में शामिल हैं। जहां तक प्रत्येक खण्ड में छपे लेखों का सवाल है, आंकड़ों से संबंधित सभी स्रोतों का उल्लेख विस्तार के साथ पुस्तक के अंत में दिया गया है। अगर कोई उन्हें देखना चाहता है तो बिना किसी कठिनाई के देख सकता है।

इस पुस्तक में जिन लोगों की चर्चा है वे भारतीय समाज के एक विशाल हिस्से का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह हिस्सा उन दस प्रतिशत लोगों से, जो उनकी जिन्दगी चलाते हैं, कई–कई गुणा अधिक है। लेकिन यह ऐसा हिस्सा है जो अभिजात वर्ग की निगाहों से ओझल रहता है। उस प्रेस और मीडिया की निगाहों से भी वह परे रहता है जो उन्हें जोड़ने में प्रायः विफल साबित हुए हैं।

वही
रफ़्तार बेढंगी ...

बेतुकेपन की एक दास्तान

आए थे नस्ल सुधारने पर...

नवापाडा, (उड़ीसा) : मंगल सुनानी मन ही मन रोमांचित हो रहा था। सरकार उसे एक ऐसी चमत्कारी गाय देने जा रही थी जिससे उसकी गरीबी काफी कम हो जाएगी। इस गाय को जर्सी सांड़ के वीर्य से गर्भवती किया जाएगा जिसे पुणे तथा और जगहों से मंगाया गया है। फिर तो देखते ही देखते कुछ ही सालों में वह ढेर सारी दुधारी गायों और बैलों का मालिक बन जाएगा।

कुछ समय बाद उलवा गांव का यह हरिजन सुनानी सरकार की कृपा से और गद्गद् हो गया। सरकार ने मुफ्त में उसे एक एकड़ जमीन दे दी। इस जमीन पर उसे सुबाबुल के पेड़ लगाने थे ताकि उस गाय के लिए चारे का इंतजाम हो सके जो उसे जल्दी ही मिलने वाली थी। उसके गांव में सरकार से इस तरह का लाभ पाने वाले अड़तीस लोग थे। कोमना ब्लाक के अन्य गांवों में ऐसे हजारों लोग थे। सरकार ने उन्हें दूध विकास की एक प्रमुख योजना के लिए चुना था जिसका लक्ष्य था गरीबी कम करना।

इन लोगों को जब पता चला कि मुफ्त मिली इस जमीन पर पेड़ लगाने के एवज में उन्हें सरकार द्वारा न्यूनतम मजदूरी भी दी जाएगी तो वे एकदम भाव विभोर हो गए।

"समन्विता" नामक यह परियोजना 1978 के आसपास शुरू हुई थी। 80 के दशक के शुरू के वर्षों में यह पूरे जोर पर थी। पश्चिम उड़ीसा कृषिजीवी संघ के जगदीश प्रधान बताते हैं, "सभी लोग बड़े जोश के साथ इसमें जुटे थे।"

उन्होंने बताया कि 'इस परियोजना में पांच एजेंसियां शामिल थीं। इनमें भारतीय एग्रो इंडस्ट्रीज फाउंडेशन भी था जिसकी स्थापना प्रमुख उद्योग घराने मफतलाल ने की थी। इसके अलावा इसी घराने से संबद्ध एक गैर सरकारी संगठन (एन जी ओ) सतगुरू सेवा ट्रस्ट भी इस कार्यक्रम में शामिल था। स्टेट बैंक ऑफ इंडिया भी अपनी भूमिका निभा रहा था। इसके अलावा राज्य के पशुपालन और राजस्व विभागों ने भी अपनी अपनी जिम्मेदारियां संभाल ली थीं। सारे कार्यकलापों का गढ़ नवापाड़ा था जो अब कालाहांडी क्षेत्र का एक अलग जिला है।

इस योजना से जुड़े हर व्यक्ति की तरह अधिकारीगण भी अपने उद्देश्य के प्रति समर्पित थे। इनका मकसद एक नये और बेहतर नस्ल के मवेशी तैयार करना था। किसी भी हालत में अशुद्धता या मिलावट को बर्दाश्त नहीं किया जाएगा। अब इस बात

की गारंटी कैसे दी जाए कि लोगों को जो गायें दी गई हैं उनका गर्भाधान जर्सी सांड़ के वीर्य से ही होगा ?

इस सवाल ने योजना से जुड़े लोगों को बेचैन कर दिया। अगर इन गायों ने स्थानीय सांड़ों के संपर्क से गर्भ धारण कर लिया तो क्या होगा ? इन्हें इससे बचाना होगा। तभी भावी नस्ल की शुद्धता को बचाया जा सकता है। फिर क्या था! कोमना के हाईस्कूल के प्रधानाचार्य बिश्वंभर जोशी बताते हैं कि स्थानीय सांड़ों को बधिया बनाने का अभियान बड़े पैमाने पर शुरू किया गया। वह बताते हैं कि 'इलाके के पशुधन निरीक्षक ने बड़ी निर्ममता के साथ कोमना, खरियार और खरियार रोड के सभी सांड़ों का बधियाकरण किया। इसके बाद जर्सी के शुक्राणु से गायों का कृत्रिम गर्भाधान किया गया।'

प्रधान जी बताते हैं कि इस काम पर दो करोड़ रुपये खर्च हुए और दो साल बाद 'समूचे इलाके में आठ बछड़े पैदा हुए। एक लीटर भी फालतू दूध नहीं हासिल हुआ। और सुबाबुल के पेड़ों का तो कहीं नाम–निशान भी नहीं था जबकि उन्हें हजारों की तादाद में लगाया गया था।'

दस साल बाद इसके नतीजे और भी चौंकाने वाले हैं : कोमना के आसपास के गांवों में एक भी सांड़ नहीं बचा है। बधिया बनाने का जो अभियान चलाया गया था उसने कम से कम इस क्षेत्र में स्थानीय 'खरियार सांड़ों' की नस्ल को ही खत्म कर दिया।

उलवा में फदकू टांडी ने मुझे बतलाया कि 'अब इस गांव में एक भी सांड़ नहीं बचा है।' समन्विता परियोजना का वह भी ''कृपापात्र'' था। वह बताता है, 'आठ बछिया पैदा हुई जो बहुत छोटी और बेकार थीं। कुछ तो मर गईं और कुछ को बेच दिया गया। वे बिल्कुल दूध नहीं देती थीं।'

समन्विता परियोजना का लाभ पाने वाले श्यामल कुलदीप ने भी बताया, ''मैंने और मेरी पत्नी ने किसी तरह छह बछड़ों को पाला। इनमें से चार तो एक ही दिन मर गए। आखिर में कोई जिंदा नहीं बचा।''

चमरु नियाल ने बताया, '' हमने जब उन लोगों को अपनी समस्या बतायी तो वे कहने लगे कि वे कुछ और इंजेक्शन देंगे जिससे जल्दी ही नये बछड़े पैदा होंगे।'' गांव वालों के अंदर शुरू में उत्सुकता पैदा होने की वजह यह थी कि इस परियोजना के ज़रिए उन्हें रोजगार मिलने वाला था। फुदकू टांडी का कहना है कि 'जो भी हमें रोजी–रोटी देता है वह हमारे लिए भगवान है।'

टांडी ने याद करते हुए बताया, ''भुवनेश्वर से एक सरकारी अफसर आया। उसने कहा कि अगर हमने दी गई जमीन पर सुबाबुल के पेड़ लगाए तो हमें रोज़गार के साथ–साथ गेहूं और चावल भी दिया जाएगा। शुरू में तो सुबाबुल के पौधे बड़ी तेजी से बढ़े। फिर उन्होंने कहा कि चारे के लिए इसे तुम लोग काट दो। हमने ऐसा ही

किया। लेकिन इसके बाद उनका बढ़ना बंद हो गया।'' (प्रधान जैसे जानकार लोगों का कहना है कि ये पौधे इस इलाके की मिट्टी के माफिक कतई नहीं हैं।)

गांव वालों के लिए सबसे ज़्यादा तकलीफ की बात यह है कि उनका रोजगार समाप्त हो गया। मंगल सुनानी बताता है कि 'सरकार ने जमीन वापस ले ली। एक दिन एक अफसर आया और उसने हमसे कहा कि हम जमीन खाली कर दें। अब 38 एकड़ जमीन परती पड़ी हुई है।' यही हालत उन सारे गांवों में भी है जहां इस परियोजना को लागू किया गया था।''

जबर्दस्त बर्बादी हुई। समूचे कालाहांडी क्षेत्र में परंपरागत तौर पर लोग बड़े पैमाने पर मवेशी पालते हैं। यहां मवेशियों की आबादी सबसे ज्यादा है। जिस साल खेती–बारी अच्छी नहीं होती, लोग मवेशियों को बेच कर अपना खर्च चलाते हैं। यही उनका एकमात्र सुरक्षा–बीमा है। इस परियोजना के फलस्वरूप मवेशियों की संख्या में आयी गिरावट ने उनकी कमजोर अर्थव्यवस्था को एकदम नष्ट कर दिया।

बड़े पैमाने पर किये गये बधियाकरण ने खरियार सांड़ों का सफाया कर दिया। 1980 में यानी इस परियोजना के पूरे निखार पर आने से पहले कालाहांडी जिला गजेटियर ने इस नस्लों की क्षमता पर टिप्पणी की थी। इसमें कहा गया था कि 'अगर कायदे से देखभाल की जाय तो इस नस्ल की गाय प्रतिदिन चार से पांच लीटर तक दूध दे सकती है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद ने शोध के लिए इस नस्ल का चयन किया।'

स्थानीय लोगों को हैरानी होती है कि खरियार सांड़ कहां गायब हो गए। उनकी समझ में यह भी नहीं आता कि आखिर क्या वजह है कि यहां के गायों और बैलों का कद बहुत छोटा होने लगा है। मवेशियों की संख्या में भी पहले जैसी बढ़ोत्तरी नहीं हो रही है। उनकी गुणवत्ता भी बुरी तरह प्रभावित हुई है।

विश्वंभर जोशी हंसते हुए बताते हैं कि, ''मेरे पास पांच गायें हैं और मैं रोज बाजार से दूधं खरीदता हूं। मुझे शक है कि समूचे ब्लाक में एक भी अच्छा सांड़ आज नहीं है। मैं ऐसे बहुत लोगों को जानता हूं जिनके यहां एक जमाने में काफी दूध पैदा होता था लेकिन आज वे बाजार से खरीद कर काम चलाते हैं।'' 1977-78 में कोमना और खरियार में डालडा के मुकाबले देशी घी सस्ता था। उस समय बाज़ार में डालडा की कीमत नौ रुपए प्रति किलोग्राम थी जबकि एक किलो देशी घी महज सात रुपये में ही मिल जाता था।

खरियार रोड के पशु सर्जन डाक्टर माहेश्वर सतपथी ने बताया कि पुरानी नस्ल के नमूने कालाहांडी से बाहर आज भी देखे जा सकते हैं। लेकिन निश्चय ही 'समग्र रुप से खरियार के मवेशियों की क्वालिटी में गिरावट आयी है।' परियोजना के शुरू होने से पहले वर्षों से उड़ीसा के विभिन्न हिस्सों के मवेशीपालक यहां आते थे और खरियार बैल खरीदते थे। वे सांड़ के रूप में बहुत लोकप्रिय थे और उनके बारे में यह

प्रचलित था कि उनसे अच्छी नस्ल पैदा होती है। अब उनका कहीं अता–पता नहीं है।

पश्चिम उड़ीसा कृषिजीवी संघ ने इस नुकसान का आकलन करने की कोशिश की। उनका अनुमान है कि अकेले कोमना ब्लॉक में पिछले दस–बारह वर्षों के दौरान प्रति वर्ष लगभग तीस लाख रुपये का नुकसान हुआ है। विश्वंभर जोशी का कहना है कि पशुधन के नुकसान से इस क्षेत्र से लोगों का पलायन और भी बढ़ा है।

यह भी एक अजीब विडंबना है। इस तरह की योजनाओं को लागू करने के पीछे एक उद्देश्य यह भी होता है कि इलाके से लोगों के पलायन को रोका जा सके। जब उन महीनों में, जिनमें खेती का काम नहीं होता, लोग बड़े पैमाने पर इलाके से बाहर चले जाते हैं तो किसी भी तरह का विकास कार्य चलाना मुश्किल हो जाता है। चूंकि उनके बच्चे भी उनके साथ चले जाते हैं इसलिए स्कूल खाली पड़े रहते हैं। स्थानीय योजनाओं के लिए जो नौकरियां पैदा की जाती हैं उसे लेने वाला कोई नहीं होता है। इसीलिए इस बात की जरूरत महसूस की गयी कि अकाल का मुकाबला करने के लिए लोगों को कोई उपाय दिया जाए और साथ ही उन महीनों में भी उनके पास आय का कोई साधन हो जब खेती नहीं होती है। ऐसी हालत में उन्हें इलाका छोड़कर जाने की जरूरत नहीं पड़ेगी। समन्विता परियोजना का उद्देश्य यही था लेकिन नतीजा एकदम उल्टा हुआ।

फिर क्या वजह है कि परियोजना शुरू होने से पहले ही इतनी बड़ी तादाद में किसान इसमें शामिल होने के लिए टूट पड़े ? दरअसल जीवन में पहली बार उनमें से कइयों को एक एकड़ जमीन मिल रही थी। पहले नवापाड़ा में कोई नौकरी नहीं थी। लेकिन अब नौकरी के भी अवसर पेश किए जा रहे थे। इसके अलावा पहली बार इस क्षेत्र में लोगों को सचमुच निर्धारित न्यूनतम दर पर मजदूरी दी जा रही थी और वह भी खुद अपनी जमीन पर काम करने के एवज में। इसलिए शुरू के दिनों में किसानों के बीच इस योजना में शामिल होने के लिए होड़ लग गयी। यह देखकर अधिकारियों को लगा कि उनका कार्यक्रम सचमुच बहुत सफल है। इससे उन्हें यह पता चला कि उनकी सोच सही है।

जगदीश प्रधान बताते हैं कि, "यह परियोजना भी उन अनेक परियोजनाओं में से एक थी जिससे इस इलाके में विनाश हुआ। जिनको "लक्ष्य" के रूप में चिन्हित किया गया उनसे किसी भी तरह का सलाह–मशविरा नहीं किया गया। यहां दुग्ध परियोजना की कोई मांग ही नहीं थी। अधिकारियों को यह महसूस नहीं हो सका कि लोगों की दिलचस्पी सुबाबुल के पेड़ों में नहीं बल्कि रोजगार पाने में थी। फिर भी इस तरह की गलतियां बार–बार की जाती हैं।"

जैसा कि उन्होंने बताया, सरकार में शामिल लोगों में से किसी ने भी परियोजना को लागू करने वाली एजेंसियों के दावों के बारे में कोई आलोचनात्मक

नजरिया नहीं अपनाया। किसी ने यह नहीं पूछा कि जिस जिले में अतिरिक्त मात्रा में दूध का उत्पादन हो रहा हो वहां दुग्ध परियोजना की जरूरत ही क्या है ? इससे भी ज्यादा हैरानी की बात तो यह है कि अधिकारियों में से न तो किसी को इस बात पर आश्चर्य हुआ और न किसी ने चिंता जतायी कि खरियार सांड़ कहां गायब हो गए।

गिनती के बचे खरियार सांड़ों में से एक। यह प्रजाति तमाम नेक इरादों के बावजूद लगभग लुप्त हो गयी।

इसके अलावा एक और सवाल है जो कभी किसी के दिमाग में नहीं आया है। सरकार ने किसानों को इसलिए जमीन दी थी ताकि वे अपने मवेशी के लिए चारा पैदा कर सकें। क्यों नहीं उन्हें इस बात के लिए जमीन दी जा रही है कि वे उस पर अपने लिए अनाज पैदा करें। शुरू के दिनों में योजना से लाभ पाने वाले कुछ व्यक्तियों ने ऐसा किया भी। उन्होंने दी गयी जमीन पर साग–सब्जी की खेती की। इससे विशेषज्ञ काफी नाराज हो गए और उन किसानों की खिंचाई की गयी। इस तरह के कामों से तो वह महान प्रयोग ही खतरे में पड़ जाएगा जिसका मकसद गरीबी कम करना है। अधिकारियों ने उन्हें आगाह किया कि न्यूनतम मजदूरी अनाज पैदा करने के लिए नहीं बल्कि चारा पैदा करने के लिए ही दी जाएगी। नतीजा क्या हुआ–न तो चारा पैदा हुआ और न अनाज। न तो मवेशी रहे और न जमीन।

जागृत श्रमिक संगठन नामक गैर सरकारी संगठन (एन.जी.ओ.) के प्रधान और घनश्याम हिटरिया खरियार सांड़ों की नस्ल को फिर से पैदा करने की परियोजना की रूपरेखा तैयार कर रहे हैं। वह भी तब हो सकता है अगर वे कहीं से खरियार सांड़ की नस्ल हासिल कर लें और कुछ चुने हुए गांवों में उन्हें बसा दें। वे इस विषय पर लोगों को शिक्षित भी करना चाहते हैं। अधिकारियों को शिक्षित करना भी कम जरूरी नहीं है। ऐसा क्यों ? क्योंकि, जैसा कि फुदकू टांडी ने मुझे बताया, "अफसर लोग भुवनेश्वर से आए थे और तीन साल के बाद उन्होंने समन्विता कार्यक्रम को बंद करने का ऐलान किया। उन्होंने कहा कि "अब हम लोग जा रहे हैं और इस कार्यक्रम को किसी और जगह लागू करेंगे।"

पुनश्च

समन्विता परियोजना अभी चल ही रही थी कि उसमें शामिल कुछ लोग देश के अन्य हिस्सों में भी अपने इस दृष्टिकोण को लागू करने में जी–जान से लगे थे। और वह भी काफी बड़े पैमाने पर। मिसाल के तौर पर भारतीय एग्रो इंडस्ट्रीज फाउंडेशन को देखें जिसका भारत के महालेखा परीक्षक 1983-84 की "टेस्ट ऑडिट" में विशेष उल्लेख है।

ये 'टेस्ट ऑडिट" समेकित ग्राम विकास कार्यक्रम के बारे में थी। इस रिपोर्ट में "अन्य उद्देश्यों के लिए कोष का विकेंद्रण" करने वाले मामलों को दर्जा किया गया था (अर्थात ऐसी योजनाएं जिनका संबंध समेकित ग्राम विकास कार्यक्रम से नहीं था।) उन संस्थाओं का जिक्र था जो 16 करोड़ रुपए से अधिक के खर्च के लिए जिम्मेदार थीं। इसमें से तीन करोड़ रुपया भारतीय एग्रो इंडस्ट्रीज फाउंडेशन को गया था। महालेखागार की रिपोर्ट में बताया गया था कि वह धन "उन 250 कृत्रिम गर्माधान केन्द्रों को खोलने के लिए व्यय किया गया जिन्होंने समुदाय के कमजोर वर्गों के लिए काम नहीं किया।" यह 1978-79 और 1980-81 की अवधि के लिए निर्धारित था।

इस तरह की कुछ और परियोजनाएं आज भी देश में चल रही हैं। कुछ मामलों में तो वही एजेंसियां इसमें मुख्य रूप से शामिल हैं जिनका संबंध खरियार में हुई दुर्घटना से रहा है।

मैं आखिरी बार मई–जून 1995 में नवापाड़ा गया। प्रधान और उनके दोस्तों ने इस विनाश के क्षेत्र से बाहर के इलाके से कुछ खरियार सांड़ों का जुगाड़ कर लिया था। इन गांवों में कुछ लोग ऐसे थे जो इन सांड़ों की देखभाल कर रहे थे। निश्चय ही यह एक अच्छी शुरुआत है लेकिन इस पर काफी काम करना है और इस पर धन भी काफी व्यय होगा।

रामदास कोरवा रोड जो कहीं नहीं जाती

वाडरोफनगर, सरगुजा (म.प्र.) : जो भी हो, रामदास कोरवा को यह जानकर बहुत खुशी नहीं हुई कि सरकार के लिए उसकी हैसियत 17.44 लाख रुपए के बराबर है। रचकेठा गांव के अपने घर में उसने मुझे बताया, "मुझे इस बात का तनिक भी गुमान नहीं था कि वे इतना ज्यादा पैसा खर्च कर मेरे नाम पर सड़क बना रहे हैं।" एक आदिवासी और उसके परिवार के नाम पर किसी सड़क का निर्माण? यह है वाडरोफनगर जिसे आमतौर पर सरगुजा जिले का सबसे पिछड़ा ब्लाक माना जाता है। 1993 के बाद के महीनों में अधिकारियों ने यहां रचकेठा गांव तक जाने के लिए तीन किलोमीटर लंबी सड़क बनवाने का फैसला किया।

उन्होंने यह आदिवासी विकास के नाम पर किया। जनवरी 1994 में रचकेठा के जंगलों के सिरे पर कोई एक बोर्ड लगाया गया जिस पर शान के साथ लिखा था–*"कोरवा विकास परियोजना–सड़क निर्माणः लंबाई 3 किमी.: अनुमानित लागत रु. 17.44 लाख"*।

भारत के सर्वाधिक गरीब जिलों में से एक सरगुजा में आदिवासियों की आबादी 55 प्रतिशत है। और इनमें से कोरवा और खासतौर से पहाड़ी कोरवा आदिवासियों की संख्या बेदह कम यानी पांच प्रतिशत है। कोरवा लोगों को (सीमा पार बिहार में भी वे यहां के मुकाबले थोड़ी संख्या में हैं) सरकार ने एक आदिम जनजाति की सूची में डाल रखा है। उनके विकास के लिए विशेष प्रयास जारी है। इस काम में प्रायः काफी धन खर्च किया जाता है। केंद्र की आर्थिक मदद से चलने वाली महज एक परियोजना पहाड़ी कोरवा परियोजना पर पांच वर्ष की अवधि के लिए 42 करोड़ रुपये निर्धारित किए गए हैं।

पहाड़ी कोरवा लोगों की संख्या तकरीबन 15,000 है और इनमें से सबसे ज्यादा तादाद में ये लोग सरगुजा में पाये जाते हैं। बावजूद इसके, राजनीतिक कारणों के चले परियोजना का मुख्य केंद्र रायगढ़ में रखा गया। पहाड़ी कोरवा परियोजना के अंतर्गत ही रामदास के नाम पर सड़क बनाने की बात उठी।

रचकेठा में पहाड़ी कोरवा मार्ग के निर्माण को लेकर बस एक छोटी सी समस्या थी। इस गांव में कोई पहाड़ी कोरवा है ही नहीं। हां, रामदास का परिवार एकमात्र अपवाद है।

एक स्थानीय एन.जी.ओ. कार्यकर्ता ने बताया, "चूंकि आदिवासी विकास के

नाम पर काफी पैसा आवंटित कर दिया जाता है इसलिए अनेक परियोजनाओं को जायज ठहराने के लिए यह दिखाया जाता है कि इनसे आदिवासियों को कितना लाभ मिलेगा। सरकार से पैसा जारी कराने का यही तरीका है। अगर इनसे उन्हें कोई लाभ नहीं मिलता और ये इनके लिए एकदम बेकार हों तो कोई फर्क नहीं पड़ता। खुद यहां पर भले ही आप स्वीमिंग पूल बनवाएं या बंगला–बस इसे आदिवासी विकास के नाम पर करिए।''

सरकार से पैसा जारी कराने के उत्साह में किसी ने यह पता लगाने की जरूरत ही नहीं महसूस की कि रचकेठा गांव में सचमुच कोई पहाड़ी कोरवा है भी या नहीं। रामदास के परिवार के अलावा कहीं पड़ोस में केवल दो और कोरवा परिवार रहते थे। लेकिन वे सड़क से कम से कम 25 किलोमीटर की दूरी पर थे।

रामदास का बेटा रामअवतार कोरवा बताता है कि यहां तो पहले से ही एक कच्ची सड़क थी। ''उन्होंने बस इस पर लाल मिट्टी डाल दी'' आज भी, 17.44 लाख रुपया खर्च करने के बाद भी यह सड़क पक्की नहीं है। ''छह मीटर चौड़ी सड़क को 4.5 मीटर करने में उन्हें जरूर कामयाबी मिल गई, और वह भी किस लागत पर ?'' एनजीओ कार्यकर्ता ने बताया।

रामदास का कहना है, ''किसी ने हमसे बात नहीं की, किसी अफसर ने एक बार भी हमारे यहां आने की जरूरत नहीं महसूस की। वे सीधे अम्बिकापुर (जिला मुख्यालय) से आते थे और फिर वापस चले जाते थे। लेकिन एक दिन मैंने गांव में उस बोर्ड के बारे में सुना और लोगों ने मजाकिया अंदाज में मुझसे कहा–यह तुम्हारी सड़क है।''

रामदास निरक्षर है इसलिए वह खुद उस बोर्ड को नहीं पढ़ सका। रामदास का कहना है कि सबसे बड़ा मजाक तो यह है कि उन्होंने इसे हमारे नाम पर बनाया पर यह मेरे घर से दो किलोमीटर पहले ही खत्म हो जाती है। वह आगे बताते हैं, ''गांव में सभी लोग इसकी चर्चा करने लगे। इसलिए दो महीने पहले उन्होंने वह बोर्ड हटा दिया जिस पर योजना की घोषणा थी।''

रामअवतार ने बताया, ''एक हफ्ते बाद उन लोगों ने दूसरा बोर्ड भी हटा दिया जिस पर पहाड़ी कोरवा मार्ग लिखा था' लेकिन इससे पहले ही भावी पीढ़ियों के लिए एक स्थानीय फोटोग्राफर ने पहले वाले बोर्ड की तस्वीर खींच ली थी। एनजीओ कार्यकर्ता ने बताया–चूंकि उन्होंने पहले कोई खोजबीन नहीं की इसलिए उनकी स्थिति बड़ी शर्मनाक हो गई थी। अगर उन्होंने खोजबीन किया होता तो उन्हें पता चल जाता कि रचकेठा गांव कोरवा का नहीं बल्कि गोंड लोगों की आबादी वाला गांव है। इन परियोजनाओं को उन्होंने कोरवा या किसी और के लिए नहीं बल्कि उस पैसे के लिए शुरू किया था जो वे सरकार से लाए थे।

उसकी बात में दम है। 1991 के उत्तरार्द्ध में किए गए एक सर्वेक्षण से पता

चलता है कि रामदास के परिवार को छोड़कर बाकी सभी 249 परिवार गोंड जनजाति के हैं। सरगुजा में सड़कों और विकास का मुद्दा एक संवेदनशील मुद्दा है। यहां तक कि जिला कलक्टर आर.के. गोयल सड़कों और संचार को 'हमारी नंबर एक समस्या' बताते हैं। जहां तक भौगोलिक क्षेत्र की बात है यह जिला दिल्ली,गोवा और नागालैंड के संयुक्त क्षेत्रफल से बड़ा है। फिर भी इन राज्यों में सड़कों का जो जाल बिछा है, उसके मुकाबले यहां उसका मामूली अंश है।

'रामदास कोरवा रोड' पर कुल लागत 17 लाख रुपए से अधिक आई। यद्यपि सरकारी स्रोत इस बात की भी पुष्टि करते हैं कि वन विभाग ने इससे लंबी सड़कें इससे काफी कम लागत में तैयार की है। इसलिए सिद्धांत रूप में सड़कों और विकास पर भले ही जोर डाला गया हो पर वास्तविकता एकदम भिन्न है। जिले के गरीबों की अपेक्षाकृत तात्कालिक समस्याओं पर तो ध्यान ही नहीं दिया जाता।

रामदास की अपनी खुद की मांगें बेहद साधारण हैं। उनका कहना है, ''मुझे तो बस थोड़ा सा पानी चाहिए। पानी के बिना हम खेती भला कैसे कर सकते हैं?'' उनकी मांग के बारे में बार–बार पूछने पर उन्होंने कहा: ''उस सड़क पर 17 लाख 44 हजार रुपया खर्च करने के बजाय अगर उन्होंने कुछ हजार रुपया खर्च करके मेरी जमीन में बने कुएं की मरम्मत करा दी होती तो हमारे लिए वह ज्यादा अच्छा होता कि नहीं? बेशक जमीन में भी कुछ सुधार की जरूरत है पर पानी के मामले से शुरुआत तो करें।''

रामदास के साथी भी इन बातों से सहमति जताते हैं। सरकारी खातों के मुताबिक रचकेठा में 4,998.011 एकड़ खेतिहर जमीन है। इसमें से महज 13 एकड़ यानी 0.26 प्रतिशत जमीन ही सिंचाई के दायरे में आती है।

बाद में आए किसी खयाल की तरह रामदास ने बताया कि उनके पड़ोसी पंडित जी माधव मिश्र ने उनके परिवार की सबसे उपजाऊ नौ एकड़ जमीन पर कब्जा कर लिया। ''इसी जमीन में हम धान पैदा करते थे।'' मिश्र के पास पहले से ही 400 एकड़ जमीन थी जो जमीन हदबंदी कानून का उल्लंघन है।

रामदास ने अब यह उम्मीद छोड़ ही दी है कि उसे उसकी जमीन कभी वापस मिल सकेगी। उसे यह भी नहीं पता है कि मिश्र ने कानून का पूरी तरह उल्लंघन करके उसकी जमीन पर कब्जा किया है। (मिश्र का कहना है कि उसने रामदास के पिता की बीमारी के समय उस परिवार को बहुत मदद की थी और उसका काफी पैसा रामदास की ओर बकाया है।)

मध्य प्रदेश भूराजस्व कानून की धारा 170–बी के अंतर्गत आदिवासी जमीन के हस्तांतरण अथवा उसके हड़पने पर पाबंदी है। लेकिन स्थानीय अधिकारी मिश्र के साथ हैं। रामदास कहता है, मैंने पटवारी को 500 रुपए दिये ताकि अपनी ज़मीन वापस पा सकूं लेकिन वह मुझसे 5,000 रुपये की मांग कर रहा है। अब इतने पैसे मैं कहां

से लाऊं?

आज हालत यह है कि नौ सदस्यों का यह परिवार 5.80 एकड़ जमीन पर खेती करके बमुश्किल जीविका चला रहा है। जो जमीन उसके पास है वह भी बहुत खराब किस्म की है। भोपाल में एक अधिकारी ने बातचीत में बताया कि रामदास के अनुभवों से यह पता चलता है कि योजना बनाने वालों और योजना का लाभ उठाने वालों के बीच कितनी दूरी है। रामदास की समस्या का संबंध उसकी जमीन के हड़पे जाने और उसके टूटे फूटे कुएं से था। सरकार की समस्या थी कि वह किस तरह अपना लक्ष्य पूरा करे। इस काम में जो अफसर और ठेकेदार शामिल हुए उनकी समस्या इसके लिए निर्धारित धनराशि को लूटने की थी।

"जनजाति समूहों के संदर्भ में बुरी तरह विफल हो चुके तथाकथित क्षेत्र विकास दृष्टिकोण के कारण यह काम और आसान हो जाता है। इसका नतीजा यह हुआ है कि समूचे इलाके और निर्धारित धनराशि को निजी ठेकेदारों को सौंप दिया गया। वे प्रायः स्थानीय अधिकारियों और अन्य निहित स्वार्थी तत्वों के गुर्गे होते हैं। यह प्रक्रिया खुद–ब–खुद गांव वालों को निर्णय लेने से अलग रखती है। इन दूर–दराज के क्षेत्रों में गंभीरता के साथ खर्च की गई राशि की जांच पड़ताल शायद ही कभी हो पाती हो।"

इस अफसर ने पहाड़ी कोरवा के नाम पर अब तक खर्च की गई शहरी धनराशि के संभावित इस्तेमाल की गणना की और बताया कि अगर इस पैसे को किसी बैंक में जमा खाते में डाल दिया गया होता तो कोरवा परिवारों के किसी सदस्य को कभी काम ही नहीं करना पड़ता। इस पैसे से ब्याज के रूप में जो धन मिलता उससे ही वे काफी खुशहाल हो जाते।

इस बीच लूट–खसोट अभी भी जारी है। रचकेठा में हमलोग जिस समय थे तभी मैंने देखा कि एक स्थानीय एडवोकेट वहां के एक एनजीओ कार्यकर्ता से बता रहा था कि 'इस साल सूखे के दौरान मैंने बस इतना किया कि एक छोटे से बांध की ठेकेदारी में भागीदार हो गया। उसी से मैंने यह स्कूटर खरीदा। अब अगर अगले साल भी सूखा पड़ गया तो मेरे पास एक नई जीप हो जाएगी।'

किसी ने यह सोचने की जरूरत ही नहीं समझी कि दरअसल रामदास को किस चीज की जरूरत है, उसकी क्या समस्या है अथवा कैसे उसकी समस्याओं के समाधान में उसे भी शामिल किया जाय। इसकी बजाय उन्होंने 17.44 लाख खर्च करके उसके नाम पर एक सड़क बनवा दी जिसका इस्तेमाल वह भी नहीं करता है। "सर, हमारी पानी की समस्या के लिए आप कुछ करिए," रामदास ने कहा। हम अब वहां से रवाना हो रहे थे ताकि दो किलोमीटर की दूरी तय कर उस सड़क तक जा सकें जो कहीं नहीं पहुंचाती है।

नाम में क्या रखा है ? धुरुआ से पूछें

मलकानगिरि उड़ीसा : माझी धुरुआ का साबका अभी अभी नौकरशाही के एक अजीबो–गरीब सच से पड़ा है । जिस छोटे अधिकारी से उसकी बातचीत हो रही थी उसने कहा – " कागजात देखने से यह तो पता चलता है कि तुम एक आदिवासी हो लेकिन तुम्हारा भाई आदिवासी नहीं है।"

मलकानगिरि की धुरुआ जनजाति के इस व्यक्ति माझी के लिए यह एक अबूझ पहेली लग रही थी। उसने बार–बार जोर देकर कहा कि अगर वह आदिवासी है तो उसका सगा भाई भी आदिवासी ही होगा। उसकी दलीलों से उकता कर उस अफसर ने कहा कि – "अब मैं तुमको कैसे सारी बात समझाऊं? तुम न तो पढ़ सकते हो और न लिख सकते हो।"

यहां रहने वाले धरुआ आदिवासी समुदाय को आदिवासियों के लिए निर्धारित उन लाभों से महज इसलिए वंचित हो जाना पड़ा क्योंकि अनुसूचित जनजातियों के लिए जो सरकारी सूची तैयार की गई थी उसमें, ऐसा लगता है कि, स्पेलिंग की कोई गलती थी। या तो ऐसा हुआ या इस विवाद के कारण कि इस जनजाति की स्पेलिंग क्या हो, वे सारे लाभ से वंचित कर दिए गए।

जब माझी धुरुआ ने पहली बार मुझे यह बात बतायी तो मुझे सारा कुछ असंभव सा लगा। लेकिन ऐसा था नहीं।

हमने दो दस्तावेजों को देखा। पहला दस्तावेज दिल्ली से प्रकाशित अनुसूचित जनजातियों की सरकारी सूची से संबंधित था और दूसरा दस्तावेज भुवनेश्वर से प्रकाशित "बेसिक डाटा ऑन शेड्यूल्ड कास्ट्स एंड शेड्यूल्ड ट्राइब ऑफ उड़ीसा" था। दोनों दस्तावेजों में आदिवासी समूह को धरुआ बताया गया था। लेकिन इस जनजाति के लोग खुद को धुरुआ कहते हैं। (स्थानीय दस्तावेजों में भी इनकी जाति धुरुआ ही दर्ज है)। नाम की स्पेलिंग में 'यू' की बजाय 'ए' रख देने की जो गलती हो गई थी उसने इन आदिवासियों को मिलने वाले सारे फायदों को हड़प लिया।

उस छोटे अफसर ने माझी से कहा – "हमलोग तुम्हारे भाई को आदिवासी नहीं मान सकते। उसके कागजात देखने से पता चलता है कि वह धुरुआ है। हमारे दस्तावेजों में इस नाम की कोई जनजाति नहीं है। हम केवल धरुआ को जानते हैं।" माझी ने बताया कि खुद उसके सर्टीफिकेट में धुरुआ लिखा हुआ है पर उसे एक आदिवासी मान लिया गया है । फिर उसके छोटे भाई को क्यों नहीं माना जा रहा है ?"

अफसर ने जवाब दिया – 'मुझे यह सब नहीं पता है । अब कायदे–कानून बदल गए हैं ।'

धुरुआ लोगों की कुल तादाद 9000 से भी कम है । इनमें से अधिकांश मलकानगिरि और कोरापुट जिलों में रहते हैं । ऐसा लगता है कि जनगणना में भी 'धरुआ' वाली स्पेलिंग ही लिखी गयी है । इस प्रकार ऊपर के और स्थानीय स्तर के दस्तावेजों में अलग अलग स्पेलिंग हैं । फिर भी वर्षो से इसके कारण कोई समस्या नहीं पैदा हुई और लगता है कि दोनों स्पेलिंगें साथ–साथ चलती रहीं ।

बेशक एक साल पहले किसी छोटे अधिकारी ने इसे मुद्दा बना लिया और तबसे समस्या पैदा हो गयी । अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के सदस्यों के लिए जाति संबंधी प्रमाणपत्र बहुत महत्वपूर्ण होता है । रोजगार में आरक्षण के लिए अथवा स्कूलों–कालेजों में प्रवेश के लिए उन्हें इसकी जरूरत पड़ती है । इस तरह के दस्तावेजों के इच्छुक धुरुआ लोगों को अचानक पता चला कि वे अनुसूचित जनजाति की 'सूची' में नहीं हैं ।

मणि जैसे अनेक धुरुआ ने पहले ही जाति संबंधी प्रमाणपत्र ले लिया था जो अभी भी वैध है इसलिए इसने एक अजीब स्थिति पैदा कर दी । माझी सवाल करता है, 'सरकारी तौर पर मैं और मेरे पिता आदिवासी हैं लेकिन मेरा छोटा भाई नहीं है। ऐसा कैसे हो सकता है ?" उसने अपने प्रमाणपत्र की एक प्रतिलिपि मुझे दी । देखने से पता चला यह असली है ।

मैं माझी और उसके भाई से मलकानगिरि के मुख्य कस्बे में मिला था । माथिली ब्लाक के कुछ युवा धुरुआ संभावित मालिकों को यह यकीन दिलाने में लगे थे कि वे सचमुच धुरुआ हैं । लेकिन 'ए' और 'यू' के उस मामूली से फेरबदल ने जबर्दस्त अड़चन पैदा कर दी थी । एक परेशान माझी बताता है – "मैंने सुबूत के तौर पर अपना सर्टीफिकेट दिखाया लेकिन उसे भी नहीं माना गया।"

हम जिस सबसे प्रामाणिक स्रोत को देख सके, उससे आदिवासियों के दावे की पुष्टि हुई । मलकानगिरि के 'रेकॉर्ड ऑफ राइट्स' में एक के बाद एक प्रविष्टियों में धुरुआ को जनजाति के रूप में दर्ज किया गया था। इसके अलावा, तहसीलदार के दफ्तर में धरुआ की श्रेणी में जाति संबंधी प्रमाणपत्र के लिए किसी ने प्रार्थनापत्र नहीं दिया था। एक अफसर ने बताया कि इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए क्योंकि यहां सचमुच इस नाम की कोई जनजाति नहीं है ।

एक स्थानीय लॉज के मालिक ने हंसते हुए कहा कि यहां के अफसरों ने एक नयी जनजाति पैदा कर दी है। एक स्पेलिंग की गलती कितनी तबाही ला चुकी है, इसे यहां कोई भी देख सकता है। इस साल जिले में लिपिक के पद के लिए कुछ जगहों की घोषणा के कारण यह समस्या और भयावह हो गयी थी । उड़ीसा के लिहाज से भी

देखें तो मलकानगिरि में बेरोजगारी भयंकर है। (उड़ीसा की आबादी लगभग 3 करोड़ 20 लाख ही है पर यहां लगभग 15 लाख पंजीकृत बेरोजगार हैं।)

माझी ने बताया कि धुरुओं में से कुछ मैट्रिक पास लोगों ने अपनी किस्मत आजमानी चाही लेकिन किसी को कामयाबी नहीं मिली। इसलिए चंदा, मंगलू, गोपाल धुरुआ तथा कुछ अन्य निराश हो कर वापस आ गए। गोपाल ने बताया – "हमें तो उन पदों का प्रत्याशी तक नहीं माना गया।" यह सचमुच अजीब है। इस जनजाति में साक्षरता दर 7 प्रतिशत से भी कम है । इसलिए जो थोड़े बहुत पढ़े लिखे धुरुआ हैं उनको भी अगर रोजगार के अवसर से वंचित कर दिया जाता है तो कैसे काम चलेगा।

जो भी हो, यह एक ऐसी समस्या है जिसका समाधान ढूंढा जा सकता है। कम से कम एक मामले में तो ये लोग खुशकिस्मत हैं – मलकानगिरि के नये तहसीलदार आर. के. पात्रो एक भले और संवेदनशील अधिकारी हैं। उनके काम करने का ढंग अनूठा है।

पात्रो यहां अभी कुछ ही महीनों से हैं। जब मैंने उनकी जानकारी में यह बातें लाई तो उन्होंने फौरन कदम उठाया। रेकार्ड आफ राइट्स तथा अन्य स्रोतों का अध्ययन करने के बाद उन्होंने संबद्ध अधिकारियों को एक पत्र लिखा। इस पत्र में उन्होंने स्पष्ट किया कि मलकानगिरि में केवल धुरूआ रहते हैं और यहां धरूआ नाम की कोई जनजाति नहीं हैं।

बाद में भुवनेश्वर में एक अधिकारी ने मुझे बताया– "इस समूचे प्रसंग में सबसे बेहूदा बात यह है कि इसमें बाहरी दखलंदाजी की जरूरत पड़ी। हमने एक ऐसी व्यवस्था बना रखी है जिसमें आदिवासी लोग किसी भी हालत में खुद अपने मामले दुरुस्त नहीं कर सकते। यहां तक कि मुकदमे के जरिए भी नहीं। जब इस तरह की समस्याएं पैदा होती हैं तो वे लाचार हो जाते हैं। नौकरशाही तक न तो उनकी पहुंच है और न अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने का उनमें साहस है।"

माझी के भाई और उसके मित्र पढ़े लिखे होने के बावजूद अपना काम नहीं करा सके। यह एक ऐसे जिले में हुआ जहां आमतौर पर साक्षरता दर 16 प्रतिशत और आदिवासियों के बीच 4 प्रतिशत है।

मलकानगिरि एक लघु आदिवासी भारत है। यहां उड़ीसा के 62 आदिवासी समूहों में से बहुत बड़ी संख्या का प्रतिनिधित्व देखने को मिलता है। इसके अलावा आंध्र प्रदेश और मध्य प्रदेश की भी कुछ जनजातियां छिटक कर यहां आ बसी हैं। इन सभी समूहों की अपनी अलग–अलग बोलियां हैं। एक अधिकारी ने बताया कि मुख्य भाषा की लिपि में बहुत सारी खामियां हैं जो आदिवासी बोली के अजीबोगरीब उच्चारणों को दर्ज नहीं कर पाती। उसका कहना था कि अभी जो समस्या पैदा हुई है उसके पीछे भाषा और उच्चारण का भी काफी योगदान है।

आश्चर्य की बात है कि कुछ गैर आदिवासियों ने भी खुद को आदिवासी घोषित करके प्रमाणपत्र हासिल कर लिया है। और ऐसा करने में उन्हें कोई खास दिक्कत नहीं हुई। इस तरह के मामलों में आमतौर पर वे बंगाली हिंदू शामिल हैं जो पूर्वी पाकिस्तान से आकर यहां बस गए हैं। 1965 के युद्ध के बाद मलकानगिरि में आकर बसे इन लोगों को राज्य सरकार ने जमीनें दे दीं। इन जमीनों पर स्वामित्व के कागजात भी इनके पास मौजूद हैं।

यह काम इस प्रकार किया जाता है : जाति संबंधी प्रमाणपत्र के लिए आवासीय प्रमाण की जरूरत होती है। कोई भी व्यक्ति अगर पट्टे से संबंधित कागज पेश कर देता है तो यह साबित हो जाता है कि इस इलाके में उसके पास अपनी जमीन है। और इस प्रकार उसे बहुत आसानी से निवास संबंधी प्रमाणपत्र मिल जाता है। इसी को आधार बनाकर वह आदिवासी होने का सर्टिफिकेट प्राप्त कर लेता है।

अनेक आदिवासी या तो भूमिहीन हैं या उनके पास जमीन का पट्टा नहीं है। इसलिए इनके लिए इस तरह के दस्तावेज हासिल करना ज्यादा कठिन काम है। इस
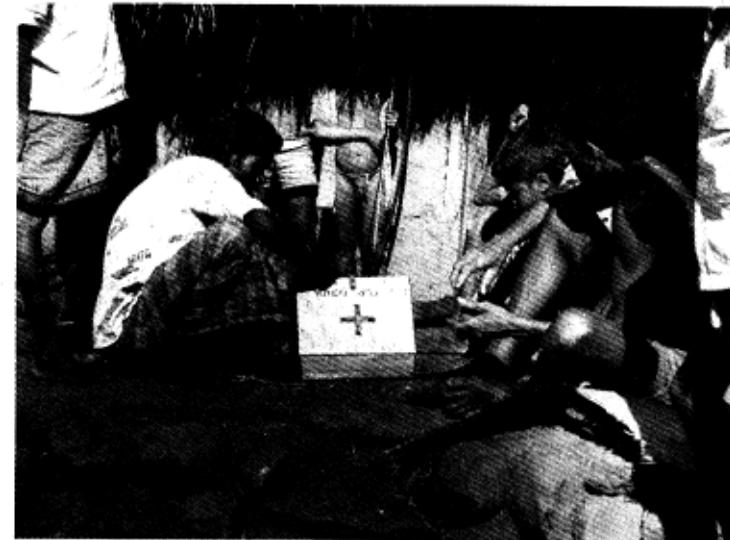
मलकानगिरी एक लघु आदिवासी भारत है। यहां उड़ीसा के 62 आदिवासी समूहों में से बहुत बड़ी संख्या का प्रतिनिधित्व देखने को मिलता है। चित्र में आदिवासियों का एक समूह अपने बर्तन बेचने गांव के हाट में जा रहा है।

बीच ऊंची जाति के लोग इस तरह के प्रमाणपत्र लेकर काफी फायदा उठा रहे हैं। चूंकि असली आदिवासियों के मुकाबले उनकी शिक्षा का स्तर ज्यादा अच्छा है इसलिए जाहिर है कि उन्हें लाभ भी काफी मिल जाता है।

मौजूदा मामले में माझी धुरुआ और उसके भाई की समस्या को हल कर लिया गया। इसके लिए मलकानगिरि के एक सज्जन अधिकारी को बधाई दी जानी चाहिए। उस अधिकारी ने बताया कि जब एक अखबार ने इस मामले में हस्तक्षेप किया तो तुरत इस पर विचार होने लगा। एक साल पहले आदिवासियों ने खुद इस मसले को उठाया था। उस समय भी तो इस पर विचार किया जा सकता था? लेकिन हमारी व्यवस्था को गरीबों की आवाज सुनाई नहीं देती। और अगर वे आदिवासी और हरिजन हों तब तो व्यवस्था के कान और बहरे हो जाते हैं।

जो रिसते हुए नीचे पहुंचता है

करोड़ों के लिए स्वास्थ्य

1994 के प्लेग के साथ दरअसल समस्या यह थी कि दूसरी अन्य अनेक बीमारियों के विपरीत इसने गांवों में फैलने और वहीं डेरा डालने से इनकार कर दिया। यहां तक कि इसने खुद को शहर की गंदी बस्तियों तक भी सीमित नहीं रखा। प्लेग के कीटाणुओं में वर्ग के आधार पर भेदभाव करने की आदत नहीं होती। अभी ऐसे तरीके नहीं ढूंढे जा सके हैं जिनसे दक्षिण बंबई या दक्षिण दिल्ली के अभिजात्य इलाकों में उनका प्रवेश रोका जा सके। सबसे बुरी बात तो यह है कि वे हवाई जहाज में चढ़ सकते हैं और एक्जीक्यूटिव क्लास में सफर करते हुए न्यूयार्क तक पहुंच सकते हैं। इस खतरे से बहुत सारे सुंदर लोग भी दहशत महसूस करने लगे थे।

एक बड़ी आबादी के सामने आसन्न खतरे को देख कर ही हमारे यहां के मीडिया ने इस बीमारी का जबर्दस्त कवरेज दिया। इसने इतिहास के पन्नों को पलट कर उन मौतों के बारे में बताया जिसका खतरा भारत में लाखों करोड़ों के सर पर मंडरा रहा था। दरअसल प्लेग ने, या चाहें तो आप इस बीमारी का कोई भी नाम दे लें, **54** लोगों की जानें ली थीं। भारत में प्रति वर्ष तपेदिक से मरने वालों की संख्या **4,50,000** है जो अभी प्लेग से मरने वालों की संख्या से लगभग **8,000** गुना है। लेकिन अगर अखबारों में हर वर्ष थोड़े कालम भी मिल जाएं तो यह इस बीमारी का सौभाग्य माना जाएगा। बेशक इसके बारे में तभी छपता है जब देश के प्रसिद्ध डॉक्टर, जिनमें से कुछ किसी अखबार के मालिक के भी चिकित्सक हो, अपनी वार्षिक आमसभा कर रहे हों।

इस देश में प्रति वर्ष **15** लाख बच्चे डायरिया से मरते हैं। आप कह सकते हैं कि इस बीमारी से हर तीन मिनट पर एक बच्चे की मौत होती है। प्लेग से मरने वालों के मुकाबले यह संख्या **30,000** गुनी है। लेकिन इसके बारे में भी अखबारों में तभी छपता है जब युनिसेफ की वार्षिक रिपोर्ट 'स्टेट ऑफ द वर्ल्डस चिल्ड्रेन' जारी की जाती है। तब अखबार के अग्रलेख वाले पृष्ठ पर कोई लेख छप जाता है अथवा इसका जिक्र कभी–कभार उन संपादकीय टिप्पणियों में मिल जाता है जो बहुत जल्दबाजी में लिखी गई होती हैं–शायद इसलिए कि उस दिन संपादक जी के पास स्टाक एक्सचेंज से आने वाली टिप्पणी समय से नहीं पहुंच सकी और उन्हें जगह भरने के लिए हड़बड़ी में कोई संपादकीय लिखना पड़ा। अक्सर इस तरह की संपादकीय टिप्पणियों में सवाल उठाया जाता है कि 'आखिर हमसे गलती कहां हुई?' इसके बाद इस टिप्पणी को सुरक्षित रख दिया जाता है ताकि अगले साल ऐसे ही किसी अवसर पर इसका फिर इस्तेमाल किया जा सके। अगर किसी भारतीय को सौंदर्य प्रतियोगिता में कोई स्थान न मिला हो तो भी यह पहले पेज की स्टोरी बन जाती है। इससे पता चलता है कि इस अखबार के पास एक ऐसा संपादक है जो जल्दी ही किसी रोटरी क्लब में यह भाषण दे सके कि अपने बच्चों के लिए हमें क्या करना चाहिए।

हर पखवाड़े इस देश में पांच वर्ष से कम आयु के 75 लाख से अधिक बच्चे डायरिया से पीड़ित होते हैं। लगभग 19 लाख बच्चे निमोनिया सहित सांस की तकलीफ से ग्रस्त रहते हैं। इन बच्चों के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है लेकिन किया नहीं जा रहा है। प्लेग ने एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसकी बेहतर ढंग से नकल की जा सकती है। देखें ऐसा होता है कि नहीं।

पश्चिम के देशों में प्लेग ने पुराने बने–बनाए ढांचे को मजबूत करने का काम किया। (मसलन इन लोगों के प्रति आपका व्यवहार क्या हो)। लंदन के एक समाचार पत्र ने लिखा कि भारत में प्लेग बड़ी तेजी से आगे बढ़ रहा था और लाखों करोड़ों लोग गणेश की पूजा में लगे थे जिसकी सवारी चूहा है। इस आस्था के कारण लोग चूहों को मारने से हिचकिचाते रहे। इसके अलावा बीमारी का पता लगाने में भी तरह–तरह की रुकावटें थीं। यह एक ऐसी बीमारी थी जिसने यूरोप को तेरहवीं शताब्दी में तबाह कर दिया था और जिसका यूरोप से सफाया हो चुका था लेकिन जो अभी भी तीसरी दुनिया के आदिम समाज में पायी जा रही थी। उत्तरी अमरीका और यूरोप में प्रति वर्ष प्लेग के मामले आते हैं। आमतौर से उन स्थानों में जहां पर्वतारोहियों और सैलानियों का संपर्क खास तरह की मक्खियों और जंगली चूहों से होता है। यह बात विश्व स्वास्थ्य संगठन के अधिकारियों ने बतायी। लेकिन इस तथ्य को अखबारों ने प्लेग पर अपनी स्टोरी के साथ कभी भी मुखपृष्ठ पर नहीं छापा और यह तथ्य अंदर के पृष्ठों में दबा रह गया। इससे पश्चिमी देशों की भूमिका को लेकर अनेक सवाल पैदा होते हैं। इन सवालों का संबंध इससे है कि वे आर्थिक सहायता देने वाली संस्थाओं के दबाव का इस्तेमाल करते हुए कुछ खास तरह के मॉडल को विकासशील देशों पर किस प्रकार थोपने में लगे हुए हैं।

1992 में यूएसएड ने भारत को 32 करोड़ 50 लाख डॉलर (800 करोड़ रुपए) की सहायता दी जिसे उत्तर प्रदेश में जनसंख्या नियंत्रण के लिए खर्च करना था। इस कार्यक्रम के गंभीर दुष्परिणाम दिखाई देते हैं। इनमें से एक कार्यक्रम है नोरप्लांट नामक खतरनाक गर्भ निरोधक को गांव की प्रत्येक गरीब महिला तक पहुंचाना जिसके पास स्वास्थ्य की देखभाल के लिए कोई उचित व्यवस्था नहीं है। किसी भी पश्चिमी देश में इस गर्भनिरोधक का इस्तेमाल नहीं किया जाता है।

कुछ ऐसी बीमारियां हैं जिनका संबंध दूषित पेयजल से है और जो प्रति वर्ष लाखों करोड़ों मौतों के लिए जिम्मेदार हैं। इस तरह की बीमारियों के लिए इन देशों से आर्थिक सहायता प्राप्त करना काफी कठिन है। इन बीमारियों में मुख्य रूप से डायरिया, पेचिश, टायफाइड, हैजा और संक्रामक हेपेटाइटिस हैं। मलेरिया सहित पानी से संबंधित कई बीमारियां प्रति वर्ष हजारों लोगों की जानें लेती हैं।

आज भी विश्व के पैमाने पर अगर देखें तो भारत ही ऐसा देश है जहां हर तीसरा व्यक्ति दूषित पेयजल का शिकार है। दुनिया में डायरिया से मरने वाला हर चौथा बच्चा भारतीय है। कुष्ठ रोग का शिकार हर तीसरा व्यक्ति भारतीय है। इस पृथ्वी पर पानी से संबंधित रोगों से ग्रस्त हर चौथा व्यक्ति भारतीय है। समूचे विश्व में तपेदिक से ग्रस्त एक करोड़ 60 लाख मामलों में से एक करोड़ 27 लाख मामले अकेले भारत में हैं। भारत में करोड़ों बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। इस कारण उन्हें अनेक जानलेवा बीमारियों को झेलना पड़ता है। इन सबके बावजूद पोषण पर जो भी सरकारी व्यय होता है वह सकल राष्ट्रीय उत्पाद का एक प्रतिशत से भी कम है।

लेकिन प्लेग की खबरों से 'विदेशी निवेश' के सामने जो खतरे पैदा हो गए थे उनके मुकाबले लाखों करोड़ों लोगों की जिंदगी का क्या मतलब। इसी के साथ भारतीय आभिजात्य वर्ग की यह चिंता भी कम दुखदायी नहीं थी कि आखिर वे (गोरे विदेशी) हमारे बारे में क्या सोच रहे होंगे? हां, सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह है कि यहां तक पहुंचने में प्लेग ने इतनी देर क्यों कर दी। अपनी स्वास्थ्य संबंधी जरूरतों के प्रति इतना बुरा सलूक शायद ही कोई देश करता हो।

भारत के इतिहास में कभी भी किसी भी सरकार ने स्वास्थ्य पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 1.8 प्रतिशत से ज्यादा पैसा खर्च नहीं किया। मौजूदा आंकड़े के अनुसार अभी सरकार इस पर 1.3 प्रतिशत व्यय कर रही है। इसके मुकाबले निकारागुआ स्वास्थ्य पर 6.7 ब्राजील 2.8 और चीन 2-1 प्रतिशत खर्च करता है। विकसित औद्योगिक देशों में स्वीडन 7. और अमरीका 5.6 प्रतिशत खर्च करता है। शुरू में आजाद होने के बाद भारत ने संकल्प किया था कि पहली पंचवर्षीय योजना में वह स्वास्थ्य पर कुल बजट का पांच प्रतिशत खर्च करेगा। किसी ऐसे देश में जो 100 वर्ष से भी अधिक तक औपनिवेशिक शासन, शोषण, अकाल और बड़े पैमाने पर हुई मौतों के बीच से निकला हो, यह एक महत्वपूर्ण कदम था। लेकिन आठवीं पंचवर्षीय योजना के आते–आते यह राशि 1.7 प्रतिशत हो गई। स्वास्थ्य संबंधी मामलों में चीन और श्रीलंका जैसे देश भारत से काफी आगे हैं।

जन स्वास्थ्य पर जो भी पैसा खर्च होता है उसका 80 प्रतिशत लोग खुद वहन करते हैं। गांवों में केवल 20 प्रतिशत इलाकों में अस्पताल हैं जहां आबादी का 80 प्रतिशत हिस्सा रहता है। समूचे देश में हजारों प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों और चिकित्सालयों का जाल बिछा है लेकिन यह महज कागजों पर है। इनमें से अनेक ऐसे चिकित्सालय हैं जहां महीनों तक कोई डॉक्टर नहीं होता और कभी–कभी तो वर्षों तक इन चिकित्सालयों में किसी डाक्टर की नियुक्ति नहीं की जाती।

इस सबके बावजूद भारत नर्सों के मुकाबले प्रति वर्ष ज्यादा डॉक्टर पैदा

करता है। हजारों की संख्या में डॉक्टरों का निर्यात भी होता है। 1990 में भारत में पंजीकृत एलोपैथिक डॉक्टरों की संख्या 3,81,978 थी लेकिन नर्सों की संख्या महज 1,11,235 थी। सितंबर 1995 में प्रधानमंत्री नरसिंह राव ने कहा था कि प्रति वर्ष इस देश में 14,000 डॉक्टर पैदा होते हैं लेकिन नर्सों की संख्या 8,000 ही रहती है। भारत के अनेक डॉक्टर, जिन्हें दुनिया के सबसे गरीब देश के लोगों की कीमत पर प्रशिक्षित किया जाता है, धनी अमरीकियों का इलाज करने के लिए अमरीका जाकर बस जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हर तरह के साधनों से वंचित और बीमारी से ग्रस्त लोग संपन्नतम लोगों को स्वस्थ रखने में किस प्रकार मदद पहुंचा रहे हैं।

मनमोहन सिंह की आर्थिक नीतियों की शुरुआत के साथ ही स्वास्थ्य संबंधी खर्च में जो जबर्दस्त कटौती हुई उससे जो भी मामूली रकम इसके लिए निर्धारित की जाती थी उसमें भी कमी आ गई। गरीबों पर पड़ने वाला दबाव और भी बढ़ता गया। जहां तक साधनों की कमी की बात है उसका इससे कोई सरोकार नहीं है। महाराष्ट्र और गुजरात ऐसे राज्य हैं जिनके बारे में कहा जाता है कि आर्थिक सुधारों के मामले में वे एकदम अग्रिम पंक्ति में हैं। अगस्त 1991 से अगस्त 1994 के बीच इन राज्यों में 1,14,000 करोड़ (लगभग 38 बिलियन डॉलर) का पूंजी निवेश हुआ। फिर भी इन्हीं राज्यों में प्लेग ने अपना प्रहार किया। आर्थिक सुधारों की शुरुआत से पहले भी गुजरात प्रति व्यक्ति स्वास्थ्य पर महज 49 रुपए खर्च करता था। सुधारों के बाद इसमें और कटौती हुई। केरल में, जो कि आर्थिक दृष्टि से गुजरात के मुकाबले ज्यादा गरीब राज्य है, प्रति व्यक्ति स्वास्थ्य पर 71 रुपए खर्च किया जाता था।

स्वास्थ्य के लिए निर्धारित धनराशि को कैसे व्यय किया जाता है, यह भी काफी महत्वपूर्ण है। इस मामले में भी केरल सबसे आगे है। इस राज्य में ग्रामीण क्षेत्रों में बाल मृत्यु दर महज 17 है जबकि गुजरात में यह दर 73 और महाराष्ट्र में 6 है। औसत केरलवासी 72 वर्ष तक जीवित रहने की आशा कर सकते हैं। गुजरातियों के लिए मृत्यु दर 61 वर्ष और महाराष्ट्र वालों के लिए 63 वर्ष है। इसलिए हम देखते हैं कि साधनों की उपलब्धता के मुकाबले महत्वपूर्ण बात यह है कि जन स्वास्थ्य के प्रति आपकी कितनी प्रतिबद्धता है। केरल की बाल मृत्यु दर और जीवित रहने की दर अमरीका का मुकाबला कर सकती है। केरल ही देश का एकमात्र राज्य है जहां डाक्टरों के मुकाबले नर्सों की संख्या ज्यादा है।

लेकिन केरल भारत नहीं है। जैसे ही सरकार ने स्वास्थ्य संबंधी व्यय में कटौती की, शहरी क्षेत्रों में भी सार्वजनिक सेवाएं धराशायी हो गईं। इस बीच प्रगति यह हुई है कि आर्थिक क्षेत्र में निरंतर उभरने वाला निजी क्षेत्र स्वास्थ्य के मामले में खर्चीला तो बहुत हो गया लेकिन उसकी जवाबदेही भी कम होती गई। निजी क्षेत्र पर निरंतर

बढ़ती निर्भरता का मतलब यह हुआ कि गरीब परिवारों का दिवाला निकलता जाए और सरकारी कटौतियों ने इस प्रक्रिया को और तेज कर दिया है। 1992-3 के बजट में केंद्र सरकार ने राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रमों के लिए निर्धारित कोष में लगभग 43 प्रतिशत की कटौती की। इसी बजट में आबादी के सबसे ऊपरी हिस्से के 10 प्रतिशत लोगों को करों में लगभग 4,800 करोड़ रुपए की रियायत दी गई। इसके फलस्वरूप अन्य स्वास्थ्य कार्यक्रमों को भी मार सहनी पड़ी। इसे आप ' 'ट्रिकिल डाउन थ्योरी' कह सकते हैं जिसका अर्थ यह हुआ कि गरीबों से लो, संपन्न लोगों को दो और इसके बाद सांस रोक कर देखते रहो कि इसका कितना हिस्सा टपकते हुए फिर गरीबों तक पहुंचता है। जो रिसते हुए ऊपर जाता है वह तो पैसा है लेकिन जो टपकते हुए नीचे आता है वह है मलेरिया। क्या अब भी प्लेग के आगमन पर किसी को आश्चर्य है?

इस बीच बम्बई जैसे महानगर में पांचवें ' पंचतारा' अस्पताल की स्थापना कर दी गई है। ग्रामीण भारत में पांच सदस्यों के परिवार को, जिसकी वार्षिक घरेलू आय 11,000 रुपए से अधिक है, यह मान लिया गया है कि वह परिवार गरीबी रेखा से ऊपर पहुंच गया है। लेकिन बम्बई के पंचसितारा अस्पतालों में किसी एक कमरे में एक सप्ताह रहने का खर्च 11,000 से कई गुना अधिक आ जाता है। फिर किस प्रकार आम भारतीय स्वास्थ्य सुविधाएं प्राप्त कर सकता है। वह किस प्रकार इस स्थिति का मुकाबला कर सकता है। सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाएं ग्रामीण क्षेत्रों में सौ मरीजों में से केवल नौ को ही दवाएं उपलब्ध करा सकती हैं। फिर कैसे उम्मीद करें कि सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली से उन्हें कोई लाभ मिल सकता है ! क्या यह प्रणाली समाज के सबसे गरीब तबके को अर्थात अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लोगों को किसी तरह की राहत पहुंचा सकती है ? वैसे भी हर क्षेत्र में इन्हें वंचित ही रखा गया है।

देश के निर्धनतम जिलों में बिताए गए कुछ महीनों के दौरान इसी तरह के सवालों की मैं छानबीन करता रहा। बिहार के अपने अनुभव और उड़ीसा के अपने दो अनुभवों के माध्यम से मैं इन्हीं बातों को सामने लाना चाहता हूं। इन अनुभवों के दौरान मैंने देखा कि यहां सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली के काम करने का तरीका क्या है और किस प्रकार इसके अंतर्गत बनाए गए चिकित्सालयों को या तो गौशाला में तब्दील कर दिया गया है या उन्हें निजी आवास का रूप दे दिया गया है। इन अनुभवों के दौरान मैंने कुछ मरीजों से भी बातचीत की और यह जानने की कोशिश की कि इन क्षेत्रों में किसी गरीब व्यक्ति के बीमार पड़ने का क्या अर्थ होता है।

डॉ. विश्वास और पलामू की दवा का स्वाद

ब्रहमनी, पलामू (बिहार): पोछरा गांव के लोगों ने जब डॉक्टर विश्वास को नंगा किया और पीटते हुए उन्हें गांव से बाहर खदेड़ दिया तो इसके पीछे जरूर कोई ठोस कारण रहा होगा। डॉक्टर विश्वास उस इलाके के झोला डॉक्टर थे जिनको अपने नाम के आगे डॉक्टर शब्द लगाने का कोई अधिकार नहीं था और उन्होंने छोटन पड़ैया की गर्भवती पत्नी को तीन बोतल ग्लुकोज चढ़ाया था। वह औरत चिकित्सा के लिए बहुत परेशान थी लेकिन इस डॉक्टर की कृपा से उसकी मौत हो गई और साथ ही उसका नवजात शिशु भी मर गया। तो भी इस गांव से निकलने के बाद कई गांवों को छोड़ कर एक दूसरी जगह डॉक्टर विश्वास अभी भी जमे हुए हैं और उनके यहां मरीजों की अच्छी खासी भीड़ रहती है।

इकबाल कासिम से मिलिए। यह 'डाक्टर और सर्जन' दोनों हैं। बालू मठ स्थित कासमी क्लीनिक के ये मालिक हैं। देवबंद में अपने अध्ययन के आधार पर कुछ सालों से वे यहां पर प्रैक्टिस कर रहे हैं। देवबंद में उन्हें जो डिग्री मिली उसमें 'वनस्पति विज्ञान, जीव विज्ञान, नारी शरीर विज्ञान और यूनानी चिकित्सा पद्धति' का ज्ञान प्राप्त करने की बात कही गई है और यह भी लिखा गया है कि आधुनिक एलोपैथिक मेडिसिन में उन्होंने एक विशेष कोर्स किया। फिलहाल उनकी यह डिग्री उनके चिकित्सालय से काफी दूर गांव वाले घर में पड़ी हुई है। कासिम की आदत है कि वह थोड़ी सी भी बीमारी में अपने मरीजों को एम्पीसिलिन और टेट्रासाइक्लिन के इंजेक्शन दे देते हैं। वह बुलाए जाने पर मरीजों के घर विजिट पर भी जाते हैं।

विश्वास के भाईसाहब भी एक डॉक्टर हैं। उन्होंने किसी संस्था से होम्योपैथी में डिप्लोमा लिया है लेकिन दुर्भाग्यवश उस संस्था का नाम इन्हें अब याद नहीं है। वह उसी गांव में एलोपैथी दवाओं की प्रैक्टिस करते हैं जहां उनके भाई साहब करते थे। वह खुद को 'आर.एम.पी.' बताते हैं लेकिन इसका अर्थ रजिस्टर्ड मेडिकल प्रेक्टिशनर नहीं है। यह 'रूरल मेडिकल प्रेक्टिशनर' है। इन तीन शब्दों पर आप महज 765 रुपए खर्च कर डॉक्टर बन सकते हैं– यहां तक कि पटना में भी। इसके लिए बस केवल गांव के मुखिया और किसी डॉक्टर के हस्ताक्षर की जरूरत होती है। थोड़े पैसे देकर इसे हासिल कर लिया जाता है।

पलामू तथा समूचे बिहार में इस तरह के जो हजारों नकली डॉक्टर काम कर रहे हैं उन्हें इससे कोई सरोकार नहीं है कि डॉक्टरी के लिए पढ़ाई लिखाई जरूरी है। कंपाउण्डर के रूप में काम करने का थोड़ा बहुत अनुभव ही काफी होता है और इससे भी बड़ी बात तो यह है कि एक बोर्ड बनवा लीजिए और उस पर डॉक्टर लिखवा दीजिए जो सारी समस्याओं का हल कर देता है। इस तरह के 15 डॉक्टरों से बातचीत करने के बाद योग्यता के अलग–अलग स्तरों की जानकारी हुई। विश्वास ने मुझे अपनी योग्यता के बारे में तीन मुलाकातों में तीन बातें बतायीं। अंतिम बात यह थी कि उसने उड़ीसा के एक विश्वविद्यालय से पत्राचार पाठ्यक्रम के जरिए डॉक्टर की डिग्री हासिल की थी। जब मैंने उस विश्वविद्यालय का नाम पूछा तो उस समय उसे वह नाम याद नहीं आया। उसके लेटरहेड पर नाम के साथ बी.ए.एम.एस. (बैचलर ऑफ आयुर्वेदिक मेडिकल साइंस) लिखा हुआ है। लेकिन इस गांव में वह एक एलोपैथिक डॉक्टर के रूप में काम कर रहा है।

आखिर वह करता भी क्या। पलामू तथा बिहार के ढेर सारे ग्रामीण क्षेत्रों में लोग एलोपैथी दवाओं की ओर ही भागते हैं। देश के शहरी इलाकों में भले ही लोगों ने योग तथा देशज चिकित्सा प्रणाली को एक बार फिर ढूंढ निकाला हो लेकिन इन ग्रामीण क्षेत्रों में जो भी हकीम, यूनानी, आयुर्वेदिक, होम्योपैथिक पद्धति के डॉक्टर थे वे सभी अब एलोपैथिक प्रणाली की ओर मुड़ गए हैं। एक पुलिस अधिकारी ने मुझे बताया कि इन डॉक्टरों में से कुछ तो दो तीन साल तक या तो कंपाउण्डर रहे हैं या किसी डॉक्टर के सहायक। यह सभी डॉक्टर लोगों को इंजेक्शन देते हैं जिनका इन्हें कोई अधिकार नहीं हैं। एक वरिष्ठ अधिकारी ने बताया कि यह लोग किसी के लिए जवाबदेह नहीं हैं। यह कोई भी दवा लिख कर दे सकते हैं और इन्हें कोई मतलब नहीं कि उसके क्या दुष्परिणाम होंगे।

पलामू में अनेक लोग टी.बी, मलेरिया, डायरिया और पेचिश से ग्रस्त हैं। लेकिन यहां लगभग हर बीमारी का इलाज है मरीज को ग्लुकोज चढ़ाना। दूर–दराज के इलाकों में यह फर्जी डाक्टर ग्लुकोज चढ़ा कर मरीजों को सम्मोहित किए रहते हैं। यहां तक कि मलेरिया के रोगियों के लिए भी उनके पास यही इलाज है। अनेक गांववासियों का विश्वास है कि 'पानी चढ़ाने' से रोग फौरन दूर हो जाता है। इसलिए वे कर्ज लेकर भी डॉक्टर को पैसा देते हैं और चाहते हैं कि वह पानी चढ़ाने का चमत्कार करे। इसके अलावा टेट्रासाइक्लिन के इंजेक्शनों का अपना दबदबा तो है ही।

एक बोतल ग्लूकोज की कीमत 28 रुपये है। यह कीमत फुटकर मूल्य पर खरीदने पर है। अगर थोक में खरीदें तो एक बोतल की कीमत 12 रुपये आती है। इसके अलावा फुटकर खरीद पर इसका किट (ट्यूब और सुई) भी 12 रुपये में मिलता

है। लेकिन ये फर्जी डाक्टर काफी समय तक एक ही किट को इस्तेमाल करते हैं जिससे मरीज के लिए बहुत खतरा बढ़ जाता है। ये डाक्टर प्रत्येक मरीज से 100 रुपये से लेकर 150 रुपये प्रति बोतल पैसा वसूलते हैं। डाक्टर विश्वास ने बड़ी साफगोई से बताया – "पढ़े लिखे लोग कम पैसा देते हैं लेकिन जो बिलकुल पढ़े लिखे नहीं हैं उनसे ज्यादा पैसा मिल जाता है।"

टेट्रासाइक्लिन का एक इन्जेक्शन तकरीबन 8 रुपये से 10 रुपये में मिलता है। इससे फर्जी डाक्टर 15 मरीजों का इलाज करते हैं और हर मरीज से 10 से 15 रुपये वसूलते हैं। इस प्रकार थोड़ी सी पूंजी लगा कर ये लोग 150 से 225 रुपये तक कमा लेते हैं। इस्तेमाल की जाने वाली सूइयां आमतौर पर गंदी होती है, उन्हें बार बार इस्तेमाल किया जाता हैं जिससे विनाश को निमंत्रण मिलता है। बेशक, गांव में बहुत सारे लोग ऐसे हैं जो इस इलाज का खर्च नहीं जुटा सकते। उनकी पहुंच झाड़–फूंक करने वाले ओझा तक है जिन्हें वे फीस के रूप में कुछ अंडे दे देते हैं।

इन फर्जी डाक्टरों की इतनी पूछ क्यों है? आखिर क्यों लोग इतनी बड़ी तादाद में इन डाक्टरों के पास जाते हैं? डाल्टनगंज के एक अत्यंत प्रतिष्ठित डाक्टर एन.सी. अग्रवाल ने कहा – "आप यहां की सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली की हालत देख कर खुद ही समझ जायेंगे कि ऐसा क्यों होता है।" कम से कम इस तरह के कुछ फर्जी डाक्टर इतना तो कर ही रहे हैं कि वे ढेर सारे लोगों को मलेरिया से बचने की दवाएं दे दे रहे हैं।

सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली की हालत बहुत खस्ता है। लातेहर में एक बहुत बड़ा जन स्वास्थ्य केंद्र है और समूचे सबडिवीजन में इसके सहायक केंद्रों की संख्या 18 है। ऐसे जिन चार केंद्रों में मै गया, उनमें से एक भी काम नहीं कर रहा था। इनमें से तीन के दरवाजे,चौखट, खिड़कियां गांव वालों ने लूट लिये थे जिन्हें इन केंद्रों से किसी तरह की चिकित्सा सहायता नहीं मिली थी। इचक के पास एक शराबी हेडमास्टर का घर था जो 60 के दशक की फिल्मों के प्रेमगीत गाने में ही मस्त रहता था।

मुख्य जन स्वास्थ्य केंद्र काम कर रहा था। वहां मैंने देखा कि डॉक्टर एक मरीज के मलेरिया की जांच के लिए पैसे वसूल रहा था जो कि उसे नियमतः नहीं लेना चाहिए। हालांकि मैंनेएक पत्रकार के रूप में उसे अपना परिचय दिया था फिर भी वह मेरे सामने ही उस मरीज से पैसे ले रहा था। अन्य किसी भी केंद्र में ऐसी दवाएं नहीं थीं जो काम की हों। सभी उपयोगी दवाओं की चोरी हो चुकी थी।

लटेहर सब डिविजनल अस्पताल इस इलाके का सबसे बड़ा अस्पताल है जिसमें 18 कर्मचारी 5 डॉक्टर और कुल 76 बिस्तर हैं पर इसमें महज एक मरीज था। खाली बिस्तर गंदे और रोग से ग्रस्त लग रहे थे। मैंने इस अस्पताल के कई चक्कर

लगाए पर अकेली एक महिला कर्मचारी को छोड़कर कभी भी और कोई नहीं मिला। यहां के बड़े डॉक्टर छुट्टी पर थे। अन्य सभी डॉक्टरों ने अस्पताल के बगल में ही अपनी प्राइवेट प्रैक्टिस शुरू कर दी थी और वे ड्यूटी के समय ही अपने क्लीनिकों में बैठते थे।

उस महिला कर्मचारी ने मेरे अनुरोध पर एक डॉक्टर को बुलाया। वह डॉक्टर कुछ हिचकिचाते हुए आयी – दरअसल वह अपना बेशकीमती समय, जो वह अपनी क्लीनिक में लगाती, मुझसे बात करके नष्ट नहीं करना चाहती थी। फिर भी वह इतनी देर तक तो बैठी ही रही जिससे मैं इस बात की पुष्टि कर सकूं कि अस्पताल में एंटीबायोटिक्स और जीवन के लिए उपयोगी बहुमूल्य दवाएं लगभग नदारद हैं। यहां तक कि सांप के काटने की दवा और कुत्तों के काटने पर लगाए जाने वाला इंजेक्शन भी उपलब्ध नहीं था जबकि इस इलाके में उनकी बहुत जरूरत थी। बातचीत समाप्त होने के बाद डॉक्टर चली गई लेकिन वह अपने आफिस न जाकर अपने प्राइवेट क्लीनिक की ओर रवाना हुई। एक स्थानीय एनजीओ के कार्यकर्ता ने मुझे बताया–" वे यहां दिन में एक बार जरूर आते हैं ताकि अपने लिए कुछ मरीजों की भर्ती कर सकें।"

पास की दलित कालोनी में रहने वाली दिलबसिया देवी और उसके साथ के लोगों ने बताया कि इस अस्पताल से उन्हें आज तक कभी भी दवा नहीं मिली। उन्हें हमेशा बाहर से दवा खरीदनी पड़ती है और अक्सर उन्हीं दुकानों पर जाना पड़ता है जिनके मालिक या तो यहां के डॉक्टर हैं या जिनसे उन डॉक्टरों का संबंध है। जिले के एक वरिष्ठ अधिकारी ने बताया कि आमतौर पर पूरे राज्य की यही स्थिति है। उसने कहा कि डॉक्टर और अध्यापक दो ऐसे तबके हैं जिनके बारे में मुख्यमंत्री लालू यादव भी कुछ नहीं कर सकते।

एक के बाद एक मुख्यमंत्री यहां आए लेकिन वे जनस्वास्थ्य प्रणाली में नौकरी करने वाले डॉक्टरों की प्राइवेट प्रैक्टिस समाप्त कराने में विफल रहे। इसके अलावा डॉक्टरों की अच्छी खासी दादागिरी भी चलती है। एक बार कुछ वरिष्ठ अधिकारियों ने सरकारी डॉक्टरों के कुछ मकानों पर छापा मारा और वहां अस्पताल से चुराई गई दवाओं का अच्छा खासा स्टॉक पाया। तब डॉक्टरों ने उन पर हमला भी किया। इन डॉक्टरों ने अधिकारियों के विरुद्ध बलात्कार करने के फर्जी आरोप दर्ज कराए।

एक वरिष्ठ अधिकारी का कहना है कि जनता इन डॉक्टरों और फर्जी डॉक्टरों के ब्यूह में फंस गई है। उसका कहना था कि अगर सरकार इन डॉक्टरों द्वारा की जा रही प्राइवेट प्रैक्टिस पर प्रतिबंध लगाने की दिशा में कुछ कड़े कदम उठाए तभी कोई उम्मीद की जा सकती है। इसे भला कोई कैसे जनस्वास्थ्य प्रणाली कहेगा? समूची प्रणाली ही निजी उद्योग का रूप ले चुकी है। फिर इसकी प्रासंगिकता क्या है? अगर देखें तो देश के अन्य हिस्सों की तरह बिहार में भी नर्सों के मुकाबले डॉक्टरों की संख्या

अधिक है। (यहां 25,689 डॉक्टर हैं जबकि नर्सों की संख्या महज 8,883 है)। इसके अलावा हजारों की संख्या में झोला डॉक्टर हैं और उनके नतीजे आप देख ही रहे हैं। इस बीच हम अभी भी प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों के निर्माण में लगे हुए हैं। (बिहार में समूचे राज्य में 15,000 से भी ज्यादा)। निश्चय ही यह अच्छी बात है बशर्ते यह प्रयास भी किया जाय कि इन केंद्रों में कामकाज हो। लेकिन हमने तो स्वास्थ्य केंद्रों का निर्माण मरीजों के लिए नहीं बल्कि डॉक्टरों के लिए किया है। जनता के लिए नहीं बल्कि ठेकेदारों और केमिस्टों के लिए किया है। इसीलिए हमारे पास आज भी स्वास्थ्य के मामले में बड़े बुरे नतीजे हैं और यह सब बेशुमार शिकायतों और अभियानों के बावजूद।

हम झोला डॉक्टरों की स्थिति पर क्यों कोफ्त करें।

लो आ गया दिस्सारी

मलकानगिरि (उड़ीसा): मुर्गे को हलाल होते देखने के लिए हमें तकरीबन तीन घंटे तक इंतजार करना पड़ा। उन्होंने गांव के ओझा के आदमी की मदद से मुर्गे को उलटा लटका दिया था। इस बीच दो *दिस्सारी* (इस क्षेत्र में पारंपरिक देशी दवाओं से इलाज करने वाले) तरह–तरह के अनुष्ठान करते रहे। अनुष्ठान के इस सत्र की समाप्ति पर मुख्य *दिस्सारी,* जिसका नाम गोवर्द्धन पुजारी था अपनी पारंपरिक पद्धति को तिलांजलि देकर आधुनिकता की ओर मुखातिब हुआ। उसने मरीज को क्लोरोकिन या फ्लेजाइल जैसी कोई दवा दी।

गोवर्द्धन का असली नाम हंथल है लेकिन उसने बड़े गर्व के साथ अपने नाम के साथ पुजारी का तमगा जोड़ रखा है। जब उसने कहा कि दूर के इलाके बोंडा पहाड़ियों में उसके साथ हमलोग चल सकते हैं तो हमें बड़ी खुशी हुई। हमें पता था कि हम कुछ अनोखा दृश्य देखेंगे। यह कितना अनोखा होगा इसे हम अच्छी तरह समझ नहीं पाए थे।

गोवर्द्धन की तकनीक में देशी और एलोपैथिक दवाओं का मिश्रण है। यहां उसका काम मलकानगिरि की प्राचीन जनजातियों में प्रचलित रणनीति से उपजा है। इसके पीछे विचार यह है कि आधुनिक जीवनरक्षक दवाओं के साथ उनके परंपरागत इलाज को जोड़ा जा सके। *दिस्सारी* लोग प्रायः पुरोहिती का काम भी करते हैं और उन्हें काफी सम्मान दिया जाता है। यह जानकारी अन्वेषा नामक एनजीओ के सुरेंद्र खेमेंदु ने हमें दी। इस प्रकार वे उन धारणाओं और तरीकों पर ज्यादा प्रभाव डाल पाते हैं जहां अभी तक आधुनिक चिकित्सा पद्धति ने अपनी कोई जगह नहीं बनाई है। *दिस्सारी* लोग या तो अपने घरों पर या मरीज के घर जाकर इलाज करते हैं।

खेमेंदु खुद भी जड़ी बूटियों पर आधारित दवाओं का अध्ययन कर रहे हैं। उनका कहना है–" परंपरागत *दिस्सारी* जड़ी बूटियों के साथ डॉक्टरी और धार्मिक व्यवहारों को मिलाकर इलाज करते हैं। उनके पास ज्ञान का भंडार है जिसके जरिए अनेक बीमारियों का सचमुच इलाज हो जाता है।" लेकिन ऐसी बहुत सी बीमारियां हैं जिनसे बचने का कोई तरीका बोंडा जैसी जनजातियों के पास नहीं है। इसलिए किसी स्वीकार्य माध्यम के जरिए कारगर इलाज तक पहुंचने की जरूरत बराबर यहां पैदा होती है और वह माध्यम है *दिस्सारी*।
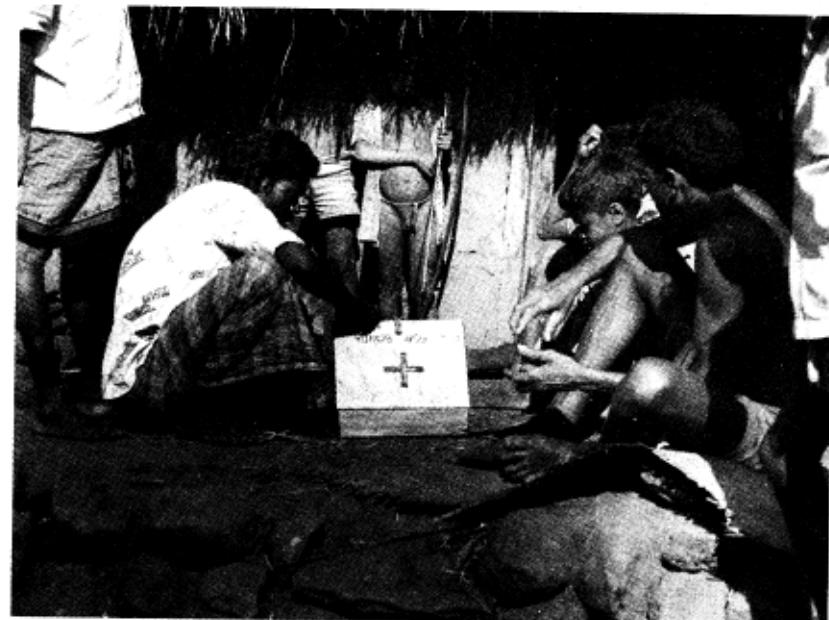
मलकानगिरि के उत्साही कलक्टर जी.के. ढल इस तरह के प्रयोगों के पक्ष में

हैं। उनके अधिकारीगण कुछ *दिस्सारियों* को प्रशिक्षण दे रहे हैं। उन्हें यह सिखाया जा रहा है कि मलेरिया तथा डायरिया की दवाओं का कैसे इस्तेमाल करें–इन्हीं दोनों बीमारियों से यहां ज्यादा लोगों की मौतें होती हैं। ढल ने बताया कि *दिस्सारी* लोग अपने परंपरागत अनुष्ठानों का पालन करते हैं लेकिन हम उन्हें इस बात के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं कि अपने अनुष्ठानों के समाप्त होने के बाद वे इन आदिवासियों को जीवन रक्षक दवाएं भी दें।

तो हमलोग अब गोवर्द्धन के साथ बोंडा की पहाड़ियों तक पहुंच गए। वह एक डोम हरिजन हैं लेकिन अपने मरीजों की संख्या के कारण उसे लोग यहां 'बोंडा डॉक्टर' कहते हैं। उसके पास एक फर्स्टएड बॉक्स है जिस पर बड़े–बड़े शब्दों में अंग्रेजी में लिखा है "केवल बोंडा के लिए " यह एक ऐसी भाषा है जिसे न तो वह समझ सकता है और न उसका कोई मरीज। लेकिन उसे अपने इस बक्से पर गर्व है। नदी के एक किनारे उसका युवा मरीज बैठा हुआ है और लगता है जैसे वह कहीं खोया हो। एक दूसरा दिस्सारी बहते हुए पानी में घुटने तक डूबा खड़ा है और मंत्र पढ़ रहा है। उसके एक सहयोगी ने उस मुर्गे को पकड़ रखा है जिसकी बलि चढ़ाने की तैयारी में गोवर्द्धन लगा है। सूरज की तेज किरणों से भी उस मरीज पर कुछ खास असर नहीं पड़ रहा है।

इस प्रयोग के महत्व पर शक नहीं किया जा सकता। बोंडा की पहाड़ियों में घंटों तक घूमना फायदेमंद रहा। फिर भी अगर प्रशिक्षकों का ज्ञान काम लायक नहीं रहा या कुछ अनुष्ठानों का गलत असर पड़ा तो समस्याएं पैदा हो सकती हैं। गोवर्द्धन एक तेज आदमी है और कुल मिलाकर काम का डॉक्टर है। लेकिन उसके इस अनुष्ठान में महुआ से बनी शराब की बहुत बड़ी मात्रा का सेवन करना पड़ता है। पुराने लोगों ने अनुष्ठान के इस हिस्से को बड़ी चालाकी के साथ फीस के रूप में शामिल कर दिया और इस प्रकार व्यापार के साथ–साथ मजा लेने का भी पुट जोड़ दिया गया। चार घंटों के अपने अनुष्ठान के दौरान गोवर्द्धन के पेट में काफी शराब पहुंच जाती है।

इस बीच दूसरा दिस्सारी हाथ में एक पत्ता लेकर कुछ बुदबुदाता रहता है–"*आम रिशि, जाम रिशि, नाम रिशि, काम रिशि....*" बीच–बीच में मंत्र बुदबुदाना छोड़कर वह गोवर्द्धन की ओर मुखातिब होकर महुआ की मांग करता है। गोवर्द्धन अपने धार्मिक प्रवचनों के साथ–साथ इस दूसरे *दिस्सारी* को फटकारता भी है लेकिन उसके बार–बार मांगने पर अनिच्छापूर्वक उसकी ओर शराब बढ़ा देता है। महुआ गटकने के बाद वह फिर बुदबुदाता है–" *यमदूत, ब्रह्मदूत, कर्मदूत...*"। हमें बाद में यह पता चलता है कि भोजपत्र के जिस पत्ते को सामने रखकर वह कुछ पढ़ने का अभिनय कर रहा है वह महज एक औपचारिकता है– वह बिल्कुल पढ़ा लिखा नहीं है। जो वह बोल रहा था वह सब उसे याद कराया गया है। जैसे ही गोवर्द्धन चाकू लेकर मुर्गे की ओर

बोंडा डाक्टर गोबर्द्धन का फर्स्ट एड बाक्स जिस पर अंग्रेजी में मोटे अक्षरों में लिखा है – 'केवल बोंडा के लिए'। उसे या उसके मरीज–किसी को भी इस भाषा का ज्ञान नहीं है। लेकिन अपने इस बाक्स पर उसे गर्व है। चित्र में गोबर्द्धन एक बोंडा योद्धा के जवान बेटे का इलाज कर रहा है।

झपटा, मरीज के अंदर थोड़ी बेचैनी हुई। उससे भी ज्यादा बेचैनी मुझे और खेमेंदु को हुई।

गोवर्द्धन ने अब उस बड़े से चाकू को अपने बाएं पैर के नीचे दबा रखा है और उसकी धार ऊपर की ओर है। जैसे ही दूसरे *दिस्सारी* ने कुछ पंक्तियां पढ़ीं, गोवर्द्धन ने एक मुर्गे को पकड़कर चाकू की धार पर रखा और उसकी गर्दन अलग करते हुए उसे नदी में फेंक दिया। इसके अगले क्षण दूसरे मुर्गे की भी बलि दी गई। तीसरे मुर्गे के पंख नोच डाले गए हैं और उसे कुछ दाने चुनने के लिए छोड़ दिया गया। जल्दी ही गोवर्द्धन को लगा कि उसने यह काम अधूरा ही छोड़ दिया। फौरन ही इस तीसरे मुर्गे के साथ ही वही सलूक किया गया और उसे अपने दो अन्य साथियों के पास फेंक दिया गया। दूसरा *दिस्सारी* कुछ सोचते हुए उठा और पानी में से उन तीनों को निकाल लाया। अब भोज की तैयारी शुरू हो गई। गोवर्द्धन ने मरीज को कोई दवा नहीं दी और इलाज का सत्र समाप्त हो गया। वहां से चलने के बाद हमें पता चला कि वह मरीज गोवर्द्धन का अपना बेटा था।

कुछ देर बाद एक दूसरे घर से बुलावा आता है। एक हट्ठे–कट्ठे बोंडा

जाति के योद्धा ने बताया कि उसके बेटे को पेचिश का दौरा पड़ गया है। गोवर्द्धन ने कुछ एलोपैथिक दवाएं उसे दीं लेकिन उस योद्धा ने उन दवाओं को फेंकते हुए गाली दी–" शराबी, सूअर के बच्चे, मुझे दवाएं नहीं चाहिए। चलकर पूजा करो। पूजापाठ में ही मन लगाओ तब तुम्हारे ऊपर कोई भरोसा कर सकता है। जिसे नहीं जानते हो उसमें अपनी टांग मत अड़ाओ।" उसे ऐसा महसूस हुआ कि खेमेंदु और मैं किसी दूसरी दुनिया से आए हुए हैं। ऐसी दुनिया से जहां के लोग इन चीजों को "हैंडिल" करना जानते हैं। उसने गोवर्द्धन द्वारा दी गई दवाओं को हमारी ओर बढ़ाया ताकि हम देख सकें कि इन दवाओं से इलाज संभव है या नहीं।

क्लोरोकिन और पैरासिटामाल ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ अंग्रेजी जानने वालों के लिए भी समझना आसान नहीं है। किसी *दिस्सारी* के लिए मंत्रों और महुआ के साथ इन दवाओं को भी दे देना घातक भी हो सकता है। जाहिर है कि इस प्रोजेक्ट में लगे प्रशिक्षकों को बहुत सावधानी बरतने की जरूरत है। वे जो दे रहे हैं और गोवर्द्धन जो ले रहा है इन दोनों के बीच काफी जटिलता है।

हम देखते हैं कि दूरदराज के गांवों में *दिस्सारी* बेहद प्रतिभाशाली हैं। दंतीपाडा गांव के हादी मांद्रा ने कभी बोंडा की पहाड़ियों से बाहर की दुनिया को नहीं देखा। बावजूद इसके, सांप ने काट रखा हो या हड्डी टूट गयी हो या बुखार हो, हादी के पास सबका इलाज है। हादी ने हमें कई स्थानीय दवाएं दिखायीं। इनमें शामिल थीं आम के पेड़ की जड़ें, हांडा, तुलसी, आंवला, चंदन, नीम, पपीता, डोंगर, बिगुना और ढेर सारी जड़ी–बूटियां। जरूरत पड़ने पर वह मवेशियों की डाक्टरी का काम भी करता है। इसके लिए उसकी फीस भी बहुत मामूली है – थोड़ा चावल या मुर्गी, महुआ या सोलभ शराब।

वह अपने पोते मंगला को जल्दी ही इस बात का प्रशिक्षण देने की योजना बना रहा है कि जंगल से कौन सी चीज इकट्ठी की जाए, क्या इस्तेमाल किया जाए, कब और कैसे इस्तेमाल किया जाए। उसने गोवर्द्धन जैसे *दिस्सारियों* के बारे में सुन रखा है लेकिन उनको वह मान्यता नहीं देता। वह उन्हें तब तक मान्यता नहीं देता था जब तक खुद ही उसने उसकी खूबियों को परख नहीं लिया। वह जानना चाहता है कि ' इन *दिस्सारियों* को किसने प्रशिक्षित किया और क्या इन्हें जो कुछ सिखाया गया है, ठीक सिखाया गया है? खेमेंदु और मैंने गोवर्द्धन के साथ बिताए गए दिन को याद करते हुए सोचा कि उसका कहना सही है। कुछ खास बीमारियों के लिए हादी के बिरादरी के लोगों की सेवाएं खासतौर से ऐसे इलाके में बहुत महत्वपूर्ण हैं जहां डाक्टरों और अस्पतालों का अभाव है और जो हैं भी उनमें कोई उचित उपकरण नहीं हैं। विदेशी आर्थिक सहयोग से चलने वाले एक गैर सरकारी संगठन ने कुछ प्रयास करके एक

डॉक्टर को यहां बुलाया लेकिन वह डॉक्टर भी बोंडा लोगों से घबड़ाकर सात दिन बाद ही भाग गया। कुछ महीनों बाद वह विदेशी धन से चलने वाले एक दूसरे एनजीओ के लिए वाटर मैनेजमेंट एडवाइजर के रूप में प्रगट हुआ।

चीजों के बारे में लोगों के नजरिए में भी यहां काफी जटिलताएं हैं। एक तरफ तो ऐसे लोग हैं जो आदिवासियों की स्वास्थ्य प्रणाली के बारे में जरूरत से ज्यादा रोमांटिक ढंग से सोचते हैं। इनमें अधिकांश ऐसे लोग हैं जो कभी अपने परिवारजनों को इन दवाओं के करीब नहीं आने देंगे। दूसरी तरफ ऐसे लोग हैं जो देशी दवाओं को एकदम बकवास मानते हैं। उनका मूलमंत्र यह है कि ऐलोपैथिक प्रणाली के किसी न किसी इलाज को अपना लेना चाहिए। इन दोनों का नजरिया असंतुलित है।

जो लोग आदिवासी चिकित्सा पद्धति के प्रति रोमांटिक दृष्टिकोण रखते हैं वे यह नहीं कह सकते कि आदिवासी बच्चों को क्यों नहीं वही चिकित्सा सुविधाएं मिलनी चाहिए जो अन्य बच्चे प्राप्त करते हैं। न तो वे यह कह सकते हैं कि अगर इस तरह की चिकित्सा पद्धति अपने आप में इतनी परिपूर्ण है तो रोग से मरने वाले आदिवासियों की संख्या इतनी ज्यादा क्यों होती है या इनके यहां बाल मृत्युदर इतनी ज्यादा क्यों है। एलोपैथिक प्रणाली के समर्थक कभी भी पारंपरिक ज्ञान को महत्व नहीं देते और इनको बचाकर रखने के बारे में कभी नहीं सोचते।

शायद व्यापारिक मानसिकता इसमें कुछ काम करे। शहरी अभिजात्य वर्ग ने इसे पारंपरिक चिकित्सा पद्धति के रूप में पुनर्परिभाषित किया और अब इसने एक बड़े उद्योग का रूप ले लिया है। 1993 के आंकड़ों को ही देखें तो पता चलता है कि जड़ी बूटियों से इलाज करने के तरीके का विश्व स्तर पर जो व्यापार हुआ वह लगभग बीस हजार करोड़ रूपए का था। विडंबना यह है कि एक तरफ तो देशी चिकित्सा पद्धति को अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर ले जाया जा रहा है और दूसरी तरफ भारत के गांव दिनोदिन एलोपैथिक चिकित्सा पद्धति के चपेट में आते जा रहे हैं। यहां किसी भी ग्रामीण को जब तक ग्लुकोज की बोतल न चढ़ाई जाए या कोई इंजेक्शन न दिया जाए तो उसे यह महसूस ही नहीं होता कि उसका सही ढंग से इलाज किया गया है। एलोपैथी के प्रति इस ललक के कारण ही बड़े पैमाने पर झोला डॉक्टरों की बाढ़ आई है। इन दो अतिवादी रूझानों के संदर्भ में अगर देखें तो "बोंडा डॉक्टर" की अवधारणा में काफी संभावना दिखाई देती है। लेकिन चूंकि इनके काम करने की जबर्दस्त सीमाएं हैं इसलिए इनके साथ जोखिम भी उतना ही जुड़ा हुआ है।

सबके लिए मलेरिया सन् 2000 तक?

नवापाड़ा और मलकानगिरि (उड़ीसा) : 1992-93 में जब नवापाड़ा जिले के बीड़ीघाट गांव में लोग मलेरिया से मरने लगे तो घनश्याम बिथरिया ने तय किया कि उसे और उसके दोस्तों को फौरन इन मौतों का एक हिसाब रखना चाहिए। अगर उन्होंने ऐसा नहीं किया तो दूसरा कोई नहीं करने जा रहा है। उन्होंने खरियार ब्लाक के इस गांव में मलेरिया से हुई कम से कम 17 मौतों को रिकार्ड किया। जनवरी 1994 में मरने वालों की सूची में पांच नाम और जुड़ गए। स्थानीय प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र में जो रजिस्टर रखा हुआ है उनमें कहीं भी इन मौतों का जिक्र नहीं है।

पास के कुसमल गांव में दिसंबर 1993 और जनवरी 1994 में मलेरिया से 6 लोग मारे गए। इससे पहले के वर्ष में मरने वालों की सूची उतनी ही लंबी थी जितनी आज बीड़ीघाट की सूची है। खालना में बिहारी लाल सोनानी ने, जिसने एक सर्वेक्षण किया था, मुझे बताया–' इस गांव के चालीस प्रतिशत से ज्यादा लोगों को जनवरी–फरवरी में मलेरिया हो गया था। पिछले वर्ष बारिश के बाद हालत और खराब हो गई।' दूर बसे भोदन ब्लाक में भैंसाडानी के सरपंच घासीराम माझी ने मुझे बताया कि ' एक बार तो ऐसा हुआ कि बरसात के तुरत बाद हर घर में चार–पांच लोग मलेरिया से ग्रस्त थे।'

विश्व में मलेरिया के जो भी चार किस्म के मच्छर पाए जाते हैं उन सभी का मलकानगिरि में पालन–पोषण होता है। इनमें *प्लासीमोडियम फालसीपेरम* नाम का मच्छर भी शामिल है जिसके काटने से दिमागी मलेरिया होता है। पहले यह माना जाता था कि भारत में इन मच्छरों की केवल तीन तरह की नस्लें ही मौजूद हैं। मलकानगिरि और नवापाड़ा पश्चिमी उड़ीसा में हैं जहां मलेरिया की जबर्दस्त वापसी हुई है। राज्य के ये सबसे दुर्दशाग्रस्त जिले हैं और इन दोनों जिलों में देश के निर्धनतम लोग बसते हैं। यह भी सच है कि इन जिलों में रहने वाले लोगों को इस बात का थोड़ा आभास तो है ही कि उनके साथ ऐसा क्यों हो रहा है।

घनश्याम बिथरिया पश्चिम उड़ीसा कृषिजीवी संघ का नेता है और उसने बताया कि यहां के गांव में तीन–चार वर्षों से कभी–भी दवाई छिड़काव नहीं हुआ है। अगर कभी यहां दवाएं उपलब्ध होती भी हैं तो वे पूरी तरह असर नहीं डालतीं। यहां के डॉक्टरों में भी तभी चुस्ती देखी जाती है जब परिवार नियोजन का कोई कार्यक्रम चल

रहा हो। अभी यहां बीड़ीघाट में मलेरिया के तीस से भी ज्यादा मरीज हैं लेकिन इसका मुकाबला करने के लिए बिलकुल पैसा खर्च नहीं किया जा रहा है। कई स्थानों पर गांव के स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं को कई महीनों से उन्हें मिलने वाला पचास रुपया भी नहीं प्राप्त हुआ।

भैंसाडानी के सरपंच ने बताया–' हमारी पंचायत के अंतर्गत जो मलेरिया कर्मचारी था उसका तबादला बीस महीने पहले कर दिया गया लेकिन आज तक उसकी जगह पर कोई नहीं आया। ऐसा लगता है कि सरकार के पास पैसा खत्म हो गया है।' इन दोनों जिलों में प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों के कुछ अधिकारी यह मानते हैं कि पिछले वर्ष मलेरिया के खिलाफ जो अभियान छेड़ा गया था उस दौरान निर्धारित राशि में काफी कटौती हुई। एक डॉक्टर ने बताया कि क्लोरोक्वीन की यहां जबर्दस्त कमी देखी जा रही है जबकि इस समय उसकी बहुत जरूरत है।

दरअसल नई आर्थिक नीतियों के अंतर्गत कई इलाकों में जो 'किफायत अभियान' छेड़ा गया उसके फलस्वरूप 1992-93 के बजट में राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम के लिए निर्धारित राशि में 43 प्रतिशत की कटौती की गई।

डॉक्टर सुजाता राव ने फाउन्डेशन फॉर रिसर्च इन कम्युनिटी हेल्थ, बंबई के लिए लिखे गए एक परचे में इसको अच्छी तरह प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपने परचे में लिखा : 'केंद्रीय कोष के अभाव में अनेक राज्यों को इस कार्यक्रम के संदर्भ में काफी चोट पड़ी है। वस्तुतः मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम के अंतर्गत जो पैसा खर्च किया जाता है वह गांवों में कई तरह की बीमारियों का मुकाबला करने में मदद करने वाले कार्यकर्ताओं को मिलता है। इसलिए अगर इस कार्यक्रम के लिए निर्धारित राशि में कटौती की जाती है तो इसका असर अन्य कार्यक्रमों पर पड़ना लाजिमी है।' यह बात सही भी है। सेयालोटी गांव में 1993 में कम से कम आठ व्यक्तियों की पेचिश से मौत हुई। वहां ऐसा कोई स्वास्थ्य कार्यकर्ता नहीं था जो लोगों की मदद करता। उड़ीसा में और राष्ट्रीय स्तर पर भी मलेरिया की घटनाएं (खासतौर से दिमागी मलेरिया की घटनाएं) आदिवासी इलाकों में सबसे ज्यादा है।

सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली से किसी तरह की मदद की बहुत कम लोगों को उम्मीद होती है। घनश्याम बिठरिया ने खुद अक्तूबर 1993 में अपने बेटे को खरियार के सरकारी अस्पताल में भर्ती किया। उसके बेटे को तेज ज्वर था। घनश्याम ने बताया कि 'चार दिनों तक उसका बुखार एकदम नहीं उतरा। जब मैंने डॉक्टर से पूछा कि वह कोई इलाज क्यों नहीं कर रहा है तो उसने चीखते हुए कहा कि तुम एक बाप हो और कुछ नहीं जानते हो तो मैं क्या कर सकता हूं। फिर कुछ दूसरे मरीजों ने मुझे बताया कि मुझे कुछ पैसे यहां देने चाहिए थे। इसके बाद मैंने डॉक्टर को बीस रुपए दिए और तब उसने मेरे बेटे को इंजेक्शन दिया। इसके बाद उसका बुखार उतर गया और अगले

दिन अस्पताल से उसे छुट्टी दे दी गई।'

अन्य कई गांवों में मुझे लोगों ने बताया कि सार्वजनिक स्वास्थ्य केंद्र में जो लोग जाते हैं उनसे कहा जाता है कि वह डॉक्टर के घर जाकर मरीज को दिखाएं। (वैसे डॉक्टर का घर भी उसी अहाते के अंदर होता है)। एक सरपंच ने बताया कि अपने घर पर डॉक्टर प्राइवेट प्रैक्टिस करता है और लोगों से पैसे वसूलता है। यह काम वह अपनी ड्यूटी के समय में करता रहता है।' उड़ीसा में अभी इस बात पर प्रतिबंध नहीं है कि सरकारी डॉक्टर निजी प्रैक्टिस न करें। इसके बदले सरकार उन्हें 'नॉन प्रैक्टिसिंग अलाउंस' भी देती है ताकि वे स्वास्थ्य केंद्र से संबंधित अपनी जिम्मेदारी को पूरी तरह निभा सकें। पश्चिम उड़ीसा कृषिजीवी संघ के जगदीश प्रधान बताते हैं कि यहां के डॉक्टरों को हर तरफ से फायदा ही है। वे प्राइवेट प्रैक्टिस न करने का भत्ता भी लेते हैं और सरकारी अस्पताल के अहाते में ही बैठकर प्राइवेट प्रैक्टिस भी करते रहते हैं।

1980 के दशक के मध्य में भी उड़ीसा की आबादी का 13.6 प्रतिशत मलेरिया से प्रभावित था जो महाराष्ट्र के मुकाबले दुगुना था। फिर भी मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम पर राज्य सरकार ने प्रति व्यक्ति 3.41 रुपए व्यय किए जो महाराष्ट्र सरकार द्वारा व्यय किए गए धन का आधा था। दूसरे शब्दों में कहें तो उड़ीसा की समस्या अन्य राज्यों की समस्या के मुकाबले दुगुनी थी। लेकिन इस समस्या पर इसके द्वारा खर्च की गई धनराशि महाराष्ट्र के मुकाबले आधी से भी कम थी। 1991-92 में 'मितव्ययिता' के युग की शुरुआत हुई। इसी के साथ पैसे में कटौती और सेवा में गिरावट आई इसके एक साल बीतते-बीतते हालत और खराब हो गई।

इसके अलावा पुराने कालाहांडी जिले को काटकर बनाए गए नवापाड़ा नामक इस नए जिले में, जो इस कुख्यात क्षेत्र का सबसे गरीब हिस्सा है, कुछ और भी समस्याएं हैं। सरकारी आंकड़े बताते हैं कि डॉक्टरों के 54 पदों में से 26 अभी खाली पड़े हुए हैं। इसके अलावा नर्सों और फार्मासिस्टों के दस और पदों को भी भरा जाना है।

1993-94 में थोड़ा सुधार जरूर हुआ लेकिन जो नुकसान हो चुका था उसकी भरपाई संभव नहीं थी। इस बीच विश्व बैंक ने, जिसने पहले तो किफायत के लिए दबाव डाला, खर्च का स्तर बरकरार रखने के लिए ऋण की सुविधा दी। हालांकि कागज पर धन के आने जाने का सिलसिला दिखाई देता है लेकिन जो नुकसान हो चुका था और जो जड़ता आ चुकी थी वह बनी ही रही।

ऐसा क्यों हुआ? इसकी एक वजह यह है कि सरकारी आंकड़ों से हमें लगभग नहीं के बराबर जानकारी मिलती है। जो आंकड़े सार्वजनिक स्वास्थ्य केंद्रों में उपलब्ध हैं और जो खरियार के मिशन हॉस्पिटल में दिखाई देते हैं उन दोनों में बहुत अंतर है। मिशन हॉस्पिटल में डॉक्टर अजित सिंह ने 1993 का अपना रजिस्टर दिखलाया जिसमें

मलेरिया से हुई 20 से अधिक मौतें दर्ज थीं उन्होंने बताया –' 1993 में हमारे यहां *दिमागी* मलेरिया के शिकार 52 मामले आए। आप यह मानकर चलिए कि अगर दिमागी मलेरिया का एक मरीज है तो कम से कम दस ऐसे हैं जिन्हें साधारण मलेरिया हुआ है। इसका अर्थ यह हुआ कि पिछले साल हमने कम से कम मलेरिया के 570 मरीजों का इलाज किया।' लेकिन अगर नवापाड़ा जिले में स्थित पांच सार्वजनिक स्वास्थ्य केंद्रों और इसके सहायक 42 केंद्रों को जाकर देखें तो वहां आपको यह आंकड़ा नहीं मिलेगा।

खरियार स्थित सार्वजनिक स्वास्थ्य केंद्र के रजिस्टर को देखने से पता चलता है कि छह महीनों के अंदर दिमागी मलेरिया से मरने वालों की संख्या केवल तीन थी। फिर भी रजिस्टर में 'अज्ञात कारणों से' मरने वालों की संख्या २१६ और 'वृद्धावस्था के कारण' मरने वालों की संख्या 87 दिखाई गई है। 95 प्रतिशत से अधिक मौतों का कोई प्रमाणपत्र भी नहीं दिया गया है। 90 प्रतिशत से अधिक मौतें ऐसी हुईं जिनके पीछे मुख्य कारण यह था कि डॉक्टर ने ध्यान नहीं दिया। जिन्हें 'वृद्धावस्था' के कारण मृत दिखाया गया उनमें से कुछ की उम्र 50-55 थी और इस तरह की मौतें एक खास महीने में ही हुई थीं। जून 1993 में अर्थात बरसात से पहले एक भी मौत ऐसी नहीं हुई जिसका कारण वृद्धावस्था बताया गया हो। दिसंबर में इस तरह की 21 मौतें हुईं। इनमें से कुछ मौतें कुसमल और बीड़ीघाट गांव में हुईं जहां मलेरिया का प्रकोप खतरनाक स्तर तक था। वृद्धावस्था के कारण हुई मौतें बरसात के बाद ही देखी गईं, इससे साफ पता चलता है कि इनमें से अनेक की मौत का कारण मलेरिया था।

एक विक्षुब्ध डॉक्टर ने हमें बताया कि नवापाड़ा और मलकानगिरि में क्यों ज्यादातर मौतों के लिए वृद्धावस्था को जिम्मेदार ठहराया गया है और यह लिखा गया है कि कारण ज्ञात नहीं। 'मान लीजिए कोई व्यक्ति पहले दिन बीमार पड़ता है। पांचवें दिन स्थानीय स्वास्थ्य कर्मचारी उसके गांव का दौरा करता है। प्रायः यहां एक गांव से केंद्र की दूरी काफी ज्यादा होती है। छठें दिन उसके खून की जांच की जाती है और सातवें दिन सार्वजनिक स्वास्थ्य केंद्र के पास उसकी स्लाइड पहुंचती है। काम के बोझ से लदा टेक्नीशियन उन स्लाइडों के अध्ययन के लिए एक हफ्ते का समय लगाता है। 15 वें दिन अगर खून की जांच का नतीजा पॉजिटिव आता है तो इस मामले को वापस स्वास्थ्य कार्यकर्ता के पास भेजा जाता है और इस प्रक्रिया में फिर दो तीन दिनों की देर होती है। इसके बाद स्वास्थ्य कार्यकर्ता दवाएं जुटाता है और गांव में पहुंचता है। इस दौरान और तीन दिन नष्ट हो जाते हैं। तो हम देखते हैं कि प्रभावित व्यक्ति तक इलाज पहुंचते-पहुंचते 21 दिन बीत चुके होते हैं। इससे न केवल उस व्यक्ति का नुकसान होता है बल्कि इसका अर्थ यह भी हुआ कि मच्छर उस प्रभावित व्यक्ति से कुछ कीटाणु लेकर दूसरों तक भी फैलाने का काम कर चुके होते हैं।'

मलेरिया उन्मूलन बजट में जो जबर्दस्त कटौती हुई उससे अनेक मलेरिया कार्यकर्ताओं अथवा गांव में काम करने वाले स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं को इस काम से अलग होना पड़ा। अगर उन्हें 50 रुपए की न्यूनतम राशि का भी भुगतान नहीं किया जाता है तो वे कैसे काम कर सकते हैं। इधर बीमारी बढ़ती गई और उनकी संख्या कम होती गई। इस प्रकार अब एक मलेरिया कार्यकर्ता को पहले से निर्धारित पांच गांव के अलावा अन्य गांव की भी देखभाल करनी पड़ती है। इसके कारण मरीजों को लंबे समय तक रोग को झेलना पड़ता है। एक स्थानीय डॉक्टर ने हमसे कहा कि 'यदि मलेरिया की दवाओं में इतनी कमी आती जाएगी, इसके लिए निर्धारित राशि में इसी तरह कटौती होती रहेगी तो शायद सन् 2000 तक हम सब लोग मलेरिया से ग्रस्त हो जाएंगे।'

पुनश्च

इस समाचार के *टाइम्स ऑफ इंडिया* में प्रकाशित होने के बाद जो प्रतिक्रियाएं देखने को मिलीं वह ठेठ सरकारी किस्म की थीं। संसद में सवाल उठने के बाद खरियार क्षेत्र की यात्रा पर दो दल भेजे गए जिन्हें अपना अध्ययन बीड़ीघाट क्षेत्र पर केंद्रित करना था। इनमें से एक दिल्ली से भेजी गई मेडिकल टीम थी और दूसरी टीम भुवनेश्वर से रवाना हुई थी। इस सिलसिले में जो पहली कार्रवाई हुई वह यह थी कि सार्वजनिक स्वास्थ्य केंद्रों में काम करने वालों की इस बात के लिए जमकर खिंचाई हुई कि उन्होंने मुझसे बातचीत की थी और सरकारी दस्तावेजों के तथ्यों को 'लीक' किया था।

किस आधार पर वे सार्वजनिक आंकड़ों को मुझे देखने से रोक सकते थे यह मैं नहीं जानता हूं। लेकिन अधिकारियों ने उनके खिलाफ कार्रवाई की। यह भी पता करना मुश्किल ही है कि जो दल बीड़ीघाट गए थे वे क्या जानना चाहते थे। वहां के स्थानीय लोगों का कहना है कि दल के सदस्यों ने केवल स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं से बात की और अपना काम समाप्त कर लिया। उन कार्यकर्ताओं ने समझा कि लगता है कि 50 रुपए की महीनों से बकाया राशि अब आ गई है। दल के सदस्यों ने गांव के लोगों की पूरी तरह उपेक्षा की। बेशक उन लोगों ने कुछ लोगों के खून की स्लाइडें तैयार कीं। शायद उन्होंने यह सोचा था कि इनकी जांच रिपोर्टों से अखबारी रिपोर्ट की धज्जियां उड़ जाएंगी। लेकिन कालाहांडी के अत्यंत सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता कपिल नारायण तिवारी के अनुसार जो सच्चाई थी वह बिलकुल भिन्न थी। उन्हें उन दिनों से भी ज्यादा बदतर स्थिति देखने को मिली जिन दिनों मैं इलाके के दौरे पर गया था।

इसका सकारात्मक पक्ष यह है कि इस रिपोर्ट के प्रकाशित होने के बाद जो

हो हल्ला हुआ उसके कुछ अच्छे नतीजे सामने आए। खरियार और पास के इलाकों में स्थित सार्वजनिक स्वास्थ्य केंद्रों में बड़े पैमाने पर दवाएं पहुंचाई गईं। मई 1995 में जब मैं दुबारा नवापाड़ा गया तो यह मैंने खुद ही देखा। मैंने देखा कि डॉक्टरों की जो खाली जगहें थीं उनमें से भी कुछ पर नियुक्तियां कर दी गई हैं।

फिर भी जहां तक मेरी जानकारी है किसी भी दल ने अपनी कोई रिपोर्ट नहीं तैयार की। अखबार में छपी रिपोर्ट के एक भी शब्द को चुनौती नहीं दी गई। टाइम्स की रिपोर्ट को लेकर कुछ अन्य पत्रिकाओं ने भी अपने यहां इसे प्रकाशित किया था। राजस्थान तथा अन्य स्थानों से भी इसी तरह की रिपोर्टें आने लगीं। महाराष्ट्र जैसे संपन्न राज्य के आदिवासी इलाकों में इस समस्या ने और भी गंभीर रूप ले लिया था। हम देख रहे हैं कि मलेरिया की बहुत बड़े पैमाने पर वापसी हो चुकी है। सरकारी नीतियों की विफलता और उदासीनता के फलस्वरूप इसकी वापसी तो हुई है लेकिन करोड़ों भारतीयों के लिए अभी तक स्वस्थ रहने की कोई व्यवस्था नहीं की जा सकी।

शिक्षा की अलबेली चाल

ग्रामीण भारत में शिक्षा पाने का सुख

'**शिक्षा** वाले हिस्से में **केवल तीन** स्टोरी? बस इतना ही?' एक मित्र ने पूछा।

निश्चय ही इस हिस्से में शिक्षा पर कुछ और रिपोर्ट होतीं बशर्ते जिन स्थानों में मैं गया था वहां शिक्षा पर कुछ और काम किया गया होता।

दरअसल *टाइम्स ऑफ इंडिया* के लिए मैंने जो तीस से अधिक रिपोर्ट तैयार की थीं उनमें गरीब से गरीब जिलों में प्राइमरी स्कूलों के होने का उल्लेख था। इनका उल्लेख प्रायः ऐसे स्कूलों के रूप में किया गया था जहां या तो अध्यापक नहीं थे या जहां पढ़ाई नहीं होती थी। जहां या तो छात्र नहीं थे या सचमुच जहां किसी स्कूल का अस्तित्व ही नहीं था। उनमें से अनेक का उल्लेख इस पुस्तक में संकलित रिपोर्टों में किया गया है। लेकिन विस्तार के साथ उन तीन स्कूलों पर लिखा जाना मैंने जरूरी समझा जिन्हें देखने से यह पता चलता है कि यह देश अपनी जनता को किस तरह की शिक्षा प्रदान कर रहा है।

इस देश में स्कूल जाने वाली आयु के प्रत्येक 100 बच्चों में से लगभग 70 बच्चे पहली कक्षा में पढ़ते हैं। इनमें से आधे प्राइमरी स्कूल की पढ़ाई पूरी करने से पहले ही स्कूल छोड़ देते हैं। बाकी 35 में से 10 से भी कम कक्षा आठ से ऊपर तक पहुंचते हैं। अंत में पांच से भी कम हाईस्कूल तक पहुंचते हैं। भोपाल स्थित एनजीओ 'एकलव्य' की डॉक्टर अनिता रामपाल का कहना है कि इससे यह पता चलता है कि हमारी व्यापक स्कूल प्रणाली की औसत क्षमता पांच प्रतिशत से भी कम है।

शायद इससे भी कम। बीच में पढ़ाई छोड़ देने वालों की संख्या को देखें तो स्कूल में नाम लिखाने वालों की संख्या का कोई मतलब नहीं रह जाता। जनसंख्या के आंकड़ों को देखने से यह पता चलता है कि 6-14 आयु वर्ग के 17 करोड़ 19 लाख बच्चों में से आधे स्कूल जाते हैं। इस आयु वर्ग में 13 करोड़ से भी अधिक ग्रामीण बच्चों में से 57 प्रतिशत स्कूलों में नहीं हैं। 6-11 आयु वर्ग की लड़कियों में से केवल लगभग एक तिहाई लड़कियां स्कूल जाती हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले बच्चों को आमतौर पर अपने स्कूलों में पहुंचने में काफी श्रम करना पड़ता है। मौजूदा आंकड़ों में इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया गया है। राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (एनसीइआरटी) के 1989 के अखिल भारतीय शिक्षा सर्वेक्षण को देखें तो पता चलता है कि ग्रामीण आबादी के 94 लोगों को एक किलोमीटर के अंदर एक प्राइमरी स्कूल प्रदान किया गया था। 85 प्रतिशत लोगों को तीन किलोमीटर के अंदर मिडिल स्कूल की बात कही गई है।

यह बहुत अच्छी बात है। लेकिन तभी तक जब तक आप खुद उस इलाके को न देख लें, उन स्कूलों का जायजा न ले लें और उन दिक्कतों को न महसूस करें जो इन स्कूलों तक पहुंचने में छात्रों को उठानी पड़ती हैं। जिस दूरी को शिक्षा विशेषज्ञ 'कुछ कदम' बताते हैं उसे बिना देखे नहीं समझा जा सकता।

भारत में जो भी प्राइमरी स्कूल हैं उनमें से 60 प्रतिशत से भी अधिक में केवल एक अध्यापक है। अगर वह स्कूल बहुत खुशकिस्मत हुआ तो वहां दो अध्यापक मिल सकते हैं और इनके जिम्मे कक्षा एक से पांच तक के सभी छात्रों को शिक्षा देना होता है। इनमें से अधिकांश निपट ग्रामीण क्षेत्र में हैं। इनके पास अत्यंत न्यूनतम सुविधाएं भी नहीं हैं जो किसी स्कूल को चलाने के लिए जरूरी होती हैं। एनसीइआरटी के पांचवें सर्वेक्षण में यह भी बताया गया है कि पांच लाख 29 हजार प्राइमरी स्कूलों में से आधे से भी अधिक ऐसी हालत में हैं जहां पीने के पानी की सुविधा नहीं है। लगभग 85 प्रतिशत ऐसे हैं जहां कोई पेशाबघर या शौचालय नहीं हैं। 71,000 स्कूलों के पास पक्का या कच्चा किसी भी तरह का अपना भवन नहीं है। कुछ और ऐसे भी हैं जिनके पास अपनी इमारतें तो हैं लेकिन उनकी हालत बहुत खराब है।

बिहार में गोड्डा और पलामू के अनेक ग्रामीण क्षेत्रों में जो स्कूल बने हुए हैं उनका इस्तेमाल अनाज के गोदाम के लिए या मवेशी बांधने के लिए किया जाता है। ऐसे भी बहुत सारे स्कूल हैं जिनमें वर्षों से किसी अध्यापक के दर्शन नहीं हुए। पांचवीं सर्वेक्षण रिपोर्ट में यह भी बताया गया है कि 2628 प्राइमरी स्कूलों में एक भी अध्यापक नहीं है।

संविधान के अनुच्छेद 45 में कहा गया है कि राज्य " सभी बच्चों को तब तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करेगा जब तक वे 14 वर्ष के नहीं हो जाते।" यह काम हमारे संविधान के पारित होने के दस वर्षों के अंदर किया जाना था। वास्तविकता यह है कि राज्य ने बच्चों के प्रति अपने कर्तव्य से बड़ी चालाकी के साथ कन्नी काट ली है।

हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा के मद में निर्धारित बजट में लगातार गिरावट आती गई है। जिन लोगों ने आजादी की लड़ाई में देश का नेतृत्व किया उनकी दृष्टि एकदम भिन्न थी। वे चाहते थे कि स्वतंत्र भारत में किसी भी हालत में शिक्षा के मद में दस प्रतिशत से कम न खर्च किया जाए। आजाद भारत ने इसका लगातार उल्लंघन किया।

· पहली पंचवर्षीय योजना में शिक्षा के मद में कुल बजट का 7.86 प्रतिशत रखा गया। दूसरी योजना में इसे घटाकर 5.83 प्रतिशत कर दिया गया। पांचवीं योजना तक राज्य ने सोचा कि शिक्षा का काम केवल 3.27 प्रतिशत से ही चलाया जाए। सातवीं योजना में यह राशि 3.5 प्रतिशत थी। जैसे--जैसे बच्चों की शिक्षा की समस्या गंभीर होती गई, वैसे वैसे शिक्षा पर होने वाले खर्च में भी कमी आती गई।

अगर आप केंद्र और राज्य दोनों की सरकारों द्वारा खर्च की गई राशि पर विचार करेंगे तो भी तस्वीर कोई बेहतर नहीं दिखाई देती। भारत में शिक्षा पर अभी जो पैसा खर्च किया जा रहा है वह सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 3.5 प्रतिशत से अधिक नहीं है। खुद केंद्र भी यह मानता है कि न्यूनतम 6 प्रतिशत होना चाहिए। शिक्षा पर तंजानिया

सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 4.3 प्रतिशत केन्या, 6.7 प्रतिशत और मलेशिया 7.8 प्रतिशत खर्च करता है।

बजट में कटौती और सुनियोजित उपेक्षा ने सबसे गरीब और सबसे कमजोर वर्ग को प्रभावित किया। जो सबसे गरीब थे उन्हें स्कूली पढ़ाई के प्रारंभिक चरण से ही अलग हो जाना पड़ा। एक आकलन के अनुसार जो बच्चे पढ़ाई बीच में छोड़ते हैं उनमें से चालीस प्रतिशत से भी अधिक ने यह बताया कि उनकी पढ़ाई छोड़ने का कारण विशुद्ध आर्थिक है।

लड़कों के मुकाबले 'ड्राप आउट्स' (बीच में पढ़ाई छोड़ने वाले) के मामले में लड़कियों की संख्या ज्यादा है। स्कूलों में लड़कियों के मुकाबले लड़कों की संख्या डेढ़ गुनी अधिक है। ग्रामीण क्षेत्रों में यह अंतर और भी ज्यादा है। एक एनजीओ कार्यकर्ता डॉक्टर अनिल सद्गोपाल का कहना है कि भारत में ऐसे 123 जिले हैं जहां गांवों में महिलाओं की साक्षरता दर 10 प्रतिशत से भी कम है। राष्ट्रीय स्तर पर महिला साक्षरता दर अनुमानतः चालीस प्रतिशत है।

अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के बीच साक्षरता के स्तर में और गैर अनुसूचित जाति/जनजाति के साक्षरता स्तर में 1961 से 1981 के बीच बहुत अंतर पड़ा। दलित महिलाओं के बीच अखिल भारतीय स्तर पर 10.9 प्रतिशत साक्षरता है। आदिवासी महिलाओं में यह 8 प्रतिशत है। अनुसूचित/जनजाति के अध्यापकों की संख्या काफी कम है। अनेक जिलों में इन जातियों की संख्या काफी है लेकिन यहां भी अध्यापकों की संख्या बहुत कम है।

यह सही है कि गांव के गरीब लोगों में से अनेक अपने लिए स्थापित स्कूलों में भी नहीं जाते। कुछ क्षेत्रों में उनके लिए जो स्कूल बनाए गए हैं उनकी हालत देखी जाए तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। शायद भद्र लोगों को इस बात पर विश्वास न हो कि गरीब लोग भी अपने बच्चों को स्कूल भेजना चाहते हैं। फिर भी स्कूलों की बात तो छोड़ दीजिए अनुसूचित जाति/जनजाति के लिए उच्च शिक्षा संबंधी जो संस्थान स्थापित किये गए हैं वे भी एक मजाक लगते हैं।

ज्ञान के क्षेत्र तक गरीबों की पहुंच को रोकने का एक पुराना इतिहास है। प्राचीन राजनीतिक और वैधानिक व्यवस्था को अभिव्यक्ति देने वाली 'स्मृति' में ज्ञान की चाह रखने वाले शूद्रों के लिए कठोर दंड की व्यवस्था है। (उन दिनों ज्ञान प्राप्त करने का अर्थ था वेदों का अध्ययन)। जो कानून बनाए गए थे उनमें से एक कानून के अनुसार अगर कोई शूद्र वेद की ऋचाओं को सुन लेता था तो उसके कान में पिघलता हुआ लोहा या लाख डालने की व्यवस्था थी। अगर उसने वैदिक पाठों का उच्चारण करने की हिमाकत की तो उसके लिए मृत्युदंड की व्यवस्था थी। जन्म से ही वह इस तरह का भाग्य लेकर आता था। प्राचीन काल में शिक्षा पर रोक जन्म के आधार पर लगाई गई थी।

आज के राजनीतिक वातावरण में जहां किसी भी जाति में जन्म लेने वाले को वोट देने का अधिकार है, अभिजात्य लोग अलग ढंग से काम कर रहे हैं। उनका मानना है कि जो भी सही बातें हैं उन्हें बोलते रहो लेकिन कोशिश करो कि उस पर अमल न हो। कभी–कभी जनमत के दबाव के चलते कुछ रियायतें दे दी जाती हैं। तब वे थोड़ा झुकते हैं लेकिन कुछ समय बाद फिर वही पुरानी रफ्तार चालू हो जाती है। एक लेखक ने एक जगह लिखा है– जब गरीब आदमी साक्षर और शिक्षित होता है तो धनी आदमी के विशेषाधिकार पर चोट पहुंचती है।

दलितों और आदिवासियों की स्थिति दिनोंदिन खराब होती जा रही है। पहली बात तो यह है कि अनुसूचित जाति/जनजाति के बहुत कम छात्रों को स्कूलों में दाखिला मिलता है। इसके बाद उनके ड्राप आउट्स की दर भी बहुत ज्यादा है। गैर अनुसूचित जाति/जनजाति के छात्रों में प्रत्येक 100 में से लगभग 60 ड्राप आउट्स कक्षा 6 से 8 के बीच पाए जाते हैं। दलितों के लिए यह संख्या 70 और आदिवासियों के लिए 80 है। इसलिए जिनकों सबसे ज्यादा शिक्षा की जरूरत है उनमें से अधिकांश की कक्षा 8 तक ही छंटाई हो जाती है।

लेकिन हम कथनी में सारी सही बातें करते रहते हैं। पिछले वर्षों के दौरान हमने देखा है कि विभिन्न सरकारों ने बड़ी निष्ठा के साथ साक्षरता को बढ़ावा देने की घोषणा की। इस काम के लिए हमारे पास एक राष्ट्रीय साक्षरता मिशन भी है। इसके अनेक लक्ष्यों और कार्यों को आपके समर्थन की जरूरत है लेकिन इसकों संचालित करने वालों की नीयत ठीक नहीं है। किसी ऐसी सरकार के लिए जो बच्चों के प्रति अपने दायित्वों के मामले में इतनी लापरवाह हो साक्षरता को अमल में लाना बहुत मुश्किल है।

साक्षरता को एक गुण बनाना अलग बात है। लेकिन शिक्षा के क्षेत्र में सरकार की भागीदारी को और कम करने के लिए इसे औजार की तरह इस्तेमाल करना दूसरी बात है। लोगों को साक्षर बनाकर सरकार उन पर कोई कृपा नहीं कर रही है। बच्चों को स्कूल भेजकर वह कोई बहुत बड़ा पुण्य का काम नहीं कर रही है। यह तो उसका दायित्व है और उसे इस दायित्व का निर्वाह करना ही चाहिए। साक्षरता एक महत्वपूर्ण सामाजिक उपकरण है। साक्षरता को ही आप शिक्षा नहीं कह सकते।

देश के विभिन्न भागों में साक्षरता आंदोलन ने महान सफलताएं हासिल की हैं। प्रायः अनेक सरकारी अवरोधों के बावजूद इस काम को संपन्न किया गया है। इसका सर्वोत्तम रूप वहां देखने को मिला है जहां लोगों ने इस आंदोलन को अपनी जरूरतों और अपनी वास्तविकताओं के अनुरूप ढाल लिया है। आमतौर से यही बात सरकारों को डरा देती है। औरतों को आप साक्षर बनाइए और पता चला कि वे शराब की दुकानें बंद कराने के अभियान में जुट गई। यह तो ठीक है कि लड़कियां पढ़ना लिखना जान जाएं लेकिन इतना न जान जाएं कि वे राजनीति में भी, जैसा कि तमिलनाडु में देखा गया

है, राजनीति में थी टांग अड़ाने लगें।

जहां भी साक्षरता को जनता के जीवन के साथ जोड़ा गया वहां यह देखने में आया कि स्कूलों में हाजिरी ज्यादा हो गई। तमिलनाडु में पुडुकोट्टई एक अच्छा उदाहरण है। इसलिए साक्षरता का शैक्षणिक प्रक्रिया में जबर्दस्त योगदान है। फिर भी यह शिक्षा का स्थान नहीं ले सकती। और कुछ क्षेत्रों में कितनी भी शानदार सफलताएं क्यों न हों आपको फिर भी अंतिम लेखा–जोखा देखना ही होगा। यह भयावह है। भारत में अभी महज 52 प्रतिशत साक्षरता दर है।

जैसा कि प्रो. अर्मत्य सेन और ज्या ड्रेज ने बताया है–" भारत में साक्षरता दर चीन के मुकाबले काफी कम है। तीस साल पहले या इससे भी पहले जिस समय इन देशों में तीव्र गति से आर्थिक विस्तार हो रहा था उस समय भी इस दर में तेजी से वृद्धि हुई। चीन और भारत के अलावा निम्न आय वाले जो भी देश हैं वहां औसत साक्षरता दर काफी कम है। यहां तक कि उपसहारा वाले अफ्रीका की साक्षरता दर से भी कम।"

लेकिन इधर कुछ वर्षों से भारतीय राज्य के सामने कुछ दूसरे सवाल पैदा हो गए हैं। मिसाल के तौर पर उनकी कोशिश है कि शिक्षा के मामले में कैसे गोलमाल किया जाए। अपने इस दायित्व से कैसे कन्नी काटी जाए। इसके कारण कई घोटाले हुए हैं। विनम्र शब्दावली में अगर कहें तो इस घोटाले का एक रूप है अनौपचारिक शिक्षा। इसे किसी न किसी रूप में हमेशा रखा गया और 1985 की नई आर्थिक नीति में इसे काफी ताकत मिली। उस समय सरकार ने तो यहां तक कहा कि अनौपचारिक शिक्षा योजना के अंत तक ढाई करोड़ बच्चे शिक्षित किए जा सकेंगे।

अपने इस कार्यक्रम में सरकार प्रशिक्षित और पूर्णकालिक अध्यापकों से छुट्टी पा लेगी और इस प्रकार कुल खर्च में 95 प्रतिशत की कटौती हो जाएगी। प्रशिक्षित अध्यापकों के स्थान पर अप्रशिक्षित इंस्ट्रक्टरों को रखा जाएगा। इसके लिए स्कूलों की कोई जरूरत नहीं होगी– बस कुछ केंद्र होंगे जिनसे काम चला लिया जाएगा। व्यवहार में काम के घंटे दो से शून्य तक होंगे। देश के अंदर कुल ढाई लाख से भी अधिक अनौपचारिक शिक्षा केंद्र हैं। डॉक्टर रामपाल बताते हैं कि इनका अस्तित्व एक दूसरे दर्जे के स्कूलों जैसा है। यहां तक कि इनकी हालत गांवों के प्राइमरी स्कूलों से भी बदतर है। उन्होंने बताया कि मध्य प्रदेश में इस तरह के 35,000 केंद्र हैं। यहां भर्ती सात लाख बच्चों में से ऐसे केवल पांच प्रतिशत लड़के और तीन प्रतिशत लड़कियां हैं जिन्होंने कक्षा पांच तक की पढ़ाई पूरी की।

देश का भद्र समुदाय इस बात पर एक शब्द भी नहीं बोलता कि इस स्थिति में सुधार लाया जाए और जनता के अधिकारों को पूरी ताकत के साथ बहाल किया जाए। अगर कक्षा की पढ़ाई लाखों करोड़ों भारतीयों के लिए 'प्रासंगिक' नहीं है तो क्यों नहीं इसे प्रासंगिक बनाने का प्रयास किया जा रहा है? स्कूलों और कक्षाओं को क्यों नष्ट

किया जा रहा है। अनौपचारिक शिक्षा केंद्रों की स्थापना के पीछे जो निहितार्थ है वह यह कि सार्वभौम शिक्षा अब लक्ष्य नहीं रह गया है। सभी बच्चों को उत्तम शिक्षा प्राप्त करने का समान अधिकार नहीं है। जाहिर है कि भारत का भद्र लोकतंत्र इसी तरह सोचता है।

संभव है कि कुछ अनौपचारिक शिक्षा केंद्र एक मॉडल की तरह हों। ऐसा लगता है कि इस तरह के केंद्रों की कोई गिनती भी है। फिर भी किसी केंद्र से ऐसे परिणाम नहीं सामने आए जिनकी पुष्टि की जा सके। इन केंद्रों ने बहुत साफतौर पर शिक्षा में एक जातिप्रथा का प्रदर्शन किया है। गरीबों के लिए एक खास तरह की शिक्षा और अमीरों के लिए एकदम अलग किस्म की शिक्षा। ध्यान देने की बात है कि जिन्होंने भी अनौपचारिक शिक्षा केंद्रों की योजना बनाई अथवा जो लोग इसके बल पर अपनी आजीविका चला रहे हैं उन सबने औपचारिक प्रणाली से अपनी शिक्षा प्राप्त की। उनके खुद के बच्चे आमतौर पर अत्यंत औपचारिक स्कूलों में पढ़ाई करते हैं।

इस घोटाले में काफी पैसा है। गरीबों तक शिक्षा पहुंचाने के नाम पर विभिन्न लाबियों ने इन वर्षों में करोड़ों रुपए कमाए हैं। नतीजा क्या निकला–जीरो। अगर अनौपचारिक शिक्षा केंद्र इतना ही शानदार और क्रांतिकारी कदम है तो क्यों नहीं सभी स्कूलों को समाप्त कर दिया जाता है और सभी बच्चों को इन्हीं केंद्रों में भर्ती कर लिया जाता है। लेकिन अगर ऐसा किया गया तो समाज के चुनिंदा लोगों के लिए दिक्कत पैदा हो जाएगी।

औपचारिक स्कूली व्यवस्था में शिक्षा के लिए निर्धारित इस तरह के धन के साथ क्या किया जाता है? बंबई विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग के डा. के. सीता प्रभु ने एक दिलचस्प तथ्य की ओर संकेत दिया। उन्होंने बताया कि भारत में जितने भी स्कूल हैं उनमें से एक बहुत बड़ी संख्या निजी स्वामित्व के अधीन है। यद्यपि उनके लिए पैसा सरकारी कोष से आता है और उनका संचालन निजी तौर पर किया जाता है। यहां तक कि स्कूलों के लिए निर्धारित सरकारी खर्च का 60 प्रतिशत हिस्सा अनुदान के रूप में निजी स्वामित्व वाले स्कूलों को ही जाता है। भारत के 14 प्रमुख राज्यों में सामाजिक सेवाओं पर जो सहायता राशि खर्च होती है उनमें से शिक्षा के लिए 32 प्रतिशत रखा गया है। इसमें से आधे से भी कम पैसा प्राथमिक शिक्षा के लिए दिया जाता है। धन के अभाव से आभिजात्य लोगों के लिए बने उच्चतर शिक्षा केंद्र कुछ खास प्रभावित नहीं होते।

जितने भोंडे प्रयोग शिक्षा के क्षेत्र में किए गए हैं शायद ही किसी और क्षेत्र में किए गए हों। सभी लोग इसकी सच्चाई को जानते हैं फिर भी इनमें से अनेक प्रयोग अभी भी जारी हैं। कम से कम सरकार को तो यह पता ही है कि कुछ बुनियादी चीजें हैं जिनके बिना दुनिया में कोई काम नहीं किया जा सकता। इनमें से एक चीज यह भी है कि प्राथमिक शिक्षा को सबके लिए सुलभ बनाया जाए। शहर में रहने वाला बच्चा हो या देहात में, हर बच्चे को शिक्षा पाने का अधिकार है।

इतना ही नहीं। शिक्षा को न केवल निःशुल्क किया जाए बल्कि अनिवार्य भी बनाया जाए–माध्यमिक स्तर तक। यदि ऐसा किया गया तभी बाल मजदूरी पर रोक लगाई जा सकती है। जो एक ऐसा कृत्य है जिससे कई मामलों में भारत को नुकसान उठाना पड़ रहा है। जब तक आप बाल मजदूरी को समाप्त नहीं कर देते अनेक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्याओं को हल नहीं कर सकेंगे। इनमें प्रमुख हैं शिक्षा, बेरोजगारी और वयस्कों के लिए राष्ट्रीय स्तर पर न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण।

शिक्षा के क्षेत्र में धनराशि निर्धारित करने का हमारा मौजूदा स्तर बहुत बकवास है। जब तक हम सकल राष्ट्रीय उत्पाद का कम से कम छह प्रतिशत इसके लिए नहीं निर्धारित करते तब तक कुछ बेहतर नतीजे पाने की उम्मीद बहुत कम है। दक्षिण पूर्व एशिया के देशों (जिन्हें हम टाइगर कहते हैं) को मॉडल के रूप में सामने रखना एक अलग बात है लेकिन इस मॉडल का अनुकरण करना अलग है। खासतौर से ऐसे देश के लिए जिसकी प्रतिबद्धता जनतंत्र में हो। शिक्षा के क्षेत्र में इस प्रतिबद्धता का क्या असर दिखाई दे रहा है। दक्षिण पूर्व एशिया के देशों ने शिक्षा के मद में जितनी धनराशि निर्धारित की उतनी हम कभी निर्धारित नहीं कर सके।

जनसमुदाय की निरक्षरता और शिक्षा का अभाव और दूसरे तरीकों से भी हमें चोट पहुंचाती है। इसका मतलब यह हुआ कि भारत की सर्वाधिक बुनियादी क्षमताओं की धार कुंद हो गई है और इसी लिए आर्थिक विकास को नुकसान उठाना पड़ रहा है। इस क्षेत्र में जब तक बुनियादी परिवर्तन नहीं होगा कोई भी महत्वपूर्ण सुधार नहीं किया जा सकता।

फिर भारत के सामने रास्ता क्या है। जैसा कि जॉन गालब्रेथ ने एक बार कहा था–" कोई भी साक्षर आबादी नहीं है जो गरीब हो, कोई भी निरक्षर आबादी नहीं है जो गरीबी के अलावा और कुछ झेल रही हो।"

स्कूल जैसी कोई जगह नहीं

गोड्डा (बिहार) : यहां डमरूहाट में जो मिडिल स्कूल है उसमें छात्रों, अध्यापकों और संसाधनों के बीच अभी हाल तक एक बहुत अच्छा संबंध रहा है। यहां आठ कक्षाएं चलती थीं, सात अध्यापक थे, चार छात्र थे, कक्षाओं के लिए दो कमरे थे और एक टूटी हुई कुर्सी थी।

हेडमास्टर के लिए यह कुर्सी रिजर्व थी और खाली पड़ी थी क्योंकि एक गबन के आरोप में हेडमास्टर साहब मुअत्तल हो चुके थे। मिडिल स्कूल के हेडमास्टरों के जिम्मे एक काम यह भी होता है कि वे संबद्ध क्षेत्र में अध्यापकों के वेतन बंटवाने का काम भी देखें। किसी डिप्टी कमिश्नर ने जब यह देखा कि यहां के हेडमास्टर साहब ऐसे अध्यापकों को तन्ख्वाह बांट रहे हैं जिनका अस्तित्व ही नहीं है तो उनको मुअत्तल कर दिया।

अन्य दो अध्यापकों का भी तबादला हो गया। इस समय स्कूल में चार अध्यापक हैं और दस से बारह छात्र आते हैं। वैसे रजिस्टर में 15 छात्रों के नाम दर्ज हैं। कुछ दिन तो ऐसा हुआ कि केवल दो ही छात्र स्कूल आते थे। गोड्डा कॉलेज के प्रो. सुमन दरधियार ने कहा कि प्राइवेट ट्यूशन में भी ऐसा देखने में नहीं आता कि एक छात्र पर दो अध्यापक हों।

आदिवासी गांव में तो हालत और भी बुरी है। बोरीजोर ब्लॉक के अंदर पहाड़ी क्षेत्र में स्थित अद्रो में स्कूल मास्टर श्यामसुंदर मलतो को लगभग दो वर्षों से किसी ने देखा ही नहीं। इस स्कूल तक पहुंचने के लिए हमें बेहद ऊबड़–खाबड़ रास्तों से होते हुए चौदह किलोमीटर की दूरी तय करनी पड़ी। अब इस स्कूल की इमारत में तेंदु के पत्ते और मकई रखने का काम होता है।
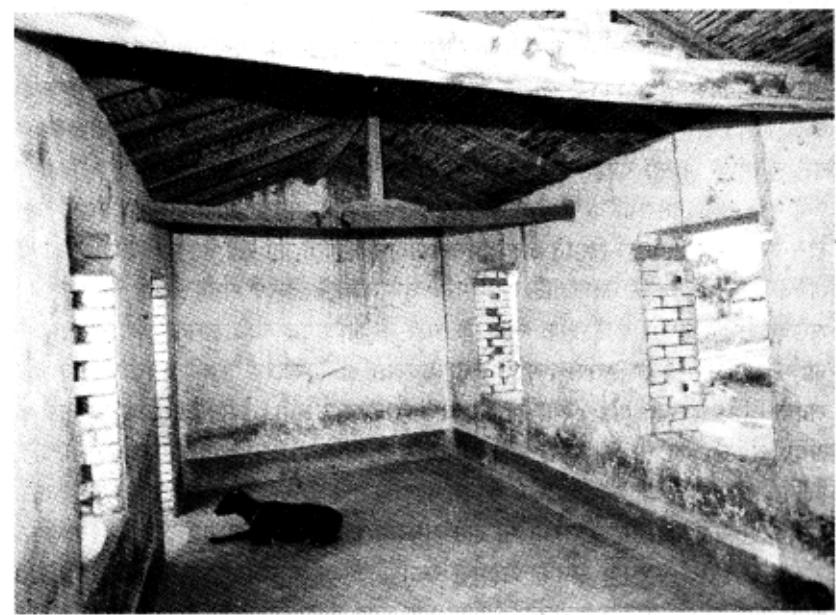
मरटो दो साल पहले यहां से गए और अपने साथ यहां का हाजिरी रजिस्टर भी लेते गए। तेथरी गोड्डा के मधु सिंह बताते हैं कि–" मास्टर साहब अपने घर रतनपुर में रजिस्टर रखे हुए हैं, वहीं हाजिरी लगाते रहते हैं और फिर जाकर अपनी तनख्वाह बटोर लाते हैं। गांव वाले एक बार बहुत नाराज होकर मधु सिंह की अगुआई में उस मास्टर के घर गए ताकि उसे पकड़ कर ला सकें। मास्टर ने इन लोगों पर डकैती डालने और हमला करने का केस बना दिया। इस सिलसिले में मुकदमे की कार्रवाई अभी चल रही है।

गोड्डा कस्बे के नजदीक नून माटी गांव में कहारों की बहुत बड़ी बस्ती है।

ये लोग इलाके के सबसे गरीब तबके के हैं। यहां प्राइमरी स्कूल की जो इमारत है उसमें छात्र के रूप में केवल एक काला बकरा देखने को मिला। दो अन्य बकरे खिड़की के पास आराम से बैठे हुए थे। यहां के स्कूल में एक भी कहार बच्चा नहीं जाता है हालांकि स्कूल के रजिस्टर में दो बच्चों के नाम भी लिखे हुए हैं।

सीडा पाडा में 1989 में एक स्कूल की नींव रखी गई जिस पर अब कूड़े का ढेर पड़ा हुआ है। एक स्थानीय राजनीतिक कार्यकर्ता मोती लाल का कहना है कि सरकार के रजिस्टर में यह स्कूल बाकायदा चल रहा है। भारत के सर्वाधिक गरीब जिलों में से एक गोड्डा में 1063 प्राइमरी स्कूल हैं जिनमें 2887 अध्यापक हैं। बेशक इनमें से कुछ स्कूलों में पढ़ाई भी होती है। लेकिन इस जिले में शिक्षा प्रणाली की बुनियादी सच्चाई यह है कि यहां किसी तरह की प्रणाली है ही नहीं।

पहाड़िया जनजाति के अनेक गांवों में कोई भी बच्चा स्कूल नहीं जाता है। हालांकि इनमें से कुछ के नाम रजिस्टरों में मिल जाएंगे। सुंदर–पहाड़ी ब्लॉक के बीहड़ डोरियो में हमने गांव के ऐसे ७६ परिवारों का सर्वेक्षण किया जिन्हें अपेक्षाकृत विकसित

गोड्डा के नूनमारी गांव के प्राइमरी स्कूल की इमारत में बैठी एक काली बकरी–लगता है यहां की यही एकमात्र छात्र है। दो बकरियां खिड़की के पास आराम से बैठी हैं। हकीकत यह है कि जिले में कोई बुनियादी शिक्षा प्रणाली है ही नहीं।

समझा जाता है। हमने देखा कि जिन 303 लोगों से हमारी बातचीत हुई उनमें से 11 ऐसे थे जो बड़ी मुश्किल से अपना नाम लिख सकते थे। इस गांव में लोग चंदू पहाड़िया के बारे में शान से बताते हैं क्योंकि उसने मैट्रिक तक की पढ़ाई पूरी कर ली है। वैसे तो उसने कई वर्ष पहले मैट्रिक किया लेकिन अभी तक उसे कोई नौकरी नहीं मिली है।

डोरियो में केवल एक बच्चा ऐसा है जिसका नाम स्कूल में लिखा गया है पर वह भी कभी पढ़ने नहीं जाता। जैसे ही हम लोगों के पहुंचने की खबर मिली लड़के के हेडमास्टर भागते हुए गांव पहुंचे। वह बहुत परेशान थे क्योंकि उन्हें पता चला था कि यहां कुछ लोग आकर ठहरे हुए हैं जो 'देखने में सरकारी अफसर जैसे लगते हैं।'

हेडमास्टर परशुराम सिंह ने मुझसे कहा," मैं इस लड़के को बहुत चाहता हूं कि वह स्कूल आता रहे लेकिन ये लोग आने ही नहीं देते।" उन्होंने सारा दोष बच्चे के मां–बाप के सिर मढ़ दिया। जब उन्हें यह पक्का भरोसा हो गया कि मैं न तो डिप्टी कमिश्नर हूं और न कोई सरकारी अधिकारी तो वह निश्चित होकर चले गए। गांव वालों ने बताया कि कई महीनों बाद पहली बार उन्होंने अपने हेडमास्टर को देखा है। ऐसा लगता है कि शायद इस गांव की युवा पीढ़ी को अपनी पिछली पीढ़ी से भी कम शिक्षा मिले।

जिले के एक उच्च अधिकारी ने मुझे बताया कि यहां के अनेक अध्यापक हमेशा आकस्मिक अवकाश की स्लिप तैयार रखते हैं और उस पर कोई तारीख नहीं डाले होते। अगर कभी कोई निरीक्षण होता है तो वे तुरत उस स्लिप पर तारीख डाल देते हैं ताकि अपनी गैरहाजिरी का कारण बता सकें।

आदिवासियों के बीच महिला साक्षरता दर अनुमानतः पांच प्रतिशत से भी कम होने के कारण यहां की स्थिति अत्यंत निराशाजनक होती जा रही है। पहाड़िया लोगों के अनेक गांवों में स्कूल जाने वाले जो गिने–चुने बच्चे हैं उनमें सभी लड़के हैं– एक भी लड़की नहीं। इसमें कोई शक नहीं कि यहां के अध्यापकों की जमकर आलोचना की जानी चाहिए लेकिन इससे हम समूची व्यवस्था के ध्वस्त होने की व्याख्या नहीं कर सकते। फिर इसकी वजह क्या है? निश्चय ही बेहद गरीबी। इसके अलावा सरकार के अंदर संकल्प का भी अभाव है और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा व्यवस्था का न होना है जिसके अंतर्गत बच्चों को निःशुल्क भोजन और किताबें दी जातीं। गोड्डा जैसे आदिवासी इलाके में यहां का बीहड़ रास्ता भी इस समस्या को और गंभीर बना देता है।

इसके अलावा अनेक प्राइमरी स्कूलों के अध्यापकों ने, जो प्रतिमाह 2500 रुपए कमा रहे हैं जो इन इलाकों के लिए एक बहुत अच्छी रकम है, सूद पर पैसा चढ़ाने का धंधा शुरू कर दिया है। जिनके इरादे अच्छे हैं वे भी निराशा का अनुभव कर रहे हैं। गोराडीह प्राइमरी स्कूल में रंधीर कुमार पांडे अध्यापक हैं और वे गांधीवादी सिद्धांतों के

अनुयायी हैं। वह गांव में मां–बाप से जाकर अनुरोध करते रहते हैं कि वे अपने बच्चों को स्कूल भेजें। उन्होंने बताया कि 'मैं उनके पास जाता हूं और समझाता हूं कि अगर इस पीढ़ी को शिक्षा नहीं मिली तो आप लोग बर्बाद हो जाओगे लेकिन वे शिक्षा का बोझ झेल ही नहीं सकते।' बच्चों को स्कूल आने के लिए प्रेरित करने के उद्देश्य से पांडे कभी–कभी खुद अपने पैसे से पेंसिल, कापी, किताब या स्लेट खरीद कर लाते हैं।

पांडे ने बताया कि इन बीहड़ इलाकों में काम करना अध्यापकों के लिए भी बड़ा जोखिम भरा होता है। 1991 में यहां तीन अध्यापक कालाजार से मर गए। "जिनके पास बढ़िया सोर्स है वे तो अपना ट्रांसफर करा लेते हैं लेकिन कुछ ऐसे लोग भी हैं जो 25-30 साल तक यहीं फंसे रहते हैं।" अध्यापकों को अनुशासित और व्यवस्था को साफ–सुथरा रखने के लिए तबादलों की जरूरत पड़ती है लेकिन अन्य कारणों से तबादले नहीं होते। राज्य स्तर पर अध्यापकों की यूनियनें बड़ी शक्तिशाली हैं और कभी–कभी उन तबादलों की प्रक्रिया में भी इन यूनियनों से बाधा पहुंचती है जो जरूरी तबादले हैं। हाल के वर्षों में किसी भी सरकार ने इसमें दखल देने का साहस नहीं किया। जिले के एक अधिकारी ने कहा कि चुनावों में चूंकि अध्यापकों को ही वोटों की गिनती करनी होती है इसलिए राजनीतिक पार्टियां इनसे आतंकित रहती हैं।

पांडे का यह भी कहना है कि हाजिरी अपने आप में कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। उन्होंने बताया कि ऐसे कई छात्र हैं जो मवेशी चराने या घरेलू कामकाज निपटाने के बाद दोपहर बारह बजे के बाद स्कूल आते हैं। इसके बाद उन्हें जल्दी ही स्कूल भी छोड़ना पड़ता है क्योंकि अंधेरा होने से पहले उन्हें अपने गांव तक पहुंचना होता है। क्या इस समस्या का कोई समाधान नहीं है– खासतौर से अत्यंत पिछड़े पहाड़िया जनजाति के लोगों के लिए।

समस्या का समाधान है। जनकल्याण विभाग द्वारा आदिवासियों के लिए सात 'आवासीय स्कूल' चलाए जाते हैं। नियमित स्कूलों के एकदम विपरीत यहां छात्रों को निःशुल्क भोजन, कपड़ा, बोर्ड और किताबें देने की व्यवस्था है। यहां हाजिरी की स्थिति अपेक्षाकृत बेहतर है और छात्रों का कार्य भी काफी संतोषजनक है।

गोड्डा के इंटरमीडिएट कॉलेज का छात्र प्रमोद कुमार पहाड़िया एक मेधावी छात्र है। पिछले वर्ष भानजी आवासीय स्कूल से 19 छात्र इंटरमीडिएट स्तर तक पहुंचे। प्रमोद ने बताया कि इनमें से छह छात्र ऐसे थे जो अब यहां के बाद डिग्री कोर्स कर रहे हैं। इनमें से एक पटना विश्वविद्यालय में अंग्रेजी ऑनर्स के अंतिम वर्ष में है।

प्रमोद के दिमाग में एक बात बहुत स्पष्ट है कि पहाड़िया लोग शिक्षा चाहते हैं। वे मौजूदा व्यवस्था से बिलकुल खुश नहीं हैं क्योंकि इसका खर्च वे नहीं वहन कर सकते। हममे से जिनको आवासीय स्कूलों में पढ़ने का मौका मिला वे बहुत खुशकिस्मत

हैं क्योंकि इससे काफी फर्क आ गया। प्रो. सुमन दरधियार ने इसका कारण बताते हुए कहा कि आवासीय स्कूलों की एक विशेषता यह है कि वे आर्थिक सहारा दे देते हैं। यहां दोपहर का खाना निःशुल्क मिलता है और इसके साथ अन्य सुविधाएं भी मिलती हैं। संथाल पहाड़िया सेवा मंडल के गिरधर माथुर इन आदिवासियों के साथ चौदह वर्षों से काम कर रहे हैं और वे भी प्रो. सुमन की इस बात से सहमत हैं। उनका कहना है कि सुंदरपहाड़ी ब्लाक में लड़कियों के लिए एक आवासीय स्कूल की जरूरत है। अभी जो भी तीन स्कूल हैं वे सभी लड़कों के लिए हैं।

रणधीर पांडे चाहते हैं कि प्रत्येक तीन या चार प्राइमरी स्कूलों को मिलाकर एक आवासीय स्कूल बना दिया जाए जहां खाना,कपड़ा और किताबें निःशुल्क मिलें। यहां तक कि डमरूहॉट स्कूल के विमलकांत राम भी यही मानते हैं। अधिकांश अध्यापकों का मानना है कि अगर पहाड़िया लोगों को मौका दिया जाए तो वे बहुत अच्छे छात्र साबित हो सकते हैं। पांडे बताते हैं कि उनके अंदर भाषा की बहुत अच्छी पकड़ है।

कुछ अध्यापकों ने तमिलनाडु में चल रहे दोपहर के भोजन की योजना के बारे में सुन रखा है। उनका मानना है कि इस तरह का कोई मॉडल यहां भी लागू करने की जरूरत है। इन विशिष्टताओं के साथ अगर यहां आवासीय स्कूल खोले जाएं तो स्थानीय संदर्भों में निश्चय ही उनके अच्छे नतीजे सामने आएंगे। अभी यह भी जानने की जरूरत है कि तमाम खामियों के बावजूद क्यों आवासीय स्कूलों ने सकारात्मक नतीजे दिए हैं। चाहे जो हो उनसे लाभ तो हुआ ही है।

कुछ और भी दिलचस्प संकेत दिखाई दे रहे हैं। बिहार के मुख्यमंत्री लालू प्रसाद यादव का कहना है कि वह ऐसी शिक्षा प्रणाली से ऊब गए हैं जिस पर सरकार को प्रति वर्ष 1700 करोड़ रुपए खर्च करने पड़ते हैं और जिसका नतीजा इतना खराब दिखाई देता है। उन्होंने प्राइमरी स्कूल के अध्यापकों के चयन के लिए प्रतियोगात्मक परीक्षाएं शुरू कर दी हैं और युनिसेफ को महसूस हुआ है कि अन्य राज्यों के मुकाबले बिहार को उसकी ज्यादा जरूरत है इसलिए उसने अपने कार्यक्रमों का मुख्य केंद्र बिहार को बना दिया है। हम उम्मीद कर सकते हैं कि आवासीय स्कूल और दोपहर के भोजन की व्यवस्था को भी इन कार्यक्रमों में शामिल किया जाएगा।

फिर शायद एक दिन ऐसा आए जब डमरूहॉट स्कूल में अध्यापकों के मुकाबले छात्रों की संख्या अधिक दिखाई दे।

विभागों के अध्यक्ष

अलीराजपुर, झाबुआ (म.प्र.): एस.सी. जैन साहब अलीराजपुर में गवर्नमेंट पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज के प्रिंसिपल हैं। कॉलेज में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा चलाए जा रहे कार्यक्रमों के भी वे इंचार्ज हैं। इसके अलावा वह वनस्पति शास्त्र विभाग, भौतिक शास्त्र विभाग और विधि विभाग के अध्यक्ष हैं। विगत् वर्षों में उन्होंने स्थायीतौर पर ही सही कई विभागों की अध्यक्षता की है। कॉलेज के स्पोर्ट्स आफिसर होने के नाते उन्हें काफी श्रम करना पड़ता है। अपने खाली समय में–वैसे भी इतनी जिम्मेदारियों का बोझ ढोने वाले व्यक्ति को खाली समय मिलता ही कहां होगा–वह आयुर्वेद और होम्योपैथी की प्रैक्टिस करते हैं। उन्हें देख कर निश्चय ही अनेक हिस्सों में बंटे एक आदमी की तस्वीर उभरती है।

जैन साहब की सर्वगुण–संपन्नता के पीछे कई कारण हैं। दरअसल पोस्टग्रेजुएट स्तर पर बहुत कम अध्यापक और छात्र हैं। जैसा कि वह खुद बताते हैं, अनेक विभागों में तो पांच से भी ज्यादा छात्र मिलने मुश्किल हैं। एम.ए. (अर्थशास्त्र) कोर्स के लिए एक अकेला लेक्चरर सभी विषयों को पढ़ा देता है।

झाबुआ भारत का सबसे गरीब जिला है। आर्थिक और शैक्षणिक दोनों दृष्टि से। यहां की आबादी में 85 प्रतिशत आदिवासी हैं और इनकी एक बहुत बड़ी संख्या गरीबी रेखा से नीचे बस्ती है। कुछ ऐसे आदिवासी भी हैं जो कॉलेजों में जाते हैं।

कॉलेज स्टॉफ के एक वरिष्ठ सदस्य ने बताया कि यहां कई अध्यापक ऐसे भी हैं जो अपने वेतन से पैसे निकालकर छात्रों का एडमिशन कराते हैं या उनकी फीस देते हैं। यह सुनकर मुझे रोमांच हो आया। लेकिन बाद में पता चला कि यह किसी दया भाव से नहीं है। जो अध्यापक पोस्टग्रेजुएट स्तर पर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के वेतनमान के अनुसार पैसे पा रहे हैं वे अपेक्षाकृत ज्यादा अच्छी स्थिति में हैं। अगर किसी विभाग में पांच से कम छात्र हैं तो उसे बंद कर दिया जाएगा। इसका मतलब हुआ कि या तो नौकरी खत्म हो जाए या कहीं ऐसी जगह तबादला हो जाए जहां जाने की इच्छा ही न हो।

इसीलिए वे चाहते हैं कि हर कीमत पर पोस्टग्रेजुएट विभाग बने रहें। जहां तक पदोन्नति का मामला है अगर पोस्टग्रेजुएट स्तर पर किसी ने आठ साल पढ़ा लिया

है तो अंडरग्रेजुएट स्तर की पढ़ाई के बारह वर्ष के अनुभव के बराबर इसे माना जाता है। एक विभागाध्यक्ष ने बताया कि इसीलिए अगर यह अध्यापक केवल अंडरग्रेजुएट कोर्स पढ़ाते होते तो उन्हें पदोन्नति के लिए और चार वर्ष इंतजार करना पड़ता।

पोस्टग्रेजुएट के छात्रों को पढ़ाने के दस वर्ष के अनुभव के बाद कोई भी प्रोफेसर होने का सपना देख सकता है। अंडरग्रेजुएट स्तर पर यही करने के लिए 15 वर्ष का समय चाहिए। इसके अलावा उच्च स्तर पर उत्तर पुस्तिकाओं के पुनर्मूल्यांकन अथवा प्रश्नपत्रों को तैयार करने की फीस के रूप में और भी ढेर सारे फायदे हैं।

स्टॉफ के ही एक कर्मचारी ने बताया–" कुछ अध्यापकों ने तो काफी मेहनत की ताकि अपने पोस्टग्रेजुएट विभागों के लिए छात्रों की भर्ती कर सकें। इन्होंने छात्रों के मां–बाप को समझाया कि ये लोग उनकी फीस देते रहेंगे और दूसरे तरीके से भी इन युवकों की मदद करेंगे। उनके नजरिए से अगर ऐसा न किया जाता तो इसका विकल्प एक ही था और वह यह कि विभागों को बंद कर दिया जाए और इनका तबादला कर दिया जाए।" जैसे ही यह निश्चित हो जाता है कि अब विभाग चलते रहेंगे उनकी उदारता समाप्त हो जाती है। जो छात्र ट्यूशन पढ़ना चाहते हैं उन्हें हायर सेकेंडरी स्कूलों के अध्यापकों के पास जाना पड़ता है। कॉलेज के अध्यापक ट्यूशन के रेट (अधिकतम 50 रुपए प्रति माह) को बहुत कम मानते हैं।

कॉलेज में जो बुनियादी सुविधाएं हैं वे बहुत निम्नकोटि की हैं। यहां एक लाइब्रेरी है जो बहुत अव्यवस्थित है। इसके रिकॉर्ड देखने से पता चलता है कि पूरे साल में एक भी ऐसा पोस्टग्रेजुएट छात्र नहीं है जिसने पांच किताबें इश्यू कराई हों।

लाइब्रेरी के लिए पुस्तकें खरीदना बहुत कठिन है क्योंकि सरकार प्रति विषय पर महज दो सौ रुपए प्रदान करती है। एक वरिष्ठ लेक्चरर ने इस राशि को बहुत बेहूदा बताया। अगर 50 विषयों को गिनें तो पुस्तकों के लिए महज 10,000 रुपए का अनुदान बनता है। इसके अलावा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग भी कुछ हजार रुपए दे देता है। उस लेक्चरर ने बताया कि यहां की लाइब्रेरी में 75 प्रतिशत किताबें आउटडेटेड हैं। मैंने जानना चाहा कि पोस्ट ग्रेजुएट स्तर की किताबें यहां के बाजार में मिल जाती हैं या नहीं। जवाब में एक छात्र ने बताया कि इसके लिए आपको इंदौर जाना होगा। एक पुस्तक की कीमत औसतन 100 रुपए के करीब होती है। प्रायः ऐसा होता है कि इंदौर जाने आने का खर्च पुस्तक के मूल्य से भी ज्यादा हो जाता है।

फिर भी जिस तरह कुछ अध्यापक पुस्तकों का जुगाड़ कर लेते हैं या छात्रों के लिए पुस्तकें उपलब्ध हो जाती हैं उससे हमें उन गड़बड़ियों का पता नहीं चल पाएगा जिसे हम झाबुआ की शिक्षा व्यवस्था कहते हैं। जितना दिखाई दे रहा है उससे यह ज्यादा जटिल है। यह एक ऐसा जिला है जहां बहुत अच्छे किस्म के प्रशासक रह चुके हैं। लेकिन जैसा कि आदिवासी कल्याण विभाग के एक अधिकारी ने बताया कि गंदगी की शुरुआत प्राइमरी स्कूल के स्तर से होती है। इसकी शुरुआत आदिवासी छात्रों को बनाए रखने में विफलता से होती है। यह समस्या अनेक आदिवासी जिलों में स्कूली शिक्षा प्रणाली की एक ठेठ समस्या है।

भोपाल में एक वरिष्ठ आइएएस अधिकारी ने बताया कि स्कूली पढ़ाई बीच में छोड़ने वालों की दर चिंताजनक है और इसमें एक विडंबना छिपी हुई है। इस जिले में आदिवासी लोग उन गैर आदिवासियों की शिक्षा की कीमत चुकाते हैं जो जीवन के हर क्षेत्र में प्रभुत्वकारी स्थिति में हैं। झाबुआ चूंकि एक आदिवासी–बहुल जिला है इसलिए यहां के स्कूल आदिवासी कल्याण विभाग को मिलने वाले कोष की मदद से चलते हैं लेकिन इसके जो भी फायदे हैं वे मुख्य रूप से गैर आदिवासियों को मिल रहे हैं।

प्राइमरी स्कूल स्तर पर सरकारी आंकड़ों के मुताबिक जो बच्चे स्कूलों में दाखिल हैं उनमें से 81 प्रतिशत आदिवासी हैं। जब तक वे मिडिल स्कूल के स्तर तक पहुंचते हैं, गैर आदिवासी बच्चों की संख्या 41 प्रतिशत हो जाती है और आदिवासियों की संख्या घटकर 59 प्रतिशत रह जाती है। हाईस्कूल स्तर तक पहुंचते–पहुंचते गैर आदिवासियों की संख्या 51 प्रतिशत हो जाती है जबकि समूची आबादी में इनकी संख्या मात्र 15 प्रतिशत है। हायर सेकेंडरी स्तर की समाप्ति तक आदिवासियों की संख्या घटकर 31 प्रतिशत ही रह जाती है।

कॉलेज में उनका सापेक्षिक अनुपात आबादी के उनके हिस्से का ठीक उल्टा है। यहां गैर आदिवासी छात्रों की संख्या 80 प्रतिशत या इससे अधिक है। आदिवासी लड़कियों की स्थिति तो और भी दुखद है। इस जिले में महिला साक्षरता दर महज 8.79 प्रतिशत है। यहां प्राइमरी स्कूल स्तर पर 30 प्रतिशत लोगों की भर्ती दिखाई पड़ती है लेकिन मिडिल स्कूल तक पहुंचते–पहुंचते यह घटकर 9.9 प्रतिशत हो जाती है। हाई स्कूल स्तर तक यह 5.9 प्रतिशत और हायर सेकेंडरी की समाप्ति तक 2.8 प्रतिशत तक हो जाती है। कॉलेज के स्तर तक आते–आते वे पूरी तरह शून्य की स्थिति में पहुंच जाते हैं।

पेटला–वाड के एक आदिवासी कार्यकर्ता ने हमें बताया–" अगर आदिवासी और गैर आदिवासी दोनों के बच्चे आदिवासियों के लिए मिलने वाले धन से शिक्षा प्राप्त करते हैं तो इसमें कोई एतराज नहीं है। लेकिन दुख की बात यह है कि आदिवासी बच्चों को शिक्षा नहीं मिल रही है। बावजूद इसके समूची स्कूली व्यवस्था का खर्च आदिवासियों को मिलने वाले धन से चल रहा है। व्यवहार में देखें कि आदिवासी लोग अपने उत्पीड़कों के हिस्से को शिक्षित करने का खर्च उठा रहे हैं।"

जब तक झाबुआ के बच्चे कॉलेज तक पहुंचते हैं यह भेदभाव और गहरा रूप

ले लेता है। अंडरग्रेजुएट स्तर तक किसी कॉलेज की तस्वीर एक खास तरह की होती है। बी.कॉम. डिग्री में पहले वर्ष में 22 आदिवासी छात्र हैं। तीसरे वर्ष की शुरुआत में इनकी संख्या तीन हो जाती है। इसी तरह बी.ए. डिग्री कोर्स के प्रथम वर्ष में ५८ आदिवासी छात्र हैं। तीसरे वर्ष में इनकी संख्या महज 22 रह जाती है।

पोस्टग्रेजुएट स्तर पर जैन साहब के कॉलेज में पी.जी. हिंदी विभाग में पहले और दूसरे वर्ष में केवल एक–एक आदिवासी छात्र हैं। अर्थशास्त्र विभाग में पहले वर्ष में एक आदिवासी छात्र है और दूसरे वर्ष में कोई नहीं है। समाज शास्त्र के कोर्स में पहले वर्ष में दो आदिवासी छात्र हैं और दूसरे वर्ष में कोई नहीं है। इसी प्रकार एम.काम. डिग्री कोर्स में एक भी आदिवासी छात्र नहीं है।

आदिवासी कल्याण विभाग के अधिकारी ने बताया, "हमारी जो व्यवस्था है उसमें आदिवासी बच्चों के प्रति भेदभाव पहले से ही निहित है। और इसके लिए महज शिक्षा प्रणाली को दोष नहीं दिया जा सकता। अगर आदिवासियों की गरीबी और पिछड़ेपन की समस्या को हल करने पर जोर नहीं दिया जाएगा तो समूची कसरत बेमानी हो जाएगी। आप इसके लिए खुद आदिवासियों को भी भले ही दोष दे लें। अनेक वाहियात प्रयोगों के बावजूद स्कूली व्यवस्था ने कभी अपने को ऐसा बनाने की कोशिश नहीं की जिसमें आदिवासी बच्चों को रोके रखा जा सके। इसके अलावा हमारी सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था ऐसी है कि भले ही आदिवासी लोग शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक हों लेकिन यह व्यवस्था पूरी तरह उन्हें दूर ढकेलती रहती है। यह केवल धन का मामला नहीं है। दरअसल यह प्रतिबद्धता का अभाव है।"

अनेक अध्यापक इस बात से सहमत हैं कि अगर प्राथमिक स्कूली शिक्षा को सबके लिए अनिवार्य कर दिया जाए और उसे ऐसा बनाया जाए जिसके खर्च को आदिवासी लोग झेल सकें तो स्थितियों में उल्लेखनीय परिवर्तन हो सकता है। सभी का यह कहना है कि झाबुआ में गरीबी से लड़ने के कार्यभार को दीर्घकालीन परिवर्तन के काम से अलग नहीं किया जा सकता है। वे यह भी मानते हैं कि अगर उचित प्रोत्साहन दिया जाए तो आदिवासी छात्र भी अन्य छात्रों की ही तरह कुशल साबित होंगे।

एक आदिवासी भील और प्रशिक्षण प्राप्त अध्यापक क्लेमेंसी डोडियार बताती हैं कि यहां क्या किया जा सकता है। क्लेमेंसी एक निरक्षर भील किसान की बेटी हैं और उन्होंने 1997 में बी.ए. पास किया। समूचे जिले में वह पहली महिला आदिवासी थीं जिन्होंने स्नातक की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की थी। उनका मानना है कि उन्हें यह अवसर तब मिला जब वह टांडला मिशन स्कूल में गई जो झाबुआ के अच्छे स्कूलों में से एक है। वहां उन्होंने जो पांच वर्ष बिताए उससे शिक्षा के प्रति उनके अंदर सम्मान की भावना विकसित हुई।

वह बताती हैं कि "इसके बाद मेरे अंदर पढ़ने की इच्छा पैदा हुई और मैंने जमकर मेहनत की। "मिशन से सम्बद्ध संस्थाओं में अपने अध्ययन को जारी रखते हुए क्लेमेंसी राजस्थान में अजमेर गई, मध्य प्रदेश में महू गई, बिहार में रांची और इसके बाद बंगलौर जाकर उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। अब वह वापस झाबुआ में आ गई हैं और उन्हें उम्मीद है कि उनके काम से अन्य आदिवासी बच्चों को शिक्षित होने में मदद मिलेगी। उनका कहना है कि आप उन्हें एक मौका दीजिए और देखिए कि कितने अच्छे नतीजे निकलते हैं।

आने वाले वर्षों में झाबुआ के सामने एक बड़ी चुनौती यह है कि आदिवासी बच्चों को "मौका" देने की दिशा में क्या किया जा सकता है।

जहां छात्र ही अध्यापक होना चाहते हैं

नंदापुर, कोरापुट (उड़ीसा): नंदापुर हाईस्कूल के परिसर में जब छात्रों के मां–बाप इकट्ठा होते हैं तो जरूरी नहीं कि यह अध्यापकों और अभिभावकों के एसोसिएशन की कोई बैठक हो। वे वहां इसलिए भी आते हैं ताकि अपने बच्चों को मिलने वाले वजीफे की राशि से कुछ पैसे उधार ले सकें। यहां जो बच्चे पढ़ते हैं उनमें से अधिकांश बेहद गरीब आदिवासियों अथवा हरिजनों के हैं और कल्याण विभाग प्रत्येक बच्चे को प्रतिमाह 150 रुपए का वजीफा देता है।

वजीफे की राशि आने में प्रायः देर हो जाती है। इसलिए छात्रों को एक ही बार छह महीने तक का पैसा दे दिया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उन्हें एक साथ नौ सौ रुपए मिल जाते हैं। लेकिन इंतजार की अवधि के दौरान उनके गरीब मां–बाप को बेहद कष्ट के दिन गुजारने पड़ते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि जिस दिन वजीफे की राशि मिलती है, उनके मां–बाप स्कूल पहुंच जाते हैं ताकि वे पैसे अपने बच्चों से उधार ले सकें।

यह कोई साधारण स्कूल नहीं है। यहां बहुत उत्तम किस्म के और प्रतिबद्ध कर्मचारी हैं जो अच्छे नतीजे देते हैं। इन शैक्षणिक संस्थानों में अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करने के बावजूद यहां के कुछ पुराने छात्रों ने स्नातक और स्नातकोत्तर डिग्रियां भी हासिल की हैं। कुछ तो एम.फिल और डॉक्टरेट तक भी पहुंच गए हैं। बस इस संस्थान के पास धन और सुविधाओं का बेहद अभाव है। सरकारी उदासीनता और परिस्थितियों के संयोग ने स्कूल को आज ऐसी हालत में पहुंचा दिया है।

कहने के लिए एक निजी मैनेजमेंट भी है लेकिन वह स्कूल को चलाने में पूरी तरह अक्षम है। स्कूल का खर्च कल्याण विभाग द्वारा मिलने वाली धनराशि से चलता है जो कम तो है ही प्रायः स्कूल तक देर से पहुंचती है। इसका नतीजा यह है कि जो एक आदर्श आवासीय स्कूल हो सकता था (बेहद गरीब बच्चों के लिए आवासीय) उसे अनेक मोर्चों पर संकट का सामना करना पड़ रहा है। यहां 22 आवासीय छात्र हैं जिनमें गदाबा और परोजा आदिवासी समूहों के तथा कुछ हरिजन समुदाय के छात्र हैं। सुभाष दानतन इनमें एक आदिवासी छात्र है।

सुभाष और उसके साथियों को ठंड का मौसम पसंद नहीं है। इसका क्या कारण है वे नहीं जानते। इनमें से तीन के पास कम्बल है और आठ छात्र ऐसे हैं जिनके पास पहनने के लिए जो कुछ है उसे आप बमुश्किल स्वेटर कह सकते हैं। यह एक ऐसा

इलाका है जहां सर्दियों में रात का तापमान दो डिग्री सेल्सियस तक पहुंच जाता है। सारे छात्र फर्श पर बोरे बिछाकर सोते हैं। इन्होंने बिस्तर का नाम कभी सुना ही नहीं। ये बोरे भी वे अपने घरों से लेकर आते हैं।

दो कमरों में 22 लोग रहते हैं। आमतौर पर बिजली गायब रहती है लेकिन जब होती है तो पहले कमरे में सौ वॉट का एक बल्ब जलता है और दूसरे कमरे में इससे कम वॉट के बल्ब से काम चलाना पड़ता है। कोरापुट में एक अधिकारी ने बाद में मुझे बताया–" इनमें से अनेक बिजली और शिक्षा के बीच संबंध नहीं देखते। और मेरा मतलब केवल स्कूलों से नहीं है। शहरों के लोग यह मानकर चलते हैं कि बिजली तो उन्हें मिलनी ही है। हम उन छात्रों के बारे में सोचते भी नहीं जो इसलिए घर नहीं आ सकते और पढ़ नहीं सकते क्योंकि बिजली नहीं है। चूंकि हमारे बच्चे बिजली का सुख उठा लेते हैं इसलिए हम उनमे बारे में कभी चिंतित नहीं होते। आप गौर करें तो पाएंगे कि शायद ही कोई छात्र वहां ठीक ढंग से काम कर पाता हो जहां बिजली नहीं है या बहुत कम बिजली आती है। इस तथ्य को समझने के लिए आप उड़ीसा और बिहार के गांवों का एक सर्वेक्षण कर लीजिए।"

सुभाष का कहना है कि यहां की ठंड और यहां की स्थितियों से न तो नींद आती है और न अगले दिन हम इस लायक होते हैं कि अपने काम पर ध्यान दे सकें। लेकिन उनके अध्ययन में खलल डालने वाली यह कोई अकेली चीज नहीं है।

वे अपना खाना भी खुद ही बनाते हैं।

एक अध्यापक ने बताया कि हालांकि गरीब छात्रों के लिए इसे सही अर्थों में एक होस्टल होना चाहिए था लेकिन यहां इतना पैसा ही नहीं है कि किसी रसोइए की नियुक्ति की जा सके। इसलिए यहां रहने वाले छात्र, जो दस–पंद्रह आयु वर्ग के हैं, अपना खाना खुद पकाते हैं। विश्वनाथ जाला नामक एक आदिवासी छात्र ने बताया कि इतवार तथा छुट्टियों के अन्य दिनों में हम खाना पकाने के लिए लकड़ियां चुनते हैं और हर रोज हमें खाना पकाने के लिए लगभग तीन घंटे निकालने पड़ते हैं। इसकी वजह यह है कि लगभग हर रोज पहले हमें बैठकर आपस में यह तय करना पड़ता है कि चावल के साथ खाने के लिए सीताफल लाएं या मूली और इसके लिए आपस में पैसे जुटाने पड़ते हैं।

गोविंद गुंटू नामक एक हरिजन छात्र ने बताया कि खाना पकाने से संबंधित और भी कई झंझटें हैं जिनमें हमारा समय खराब होता है। होस्टल से उन्हें हफ्ते में केवल दो बार दाल मिलती है। चावल उन्हें अपने गांव से लाना पड़ता है जो आमतौर पर होस्टल से लगभग 25 किलोमीटर की दूरी पर है। दिन में दो बार वे खाना खाते हैं और इसके लिए भी उन्हें बड़ी मशक्कत करनी पड़ती है। चाय पीने का सुख तो उन्हें नसीब ही नहीं होता।

पढ़ने के लिए इन्होंने सवेरे छह बजे से आठ बजे का समय निकला है। इसके बाद वे लगभग डेढ़ घंटा खाना पकाने में बिताते हैं। प्रातः साढ़े दस बजे कक्षा शुरू होती है जो शाम के चार बजे तक चलती है। इसके बाद फिर वही कार्यक्रम रात के साढ़े सात बजे तक जारी रहता है। देखा जाए तो हर रोज खाना पकाने तथा इससे जुड़े कामों के लिए उन्हें चार–पांच घंटे निकालने पड़ते हैं।

छात्रवृत्ति के रूप में प्राप्त होने वाली 150 रुपए की राशि जब उन्हें मिलती है तो इससे वे कुछ कपड़े, खाद्य सामग्री और पुस्तकें खरीद लेते हैं। एक कॉपी खरीदने में कम से कम पांच रुपए खर्च हो जाते हैं। जाहिर है कि डेढ़ सौ की राशि काफी नहीं है। उनके अध्यापकों के अनुसार इन सारी दिक्कतों के बावजूद शिक्षा प्राप्त करने के प्रति उनका संकल्प उल्लेखनीय है। इसके अलावा इस इलाके के मां–बाप भी चाहते हैं कि उनके बच्चे किसी भी तरह शिक्षा पा लें भले ही इसके लिए उन्हें कितना भी कष्ट क्यों न उठाना पड़े। नंदापुर कोरापुट का एक हिस्सा है जो खनिज संपदा से समृद्ध क्षेत्र है और साथ ही जहां देश के निर्धनतम लोगों की आबादी भी रहती है। (मलकानगिरि सहित दो नए जिले हाल में कोरापुट से अलग करके बनाए गए हैं) ।

इस क्षेत्र में एक एनजीओ चलाने वाले सुरेंद्र खेमेंदु का कहना है कि इस इलाके में ऐसे कई स्कूल हैं। खेमेंदु ने भी दिल्ली में जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय से एम.फिल करने से पूर्व इसी तरह के एक स्कूल में शिक्षा प्राप्त की थी। एक अध्यापक का कहना है कि गरीब लोगों के बीच शिक्षा की जरूरत के प्रति एक आम चेतना विकसित हुई है। अफसोस की बात यह है कि इस चेतना के फलस्वरूप अपने लक्ष्य को प्राप्त करने लायक स्थितियां उन्हें नहीं मिल रही हैं। कोरापुट में साक्षरता दर 19 प्रतिशत से कम है और महिलाओं के मामले में यह लगभग 8 प्रतिशत है।

ऐसी विषम परिस्थितियों में क्या यहां के छात्र अपनी पढ़ाई जारी रखना चाहते हैं? जी हां, और 22 छात्रों में से छह को तो यह भी पता है कि वे क्या बनना चाहते हैं। वे चाहते हैं अध्यापक बनना। लेकिन क्यों? सुभाष दानतुन का कहना है कि मेरे गांव के अनेक बच्चे स्कूल नहीं जाते लेकिन हर बच्चा स्कूल जाना चाहता है। उनके पास पैसा नहीं है कि वे पढ़ाई कर सकें। अगर इस इलाके में और भी आवासीय स्कूल होते जहां आवश्यक सुविधाएं मिल पातीं तो हमारे गांव के सभी बच्चे पढ़ सकते थे। मेरी इच्छा है कि एक दिन ऐसा हो सके।

और विनम्र ही धरती का वारिस होगा

जब तक कोई परियोजना नहीं शुरू होती

कल्पना कीजिए कि आस्ट्रेलिया महाद्वीप की समूची आबादी अपने घरों से निकाल बाहर की जाए—एक करोड़ 80 लाख लोग अपने जमीन से बेदखल कर दिए जाएं और उनसे उनके मकान खाली करा लिए जाएं। आजीविका से वंचित होकर वे बदहाली की जिंदगी जीने के लिए मजबूर हो जाएं। परिवार में आए बिखराव से सामुदायिक बंधन भी चरमरा उठें। अपने अत्यंत महत्वपूर्ण संसाधनों से अलग—थलग किए जाने के बाद जमीन से उखड़े इन लोगों से इनके इतिहास, परंपराओं और संस्कृति को छीन लिया जाए। मुमकिन है कि उनको खाने के लिए भी ऐसी चीजें मिलें जिनसे उनका कभी परिचय न रहा हो। इन्हें फिर बीमारी और मृत्यु की उच्च दर तथा आय और शिक्षा के निम्न दर का सामना करना पड़े। इसके साथ ही बेरोजगारी, भेदभाव और निम्न सामाजिक हैसियत को झेलना पड़े। मजे की बात यह है कि यह सारा कुछ विकास के नाम पर किया जाए और इस प्रक्रिया के शिकार लोगों को विकास का लाभ पाने वाला बताया जाए।

लगता है न कि यह कोई कहानी है!

लेकिन ऐसा भारत में हुआ। 1951-90 के दौरान दो करोड़ सोलह लाख लोगों को इन्हीं स्थितियों का सामना करना पड़ा और ऐसा केवल बांधों और नहरों के कारण हुआ। इसमें अगर खदानों के सिलसिले में हुए विस्थापन के शिकार 21 लाख लोगों को और जोड़ दिया जाए तो यह समूची आबादी कनाडा की आबादी के बराबर हो जाएगी। उद्योगों, ताप बिजली घरों, वन्य जीवों के लिए संरक्षित प्रदेशों और रक्षा प्रतिष्ठानों के कारण कम से कम बीस लाख चालीस हजार लोगों को अपने घरों से बेदखल होना पड़ा। इन सबको जोड़ें तो पता चलता है कि लगभग दो करोड़ साठ लाख भारतीयों को विकास की मार झेलनी पड़ी।

ये आंकड़े वे हैं जो बिलकुल नीचे के स्तर पर उपलब्ध हैं। सरकार खुद स्वीकार करती है कि 1985 तक 'विकास से संबंधित विस्थापन' के कारण डेढ़ करोड़ से ज्यादा लोगों को अपनी जमीन से बेदखल होना पड़ा। विकास की यह तोता—रटंत उन लोगों को अजीब लगती है जिन्हें ऐसी परियोजनाओं के लिए अपने घर और जमीनों से वंचित किया गया जिन्हें उन्होंने कभी मांगा नहीं था। जिन परियोजनाओं के तहत दो करोड़ साठ लाख भारतीयों को अपनी जमीन छोड़नी पड़ी उनकी सूची अभी भी अधूरी ही है। हजारों ऐसी योजनाएं हैं जिनकी जानकारी बहुत कम है और जिनके कारण विस्थापित लोगों का कोई हिसाब नहीं है। इसके अलावा बहुत सारी छोटी—बड़ी परियोजनाएं 1985 के बाद आईं और इनकी वजह से भी भारी संख्या में लोगों को विस्थापन का शिकार होना पड़ा।

सरकार की 'पुनर्वास संबंधी राष्ट्रीय नीति' के मसौदे में यह स्वीकार किया गया है कि 1951 से विस्थापित लोगों में से लगभग 75 प्रतिशत लोग अभी भी 'पुनर्वास की प्रतीक्षा में हैं'। (45 वर्षों के बाद भी 'प्रतीक्षा' किया जाना कितना क्रूर लगता है)। इसमें

यह भी माना गया है कि समूचे देश में कितने लोग विस्थापित किए गए इसका आंकड़ा देना पूरी तरह संभव नहीं है। केवल विस्थापन की उन्हीं घटनाओं को दर्ज किया गया है जहां जमीन के अधिग्रहण के कारण लोगों को प्रत्यक्ष रूप से इसका शिकार होना पड़ा है।

दूसरे शब्दों में कहें तो इन आंकड़ों में उन लोगों को शामिल नहीं किया गया है जो विस्थापन से प्रभावित तो हुए हैं लेकिन जिनके पास अपनी कोई जमीन नहीं थी। पुनर्वास योजनाओं के अंतर्गत भूमिहीन मजदूर, मछुआरे और शिल्पी नहीं आते हैं। विकास की इस दृष्टि के कारण डूब वाले क्षेत्रों अथवा परियोजना क्षेत्रों से बाहर पड़े लाखों लोग उपेक्षित रह जाते हैं। यह ऐसे लोग हैं जिनके जीवन को सहारा देने वाली व्यवस्था को इन परियोजनाओं ने तहस–नहस कर दिया है। उन परिवारों का भी इसमें जिक्र नहीं होता जो कैचमेंट एरिया के कारण प्रभावित हैं। इस दायरे में वे परिवार भी नहीं आते जिन्हें वृक्षारोपण कार्यक्रमों के तहत अपनी जमीन खोनी पड़ी है।

इसीलिए जब हमारे नौकरशाह यह बताते हैं कि सरदार सरोवर परियोजना के फलस्वरूप चालीस हजार परिवार अथवा दो लाख व्यक्ति विस्थापित होंगे तब हम समझ लेते हैं कि बतायी गयी संख्या से कई गुना ज्यादा लोग इससे प्रभावित होने जा रहे हैं। इनमें से बहुत सारे लोग दस्तावेजों में कहीं दर्ज नहीं किए जाएंगे। ये ऐसे लोग होंगे जिन्हें कभी भी किसी तरह का मुआवजा नहीं मिलेगा।

कोई भी दस्तावेज 'संसाधनों से बेदखल' लोगों की पीड़ा को दर्ज नहीं करता। ये लोग ऐसे हैं जिन्हें बेदखल भी नहीं किया गया और फिर भी वे विस्थापन का दर्द झेल रहे हैं। उड़ीसा में कोया जनजाति के लोग और मध्य प्रदेश में बसौड़े लोगों को 'कानून' के जरिए बांसों से उन्हें अलग कर दिया गया है। इन दोनों जनजातियों के लिए बांस उनके जिंदा रहने का साधन था। बसौड़े जनजाति का तो नाम भी बांस से ही बना है। बांस के जिन जंगलों को कोया लोगों ने पीढ़ियों से तैयार किया था और जिनकी देखभाल की थी आज उन पर निजी कंपनियों का नियंत्रण है। ये कंपनियां इन बांसों से कागज बनाती हैं। इन साधनों से वंचित किए जाने के बाद इन दोनों जनजातियों को भयंकर कष्ट का सामना करना पड़ा। फिर भी इन्होंने अपनी जमीन नहीं छोड़ी और हर तरह का कष्ट उठाकर भी ये लोग वहीं हैं।

विस्थापन के शिकार के रूप में उन किसानों को भी नहीं देखा जाता जिन्होंने सूदखोर महाजनों के कारण अपनी जमीन खो दी। आज भी वे इससे प्रभावित हैं। किसी भी आकलन में शहरी क्षेत्र में विस्थापन की पैमाइस नहीं की जाती। किसी भी गणना में उन लोगों का जिक्र नहीं होता जिन्हें नई शहरी बस्तियों की स्थापना के लिए उजड़ना पड़ा।

सरकारी धर्म शास्त्र में इसे 'विकास की कीमत' कहते हैं। अगर आप उन्नति करना चाहते हैं तो आपको कुर्बानी देनी होगी।

लेकिन कौन कुर्बानी देता है? और किसके लिए? आखिर क्या वजह है कि उन्हीं लोगों को सबसे ज्यादा कीमत चुकानी पड़ती है जिन्हें सबसे कम लाभ मिलता है? इस कीमत का कौन सा हिस्सा वे लोग झेलेंगे जिन्हें सुविधाएं मिल रही हैं?

- हमारी समूची आबादी में आदिवासियों की संख्या 8 प्रतिशत है। फिर भी जैसा कि इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट के वाल्टर फर्नांडीस ने बताया है, सभी परियोजनाओं के अंतर्गत विस्थापित लोगों में से चालीस प्रतिशत से अधिक आदिवासी ही हैं। और जैसा कि उत्कल विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति प्रो. एल.के.महापात्र का कहना है कि विस्थापित लोगों में और भी बड़ी संख्या दलितों तथा भूमिहीनों की होगी।
- क्या हाशिए पर पड़े ऐसे लोग कभी भी इस तरह की योजनाओं से लाभ पाने वाले हो सकते हैं? यहां तक कि इस शब्दावली का सरकारी अर्थ ढूंढें तब भी असंभव नहीं है। बिलकुल ही नहीं। आदिवासी इलाकों में बड़ी संख्या में जल विद्युत परियोजनाएं हैं। लेकिन, जैसा कि दक्षिणी गुजरात विश्वविद्यालय के जगन्नाथ पाथी का कहना है कि सिंचाई की सुविधा पांच प्रतिशत से अधिक आदिवासी भूमि को नहीं उपलब्ध है।
- मोटे तौर पर देखें तो प्रत्येक दस आदिवासियों में से एक विस्थापित व्यक्ति है। अकेले बांध से संबंधित परियोजनाओं ने लगभग दस लाख आदिवासियों को उनकी जमीन से बेदखल किया। पाथी का कहना है– "सार्वजनिक क्षेत्र की 19 परियोजनाओं के फलस्वरूप विस्थापित सत्रह लाख लोगों में से आठ लाख लोग अनुसूचित जनजावियों के हैं। कोयलकारो, लालपुर जैसी कुछ परियोजनाओं में तो 80 से 100 प्रतिशत तक बेदखली के मामले आदिवासियों के ही हैं।" पिछले 15 वर्षों में हमने बड़े पैमाने पर परियोजनाओं को आदिवासी क्षेत्रों में स्थापित होते हुए देखा है और इन परियोजनाओं के कारण बड़े पैमाने पर लोगों का विस्थापन हुआ है।
- विस्थापित दलितों के बारे में तो जानकारी और भी कम है। शुरू के दशकों में जो विकास योजनाएं प्रारंभ की गई वे अपेक्षाकृत ज्यादा सुगम क्षेत्रों में थीं। इनमें से ज्यादातर योजनाएं उन क्षेत्रों में थीं जहां दलितों एवं अन्य पिछड़ी जातियों की आवादी थी। इस तरह के मामलों के कागजात या तो मौजूद नहीं हैं अथवा भरोसेमंद नहीं हैं। इसलिए विस्थापित दलितों के बारे में महत्वपूर्ण रिपोर्टें अब कभी भी सामने नहीं आ सकतीं।
- खुद आदिवासी क्षेत्रों में भी दलितों को ही आसानी से शिकार बनाया जाता है।

मिसाल के तौर पर छोटानागपुर टेनाइनसी एक्ट के अंतर्गत देश के उस हिस्से में दलितों की जमीन को बचाने का कोई प्रावधान नहीं है। वे अड़चनें भी बहुत कम हैं जो इन्हें खदेड़े जाने के मार्ग में आती हैं। मिसाल के तौर पर ठेकेदार जो इस अवधि का इस्तेमाल जमीन हड़पने के लिए करते हैं।

विश्व बैंक के वरिष्ठ सलाहकार डॉ. माइकल एम. कार्निया ने उन महत्वपूर्ण प्रक्रियाओं की सूची तैयार की है जिनसे विस्थापित लोग प्रभावित होते हैं। इन सभी से भयंकर दरिद्रता आई है। इनमें शामिल हैं जमीन से बेदखली, बेरोजगारी और मकानों से वंचित होना। इसके अलावा प्रभावित लोग हाशिए पर तो चले ही जाते हैं, इनके सामने खाद्यानों का भी संकट पैदा हो जाता है। ये भीषण बीमारी के भी शिकार होते रहते हैं। पानी और चारागाहों जैसी सामूहिक संपत्ति से भी इन्हें दूर कर दिया जाता है।

डॉ. कार्निया का कहना है कि प्रभावित लोगों की आपसी व्यवस्था और परिसंपत्तियां उनकी एक बड़ी ताकत होती है जो छिन्न–भिन्न कर दी जाती है। कई जनजातियों में देखा जाता है कि अगर कोई आदिवासी अपना मकान बना रहा है तो उसका समूचा कबीला उसके इस काम में मदद करने के लिए तैयार रहता है। समुदाय से मिलने वाली इस निःशुल्क सहायता से उसकी काफी बचत हो जाती है। लेकिन विस्थापन के बाद जब यह कबीला तितर–बितर हो जाता है तो उसे यह राहत भी नहीं मिल पाती।

विश्व बैंक विस्थापन का एक बहुत बड़ा कारक है। दिलचस्प बात यह है कि विस्थापन पर गंभीरता के साथ अध्ययन भी इसी ने किया है। पिछले कुछ वर्षों के दौरान विश्व बैंक की सहायता से चलने वाली परियोजनाओं के फलस्वरूप जबरन बेदखल किए गए लोगों के खिलाफ जनप्रतिरोध भी तेजी से बढ़ा है। यही वजह है कि विश्व बैंक इन स्थितियों का अध्ययन करने के लिए मजबूर हुआ। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विस्थापन से संबंधित ऐसे बहुत कम अध्ययन होंगे जिनमें डॉ. कार्निया की कुशाग्र दृष्टि मिलती हो।

1995 में आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में अपने भाषण के दौरान डॉ. कार्निया ने इस विषय पर विश्व बैंक के अध्ययन का सार्वजनिक तौर पर कुछ खुलासा किया। इनमें से एक बात उन्होंने यह बतायी कि प्रति वर्ष जबरन बेदखली के फलस्वरूप समूची दुनिया में जो लगभग एक करोड़ लोग प्रभावित होते हैं उनके पीछे मुख्य रूप से दो क्षेत्रों का हाथ है– बांधों का निर्माण और शहरी बस्तियां तथा परिवहन। इसका अर्थ यह हुआ कि पिछले दशक में नौ से दस करोड़ लोग विस्थापित किए गए हैं।

उनके अनुसार विकास के कारण विस्थापित हुए लोगों की संख्या पूरे विश्व में प्रति वर्ष नए शरणार्थियों की संख्या से कई गुना ज्यादा है।

इसके अलावा प्रति वर्ष एक करोड़ अथवा एक दशक में दस करोड़ की जो

संख्या है, वह अभी भी एक आंशिक संख्या है। इनमें उन लोगों को नहीं शामिल किया गया है जो नए क्षेत्रों के पैदा होने के कारण विस्थापित किए गए हैं। जैसे जंगलों तथा संरक्षित प्रदेशों के कारण हुए विस्थापन, खदानों और ताप बिजली घरों के कारण विस्थापन और अन्य इसी तरह की स्थितियों के फलस्वरूप हुए विस्थापन।

युद्ध के फलस्वरूप शरणार्थियों का दर्जा पाए लोगों और विकास के फलस्वरूप विस्थापित लोगों के मुद्दों को समान रूप से देखना उचित नहीं होगा। लेकिन अगर आप अपना टेलीविजन चालू करें और अफगानिस्तान, रवांडा, बोस्निया, चेचेन्या अथवा सोमालिया में चल रहे संघर्षों को देखें तो आप दहल उठते हैं। आप देखते हैं कि यहां लोग विध्वंस के शिकार हैं, इनके मकान जल रहे हैं, परिवार बिखर गया है और लोग भूख से तड़प रहे हैं। इस तरह की तस्वीरें हमें अंदर तक हिला देती हैं। कम से कम उन जगहों में तो ऐसा होता ही है जहां इन रिपोर्टों को दिखाने वाले मीडिया के सामने युद्ध का कोई जोखिम नहीं होता।

अदृश्य युद्धों के शिकार लोग हमें न तो दिखाई देते हैं और न वे हमारी चेतना को झिझोंड़ पाते हैं। उनका दुख दर्द ऊपर वर्णित लोगों की तुलना में कम त्रासदपूर्ण दिखाई देता है। बावजूद इसके उनकी भी जिंदगी विध्वंस से भरी होती है, उनके भी मकान मिट्टी के ढूहं बन चुके होते हैं और उनके भी परिवार बुरी तरह बिखर गए होते हैं। यह सारा दर्द उन्हें बिना किसी कुसूर के झेलना पड़ता है। 1993 के संयुक्त राष्ट्र के एक प्रस्ताव में, जिसे तैयार करने में भारत भी शामिल था, जबरन विस्थापित किए गए लोगों को मानव अधिकारों के जबर्दस्त उल्लंघन का शिकार बताया गया है। फिर भी संयुक्त राष्ट्र के कोष का एक अंश भी विकास के फलस्वरूप शरणार्थी की अवस्था में आए लोगों के लिए खर्च नहीं किया जाता।

दूसरी तरफ युद्ध के फलस्वरूप अपनी जमीन से बेदखल लोगों और विकास के फलस्वरूप विस्थापित लोगों के बीच में एक समानता है। इसमें मुख्य बात यह है कि दोनों स्थितियों में महिलाओं, बच्चों और बूढ़ों को सबसे ज्यादा मार झेलनी पड़ती है। मिसाल के तौर पर भारत में विस्थापन और नए परिवेश में पुनर्वास के कारण महिलाओं को मुख्य रूप से दो तरह का संकट झेलना पड़ता है–एक तो पीने के पानी का और दूसरा खाना पकाने के ईधन का। प्रायः नए इलाकों में पहले से रह रहे लोग इन नए आगंतुकों के विरोध में खड़े हो जाते हैं। यहां के मूल वाशिंदों के लिए सबसे आसान शिकार महिलाएं और बच्चे होते हैं।

विस्थापन का जो मुआवजा दिया जाता है वह आमतौर पर नकद धनराशि अथवा जमीन के रूप में होता है। प्रायः इन दोनों पर महिलाओं का नियंत्रण नहीं रहता। खासतौर से नकद राशि पर तो इनका सचमुच कोई नियंत्रण नहीं रहता। इसका असर बच्चों पर पड़ता है क्योंकि पैसे खर्च करने के मामले में जहां महिलाएं निर्णय लेने की

स्थिति में होती हैं वहां बच्चों की देखभाल बेहतर ढंग से हो पाती है। लेकिन जो हमारा मौजूदा ढांचा है उसमें इस तरह के संसाधनों पर महिलाओं के स्वतंत्र अधिकारों को कोई मान्यता नहीं दी गई है।

यद्यपि सरकारों से यह उम्मीद नहीं की जाती कि वे इस रूप में स्थितियों को देखें पर जबरन बेदखली की घटना एक नहीं बल्कि मानव अधिकारों और नागरिक स्वतंत्रता के विभिन्न पहलुओं का उल्लंघन करती है। यह स्वतंत्रता के अधिकार और चयन के अधिकार का उल्लंघन करती है। यह आजीविका के अधिकार पर प्रहार करती है और भेदभाव को बढ़ावा देती है। यह कानून के समक्ष समानता का भी मखौल उड़ाती है। जिन आदिवासियों और दलितों को जबरन बेदखल किया जाता है वह आबादी के अनुपात से कहीं बहुत ज्यादा है।

इसलिए सरकार की पुनर्वास नीति क्या हो। इस नीति के शीर्षक से ही हमें काफी कुछ संकेत मिल जाता है–*भूमि के अधिग्रहण के फलस्वरूप विस्थापित लोगों के पुनर्वास से संबंधित राष्ट्रीय नीति*।

यह जमीन के बारे में है। फिर भी इसका तात्पर्य उन लोगों से नहीं है जिन्हें परियोजनाओं के कारण अपनी जमीनें खाली करनी पड़ीं। पलामू और कोरापुट जिलों में मेरी मुलाकात ऐसे अनेक लोगों से हुई जिन्हें मुआवजे के रूप में कुछ दिया गया था। जिन जमीनों को इनसे जबरन छीन लिया गया उनकी कीमत अगर बाजार मूल्य पर आंके तो पता चलता है कि इनको दी गई मुआवजे की राशि काफी कम रही है। कुछ परिवार तो ऐसे भी हैं जिन्हें कुछ भी नहीं मिला।

जमीन उनकी रजामंदी के बिना ले ली गई। मुआवजे को प्रायः उस पट्टे के आधार पर दिया जाता है जिसमें जमीन का स्वामित्व दिखाया गया होता है। सामूहिक स्वामित्व की परंपराओं वाले आदिवासी समुदायों में लोगों के पास हजारों साल से जमीन के बड़े–बड़े हिस्से बिना किसी पट्टे के हैं। इस पर कभी विवाद ही नहीं रहा कि यह जमीन उनकी नहीं है। लेकिन जब भी उनकी जमीन जब्त की जाती है उन्हें कोई मुआवजा नहीं मिलता क्योंकि किसी पट्टे से इस बात की पुष्टि नहीं होती।

जैसा कि हम जानते हैं, जब लोगों को जबरन एक स्थान से दूसरे स्थान पर बसाया जाता है तो साधन के रूप में केवल जमीन से ही नहीं वे वंचित होते। चारागाहों, जड़ी बूटियों, जंगल के उत्पाद, सामुदायिक श्रम–इन सभी चीजों से उन्हें वंचित होना पड़ता है। लेकिन इस तरह की संपत्तियों के खोने का मुआवजा देने का संकेत तक नहीं मिलता।

पुनर्वास नीति संबंधी मसौदे की पहली पंक्ति से ही इसकी आंतरिक कहानी का पता चलता है। इसमें कहा गया है कि "नई आर्थिक नीति की शुरुआत के साथ ही यह आशा की जाती है कि बड़े पैमाने पर पूंजीनिवेश होगा.." इसके फलस्वरूप "जमीन की मांग बढ़ेगी.." "इसके अलावा "कोयला, खनिज लौह और मैंग्नीज के भंडारों सहित हमारी अधिकांश खनिज संपदा पिछड़े और दूर–दराज के क्षेत्रों में स्थित है जहां अधिकांश तौर पर जनजातियां रहती हैं।"

यह माना गया है कि परियोजनाओं के लिए जमीन का अधिग्रहण करने से "उन व्यक्तियों के सामने काफी कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं जिनकी जमीनें विकास की प्रक्रिया में अपना योगदान करती हैं।" लेकिन इस दस्तावेज में उन लोगों पर बहुत बल नहीं दिया गया है जिनको यहां से उजड़ना पड़ता है। इसमें इसी पर जोर दिया गया है कि उस प्रक्रिया को कैसे ज्यादा से ज्यादा आसान बनाया जाए जिसके फलस्वरूप अधिक से अधिक विस्थापन होना ही है। संक्षेप में कहें तो विस्थापन अवश्यम्भावी है। ऐसा होता रहा है और भविष्य में भी होता रहेगा। जमीनों का अधिग्रहण हमेशा की तरह किया जाता रहेगा। लेकिन इस बार विस्थापित लोगों को थोड़ी प्राथमिक राहत मिल जाएगी। उनसे कोई सलाह–मश्विरा नहीं किया जाएगा लेकिन उन्हें सहायता निःशुल्क दी जाएगी।

अधिग्रहण को संचालित करने वाले कानून पुराने और मनमाने किस्म के हैं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण **1894** का भूमि अधिग्रहण कानून और कोल बियरिंग ऐक्ट है। उनका जो दर्शन है उसमें चुनौती की कोई गुंजाइश नहीं है।

जमीन का अधिग्रहण 'राष्ट्रीय हित' में किया जाता है। ऐसा करते ही अधिग्रहण करने वालों की स्थिति विवाद से परे हो जाती है। पलामू में जब सेना के जवान निशानेबाजी का अभ्यास करते हैं तो हजारों भयग्रस्त आदिवासियों को उनके घरों से बाहर निकाल दिया जाता है और वे जंगल के एक किनारे भेज दिए जाते हैं। यह भी राष्ट्रीय हित में ही होता है। अगर मुंबई के आभिजात्य मालाबार हिल क्षेत्र में नौसेना के अभ्यास के दौरान ऐसा किया जाए तो यह राष्ट्रीय हित में नहीं होगा। इससे शायद महाराष्ट्र की सरकार ही गिर जाए।

राष्ट्र है क्या? केवल आभिजात्य लोग? अथवा भारत के करोड़ों गरीब लोगों से राष्ट्र का गठन हुआ है? क्या उनके हितों की कभी भी राष्ट्रीय हित के साथ पहचान नहीं की गई?

अथवा क्या हमारे यहां एक से अधिक राष्ट्र हैं? यह एक ऐसा सवाल है जिससे आपका हमेशा उस समय साबका पड़ता है जब आप भारत के निर्धनतम क्षेत्रों में जाते हैं। यह सवाल बराबर आपको विचलित करेगा जब आप देखते हैं कि निशानेबाजी के क्षेत्रों के लिए, लड़ाकू जेट विमानों के निर्माण के कारखानों के लिए, कोयला खदानों, बिजली परियोजनाओं, बांधों, संरक्षण क्षेत्रों, झींगा और मछली फार्मों और यहां तक कि मुर्गी पालन फार्मों के लिए देश के सबसे गरीब लोगों को पूरी तरह दरिद्र बना दिया जाता है। इसके लिए उन्हें जो कीमत चुकानी पड़ती है अगर वही विकास का 'मूल्य' है तब तो शेष 'राष्ट्र' अनंतकाल तक निःशुल्क अपना पेट भर सकता है।

सेना के चांदमारी क्षेत्र में - 1
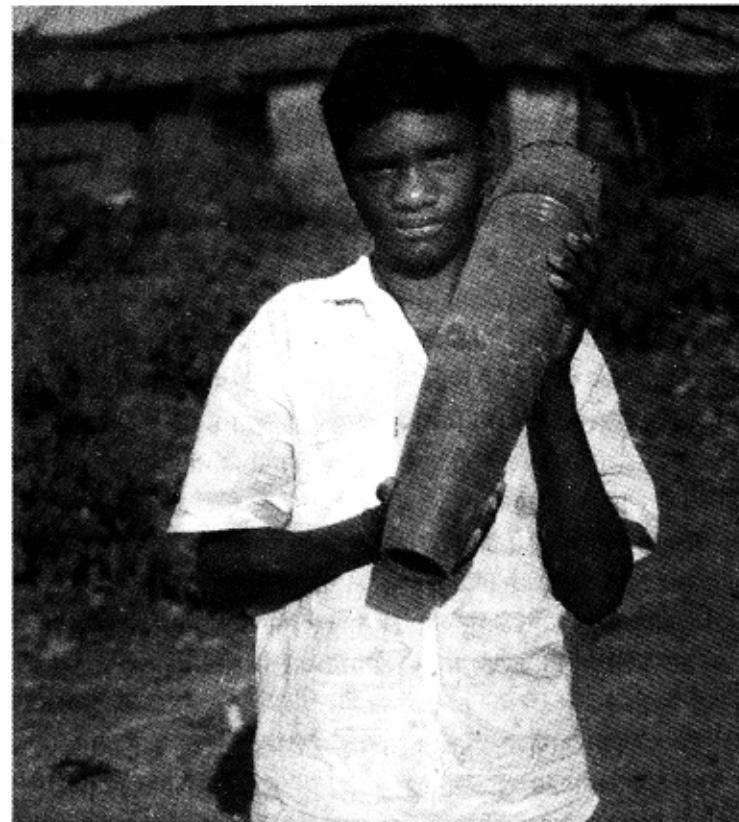
सेकुआपानी, गुमला (बिहार): आसमान में जब आग का गोला फटता है और नीचे जमीन हिल उठती है तो बधवा और बिरसा असुर जंगल के एक सिरे पर थरथराते हुए लेटे रहते हैं। सेकुआपानी के भयभीत असुर जनजाति के लोग अपने बच्चों, मवेशियों, बकरों और सुअरों के साथ अलग–अलग घेरा बनाकर समूह में बैठे रहते हैं। वे मन ही मन मनाते रहते हैं कि घंटों पहले खाली किये गए अपने गांव को वे सही सलामत देख सकें।

गुमला का सेकुआपानी भारतीय सेना के चांदमारी क्षेत्र में आता है। यह भारत के निर्धनतम जिलों में से एक पलामू के महुआडॉर ब्लाक में पड़ता है। हर बार रांची की 23 आर्टिलरी ब्रिगेड इस अस्थायी चांदमारी क्षेत्र में निशानेबाजी का अभ्यास करती है। इससे हजारों आदिवासी प्रभावित होते हैं। इनके परिवार के लोगों को अपने घर खाली करने पड़ते हैं और वे जंगल के बाहरी छोर पर तब तक पड़े रहते हैं जब तक अभ्यास समाप्त नहीं हो जाता।

सवेरे जब वापस वे अपने गांव में लौटते हैं तो उन्हें इस बात के लिए 'मुआवजा' दिया जाता है कि उन्होंने अपने मकान खाली किये और अपनी संपत्ति को तथा शायद अपने जीवन को खतरे में डालने का जोखिम उठाया। सेना बड़ी उदारता–पूर्वक प्रत्येक व्यक्ति को डेढ़ रुपए देती है। कभी–कभी यह अभ्यास चार–पांच दिनों तक चलता रहता है। 1956 से ही अलग–अलग पैमाने पर यह अभ्यास किया जा रहा है और हाल के वर्षों में इसे और तेज कर दिया गया है। फिर भी देश के बाकी हिस्सों में शायद ही लोगों को इसकी कोई जानकारी हो।

सेना ने अब इस क्षेत्र को स्थायी रूप देने का फैसला किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि पलामू और गुमला के 1,62,000 एकड़ से भी ज्यादा जमीन को इन आदिवासियों से ले लिया जाएगा। इसके फलस्वरूप मुंडा, उरांव और असुर, बिरजिया और किसान जनजाति के हजारों लोगों को विस्थापन की मार झेलनी पड़ेगी। हो सकता है कि बरहोर जनजाति के कुछ लोग भी इससे प्रभावित हों। उनकी एकमात्र संपत्ति अर्थात उनकी जमीन को जल्दी ही पलामू और गुमला की नेतरहाट फील्ड फायरिंग रेंज से संबंधित प्रायोगिक परियोजना की बलिवेदी पर समर्पित होना पड़ेगा।

इसमें तनिक भी विवाद नहीं है कि इस प्रस्तावित चांदमारी क्षेत्र से बड़े पैमाने

असुर जनजाति का युवक सेना के एक गोले के साथ। चांदमारी के इस क्षेत्र में सेना के अभ्यास के दौरान जबर्दस्त बर्बादी होती है। इस बदहाली से गांव वाले ज्यादा से ज्यादा लाभ यही उठा पाते हैं कि वे धातु के इन गोलों को पड़ोस के लोहरदगा कस्बे में कबाड़ी के पास बेच आते हैं।

पर जंगलों की कटाई भी होगी। अधिकारियों का कहना है कि इसके फलस्वरूप बेतला नेशनल पार्क की भी बरबादी हो सकती है। प्रोजेक्ट टाइगर रिजर्व के एक बड़े हिस्से को इससे क्षति पहुंचेगी। लेकिन सबसे ज्यादा मार आदिवासियों पर पड़ेगी जिनमें देश की कुछ निर्धनतम और सबसे प्राचीन जनजातियां शामिल हैं।

पलामू और गुमला के अकिंचन आदिवासियों के लिए इंटरनेशनल ईयर ऑफ इंडिजिनस पीपुल शुभ साबित नहीं हुआ।

छोटानागपुर क्षेत्र के आसपास विस्थापन आज प्रमुख शब्द बन गया है। यहां चलने वाली अनेक बड़ी परियोजनाओं ने लाखों लोगों की जिंदगी पर प्रतिकूल प्रभाव

डाला है। इन परियोजनाओं के फलस्वरूप जमीन हड़पी गई हैं, दस्तावेजों में हेराफेरी की गई है, बांधों का निर्माण किया गया है, कुछ खदानें तैयार की गईं हैं और बेशक 'विकास' किया गया है। अगर सभी नहीं तो उजाड़े गए लोगों में से अधिकांश आदिवासी और दलित हैं। उनके अंदर प्रतिरोध करने की क्षमता औरों के मुकाबले सबसे कम है। चांदमारी के अभ्यास के बाद जब असुर लोग वापस सेकुआपानी जाते हैं तो वे यह गिनती करने में जुट जाते हैं कि उनकी फसल को कितना नुकसान हुआ और उनकी कितनी मुर्गियां चुराई गईं।

सेना की गाड़ियां और तोपें खेतों को रौंदते हुए गुजरती हैं जिससे कृषि को खासा नुकसान होता है। कभी–कभी तो फसलों को जो नुकसान होता है वह प्रति एकड़ सात हजार रुपए तक का होता है। गांव के एक बुजुर्ग ने मुझे बताया कि एक बार बम के दो गोले बिलकुल हमारे करीबं गिरे। अकसर ऐसा होता है कि पेड़ जड़ से उखड़ जाते हैं और कुछ तो खड़े–खड़े ही सूख जाते हैं। कभी–कभी गोले बिलकुल हमारे करीब गिरते हैं और फटते नहीं।

मैंने गांव में गिरे ऐसे ही एक गोले के खोल को देखा। यह खाली था लेकिन इसका वजन **12-15** किलो था। बधवा असुर ने बताया – "हर बार जब वे अभ्यास के लिए आते हैं तो हमें **24** घंटे से भी कम की नोटिस मिलती है। नोटिस मिलते ही हमें अपना सब सामान इकट्ठा करके गांव से लगभग चार किलोमीटर दूर जंगल के सिरे पर पहुंचना पड़ता है।"

इन प्रभावित गांवों में प्रतिरोध पनप रहा है। इस तरह के गांवों की संख्या पलामू में कम से कम **29** और गुमला में **80** से अधिक है। महुआडॉर के एक अवकाश–प्राप्त खंड कल्याण अधिकारी पास्कल मिंज ने बताया कि इस प्रतिरोध को देखते हुए इन लोगों ने अलग–अलग चरणों में काम करने की नीति तैयार की है। अब वे एक बार में कुछ ही गांवों को खाली कराएंगे। ऐसा करने के पीछे उनका इरादा लोगों के बीच गलतफहमी पैदा करना है। मिंज खुद भी एक आदिवासी हैं और उनका संगठन जनसंघर्ष समिति इन जनजातियों के प्रतिरोध को संगठित रूप देने में लगा है।

परस्पर विरोधी खबरों और सोच–समझकर गलत सूचनाओं के प्रचार ने काफी गलतफहमी पैदा कर दी है। पलामू के अनेक लोगों को यह लगता है कि अब यह योजना समाप्त हो गई। ऐसा महसूस होता है कि गुमला के भूतपूर्व सांसद शिव प्रसाद साहू ने उन्हें ऐसा बताया है। भूतपूर्व केंद्रीय राज्यमंत्री सुमति ओरांव ने भी साहू के इस दावे को दुहराया है कि अब यह योजना ठप्प कर दी गई है। सच्चाई यह है कि सरकारी कागजात में इसका अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिलता।

साहू ने रक्षा मंत्रालय से जानना चाहा कि क्या गुमला के दो प्रखंडों में सेना छावनी बनाने का प्रस्ताव है। मंत्रालय ने बस यही जवाब दिया कि ऐसा कोई प्रस्ताव

नहीं है। आदिवासियों के हमदर्द एक अधिकारी ने बताया–"उनका कहना सही है। यह प्रस्ताव छावनी के लिए नहीं बल्कि चांदमारी क्षेत्र बनाये जाने के लिए है।" अखबारों ने भी साहू की ही तरह पूछताछ की है। इसलिए मंत्रालय के 'इनकार' पर कोई सवाल नहीं किया जा सकता।

पास्कल मिंज और दूसरे लोगों को विश्वास है कि इसके अगले चरण में छावनी बनाने का काम शुरू किया जाएगा। हालांकि वे इस बात पर सहमत हैं कि इस शब्दावली ने थोड़ी गलतफहमी पैदा की है। एक छोटे अफसर ने इसे इस प्रकार बताया– "अब मान लीजिए कि आप मुझसे पूछते हैं कि क्या आने वाले दिनों में आपका गांव बांध बनने के कारण डूब जाएगा। मुझे पता है कि यहां बांध नहीं बनने जा रहा है बल्कि रेलवे लाइन बिछाने की योजना चल रही है जिससे आपका गांव बर्बाद हो जाएगा। आपके सवाल के जवाब में मैं कहूंगा–नहीं। लेकिन मैं आपको रेलवे लाइन के बारे में कुछ भी नहीं बताऊंगा।"

जनसंघर्ष समिति के एक कार्यकर्ता ने बताया कि समस्या यह है कि कोई भी व्यक्ति दूर–दराज के इन गांवों का दौरा करने की तकलीफ नहीं उठाता। इसलिए उन्हें यह कैसे पता चलेगा कि यहां क्या हो रहा है। उसका कहना सही है। रक्षामंत्रालय से 'इंकार' की सूचना जब साहू को मिली, उसके लगभग **20** दिनों बाद से ही सेना ने इस क्षेत्र की पैमाइश शुरू कर दी है। इन गांवों में से सात गांवों–नेतरहाट, नैना, हुसमू, नवाटोली, चोरमुंडा, हरमुंडा टोली और अर्राहन्स का सीधे–सीधे अधिग्रहण कर लिया जाएगा। यहां के **6,300** एकड़ क्षेत्र में तोप के गोले बरसने लगेंगे। मैंने इनमें से पांच गांव का दौरा किया है। इन सभी गांवों में लोगों के पास कहने के लिए बहुत कुछ है बावजूद इसके कि इन्हें योजना के बारे में पूरी तरह अंधेरे में रखा गया है। लेकिन यह तो एक अलग ही कहानी है।

सेना के चांदमारी क्षेत्र में - 2

सेकुआपानी, गुमला (बिहार): से कुआपानी जैसे गांव तक पहुंचना कोई आसान काम नहीं है। यही वह जगह है जहां तोप से छोड़े गए गोले आकर गिरते हैं। जिन गांवों पर इसका प्रभाव पड़ता है वे बहुत बिखरे हुए हैं। कुछ बस्तियां तो ऐसी हैं जहां पहुंचना बहुत ही मुश्किल है। यहां इतनी तरह की बोली का चलन है कि लोगों से बातचीत करना और उनका इंटरव्यू लेना और भी कठिन हो जाता है। इसके अलावा यहां के जो आदिवासी हैं उन्हें तोप के गोलों से निकले धातु के खोल हमें दिखाने में शुरू में काफी हिचकिचाहट हो रही थी। उनमें से कुछ तो ऐसे थे जो इस विपत्ति से भी थोड़ा बहुत लाभ उठाने की जुगाड़ में लगे रहते थे– उन्होंने गोले के खोल से धातु वाले हिस्से को अलग करके बगल के कस्बे लोहरदगा में लोहारों को बेचने का काम शुरू कर दिया था। वे इसको बताने में भी घबड़ाते थे क्योंकि उन्हें भय था कि अगर सेना के लोगों को इसकी जानकारी हो गई तो वे इससे भी वंचित कर दिए जायेंगे।

यहां के लोग बताते हैं कि गांव के कुछ लोगों की उस समय मौत हो गई जब बिना फटे गोले को उन लोगों ने उठा लिया और वह हाथ में ही फट गया। भारतीय सेना की चांदमारी अभ्यास के क्षेत्र में पड़ने वाला यह प्रमुख गांव है। सेकुआपानी का नियंत्रण पलामू के महुआडॉर ब्लाक से होता है। अगर सेना इस चांदमारी क्षेत्र को स्थायी रूप दे देती है तो गुमला और पलामू दोनों के अनेक गांव इससे प्रभावित होंगे। अब इस सिलसिले में दो श्रेणियां तैयार की गई हैं– 'अधिग्रहीत' और 'अनुसूचित'।

पहली श्रेणी के गांवों को सीधे–सीधे अधिग्रहीत कर लिया जाएगा। दूसरी अर्थात अनुसूचित श्रेणी के गांव में रहने वाले लोगों को कहा जाएगा कि जब चांदमारी का अभ्यास होगा तो उस समय वे अपने घरों को छोड़ कर चले जाएं। अगर इसे स्थायी रूप दे दिया गया तो यह अभ्यास बराबर जारी रहेगा। यहां तक कि इस ब्लाक का मुख्यालय भी अनुसूचित क्षेत्र के अंतर्गत आ जाएगा। यहां के वरिष्ठ अधिकारी इस बात को लेकर काफी चिंतित दिखाई दिये कि हर बार फायरिंग के समय उन्हें पूरा ऑफिस ही खाली करना पड़ेगा। लेकिन जैसा कि पास्कल मिंच का कहना है कि और कुछ अधिकारियों का मानना भी है कि यह तो इस पूरे मामले की बहुत मामूली बात है। अंतिमतौर पर देखेंगे तो इस पूरी प्रक्रिया में स्थायी तौर पर प्रभावित होने वाले गांवों की संख्या 120 से भी अधिक जाएगी।

अभी भी इसके प्रभाव अत्यंत विध्वंसकारी हैं। चोरमुंडा में मुझे बताया गया कि यहां जमीन की कीमतें गिर रही हैं। इसलिए जो परिवार शादी–ब्याह के मौके पर जमीन का कोई छोटा हिस्सा बेचकर अपना काम चला लेता था वह भी अब इस मामूली सी सुविधा से वंचित हो गया है। इस कारण कई शादियों के सामने संकट खड़ा हो गया है। मुंडा जनजाति की एक महिला एलिजाबेथ आयंदा ने मुझसे पूछा कि क्या कोई बता सकता है कि हम यहां से कहां जाएं। लखनदेवराम असुर ने बताया कि सेकुआपानी जैसी जगहों में जहां तोप के गोले आकर गिरते हैं, फसलों की बरबादी के लिए किसी को कुछ भी मुआवजा नहीं दिया जाता। यहां जो नुकसान होता है वह प्रति एकड़ सात हजार रुपए से भी ज्यादा होता है।

इनमें से कुछ गांवों में सेना के कुछ जवान भी रहते हैं। निष्ठा के मामले में वे दो पाटों के बीच में फंसे हैं। लेकिन प्रत्येक गांव में दो चीजें बहुत साफ हैं। पहली तो यह कि वे प्रतिरोध करने के लिए संकल्पशील हैं और दूसरी बात यह है कि यहां के अधिकारियों को इस मामले में कोई सफलता नहीं मिली है कि वे एक भी मकान में जाएं और लोगों को विश्वास में लें।

पकड़ीफाट गांव के मुखिया मैनुअल मिंज ने हमें बताया – "अभी तक हमसे कोई भी अधिकारी नहीं आकर मिला। हमें अभी कोई नोटिस भी नहीं दी गई हालांकि उन लोगों ने आकर नाप–जोख का सारा काम पूरा किया है। नोटिस भले ही न दी गई हो लेकिन हमें पता है कि वे हमें यहां से खदेड़ने की योजना बना रहे हैं। लेकिन अपनी इस जमीन को और अपने खेतों को बचाने के लिए हम अंतिम क्षण तक लड़ते रहेंगे।" होरमुंडा में तेथरूमुंडा तथा अन्य लोगों ने कहा" हम जान दे देंगे लेकिन जमीन नहीं देंगे।"

अर्राहांस में मैंने बिरजिया जनजाति के लोगों से पूछा कि आप लोग अपने विधायक से क्यों नहीं मिलते। इसके जवाब में लाखन बिरजिया ने कहा कि हमें तो यह भी पता नहीं है कि वह रहते कहां हैं। यहां से चुने गए विधायक और सांसद दोनों भाजपा के हैं लेकिन यहां के लोगों ने बहुत दिनों से उनकी शक्ल भी नहीं देखी। जहां तक उनकी पार्टी का सवाल है वह चांदमारी क्षेत्र बनाये जाने के विचार का समर्थन करती है।

सेना का कहना है कि गुमला में कोई भी सैनिक छावनी नहीं बनेगी। चांदमारी क्षेत्र के बारे में वह मौन है। पलामू छात्र संघ को गृह राज्यमंत्री राजेश पायलट का एक पत्र मिला है। इसमें बस यही कहा गया है कि वह मामले पर विचार कर रहे हैं। भूतपूर्व राज्यमंत्री सुमति ओरांव के नाम प्रधानमंत्री नरसिंह राव का जो पत्र है उसमें महज यही लिखा हुआ है कि उनकी चिट्ठी प्रधानमंत्री को मिल गई है। इन पत्रों में से किसी में

इस बात से इनकार नहीं किया गया है कि यहां चांदमारी क्षेत्र नहीं बनाया जाएगा। और यह दोनों चिट्ठियां सेना के इनकार के काफी दिन बाद आईं।

अगर योजना के मुताबिक काम होता रहा तो सेना का कब्जा नेटरहॉट के प्रमुख जलस्रोत पर हो जाएगा। इससे बेतला और नेतरहॉट के पहाड़ी पर्यटन क्षेत्रों में व्यापार की संभावनाएं समाप्त हो जाएंगी। करोड़ों रुपए लगा कर जिन लोगों ने वहां होटल खोले हैं उनका पैसा डूब जाएगा। जंगल में बने तमाम बंगले जिनमें पुरानी ब्रिटिश स्थापत्य की अद्भुत छाप देखने को मिलती है गायब हो जाएंगे। महुआदार से मुख्य सड़क तक जाने वाला रास्ता भी बंद हो जाएगा। अभी रांची तक पहुंचने के लिए 180 किलोमीटर की दूरी तय करनी पड़ती है जो बढ़कर 250 किलोमीटर हो जाएगी और बनारी तक की दूरी 60 किलोमीटर से बढ़कर 280 किलोमीटर हो जाएगी। सिंचाई के बहुत सारे ढांचे नष्ट कर दिए जायेंगे। सेना की परियोजना के अंतर्गत साठ किलोमीटर अथवा इससे अधिक का क्षेत्र आ सकता है। एक बार अगर यह प्रक्रिया शुरू हो गई तो फिर इसे वापस नहीं लिया जा सकेगा। इसके बाद यह चांदमारी का क्षेत्र पहले की तरह अस्थायी न होकर अब स्थायी रूप ले लेगा।

इसके फलस्वरूप 12 स्कूलों की इमारतें ध्वस्त हो जाएंगी। इसी प्रकार अनेक पंचायत भवन और राजस्व विभाग के बंगले भी बरबाद होंगे। लेकिन ऐसा लगता है कि सेना ने नेतरहॉट के पब्लिक स्कूल को थोड़ी रियायत दे दी है। सेना के एक अवकाश–प्राप्त अधिकारी ने बताया कि इस स्कूल को इसलिए छोड़ दिया गया होगा ताकि सैनिकों के बच्चे पढ़ सकें। चाहे जो हो सेना पहाड़ी क्षेत्रों को हड़पने की साजिश में लगी हुई है।

प्रभावित क्षेत्र में साल वृक्षों के कुछ बहुत खूबसूरत जंगल भी हैं। बेटला के नेशनल पार्क में, प्रोजेक्ट टाइगर रिजर्व में और इससे लगे जंगलों में एक अनुमान के अनुसार 85,000 जानवर बसे हुए हैं। इनमें 57 चीते, 60 तेंदुए, 300 जंगली भैंसें और 115 हाथी शामिल हैं। यह तय है कि प्रोजेक्ट टाइगर संरक्षित क्षेत्र का एक हिस्सा इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा। जनसंघर्ष समिति के एक कार्यकर्ता ने बताया कि समूची योजना आगे चलकर एक बड़े सैनिक आधार बनाने की है। ऐसा अड्डा बनाने की है जो संभवतः भारत का दूसरा सबसे बड़ा सैनिक अड्डा हो। इस कथन की अलग से पुष्टि नहीं की जा सकी। लेकिन महुआडॉर में रोमन कैथोलिक मिशन के लोगों ने मुझे बताया कि अफसरों ने यह सुझाव दिया है कि यहां के लोग मुर्गी पालने के लिए एक ऐसा केंद्र विकसित करें जिससे सेना को प्रतिदिन एक लाख अंडे सप्लाई किये जा सकें।

अनेक मोर्चो पर तरह–तरह के दबाव भी काम कर रहे हैं। प्रोजेक्ट टाइगर को प्रभावित करने वाली हर बात पर पूरे विश्व का ध्यान आकर्षित हो जाता है। बिहार

सरकार के कुछ विभाग भी फायरिंग रेंज का विरोध कर रहे हैं। पटना में एक अधिकारी ने फोन पर मुझे बताया– "आप खुद ही बताइए कि अगर बंबई में नौसेना के अभ्यास के दौरान हर बार मालाबार हिल के निवासियों को अपना मकान खाली करना पड़े तो कैसा महसूस होगा? और इसके लिए उन्हें प्रतिदिन डेढ़ रुपए के हिसाब से इसका मुआवजा दिया जाए? लेकिन यह चीज यहां इसलिए हो रही है क्योंकि यहां की आबादी आदिवासियों की है जो पिछड़े हैं और देश के बाकी हिस्सों से कटे हुए हैं।" ऐसा लगता है कि स्थानीय अधिकारी भी इस फायरिंग रेंज के पक्ष में नहीं हैं। कुछ ने प्रस्तावित भूमि अधिग्रहण पर अपनी आपत्तियां भी दर्ज करायी हैं। मैं स्वयं इसकी पुष्टि कर सका हालांकि अधिकारियों ने खुद इस पर किसी तरह की टिप्पणी करने से इनकार किया।

डॉल्टनगंज और गुमला में जो विरोध प्रदर्शन आयोजित किये गए वे काफी प्रभावशाली रहे हैं। परियोजना से प्रभावित लोगों की एकता ने अनेक तरह के दबावों का सामना किया। उनकी एकता ही उनकी मुख्य ताकत है और इस एकता का आधार बहुत सहज है। जैसा कि अराहन्स की फूलमनी देवी बिरजिया ने कहा– "इससे तो अच्छा है कि वे हमें मार ही डालें। वैसे भी अगर हमारी जमीन ही छीन ली जाएगी तो हम मरे के समान ही हैं। इसके एवज में वे हमें कुछ पैसे दे देंगे। लेकिन हमें जमीन कौन देगा?" पस्काल मिंज का कहना है कि पहाड़ के ये आदिवासी मैदानी इलाकों में बिलकुल लाचार जिंदगी गुजारेंगे क्योंकि यहां जंगलों पर ही उनका पूरा जीवन निर्भर करता है। इनमें से कुछ तो पहले ही अपनी जाति के खत्म होने के कगार पर खड़े हैं। जो बचे हैं वे भी 'पाइलट प्रोजेक्ट नेटरहॉट फील्ड फायरिंग रेंज' की चपेट में आ जाएंगे। यहां 'पाइलट प्रोजेक्ट' शब्द के इस्तेमाल से भी यह संकेत मिलता है कि अभी इस परियोजना के आगे और भी कई काम होने बाकी हैं।

सबसे बड़ी विडंबना यह है कि अगर इस परियोजना को समाप्त कर दिया जाता है तो इसके पीछे भी जो कारण होंगे वे पर्यावरण से ही संबंधित होंगे। इसके अलावा सेना के सामने आर्थिक दिक्कतों की वजह से भी इसे समाप्त किया जा सकता है। उनके पास अभी 80 करोड़ रुपए हैं लेकिन अपनी योजना को कार्यान्वित करने के लिए उन्हें लगभग एक सौ साठ करोड़ रुपए की जरूरत होगी। कानूनन सेना को चाहिए कि जिन पेड़ों को उसने काटने की योजना बनायी है उसके एवज में बड़े पैमाने पर वृक्षारोपण का कार्य करे। इसका अर्थ यह हुआ कि जहां से पेड़ काटे जा रहे हैं उस क्षेत्र के मुकाबले दुगने क्षेत्र में पेड़ लगाए जाएं। सेना के पास इतनी राशि नहीं है कि वह इस काम को कर सके।

एक अधिकारी ने व्यंग्य भरे अंदाज में कहा कि विस्थापित आदिवासियों के मुकाबले यहां के विस्थापित जानवरों और पेड़ों की वजह से दुनिया का ध्यान इस ओर

ज्यादा आकर्षित होगा।

एक बुजुर्ग आदिवासी किसान कुंद्रा ने कहा कि फायरिंग रेंज की योजना समाप्त कर दी जाए तो भी लोगों को यह समझना चाहिए कि आदिवासियों के साथ खुद उनकी ही धरती पर कैसा सुलूक किया जाता है। जरूरत है कि हमारी इस कहानी को सबको बताया जाए।

पुनश्च

टाइम्स आफ इंडिया के विभिन्न संस्करणों में फायरिंग रेंज से संबंधित इस रिपोर्ट के प्रकाशित होने के बाद इस काम में थोड़ी कमी आई। बिहार सरकार का एक हिस्सा पहले से ही इस योजना को लागू करने में हिचकिचाहट दिखा रहा था। अब उनकी कोशिश यह थी कि वे पूरी तरह इस योजना से बाहर आ जाएं।

नौ दिसंबर 1993 को सेना के कुछ नाराज बड़े अफसरों ने इस रिपोर्ट की निंदा करने के लिए रांची में एक संवाददाता सम्मेलन आयोजित किया। उन्होंने मुझे भी एक निमंत्रण पत्र भेजा लेकिन यह निमंत्रण पत्र 18 दिसंबर को भेजा गया। एक प्रेस रिलीज जारी करके अधिकारियों ने इस रिपोर्ट पर हमला किया। इसमें कहा गया था कि *टाइम्स आफ इंडिया* को "पूरी तरह आधारहीन, दुर्भावना से प्रेरित और झूठी" रिपोर्टें प्रकाशित करने की आदत है। इसमें कहा गया था कि इस रिपोर्ट के पीछे भी कुछ ऐसे लोगों का हाथ है जिनके इस क्षेत्र में निहित स्वार्थ हैं। इसमें यह भी कहा गया था कि सच्चाई बिलकुल अलग है। सही अर्थों में अफसरशाही वाले अंदाज के कारण प्रेस रिलीज तैयार करने वाले अधिकारी ने रिपोर्ट के प्रकाशित होने की तारीख भी गलत उद्धृत की थी।

सेना की इस रिलीज के कारण कुछ पत्रकार संवाददाता सम्मेलन में गए। वहां उन्हें यह बताया गया कि यह परियोजना किस तरह से स्थानीय निवासियों को सकारात्मक ढंग से प्रभावित करेगी। इसके अलावा और कोई खास बात नहीं की गई। अगर सही अर्थों में संवाददाता सम्मेलन आयोजित किया जाता तो उसमें यह गुंजाइश रहती कि *टाइम्स आफ इंडिया* के रिपोर्टर को भी बुलाया जाए और उससे सवाल किये जाएं। मेरे पास असैनिक अधिकारियों को सेना की ओर से लिखे गए उस पत्र की एक प्रतिलिपि है जिसमें असैनिक अधिकारियों को अधिकार दिया गया था कि वे नेटरहाट फील्ड फायरिंग रेंज के लिए जमीन अधिग्रहण का काम जारी रखें। इस पत्र में इस बात पर भी क्रोध जताया गया था कि सेना तो इसका ब्यौरा तैयार करने में जी–जान से लगी हुई है पर पलामू जिले के स्थानीय अधिकारी इस मुद्दे से अपने को किनारे करने में लगे हुए हैं। इसने पटना के वरिष्ठ सरकारी अधिकारियों से निवेदन किया था कि वे जिले के अधिकारियों को दुरुस्त करे।

जो भी हो, बाद में सेना ने पटना से संवाददाताओं के एक दल को इकट्ठा किया और उसे लेकर नेतरहॉट की यात्रा की। कुछ ऐसे रिपोर्टरों ने, जिन्होंने कभी प्रभावित लोगों से मुलाकात नहीं की, कुछ रिपोर्टें भी तैयार कीं। इन रिपोर्टों में कहा गया था कि यह फायरिंग रेंज बहुत महत्वपूर्ण है और बताया गया था कि किस प्रकार सेना एक महत्वपूर्ण काम को अंजाम दे रही है। लेकिन इन रिपोर्टों को जनता की विश्वसनीयता नहीं मिली। स्थानीय लोगों ने एक क्षण के लिए भी सेना के इस दावे पर विश्वास नहीं किया कि इस परियोजना से उनके जीवन पर सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा। परियोजना विरोधी आदिवासियों ने रांची में विशाल प्रदर्शन किये और यहां तक कि बाद में भी उनके प्रदर्शन आयोजित हुए। अनेक अवरोधों के बावजूद विभिन्न जनजातियों से आए प्रदर्शनकारियों के बीच लगातार एकता बनी रही।

स्थानीय प्रतिरोध को बढ़ते देखकर बिहार प्रशासन ने सोचा कि बड़े पैमाने पर लोगों के विस्थापन की कार्रवाई एक बड़ी मूर्खता होगी। खासतौर से ऐसी सरकार के लिए जो गरीबों और उत्पीड़ितों के हितों की रक्षा का दावा करती हो। नतीजा यह हुआ कि स्थायी फायरिंग रेंज की परियोजना को ठंडे बस्ते में डाल दिया गया। अंतिम जानकारी तक इस स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। अब वहां पर शांति है और यह शांति अस्थायी तौर पर चांदमारी का अभ्यास शुरू करने के सेना के प्रयासों से बीच–बीच में भंग होती रहती है।

चिकापार : विकास की मार - 1

चिकापार (कोरापुट): मुक्ता कदम की आंख से आंसू बह रहे थे। उसके पांचों बच्चे अपने–अपने सरों पर गठरियां लादे अंधेरे और बारिश के बीच जंगल से गुजर रहे थे। उसके गांव चिकापार को हिंदुस्तान एयरोनाटिक्स लिमिटेड की मिग जेट फाइटर परियोजना के लिए अधिग्रहीत कर लिया गया था और उसके परिवार को बरसात की उस अंधेरी रात में गांव से बाहर निकलना पड़ा था। मुक्ता उस दिन को याद करते हुए बताती है–"हमें यह पता नहीं था कि हम कहां जा रहे हैं। हमसे सब लोगों ने कहा कि मकान खाली कर दो और हम भी सबकी तरह अपना माल असबाब लेकर बाहर आ गए। वह बड़ी भयंकर रात थी। अपने बच्चों के बारे में सोचकर मेरा कलेजा कांप उठता था।" यह घटना 1968 की है। गदावा जनजाति की मुक्ता को उस समय यह नहीं पता चला था कि चार–पांच सौ बड़े संयुक्त परिवारों वाले समूचे गांव के साथ उसे अभी और दो बार इसी तरह के अनुभवों को झेलना पड़ेगा।

कोरापुट के नक्शे पर चिकापुर भी अन्य गांवों की ही तरह है। दुनिया में शायद ही ऐसा कोई गांव हो जहां के लोगों को तीन–तीन बार विस्थापन की मार झेलनी पड़ी हो–और वह भी हर बार विकास के नाम पर। 1960 वाले दशक में इन्हें मिग परियोजना के कारण विस्थापित होना पड़ा। लड़ाकू विमानों के लिए हवाई पट्टी बनाने के मकसद से इन लोगों को वहां से विस्थापित किया गया और गांव वाले एक दूसरी जमीन पर जाकर बसे जिन पर इन्हीं का स्वामित्व था। इस जमीन को भी वे चिकापार ही कहते थे।

1987 में चिकापार–2 के निवासियों को फिर एक बार सामूहिक तौर पर गांव खाली करना पड़ा। यह तब हुआ जब अभी पिछली बेदखली का मुआवजा भी इनको नहीं मिला था।

इस बार मुक्ता अपनी एक पोती को लेकर किसी अज्ञात स्थान के लिए चल पड़ी। उसने बताया–"इस बार फिर बारिश हो रही थी। हमने एक पुल के नीचे शरण ली और कुछ दिनों तक वहां पड़े रहे।" इसी जनजाति की दूसरी महिला अर्जन पामजा ने इस बार के विस्थापन का कारण बताया–"हमें इस बार ऊपरी कोलाबा बहुउद्देशीय (सिंचाई और बिजली) परियोजना तथा नौसेना के लिए हथियारों के भंडार बनाने की परियोजना के लिए यह जगह छोड़नी पड़ी।" गदावा जनजाति यहां की सबसे पुरानी जनजातियों में से एक है।

काफी कठिनाई के बाद गांव वालों ने चिकापार को फिर से सुव्यवस्थित किया। दूसरे विस्थापन के बाद अब यह कई जगहों पर छोटे–छोटे समूहों के रूप में बस गया था। कुछ ही दिनों बाद तीसरी बार जगह खाली करने के लिए उनको नोटिसें मिलनी शुरू हुई। अब उन्हें यह स्थान छोड़ना ही होगा।

विकास चिकापार का पीछा नहीं छोड़ रहा है।

गांव में जो गिने–चुने पढ़े लिखे लोग हैं उनमें से एक हैं जगन्नाथ कदम जो स्कूल में अध्यापक हैं। चूंकि चिकापार में कोई स्कूल नहीं है इसलिए वह एक दूसरे गांव के स्कूल में कुछ वर्षों से पढ़ा रहे हैं। चिकापार के बच्चों को कभी स्कूल जाना नसीब नहीं हुआ। जगन्नाथ कदम ने हमें बताया–"तीसरी बार हमें उजाड़ने के अलग–अलग कारण बताये गये। एक सार्वजनिक सभा में यहां के मंत्री हरीश चंद्र बख्शी पात्रा ने बताया कि हमें एक मुर्गी पालन केंद्र खोलने के लिए यह इलाका खाली करना पड़ेगा। दूसरा कारण यह बताया जाता है कि अभी गांव का जो ढांचा है उसकी वजह से इस क्षेत्र में मिलिट्री इंजीनियरिंग सर्विस (एमइएस) के सामने कई समस्याएं पैदा हो गई हैं। हमें यह नहीं पता है कि कैसे समस्याएं पैदा हो रही हैं। हम बस इतना जानते हैं कि गांव वालों को गांव खाली करने की नोटिस मिल चुकी है।"

एक अधिकारी ने बताया कि अगर आखिरी कारण सही है तो इस चिकापार को एक के बाद एक वायुसेना, नौसेना और थलसेना ने तबाह किया। अगर यह दुखद नहीं है तो भी दिचलस्प तो है ही। ध्यान रखिए कि तीसरी बार जिनकी जमीन जब्त की गई वे वही लोग हैं जिनकी जमीन पहली और दूसरी बार जब्त की गई थी। इन लोगों को बेघर बनाने के पीछे सरकार का हाथ है जिसने इनको लगातार तीन बार इनकी जमीनों से बेदखल किया है और यह सारा हादसा विकास के नाम पर हुआ।

गदाबा जाति के कदम चिकापार–2 में टिके रहे। पहली बार मिग परियोजना के लिए जगह खाली करने के बाद वे यहां आकर बस गए थे। उन्होंने दूसरी बार बेदखली की नोटिस को गंभीरता से नहीं लिया। कोलाब परियोजना का पानी उनके घर तक नहीं पहुंचता था इसलिए उन्होंने आदेशों का उल्लंघन किया और वहीं जमे रहे। उन्होंने बताया कि चूंकि उनका परिवार वहां अकेले है और डकैतों वगैरह का सामना करना पड़ता है इसलिए उन्होंने वहां से हटना मुनासिब नहीं समझा।

चिकापार बहुत गरीब लोगों का गांव नहीं था। यहां गदाबा और परोजा जनजाति के लोग रहते थे जिनमें कुछ डोम थे और कुछ अन्य पिछड़ी जातियों के थे। सुनाबेड़ा (शाब्दिक अर्थ सोने वाली भूमि) स्थित इन ग्रामवासियों के पास काफी जमीनें थीं। बलराम पात्रो ने बताया – "1963 में मेरे परिवार के पास 129 एकड़ खेत थे। इसमें से हमें केवल 65 एकड़ खेत का मुआवजा मिला और महज 28,000 रुपए हाथ में आए और वह भी बहुत सालों बाद। लेकिन इसके अलावा मकान बनाने की जगह देने

के मामले में या और किसी तरह की सहायता मुझे नहीं मिली। सरकार की ओर से पुनर्वास की भी कोई व्यवस्था नहीं की गई।"

ज्योतिर्मय खोड़ा नामक एक हरिजन ने बताया–" मेरे परिवार के पास साठ एकड़ जमीन थी और मुझे मुआवजे के रूप में 15,000 रुपए मिले। सरकार ने पहाड़ी जमीन का एक सौ पचास रुपए प्रति एकड़ की दर से और अव्वल दर्जे की जमीन का साढ़े चार सौ रुपए प्रति एकड़ की दर से भुगतान किया। मुझे भी कई वर्षों बाद यह पैसा मिला। न तो पुनर्वास के लिए कोई धन दिया गया और न मकान बनाने की कोई जगह दी गई।"

नरेंद्र पात्रो ने बताया कि सरकार की ओर से यह वादा किया गया था कि प्रत्येक विस्थापित परिवार के एक सदस्य को नौकरी पर ले लिया जाएगा। इन लोगों से हमारी बातचीत जहां हो रही थी उसे आप चिकापार–3 कह सकते हैं। नरेंद्र का कहना है कि किसी भी अवसर पर जनता ने कभी प्रतिरोध नहीं किया फिर भी अधिकारी लोग अपने वायदे से मुकरते गए।

हिंदुस्तान एयरोनाटिक्स लिमिटेड में 15 से भी कम लोगों को बड़ी मामूली सी नौकरी मिल गई जबकि इसमें काम करने वालों की संख्या 4500 है। थोड़ी कठिनाई के बाद अस्थायी मजदूर के रूप में और तीस लोगों की भर्ती यहां हो गई। इनके पास कोई सुरक्षा नहीं थी। जिन्हें अस्थायी तौर पर लिया गया उन्हें एचएएल टाउनशिप से 120 किलोमीटर की दूरी पर रहने की जगह देने का प्रस्ताव किया गया।
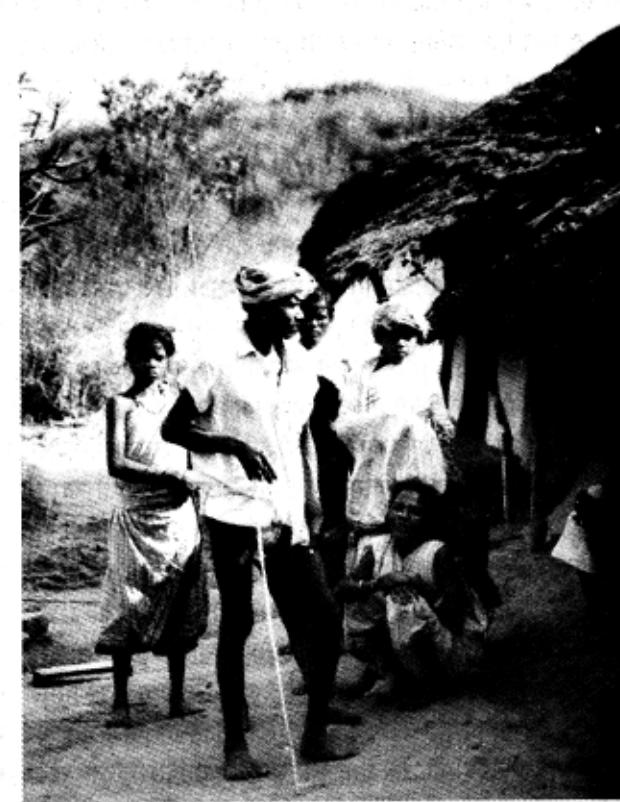
खोरा नामक युवक ने 1970 में मैट्रिक की परीक्षा पास की और बाद में एक टेक्निकल ट्रेनिंग स्कूल से उसने डिप्लोमा लिया लेकिन इन सबके बावजूद आठ वर्षों तक उसे नौकरी नहीं मिली। वैसे भी इस गांव से मैट्रिक करने वाला वह पहला व्यक्ति था। इतने वर्षों की बेरोजगारी के बाद उसे एचएएल में नौकरी मिली। एक अन्य हरिजन मदन खासला ने बताया कि अस्थायी मजदूरों की भर्ती के लिए ठेकेदार लोग बाहर से आदमी लेकर आते हैं। फिर यहां भर्ती करने वाले एजेंट हमसे पैसे की मांग करते हैं लेकिन हमारे पास पैसा कहां है। विस्थापन के वर्षों बाद इस गांव के कुछ और लोगों को एचएएल में स्थायी नौकरियां मिल गई लेकिन इसके लिए बाकायदा उन्हें दूसरों के साथ प्रतियोगिता में भाग लेना पड़ा– विस्थापन के मुआवजे के रूप में यह नौकरी नहीं मिली थी।

चिकापार के बिखरने के साथ ही एक और समस्या पैदा हुई। जाति संबंधी प्रमाण पत्रों का संबंध निवास संबंधी प्रमाण पत्रों से होता है और ये प्रमाणपत्र जमीन की जोतों पर आधारित होते हैं। अपनी जमीन न होने के कारण चिकापार के निवासियों को मूल निवास से संबंधित प्रमाण पत्र लेना मुश्किल हो गया। इसका अर्थ यह हुआ कि अब वे जाति संबंधी प्रमाण पत्र नहीं प्राप्त कर सकते जिसके जरिये वे अपना आदिवासी

अथवा हरिजन होना साबित कर सकें। इससे हुआ यह कि नौकरियां पाने के और भी अवसरों से उन्हें हाथ धोना पड़ा।

चिकापार–3 के समारा खिलो का कहना है कि अधिकारियों द्वारा धोखा दिये जाने के कारण एक ओर तो हम लोग यहां कोई नौकरी नहीं पा सकते हैं और दूसरी तरफ इस क्षेत्र से बाहर हमें ऐसी कोई नौकरी भी नहीं मिल सकती जो हमारे लिए आरक्षित हो क्योंकि हम अपनी जाति प्रमाणित नहीं कर सकते।

चार वर्ष पूर्व नैवल एम्युनेशन डिपो ने कुछ विस्थापितों को चतुर्थ श्रेणी की नौकरियां देने का वायदा किया। खोरा का कहना है कि इन नौकरियों के लिए सारे

चिकापार में गदाबा जाति का एक परिवार। तीसरी बार उन्हें गांव से विस्थापित होना पड़ रहा है और अब उन्हें यह तय करना है कि कहां जायं! विस्थापितों में से ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है जिन्हें कोई काम मिला हो। शायद ही किसी को मुआवजे के रूप में कुछ खास रकम दी गयी हो।

इंटरव्यू विशाखापत्तनम् में हुए। अब यहां के विस्थापित लोग विशाखापत्तनम् तक कैसे पहुंच पाते। यहां पर जो थोड़े बहुत इंटरव्यू हुए भी उनमें बाहर के लोगों को चुन लिया गया। जो नौकरियां थीं वे भी स्वीपर, माली, खलासी, चौकीदार, हेल्पर आदि की थीं। इन नौकरियों को पाने के लिए भी बाहर से आए लोगों ने आठ हजार से बारह हजार रुपए तक दिए। अभी जो हालत है उसमें हमारे बीच के लोग इतना पैसा खर्च ही नहीं कर सकते।

इसी परियोजना ने और भी कई गांवों के लोगों को विस्थापित किया। लेकिन चिकापार को ही लगातार तीन बार इस दुर्भाग्य को झेलना पड़ा। आश्चर्य की बात है कि यहां के लोगों की सोच काफी तर्कसंगत है। अभी भी इनमें से अनेक ने मुझे बताया कि वे केवल न्याय चाहते हैं। जहां तक नौकरियों का सवाल है, उनका कहना है कि प्रत्येक परिवार से कम से कम एक व्यक्ति को नौकरी मिलनी चाहिए। उड़ीसा और बिहार के कई हिस्सों में मुआवजे के रूप में जो नौकरियां दी गयी हैं उनके बीच और परियोजनाओं के लिए ली गयी जमीन के बीच एक संबंध रहा है। लेकिन इससे शिल्पियों तथा अन्य भूमिहीन लोगों को चोट पहुंची है।

बार–बार उजाड़े जाने की घटना से मुक्ता ऊब गई है– "हमें पहले से ही पानी और ईंधन के लिए लकड़ी लाने में काफी लंबी दूरी तय करनी पड़ती थी। अब हमें पहले के मुकाबले दुगुना समय लगाना पड़ता है। मेरा शरीर अब इसे नहीं झेल सकता।" उसकी पड़ोसन मंथा ने कहा कि कम से कम पुरानी जगह में हमें पता था कि कौन सी चीज कहां मिलती है। जगह बदलने से सब कुछ गड़बड़ हो गया है। हम ऐसी जगह पहुंचा दिये गये जो हमारे लिए एकदम अजनबी थी और स्थानीय लोगों ने हमारे साथ बुरा सुलूक भी किया। जब हम अपनी बाल्टी और घड़े लेकर पानी लेने पहुंची तो इलाके के पुरुषों ने बहुत दुर्व्यवहार किया। हम कर ही क्या सकती थीं?"

सुनाबेड़ा के रेवेन्यू इंस्पेक्टर पूर्ण चंद परेरा ने इस बात की पुष्टि की कि बेदखली की नोटिसें अब तीसरी बार भेजी गयी हैं। उन्होंने मुझसे बताया कि इन लोगों ने अतिक्रमण किया है और इन्हें यह जगह खाली करनी ही होगी।

इंस्पेक्टर की बात जब मैंने बतायी तो खोरा ठठाकर हंस पड़ा–"हर बार जब भी इस गांव को हटाया गया हम भी साथ–साथ हट गए और ज्यादातर मामलों में अपनी खुद की जमीन पर ही गए। याद रखिए कि इस क्षेत्र में हमारे पास कई एकड़ जमीनें हैं। उन्होंने हमारी ही जमीन को सरकार की संपत्ति घोषित करके खुद हमको ही अतिक्रमणकारी बना दिया है। अगर सरकार कल आपके मकान को अपनी संपत्ति घोषित कर दे तो आप भी अपने घर में अतिक्रमणकारी माने जाओगे।"

चिकापार: विकास की मार - 2

चिकापार (कोरापुट) : चिकापार गांव के निवासियों के सामने जब तीसरी बार विस्थापन का खतरा खड़ा हुआ तो वे यह समझ ही नहीं पा रहे थे कि अब क्या करें। गदाबा जनजाति के पम्मिया दास ने बहुत निराश होकर पूछा कि अब हम क्या करें। हम जहां भी जाएंगे कोई न कोई परियोजना आ जाएगी और हमें फिर वहां से हटाया जाएगा।

फिलहाल यह समस्या काफी जटिल है। दो बार उजाड़े गये ग्रामवासियों को अब की तीसरी बार बेदखल किये जाने के बाद शायद ही किसी तरह का मुआवजा मिले और निश्चय ही इस बार भी इन्हें इसलिए बेदखल किया जा रहा है ताकि कोई मुर्गीपालन केंद्र स्थापित किया जा सके अथवा कोई मिलेटरी इंजीनियरिंग सर्विस से संबंधित डिपो की स्थापना की जाए। अभी जहां पर गांव है वहां न तो पानी की सप्लाई है और न बिजली की, और प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र भी नहीं हैं– ऐसा लगता है कि जानबूझ कर लोगों को दंडित करने के लिए ही यह जगह चुनी गई हो। गदाबा जनजाति के ही पकलू कदम ने तहसीलदार के दफ्तर से आई एक नोटिस मुझे दिखायी जिसमें कहा गया था, "तुम इस इलाके पर जबरन कब्जा जमाए हुए हो...इसे साठ दिन के अंदर खाली कर दो।"

कदम ने बताया कि यहां तक कि अपनी इस दूसरी बस्ती में भी हम लोगों को यही कहा गया कि हम यहां गैर कानूनी ढंग से रह रहे हैं। यह हमारी जमीन है लेकिन वे चाहते हैं कि हम इसे खाली कर दें। हमारी मिल्कियत को कभी दस्तावेजों में रेकार्ड नहीं किया गया इसलिए हमारे पास न तो कोई अधिकार है और न यहां का निवासी साबित करने का कोई प्रमाणपत्र। यहां तक कि हम अपनी जाति भी प्रमाणित नहीं कर सकते। बिना इन दस्तावेजों के वे, सिद्धांतरूप में ही सही, सरकार से कर्ज भी नहीं ले सकते।

तीसरी बार विस्थापित होने के बाद जब उन्हें फिर यह जगह खाली करने की नोटिस मिली तो लगभग एक सौ ग्रामवासी जून 1993 में राजस्व विभाग के दफ्तर तक गये। इस विभाग ने इस अवसर का लाभ उठाते हुए उन सबसे इस बात का जुर्माना वसूल किया कि उन्होंने "सरकारी जमीन का अतिक्रमण किया था।"

ज्योतिर्मय खोरा एचएएल के कर्मचारी हैं और वर्षों से विस्थापित लोगों की पीड़ा के प्रति सरकार का ध्यान आकृष्ट करने के लिए प्रयत्नशील हैं। उनका मानना है कि यहां जुर्माने से ज्यादा महत्वपूर्ण मुद्दे हैं जिन पर विचार किया जाना चाहिए। उनका कहना है कि सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि आखिर चार सौ हेक्टेयर से अधिक

उस जमीन का क्या हुआ जिसे चिकापार में अधिग्रहीत किया गया था। अन्य 17 गांवों से हड़पी गई हजारों एकड़ जमीन का क्या हुआ जिसे सरकार ने 1960 के दशक में जब्त कर लिया था। उस समय तो बीजू पटनायक ही उड़ीसा के मुख्यमंत्री थे और यह उन्हीं का शानदार विचार था कि एचएएल की सारी यूनिटें कोरापुट पहुंच जायं। उनके इस विचार को मूर्त रूप देने के लिए सरकार ने बड़े पैमाने पर जमीन का अधिग्रहण किया।

बावजूद इसके ऐसा हो नहीं सका। एचएएल की अन्य यूनिटें बंगलौर तथा दूसरे स्थानों पर चली गयी। नतीजा यह हुआ कि 18 गांवों से हजारों एकड़ जबरन हड़पी गई जमीन का आज तक कोई इस्तेमाल नहीं हो सका। खोरा ने बताया कि 'वे लोग न तो जमीन को वापस कर रहे हैं और न इसे खेती–बारी के लिए ही दे रहे हैं। हम इस बात के लिए भी तैयार हैं कि अगर वे हमारी जमीन वापस कर दें तो हम उन्हें वह मुआवजा लौटाने को तैयार हैं जो हमारी जमीन हड़पने के बाद उन्होंने हमें दिया था।' लेकिन खोरा ने हंसते हुए बताया कि ऐसा होने की कोई गुंजाइश नहीं दिखाई देती।

मुक्ता कदम ने कहा कि उनकी जो मर्जी चाहे वह करें, मैं अब यहां से हिलने वाली नहीं हूं। वह गांव की सबसे बूढ़ी औरत है। 1968 में पहली बार जो लोग विस्थापन के शिकार हुए थे उनमें से यह भी एक थी। वह पूछती है कि आखिर हर बार हम लोगों के साथ ऐसा क्यों होता है। शायद इसलिए क्योंकि वे आदिवासी और हरिजन हैं और यह कोरापुट है जो देश के निर्धनतम लोगों में से कुछ का गृह जिला है।

प्रो. एल.के. महापात्र का कहना है कि 1981 में जब कोरापुट में नेशनल अल्युमीनियम कंपनी लिमिटेड (नेल्को) आई तो 2500 विस्थापित परिवारों में से 47.7 प्रतिशत आदिवासी थे और 9.3 प्रतिशत हरिजन थे। उत्कल विश्वविद्यालय और संभलपुर विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति डा. महापात्र का कहना है कि उत्तरी कोलाबा परियोजना के कारण विस्थापित 3067 परिवारों में से 55 प्रतिशत से ज्यादा लोग अनुसूचित जातियों/जनजातियों के थे।

1960 आते–आते कोरापुट जिले में मुचकुंद हाइड्रो इलेक्ट्रिक प्रोजेक्ट ने लगभग तीन हजार परिवारों को विस्थापित कर दिया था। इनमें से 51.1 प्रतिशत आदिवासी और 10.2 प्रतिशत हरिजन थे। इस विषय पर अपने गंभीर अध्ययन में प्रो. महापात्र ने इस तथ्य को रेखांकित किया है कि विस्थापित 2938 परिवारों में से केवल 600 परिवारों का पुनर्वास किया गया। इनमें से 450 आदिवासी थे। अनुसूचित जाति के एक भी परिवार के लिए पुनर्वास की व्यवस्था नहीं की गई। महत्वपूर्ण बात यह है कि जो लोग प्रभावित हुए थे उनकी संख्या को बहुत कम करके आंका गया।

भारत की कुल आबादी में आदिवासियों की संख्या लगभग 8 प्रतिशत है। फिर भी 1951 से विस्थापन के प्रत्यक्ष शिकार हुए अनुमानतः दो करोड़ साठ लाख लोगों में

से चालीस प्रतिशत से अधिक आदिवासी हैं। उड़ीसा में निश्चय ही यह आंकड़ा और भी बुरा होगा। जो भी हो सही–सही आकलन करना काफी कठिन है।

राष्ट्रीय स्तर पर देखें तो विकास के कारण जो लोग विस्थापित किये गये हैं उनमें से पिछले चार दशकों में 25 प्रतिशत से भी कम लोगों का पुनर्वास किया गया। यहां भी उड़ीसा का परिदृश्य बहुत खराब है। इस निराशाजनक तस्वीर में कोरापुट की हालत और खराब है। 1963 में केंद्रीय कल्याण मंत्रालय द्वारा कराये गये अध्ययन से कई बातें सामने आती हैं। इंडियन सोसल इंस्टीट्यूट, दिल्ली के वाल्टर फर्नांडीस और एंथोनी एस.राज ने "उड़ीसा के आदिवासी क्षेत्रों में विकास विस्थापन और पुनर्वास" में इस समस्या को गहरायी से देखा है। उनका कहना है कि अकेले कोरापुट जिले में लगभग एक लाख आदिवासियों को अपनी जमीन से वंचित होना पड़ा है। इसके अलावा 1.6 लाख हेक्टेयर जंगल का भी क्षेत्र है जिन पर उस समय तक वे अपनी आजीविका के लिए निर्भर रहते थे। विभिन्न परियोजनाओं के कारण छह प्रतिशत से भी अधिक जिले की आबादी को, जिनमें से अधिकांश आदिवासी हैं, विस्थापित होना पड़ा है। ऐसा लगता है कि यह सिलसिला अभी–भी जारी है।

मिसाल के तौर पर सुनाबेड़ा क्षेत्र को लें। ज्योर्तिमय खोरा ने बताया कि चिकापार में तोड़–फोड़ शुरू होने के बाद से ही विभिन्न परियोजनाओं द्वारा लगभग पांच हजार परिवारों अथवा चालीस हजार लोगों को उजड़ना पड़ा। उनके साथ पुनर्वास संबंधी जो भी वायदे किये गये वे झूठे साबित हुए। खुद उनके परिवार के लोगों के पास चिकापार में अपनी जमीन थी।

विस्थापन की इस प्रक्रिया के कुछ और भी नतीजे सामने आए हैं। अनेक परिवारों का विघटन हो गया है। हजारों लोग कंगाली के कगार पर खड़े हैं। कनुंगदाबा ने बताया कि काफी समय तक मुआवजे की राशि का इंतजार करने के बाद कई परिवार अपनी आजीविका की तलाश में दूसरी जगह चले गए।

खोरा का कहना है कि भूतपूर्व पूर्वी पाकिस्तान से जब 1960 के दशक में और फिर 1971 में शरणार्थियों ने उड़ीसा में आना शुरू किया तो उनमें से प्रत्येक पर लगभग एक लाख रूपया खर्च किया गया। लेकिन यहां रहने वाले उन लोगों को जिन्होंने अपनी जमीनें खो दीं प्रति परिवार के हिसाब से 15,000 रुपए से भी कम की राशि दी गयी जो शरणार्थियों को दी गयी राशि से काफी कम है। इससे तो अच्छा था कि हम शरणार्थी बन गये होते।

इस बीच चिकापार के विभिन्न तबकों को तीसरी बार विस्थापित होने का इंतजार है। कुछ लोगों ने पहले ही अपना बोरिया बिस्तर उठा लिया है। न जाने कौन सा मुर्गी पालन केंद्र बने या कौन सा डिपो बनाया जाए या कोई और परियोजना ही शुरू

हो जाए। निश्चित तौर पर कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

खोरा का कहना है कि दरअसल वे हमें नहीं चाहते कि यहां हम उनके आंख की किरकिरी बने रहें। यहां रहेंगे तो हम अपनी दर्दभरी कहानी लोगों को बताते रहेंगे–खासतौर पर उन मंत्रियों को जो यहां कभी–कभार आते रहते हैं।

उसका कहना है कि उनके लिए जमीन भी उपलब्ध हो गई और उन्हें विकास के भी दर्शन हो गए। हमें न तो विकास का मुंह देखने को मिला, न हमारे लिए कोई स्कूल की व्यवस्था हुई और हम अपनी जमीन भी खो बैठे।

और इस प्रकार इस सोने की धरती में लोग उदास फसलों का इंतजार कर रहे हैं।

पुनश्चः

चिकापार तथा अन्य गांवों के लोगों की समस्याएं अभी जारी हैं। खोरा जैसे लोगों की सक्रियता अतीत के वर्षो में जारी रही। कुछ गैर सरकारी संस्थाएं मसलन इंस्टीट्यूट फार सोशियो इकोनॉमिक डेवलपमेंट (आइएसईडी, भुवनेश्वर) ने भी सक्रियता दिखाई है। इस संगठन ने इस क्षेत्र में विस्थापित लोगों की समस्याओं के अध्ययन में काफी समय लगाया है। इसे उम्मीद है कि 25 वर्षो की उपेक्षा और उदासीनता के कारण जो ब्यौरे और आंकड़े गुम हो गए अथवा नष्ट कर दिये गये हैं उन्हें फिर से जुटा कर समूचे तथ्य को एक क्रम दिया जा सकेगा।

मधुमक्खियों के लिए शहद पर प्रतिबंध

मलकानगिरी (उड़ीसा): पहली चीज जिस पर आपकी निगाह टिकती है वह यह है कि यहां जो भी मकान हैं वे लगभग पूरी तरह बांस से बने हुए हैं। केवल इन घरों की छतों पर खपड़े डाले गए हैं लेकिन वे भी बांस पर ही टिका कर। संगेल गांव में लगभग डेढ़ सौ घर हैं और यह सभी बांस से बने हैं। इन घरों के चारों तरफ बांसों से ही चहारदीवारी भी बनायी गयी है। कबूतरखाना नामक गांव में भी ऐसा ही है।

उसकी चिड़चिड़ाहट से आकर्षित होकर हमने उसकी ओर देखा। कम से कम बांस की दो डोलचियां उसके कांवर में लटक रही थीं। संगेल गांव के पेड्डा (प्रधान) मादिभीमा के यहां कम से कम 52 चीजें ऐसी दिखाई दीं जो बांस से ही बनी हुईं थीं। इनमें मछली पकड़ने के झांपे से लेकर मुर्गियों को पालने वाली डोलची और एक बूढ़ी औरत के सर पर धूप और बारिश से बचाव करने के लिए पड़ी हैट से लेकर गांव की हर महत्वपूर्ण वस्तु बांस से ही बनायी गयी थी। यहां तक कि लोग आग जलाने के लिए भी बांस के दो नुकीले टुकड़ों को कसकर रगड़ते हैं।

ऐसा अकेले संगेल गांव में ही नहीं है। सुपलूर, कम्भेडा और पिटाघाट गांव में भी यही दृश्य देखने को मिला।

अब आइये कोया लोगों के जीवन को देखें।

कोया जनजाति के लोगों ने जिस शानदार ढंग से बांस का इस्तेमाल किया है उसने कम से कम पोडिया ब्लॉक के कुछ हिस्सों को तो बहुत ही खूबसूरत बना दिया है। (पोडिया का शाब्दिक अर्थ होता है बंजर)। मलकानगिरी–कोरापुट क्षेत्र में कम से कम 87,000 कोया लोग रहते हैं। उनके लगभग सभी गांवों में यह विशिष्टता देखने को मिलती है। कोया लोग खेती बारी करते हैं। लेकिन यह तभी संभव है जब उनके पास जमीन हो। उनकी रचनात्मकता का असली रूप इन बांसों में दिखाई देता है।

कोया जनजाति के लोगों ने बांसों की मदद से जितनी कल्पनाशीलता के साथ वस्तुओं का निर्माण किया है वह दुर्लभ है। उड़ीसा में कोया लोग मुख्य रूप से मलकानगिरी में हैं जो भारत के सबसे गरीब जिलों में से एक है। इनमें से कुछ बगल में आंध्र प्रदेश में भी हैं। पिटाघाट के सरपंच इरमा कवासी का कहना है कि बचपन से ही इस जनजाति के सदस्य कोया जनजीवन के मूल्यों को सीखने लगते हैं। हम उन्हें

इस तरह बांस काटने की शिक्षा देते हैं ताकि वह फिर बढ़ सके। हम कभी जंगलों को नष्ट नहीं करते क्योंकि हमारा जीवन उन पर निर्भर है।

बांसों के साथ उनके जो संबंध हैं उन्हें देखने से लगता है जैसे प्रकृति के साथ उनका कोई रोमांस चल रहा हो। कोया लोगों के लिए बांस एक सामाजिक और आर्थिक ऑक्सीजन का भी काम करता है। हाल के वर्षों में कानून के जरिये जंगलों तक उनकी पहुंच रोक दिये जाने से उन्हें यह ऑक्सीजन मिलना बंद हो गया है। लेकिन बड़े

प्रकृति के किसी एक उपहार का जितनी तल्लीनता और कल्पनाशीलता से इस्तेमाल किया गया है, इसका उदाहरण देखना हो तो कोया लोगों को देखें जिन्होंने बांस से लगभग सब कुछ बनाया।

औद्योगिक घरानों (उड़ीसा वन विकास निगम के जरिये) की जंगलों तक बेरोक टोक पहुंच जारी है और इन्हें काफी लाभ हो रहा है। यह औद्योगिक घराने कागज बनाने के लिए बड़े पैमाने पर यहां से बांस ले जा रहे हैं। समूचे इलाके में उनकी छाप देखी जा सकती है–आपको दूर–दूर तक बंजर भूमि दिखाई देगी जहां एक जमाने में बांस के घने जंगल थे। सबसे बड़ी विडंबना तो यह है कि इन कंपनियों के कर्मचारी और उनके बिचौलिए इन जंगलों को गिराने के लिए अस्थायी मजदूरों के रूप में कोया जनजाति के लोगों की ही मदद लेते हैं और इन कोया लोगों को खुद अपने ही जंगलों को काटना पड़ता है।

उड़ीसा में वन विभाग से सम्बद्ध एक आईएएस अधिकारी ने बताया कि एक तरफ तो आप देखेंगे कि यहां कोया लोग हैं जो केवल अपनी निजी जरूरतों के लिए हंसिए से बांस को काटते हैं। वे केवल बांस के नये पौधों को ही काटते हैं। दूसरी तरफ यहां ऐसी कंपनियां आ गई हैं जो बड़े पैमाने पर नये पुराने हर तरह के बांस को बेरहमी से काटती जा रही हैं। अगर यहां बांस के बड़े–बड़े जंगल हैं तो इसकी वजह यह है कि वर्षों तक कोया लोगों ने इन जंगलों का पालन पोषण किया है। बांसों के काटने का काम कोया जनजाति के लोग परंपरागत और नियंत्रित ढंग से करते हैं जिसे गैर कानूनी ठहरा दिया गया।

लेकिन अगर निजी कंपनियों को यहां के जंगल काटने की छूट दी जा रही है तो कोया लोगों को बांसों से दूर क्यों कर दिया गया? पिटाघाट के सदाशिव हंथाल ने जवाब दिया कि कंपनियों से तो सरकार को टैक्स मिलता है। कोया लोग क्या देते हैं?

यह पहला अवसर नहीं है जब कोया लोगों को अपने घर से वंचित होना पड़ा है। जिले के गजट देखने से पता चलता है कि लगभग दो सौ वर्ष पूर्व अकाल और अनेक विवादों के कारण इन लोगों को बस्तर के पठार से भागना पड़ा था। अब यह एक नये तरह का विस्थापन है। सपलूर गांव के कवासी भीमा का कहना है कि इस बार हमें ऐसा उजाड़ा जा रहा है कि हमारे पास मकान तो होगा लेकिन घर नहीं होगा। कोया के अस्तित्व का कोई मतलब ही नहीं है अगर उन्हें बांसों से दूर कर दिया जाए।

कामभेड़ा गांव में इरा पदयामी ने बड़े गर्व के साथ हमें वे ढेर सारी चीजें दिखाई जो उसने बांस से बनाई हैं। ये सारे सामान बाजार में बिक्री के लिए नहीं बल्कि निजी इस्तेमाल के लिए हैं। इनमें शामिल हैं: ईराम (छाता, गुटा) (साग– सब्जी के लिए डोल्वी), जौगुला (चावल की नाप के लिए एक छोटी डलिया), ओसोद (बांसुरी, टिकरोम) (बड़ी मछली पकड़ने का झाबा) और किकेकादोग (मछली ढोने वाला थैला)। इसके अलावा अलग–अलग किस्मों और साइजों के 18 टोकरे भी थे। कोया लोग बांस की फुंगियों को खाने के लिए और दवा बनाने के लिए भी इस्तेमाल करते हैं।

पादियामी ने बताया कि हम लोग बांस से बने सामानों के बदले में दूसरे

सामान पा जाते थे। अब हमें वही सब सामान नकद खरीदना पड़ता है। हमें अब उन सामानों को भी खरीदना पड़ता है जो हम खुद बना सकते थे इसके कारण पहले से ही गरीबी के शिकार कोया लोगों को जीवन स्तर में गिरावट आयी है। अंदा मदा कामी ने बताया कि कानूनों का मतलब यह भी है कि फारेस्ट गार्ड हमकों लगातार परेशान करते रहें। वे हमें इस बात की भी इजाजत नहीं देते कि अपनी व्यक्तिगत जरूरतों के लिए हम जंगल का न्यूनतम उत्पाद भी ले सकें हालांकि हमसे यह कहा गया है कि हम कानूनी तौर पर ऐसा कर सकते हैं।

सिद्धांत रूप में इन जंगलों के बांसों पर उड़ीसा वन विकास निगम का पूरा नियंत्रण है। निगम ही कंपनियों को बांस बेचने का काम करता है। कोया जाति के एक नेता कामराज कवासी ने बताया कि सच्चाई इससे एकदम भिन्न है। निजी कंपनियां और वन निगम किसी खास क्षेत्र को चुन लेते हैं इसके बाद सरकार से दर तय हो जाने के साथ ही कंपनी अपने मजदूरों को काम पर लगा देती है। अब यहीं बिचौलिए की भूमिका शुरू हो जाती है और वह प्रायः आंध्र प्रदेश से मजदूर लेकर आ जाते हैं। अगर किसी कोया को मजदूर के रूप में रखा गया है तो उसे शायद ही 25 रुपए प्रतिदिन की सरकार द्वारा निर्धारित मजदूरी मिलती हो। व्यवहार में उन्हें तो कभी-कभी अनेक बांसों के बदले केवल एक रुपया ही मिलता है और इसके लिए भी उन्हें जंगल के अंदर दो से चार किलोमीटर तक जाना पड़ता है, बांस काटना पड़ता है और उन्हें ढोकर गांव तक लाना पड़ता है। इसके बाद लगभग इतनी ही दूरी पर बने डिपो तक इस बांस को लेकर उन्हें जाना पड़ता है।

वन निगम के अधिकारी कवासी के आरोपों का खंडन करते हैं लेकिन यह प्रक्रिया इतने खुले रूप में दिखाई देती है कि इस खंडन में कोई दम नहीं रहता। अगर सीधे सपाट शब्दों में कहें तो ऐसा लगता है कि उड़ीसा वन विकास निगम निजी कंपनियों को लीज पर इन जंगलों को दे रहा है। यह गैर कानूनी है क्योंकि भारत सरकार से ऐसा करने की इजाजत नहीं ली गयी है।

सुपलूर के सुखदेव कवासी ने बताया कि हम लोग बांस का इस्तेमाल घर बनाने में, जिस चारपाई पर आप बैठे हैं ऐसी चारपाई बनाने में और अनेक कामों में करते हैं। उसने बांस के डंडे में फंसाई गई एक डोल्ची की ओर इशारा करते हुए कहा कि इसे देखें इसमें रख देने पर पानी ठंडा रहता है। कोया लोग कभी बांसों को किसी तरह का नुकसान नहीं पहुंचा सकते। इनके साथ हमारी जिंदगी के तार पूरी तरह जुड़े हुए हैं। अगर सरकार बांसों तक हमारी पहुंच को रोकती है तो यह बहुत बड़ा अन्याय है। क्या आप मधुमक्खियों को शहद तक जाने से रोक सकते हैं?

जाहिर है सरकारें ऐसा कर सकती हैं। इन्होंने ऐसा किया भी है। बांसों तक

कोया लोगों की पहुंच को रोकने का काम करके कई तरह के नुकसान उठाने पड़े हैं। आज कोया लोगों के बीच बांस के जंगलों के बजाय कर्जदारी का विकास हो रहा है।

सरकार की इस नीति ने कोया जाति को बहुत नुकसान पहुंचाया है। इससे यह भी पता चलता है कि शारीरिक तौर पर विस्थापन ही ऐसी एकमात्र कार्रवाई नहीं है जो जनता के जीवन और उसकी संस्कृति का विनाश कर दें। उनके अत्यंत महत्वपूर्ण संसाधनों से अगर उन्हें काट दिया जाए तो नतीजे वही निकलेंगे जो विस्थापन से निकलते।

सरकार ने कोया गांव को हटाया नहीं। उनका महज इस अर्थ में विस्थापन हुआ कि उन्हें उनके अतिमहत्वपूर्ण जीवन पोषण साधन से दूर कर दिया गया। ऐसा करने से उन पर जो मार पड़ी उसकी भरपाई नहीं की जा सकती। वे उन मधुमक्खियों की तरह हैं जिन पर प्रतिबंध लगा दिया गया हो कि वे शहद तक न पहुंचे। फर्क यही है कि इन मधुमक्खियों के पास मारने के लिए डंक नहीं हैं।

पुनश्च :

कुछ अन्य लोगों ने भी उड़ीसा वन विकास निगम की बांस वन नीति की आलोचना की है। देश के एक अत्यंत वरिष्ठ अधिकारी ने वन विभाग को चेतावनी दी कि अगर प्राइवेट कंपनियों के साथ उसके रिश्ते ऐसे ही बने रहे तो उसे दंडित किया जा सकता है। 1995 के उत्तरार्द्ध में इस अधिकारी ने "वेस्ट लैंड्स न्यूज" नामक बुलेटिन में लिखा कि अन्य बातों के अलावा बांस के जंगलों को निजी कंपनियों को लीज पर देने के लिए भारत सरकार ने कभी मंजूरी नहीं दी।

लाल बहादुर शास्त्री नेशनल अकादमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन, मसूरी के निदेशक एन.सी. सक्सेना ने लिखा कि वन विभाग और कंपनियों के बीच जो भी व्यवस्था है वह पूरी तरह से गैर कानूनी है। उन्होंने भी यह गौर किया कि वन निगम गरीब लोगों के साथ जबर्दस्त भेदभाव की नीति अपना रहा है। एक डिपो के आंकड़ों को देखने से पता चलता है कि स्थानीय लोगों को चार रुपए तीस पैसे की दर से बांस का एक पीस बेचा गया है जबकि औद्योगिक यूनिटों से बांस के एक पीस के लिए महज 15 पैसे लिए गए हैं। बेशक स्थानीय लोगों को जहां साढ़े तीन सौ बांस बेचे गए होंगे वहीं औद्योगिक यूनिटों को बेचे गए बांसों की संख्या तीस लाख से अधिक है। इन औद्योगिक घरानों ने इसी बांस को बाजार में खुली नीलामी के जरिए बेचा है और एक पीस पर दस से तेरह रुपए कमाए हैं।

एन.सी. सक्सेना ने जो चेतावनी दी थी वह सही साबित हुई। 1996 के शुरू

के दिनों में उड़ीसा की नई सरकार ने बीजू पटनायक के खिलाफ दो आरोप पत्र दाखिल किये क्योंकि जिन दिनों वन निगम और औद्योगिक घरानों के बीच सौदा हुआ था उन दिनों बीजू पटनायक ही राज्य के मुख्यमंत्री थे। जो आरोप पत्र दाखिल किये गये उनमें से एक का संबंध एक निजी औद्योगिक घराने को बांस की रॉयल्टी पर दी गई विशेष रियायतों से था। आरोप पत्र में कहा गया था कि इससे सरकार को काफी नुकसान उठाना पड़ा था। क्या इन बातों से कोया लोगों के लिए कोई तब्दीली आने जा रही है? मुझे नहीं पता। मैं उम्मीद करता हूं कि काश ऐसा हो जाए।

लुअरिया ने जो घर बनाया - 1

जलसिंधि, झाबुआ (मध्य प्रदेश): लुअरिया और उसके साथ ही भिलाला जनजातियों के लोग आज भी इस क्षेत्र में रहते हैं। भौगोलिक दृष्टि से अगर कहें तो मध्य प्रदेश का यह सबसे ढलान वाला हिस्सा है। और उसमें भी इस ढलान पर सबसे नीचे की ओर बना यह ढांचा है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस डूब वाले क्षेत्र में—जो पहले से ही 83 मीटर के निशान से ऊपर है—जब नर्मदा का पानी चढ़ने लगे तो उसका असर सबसे पहले इस क्षेत्र पर और इस घर पर ही पड़ेगा। यही वह घर है जिसे लुअरिया ने बनाया है।

भारत के सर्वाधिक गरीब जिलों में से एक झाबुआ के इस हिस्से में लुअरिया का मकान काफी बड़ा है जो सागौन और बांस से बनाया गया है यह फलिया या झोपड़ा जलसिंधि गांव में है जहां नर्मदा नदी महाराष्ट्र से मध्य प्रदेश को अलग करती है। वह और उसके परिवार के अन्य नौ सदस्य इस मकान को खाली करने से इनकार करते हैं। गुजरात सरकार ने पुनर्वास के रूप में उनके सामने जो प्रस्ताव रखा है उसे वे बिलकुल नहीं चाहते। इसके विपरीत उन्होंने मिलजुल कर उसी मकान के बगल में एक और ढांचा खड़ा कर लिया है ताकि यह दिखा सकें कि वे सरकार के मुआवजे की अवहेलना कर रहे हैं। इस बगल वाले ढांचे में वे लोग आकर ठहरते हैं जो इनके विरोध को समर्थन देने के लिए आते हैं। अन्य गांवों में भी ऐसे बहुत सारे लोग हैं जो सरदार सरोवर परियोजना के निरंतर निर्माण से इस साल अपने मकान खो देंगे और उनका भी विरोध जारी है। लगभग सभी आदिवासी हैं, अत्यंत पिछड़े हैं और अधिकांश बिलकुल पढ़े लिखे नहीं हैं।

ढलान से नीचे लुअरिया की पत्नी बोगी बरसात को देखते हुए खेतों को तैयार करने में लगी हुई है। तापमान लगभग 45 डिग्री सेल्सियस पहुंच चुका है और दम फूल जाने पर वह काम करते—करते आसमान की ओर देख लेती है। पहली फुहार ने उमस और बढ़ा दी है। पथरीली जमीन को खेती के लिए तैयार करना कोई आसान काम नहीं है लेकिन बोगी और लुअरिया की एक और संबंधी रेवकी इस काम को हंसते—खेलते करने में लगी हैं। इस फलिया के कबीले के सबसे बुजुर्ग लोग नये ढांचे को तैयार करने में जुटे हैं। उनका यह संकल्प साफ दिखाई दे रहा है कि वे यहीं जमे रहेंगे।

यहां के गांवों के लोगों का व्यवहार पूरी तरह भावुकता से ग्रस्त नहीं है। अगर

ढलान से नीचे लुअरिया की पत्नी बोगी बरसात को ध्यान में रखते हुए खेतों को तैयार करने में लगी है। तापमान लगभग 45 डिग्री सेल्सियस पहुंच चुका है और दम फूल जाने पर वह काम करते करते आसमान की ओर देखने लगती हैं।

इसमें भावुकता का भी कुछ अंश हो तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। एक अनुमान के अनुसार 1951 से विभिन्न परियोजनाओं के कारण जो लोग विस्थापित हुए हैं उनमें से लगभग 26 लाख लोग अर्थात 40 प्रतिशत से अधिक आदिवासी हैं। उड़ीसा और मध्य प्रदेश में यह संख्या और भी ज्यादा है। अपने पारंपरिक निवास स्थानों से झटपट लोगों को हटा देना काफी त्रासद है। लेकिन वे यहां से हटना नहीं चाहते इसके पीछे ठोस आर्थिक कारण भी हैं।

लुअरिया बताता है कि यहां जंगलों से हमें बेशुमार ऐसी चीजें मिल जाती हैं जिसके लिए गुजरात में हमें पैसे देने पड़ेंगे। इसका मुआवजा कौन देगा। उसका कहना सही भी है। यह किसी भी हालत में संभव ही नहीं है कि भील और भिलाला आदिवासियों को जो तमाम सामान जंगलों से मिल जाते हैं उन्हें नकद के रूप में सोचकर उसका मुआवजा दिया जा सके। उसका कहना है कि हम जंगल से जलौनी लकड़ी लाते हैं। जंगल से चारा लाते हैं, जड़ी बूटियां लाते हैं, महुआ बीनते हैं जिसकी शराब बनती है। थोड़ा नीचे जाने पर बह रही नदी से मछली मारकर लाते हैं। पुनर्वास की कौन सी योजना हमारी इन जरूरतों और हमारी इस आमदनी का मुआवजा दे सकेगी?

फिर सवाल यह है कि लुअरिया सरकार से चाहता क्या है? "कुछ भी नहीं। हम बस इतना ही चाहते हैं कि वे हमें हमारे हाल पर छोड़ दें। अभी हम जिस तरह की जिंदगी जी रहे हैं वैसी जिंदगी हम और कहीं नहीं जी सकेंगे। क्या आपको इस बात से कोई इनकार है?" मैं इनकार नहीं कर सकता। खासतौर से तब जब मैंने तीन दिन लुअरिया के मकान में और कई दिन इस क्षेत्र के अन्य गांवों में बिताए हों और खुद अपनी आंखों से सारी स्थितियां देखी हों। एक मौके पर तो एक परिवार ने मुझे यह भी दिखाया कि किस तरह से एक ही पेड़ से वे अपने जीवन के लिए उपयोगी लगभग बारह सामान प्राप्त करते हैं।

एक दूसरे गांव वाकनर (जो डूब क्षेत्र में नहीं पड़ता है) में एक परिवार ने जंगल से प्राप्त होने वाले ऐसे ही एक पेड़ से प्राप्त होने वाले लगभग तीस सामानों की सूची दी। ये सारी चीजें उन्होंने पिछले सप्ताह जंगल से इकट्ठी की थीं। इन सामानों में महुआ, इमली, चिरौंजी, सीताफल, आवला और मुखा की सब्जी थी। इसके साथ ही उन्होंने बताया कि हेंगुआ की सब्जी, जटमाडा की भाजी, कुलियार की सब्जी, गोइंढी भाजी और ऐसी ही कई चीजें उन्हें जंगल से मिल जाते हैं।

नदी के किनारे रहने वाले लोगों की एक ऐसी अर्थव्यवस्था है जो काफी हद तक आत्मनिर्भर है। यहां तक कि वे अगर हाट में जाते भी हैं तो नमक जैसी कुछ बहुत जरूरी चीजें ही खरीदने जाते हैं। भावा ने बताया कि नदी के किनारे रहने वाले हमलोग कभी भी मजदूरी करने के लिए कहीं नहीं जाते। जंगल ही हमारा साहूकार है और जंगल ही हमारा बैंकर है। इससे पैदा होने वाले सागौन और बांस से हम अपने मकान बनाते हैं और इसी से पैदा होने वाली वनस्पतियों से हम डोलचे और चारपाई, हल और कुदाल बनाते हैं। इसके पेड़, पेड़ों की पत्तियां, झाड़ियों और अनेक तरह के पौधों की जड़ों से हमें अपने इलाज के लिए दवाएं मिलती हैं। हमारी सबसे बड़ी संपत्ति हमारे मवेशी हैं जो यहां मुक्त होकर घास चरते हैं और घूमते रहते हैं। इन्हीं सारी चीजों के लिए हमें गुजरात में पैसा खर्च करना पड़ेगा। आप यहां आठ दिन रुककर देखिये कि आपका कितना पैसा खर्च हो रहा है। इसके बाद आप आठ दिन कावंत में अथवा गुजरात के

किसी भी कस्बे में रुक कर देखिये कि वहां कितना पैसा खर्च हो रहा है।"

सही–सही हिसाब लगाना लगभग असंभव था। लेकिन इन सामानों में से कुछ सामान गांव के हॉट में बिक रहे थे और हमने वहां उनकी कीमतों का पता किया। अन्य सामानों के बारे में भी हमने विस्तार से पूछताछ की। इस पूछताछ से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जिन लोगों को यहां से विस्थापित कर गुजरात बसाया जा रहा है उन्हें अपनी मौजूदा जीवन शैली को आंशिक रूप से हासिल करने के लिए भी कम से कम प्रति महीने 800 रुपए खर्च करने पड़ेंगे। इसमें अगर चारे की कीमत जोड़ दें तो यह राशि और ज्यादा हो जाती है। यह हालत उन परिवारों की है जिनकी सालाना नकद आमदनी शायद ही कभी तीन चार हजार रुपए से ज्यादा होती हो।

चारे का मुद्दा बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि यहां की संपत्ति का एक प्रमुख स्वरूप मवेशियों के रूप में है। लुअरिया की बहन जानकी ने बताया कि गुजरात से लोग यहां आते हैं और अपने मवेशियों को चराकर तथा जलौनी लकड़ी काटकर वापस चले जाते हैं। उसने कहा कि अगर हमें वहां भेज दिया गया तो फायदा क्या होगा। खुद भावा के पास 60-70 बकरियां, 14 गाएं और 10 भैसें हैं। हम लोग मुर्गी भी पालते हैं। देखा जाए तो बकरे बकरियां ही हमारा बीमा हैं। इसमें कोई शक नहीं कि हमारे बीच नकद पैसों का लेन–देन ज्यादा नहीं होता लेकिन संकट के समय हम 500-600 रुपए में अपनी एक बकरी बेच देते हैं। इसी तरह हमारा काम चलता रहता है। अगर हमें गुजरात भेज दिया गया तो हम तो बनियों और पट्टीदारों के नीचे दब जाएंगे।

दिल्ली स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स की डाक्टर अमिता बाविस्कर ने बताया कि व्यावहारिक रूप में आजादी के बाद से इन गांवों में कोई विकास हुआ ही नहीं। एक तरफ तो वर्षों तक इनका उत्पीड़न होता रहा और अब इनके ऊपर विस्थापन का खतरा मंडरा रहा है। इनके साथ जो अन्याय हो रहा है वह असाधारण है। इस सिलसिले में इनसे न तो कभी सलाह–मशविरा किया गया और न इन्हें कभी इसकी सूचना दी गई। वे किसी भी हालत में गुजरात नहीं जाना चाहते।

इस क्षेत्र की समस्याओं से संबंधित विषय पर डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त डाक्टर बाविस्कर खेदुत मजदूर चेतना संगठन के साथ भी काम करती हैं। इस संगठन ने 1982 से ही इस इलाके के लगभग 95 गांवों में आदिवासियों को संगठित किया है ताकि वे अपने अधिकारों के लिए लड़ सकें। यद्यपि यह संगठन नर्मदा बचाओ आंदोलन से जुड़ा है फिर भी इसकी गतिविधियां बांध विरोधी आंदोलन के दायरे से बाहर तक फैली हैं। इस संगठन के लोग जमीन के सवाल पर, वन संपदा पर अधिकार के सवाल पर और ऐसे ही अन्य सवालों पर आदिवासियों को राजनीतिक तौर पर गोलबंद करते हैं।

डाक्टर बाविस्कर का कहना है कि अपनी जगह छोड़ने की बजाय डूब के मर जाने का चुनाव करने से संबंधित जलसिंधि की घोषणा अजीबोगरीब लग सकती है। इसे

यह भी कहा जा सकता है कि यह निराशा में उठाया गया एक कदम है लेकिन यह निश्चय ही एक वीरतापूर्ण संघर्ष भी है। अपने साथ होने वाले मनमाने व्यवहार का प्रतिरोध करने के जनता के संकल्प का यह एक प्रतीक है। उन्हें पता है कि वे सब कुछ खो सकते हैं फिर भी वे संघर्ष जारी रखे हुए हैं।

लुअरिया ने कहा कि यही मेरा घर है और मुझे दूसरा घर नहीं चाहिए। हम यहां से नहीं हटेंगे। मुमकिन है कि वह अपनी लड़ाई उस दीवार से पीठ सटा कर लड़ रहा हो जिसे उसने अभी अभी खड़ी की है। मुमकिन है कि उसकी आंखें उफनती हुई नदी पर हो। लेकिन लुअरिया का दिल अपने इस घर को बचाए रखने पर लगा हुआ है। यही वह मकान है जिसे लुअरिया ने बनाया है।

लुअरिया ने जो घर बनाया - 2

जलसिंधि, झाबुआ (म.प्र.): इस फलिया के प्रत्येक परिवार के सदस्य यहां जलसिंधि में इकट्ठे हुए हैं और वे लुअरिया की मदद में लगे हैं जो अपने पुराने घर के बगल में एक नया घर बना रहा है। यह सरकारी आदेश के उल्लंघन का एक प्रतीक होगा। यह सरदार सरोवर परियोजना के निरंतर चल रहे निर्माण को देखते हुए इन्हें विस्थापित किये जाने के सरकारी प्रयास का विरोध करने का एक संकेत होगा। लुअरिया के खेत और यहां तक कि शायद उसका मकान भी नर्मदा के बढ़ते पानी के कारण किसी दिन डूब जाए। लेकिन बिलाला आदिवासी, उसके परिवार और कबीले के लोग नया मकान बनाने में लगे हुए हैं।

यहां नदी के किनारे रहने वाले लोग काफी हद तक आत्मनिर्भर हैं। बाजार के साथ इनका कम से कम संबंध है। इन्हें नजदीक के जंगलों की ज्यादा जरूरत रहती है। इसलिए गुजरात में पुनर्वास के लिए सरकार की ओर से आए प्रस्ताव को नामंजूर करते समय इन आदिवासियों को पता था कि वे क्या कर रहे हैं। उनका जवाब केवल अपनी जमीन के साथ भावात्मक लगाव से ही नहीं जुड़ा है। यह ठोस आर्थिक कारणों पर भी आधारित है। अभी वे अपने आसपास से बेशुमार उपभोग की चीजें प्राप्त कर लेते हैं। गुजरात में इनमें से अधिकांश चीजें या तो उनकी पहुंच से बाहर रहेंगी या बहुत मंहगी हो जायेंगी। यहां के लोगों के पुनर्वास और पुर्नस्थापन के मामले पर विचार करते समय आदिवासी समाज के इन विशिष्ट पहलुओं पर नजर डालने की भी कोशिश नहीं की गई।

पुनर्वास की योजना बनाते समय जिस अन्य महत्वपूर्ण पहलू की अनदेखी की गयी वह है आदिवासी समाजों की अर्थव्यवस्था में सामुदायिक श्रम की भूमिका। लुअरिया ने बताया कि हमारे इस मकान को देखिए जो हम बना रहे हैं। हमारे फलिया के तमाम लोग यहां आये हैं और मेरी मदद कर रहे हैं। यहां तक कि वे लोग अपना खाना भी घर से लेकर आए हैं। यही हालत उस समय भी थी जब भावा ने अपना मकान बनाया था इसके लिए हमें एक भी पैसा खर्च नहीं करना पड़ता है।

खेदुत मजदूर चेतना संगठन की डॉक्टर अमिता बाविस्कर ने बताया कि उन्हें यहां से अगर हटा दिया गया तो उनका सब कुछ बर्बाद हो जाएगा। उन्होंने बताया कि गुजरात में इनको एक जगह नहीं बल्कि अलग–अलग बसाया जाएगा और इससे

सामुदायिक श्रम तो समाप्त ही होगा इन्हें आर्थिक रूप से भी बहुत चोट पहुंचेगी। इसके अलावा सांस्कृतिक तौर पर इन्हें बहुत नुकसान होगा क्योंकि आदिवासी समाज में जीवन के अस्तित्व का मुख्य आधार आपसी बंधन और संपर्क होता है। तीसरी बात यह है कि अलग–अलग अथवा छोटे समूहों में बिखर जाने से इन्हें हमेशा निहित स्वार्थी तत्वों की दया पर निर्भर रहना पड़ेगा। अगर उन्हें दूसरी जगह बसाना ही है तो समूचे गांव को एक जगह अगर ले जाकर बसाया जाए तो इसका कोई लाभ होगा। यह संगठन पिछले 12 वर्षों से इस क्षेत्र के लगभग 95 गांवों में आदिवासियों को संगठित करने में लगा हुआ है।

इस फलिया के एक बुजुर्ग सदस्य भावा ने बताया कि शादी–ब्याह का मौका हो या किसी की मृत्यु का, हर परिवार के लोग अपने भरसक आर्थिक मदद भी करते हैं। अगर हमारे बीच कोई झगड़ा होता है तो दूसरे गांवों के बड़े बूढ़े बैठकर झगड़ों का निपटारा कराते हैं। अगर हमें यहां से हटा दिया गया और अलग–अलग बसाया गया तो कैसे हम इन अवसरों पर अपनी व्यवस्था कर सकेंगे। कौन हमारे झगड़ों को निपटाने आएगा। अलग–अलग बसाए जाने पर जमीन पर हमारे वही अधिकार नहीं रह जाएंगे जो इस गांव में उपलब्ध हैं।

ऐसा नहीं है कि सभी ने सरकार के प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया हो। लेकिन जहां बहुमत ने मंजूरी भी दी है, जैसा कि चिलकदा गांव में देखा गया, नतीजे काफी नुकसानदेह रहे हैं। यहां से जो 27 परिवार गुजरात के कवेटा गांव में गए, उनमें से अनेक फिर वापस आ गए हैं। वे इस बात पर बहुत नाराज हैं कि सरकार ने वादाखिलाफी की और उन्हें बहुत ही रद्दी जमीन पर बसा दिया। चिलकदा के एक आदिवासी रंजा ने बताया कि केवल छह परिवार वहां बसने के लिए राजी हैं। रंजा भी गुजरात से वापस आ गया है। उसके अनुसार 21 परिवारों के लोग उस जगह की तब्दीली चाहते हैं। उसने यह भी बताया कि पहले तो मैं अपने सातों भाइयों के साथ खुशी–खुशी वहां गया लेकिन बाद में हमने देखा कि मामला गड़बड़ है और हमें बहुत रद्दी जमीन दे दी गई है। सबका यह कहना है कि पुनर्वास की स्थितियां बहुत ही खराब हैं।

कुछ लोग केव सिंह की तरह भी हैं। केव सिंह यहां से विस्थापन चाहते हैं लेकिन अधिकारियों ने उन्हें परियोजना से प्रभावित व्यक्तियों की सूची में नहीं रखा है। अधिकारियों का कहना है कि केव सिंह की जमीन एकदम सुरक्षित है जबकि वह इसे नहीं मानते। केव सिंह ने बताया कि सरकार झूठ बोल रही है। आप चलकर उस जगह को देखिये। ऐसा कैसे हो सकता है कि समूचा गांव डूब जाये और मेरी जमीन बची रहे। इसके अलावा जलसिंधि के पटेल जैसे लोग भी हैं जिन पर भावा ने आरोप लगाया है कि मुआवजा और जमीन का दावा करने के लिए इसने बाहर से अपने रिश्तेदार बुला

लिये।

इसके अलावा एक और महत्वपूर्ण सवाल है। क्या सचमुच गुजरात में इतनी जमीन उपलब्ध है कि इनको बसाया जा सके? पिछले कुछ वर्षों से यह देखा जा रहा है कि मध्य प्रदेश और गुजरात–दोनों राज्य की सरकारें जमीन की जरूरत के मामले में आंकड़ों को काफी कम करके आंक रही हैं। 1992-93 में मध्य प्रदेश से गुजरात ले जाकर बसाए जाने वाले 3100 परिवारों में से केवल 1190 परिवारों के लिए ही जमीन उपलब्ध थी। 1993-94 में 5000 परिवारों को गुजरात ले जाया जाना था लेकिन केवल 986 परिवार ही बसाये जा सके।

गुजरात और महाराष्ट्र में बांध के खिलाफ जो व्यापक जनमत है उसके भी कुछ लाभ दिखाई दे रहे हैं। इस प्रतिरोध ने उन राज्यों में डूब क्षेत्र में पड़े क्रमशः 19 और 33 गांवों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया है। मध्य प्रदेश में लगभग 193 गांव पानी में डूब सकते हैं। लेकिन देश के अधिकांश हिस्सों में इसकी बहुत कम जानकारी है। इनमें से अनेक गांवों को सरकारी तौर पर कभी यह नहीं बताया गया कि उनका भविष्य क्या है। फिर उन्हें इसकी जानकारी कैसे मिली। वे यह तभी जान सके जब उन्होंने देखा कि केंद्रीय जल आयोग के सर्वेक्षण कर्मचारी पानी के स्तर को बताने के लिए पत्थर गाड़ रहे हैं।

मध्य प्रदेश सरकार चाहती है कि बांध की प्रस्तावित ऊंचाई को 455 मीटर से घटाकर 436 मीटर कर दिया जाए। इसके अनेक निहितार्थ हैं। इससे लगभग 25000 परिवार डूब से बच जाएंगे। फिर भी धार और खारगौन जिलों के ऊंची जाति के लोगों के मकान ही इस सौभाग्य का फायदा उठा सकेंगे। जयश्री नाम के एक कार्यकर्ता ने बताया कि ढलान वाले इलाके में जो गांव हैं और जिनमें आदिवासियों की ही संख्या सबसे ज्यादा है, उन्हें डूबने से नहीं बचाया जा सकेगा।

इस बात पर भी कुछ विवाद है कि इस वर्ष झाबुआ में कितने गांव डूबेंगे। नर्मदा घाटी विकास प्राधिकरण का कहना है कि एक भी गांव नहीं डूबेगा। लेकिन यहां के कलक्टर धर्माधिकारी का मानना है कि नौ गांव "अस्थायी तौर पर" डूब जाएंगे। और सकर्जा तथा काकरसेला नामक दो गांव सदा के लिए पानी में विलीन हो जाएंगे।

अभी भी अनेक गांवों को औपचारिक तौर पर यह बताया जाना है कि पानी के बढ़ने का समय कौन सा होगा। ऐसा लगता है कि किसी को भी इस बात की ठीक–ठीक जानकारी नहीं है। लुअरिया जैसे अनेक लोगों का मानना है कि अधिक से अधिक एक साल तक उनका गांव डूबने से बचा रह सकता है। बेशक उसके खेत इसी साल डूब जाएंगे और मकान अगले साल। कुछ लोगों की यह धारणा है कि लुअरिया और उसी जैसे कई अन्य लोग मध्य प्रदेश के अंदर ही दूसरे दर्जे की जमीन पर जा बसेंगे। यह जंगल की जमीन होगी और इस प्रकार प्राकृतिक संसाधनों तक उनकी पहुंच बनी रहेगी।

इसका अर्थ यह हुआ कि अब उनका प्रतिरोध एक ऐसे सौदे को हासिल करने में लगा है जो अपेक्षाकृत ठीक ठाक हो।
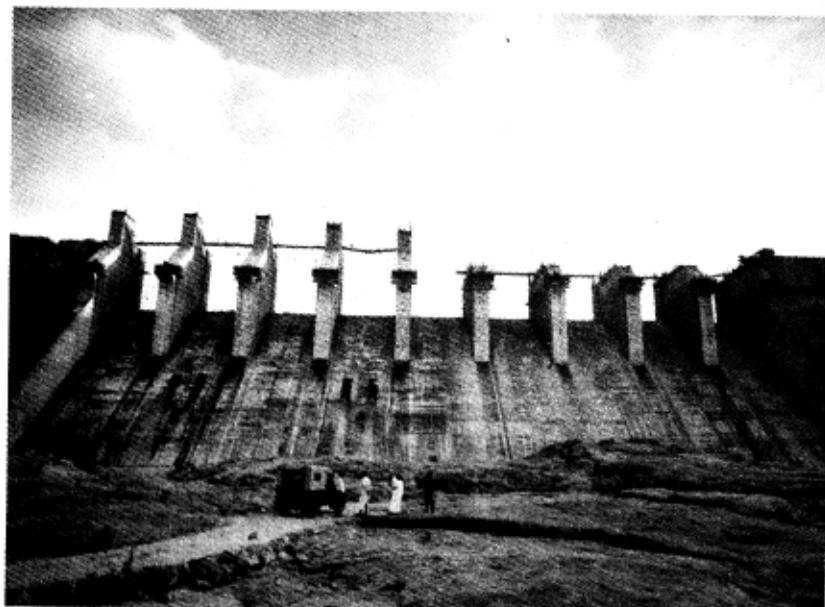
जैसे–जैसे पानी बढ़ेगा, लुअरिया और उसके कबीले को जबरन हटाए जाने का खतरा भी बढ़ता जाएगा। और इसके साथ ही इस बात की भी आशंका बढ़ती जा रही है कि जिन लोगों ने गुजरात जाने से इनकार कर दिया है उन्हें शायद कुछ भी हासिल न हो। एक अधिकारी ने कहा कि लुअरिया के मामले को 10000 से गुणा कर दीजिए और आपको पता चल जाएगा कि कितने लोग सचमुच यहां से हटाए जाने के विचार से प्रभावित हैं। यह उन लोगों पर भी सच साबित होता है जिन्होंने मानसिक तौर पर विस्थापन को स्वीकार कर लिया है और एक नई शुरुआत करने की तैयारी में लगे हुए हैं।

ऐसा लगता है कि लुअरिया की बहन जानकी को कुछ आभास हो गया है कि मैं उसके घर की इतनी तस्वीरें क्यों ले रहा हूं। वह लम्बी सांस छोड़ते हुए कहती है कि बारिश के बाद आप आइए और आप पाएंगे कि हम सभी लोग अपने मकान की छत पर ही रह रहे हैं। हो सकता है कि लुअरिया ने जो मकान बनाया है उसका इतना ही हिस्सा बचा रहे।

बड़ा बांध, पानी नदारद

कुटकू, पलामू (बिहार): यह एक बांध है जो बीस वर्षों के बाद आज भी "निर्माणाधीन" है। उत्तरी कोयल परियोजना अथवा यहां के लोगों की जुबान में प्रचलित कुटकू बांध की योजना 1972 में बनी थी और उस समय इसकी अनुमानित लागत 58 करोड़ रुपए थी जो आज बढ़कर 425 करोड़ रुपए से भी ज्यादा हो चुकी है। यह राशि इस वर्ष की बिहार की सिंचाई के मद में व्यय होने वाले समूचे बजट से तीन गुना से भी ज्यादा है।

अगर यह बांध बन गया तो पलामू के लिए इससे बहुत कम पानी मिलेगा। इसे सभी जानते हैं कि पिछले तीन दशकों के दौरान पलामू कई बार सूखे की चपेट में आ

कुटकू बांध जो बीस वर्षों बाद भी अभी 'निर्माणाधीन' है। अगर यह बन भी गया तो पलामू को इससे मामूली मात्रा में पानी मिलेगा। यह अपने सर्वोत्तम रूप में 5,800 हेक्टेयर से भी कम जमीन की सिंचाई करेगा और इससे 20 मेगावाट से थोड़ी अधिक बिजली मिलेगी।

चुका है। कुटकू बांध से जिले में 6800 हेक्टेयर से भी कम जमीन की सिंचाई हो पाएगी और जब यह सर्वोत्तम स्थिति में होगा तो बमुश्किल इससे 20 मेगावाट बिजली पैदा होगी।

बांध की वजह से जो लोग बेदखल किये जायेंगे उनमें मुख्य रूप से आदिवासियों और हरिजनों की संख्या ही ज्यादा है। कुछ तो पहले ही अपनी जमीन खो चुके हैं। अधिकारियों का कहना है कि इस बांध के कारण 14 गांवों को उजड़ना पड़ेगा। लेकिन एक गैर सरकारी संगठन "छोटा नागपुर समाज विकास संस्थान", जो यहां के ग्रामीणों के लिए संघर्ष कर रहा है, का कहना है कि तीस से ज्यादा गांवों को इस बांध के कारण उजड़ना पड़ेगा। इस संगठन के अध्यक्ष शत्रुघ्न कुमार ने बताया कि खुद परियोजना के आधिकारिक नक्शों को देखने से भी इस तथ्य का पता लगाया जा सकता है। कुल मिलाकर लगभग 14 हजार लोगों को अपने घर बार से वंचित होना पड़ेगा। इनमें शामिल होंगे–किसान, खरवार, ओरांव, कुरवा, पड़इया, बिरजिया और छेडू जनजाति के लोग। कुछ दुसाध और भुइया हरिजन भी बांध की चपेट में आ जाएंगे।

225 फुट वाले इस बांध के निर्माण में हो रहे विलंब से खुद उनको भी हैरानी है जो इससे प्रभावित होने वाले हैं। उनके नेता वैद्यनाथ सिंह ने हंसते हुए कहा कि यहां तो हमलोग लोगों को जल्दी–जल्दी गोलबंद करने में लगे हैं लेकिन मेरा अनुमान है और पक्की जानकारी भी है कि जिस खतरे से लोगों को आगाह करने में हम लगे हैं वह या तो कभी आएगा ही नहीं या इसके आने में कई साल लग जायेंगे। वैद्यनाथ सिंह मजदूर किसान मुक्ति मोर्चा के अध्यक्ष हैं जो विस्थापन के विरोध का संचालन कर रहा है। उनके दिमाग में यह स्पष्ट है कि यह परियोजना क्यों नहीं पूरी हो रही है। उनका कहना है कि इस बांध का निर्माण केवल और केवल ठेकेदारों को लाभ पहुंचाने के लिए किया जा रहा है। इसके अलावा और एक भी कारण नहीं है जिसके आधार पर बांध का औचित्य साबित किया जा सके।

प्रभावित क्षेत्र के ग्रामीणों ने बताया कि अकसर महीनों तक के लिए काम रुका पड़ा रहता है। इसके बाद ठेकेदार पटना जाता है, कुछ और पैसे हासिल करता है और फिर काम शुरू हो जाता है। सार्वजनिक कोष से करोड़ों रुपए अब तक यहां लगा दिये गये हैं।

बांध के निचले गेट, जिन्हें देखने के लिए ऊपर चढ़ने में गांव वालों ने मेरी मदद की, बहुत बुरी हालत में हैं। एक गेट में तो कंक्रीट का पूरा हिस्सा ही उघड़कर गिर गया है। एक ग्रामीण ने बताया कि यह एक ही बरसात के बाद हो गया। इस नुकसान के बाद दूसरे गेट को बंद कर दिया गया। ऐसा लगता है कि सुरक्षा और निर्माण के मानकों के बारे में कभी किसी ने कोई जांच पड़ताल नहीं की। इसका भी एक ठोस कारण है। मेरी खुद की जांच पड़ताल तभी समाप्त हुई जब मैं गिट्टियों पर से फिसलता हुआ नीचे गिरते–गिरते बचा। गेट के सामने तकरीबन 26 फीट तक मैं फिसलता चला गया और

बिलकुल नाले से कुछ इंच की दूरी पर ही जाकर रुक सका।

गांव के लोगों की चिंता तब दूर हुई जब उन्होंने देखा कि मुझे शारीरिक चोट से ज्यादा दहशत सा हो गया था। वैद्यनाथ ने हंसते हुए कहा कि आपको तो अनोखा अनुभव हुआ। आखिर कितने लोग ऐसे बांध से नीचे गिरते होंगे जहां एक बूंद पानी भी नहीं है। आस पड़ोस में पानी का केवल एक पतला सोता है जो बांध के पीछे है और जहां लोगों ने मछलियां पकड़ने के लिए जाल लगा रखे हैं। वैद्यनाथ ने बताया कि ऐसा नहीं कि यहां बहुत मछलियां हों। यहां जो मछलियां हैं वे भी पर्यटकों की तरह हैं।

जिले का एक भी वरिष्ठ अधिकारी परियोजना के पक्ष में नहीं है। एक अधिकारी ने बताया कि अगर यह बांध पूरा हो गया तो पलामू से बाहर 56 हजार हेक्टेयर जमीन की सिंचाई हो सकेगी। इससे औरंगाबाद और गया को मदद मिलेगी और इन दोनों जिलों में से सिंचाई के संदर्भ में किसी की हालत पलामू जैसी बुरी नहीं है। आखिर फिर कौन है जो बांध के लिए जोर दे रहा है?

एक वरिष्ठ अधिकारी ने बताया कि अगर कुटकू बांध बन गया तो इससे सिंचाई मंत्री जगता नंद के सारे खेतों की सिंचाई हो सकेगी। उस हिस्से के निर्माण के लिए निर्धारित धनराशि को रोक दिया गया है जिसका संबंध गढ़वा जिले से है। सारा ध्यान अभी उन क्षेत्रों पर केंद्रित है जो सोनबराज के आसपास पड़ते हैं और यही सिंचाई मंत्री का निर्वाचन क्षेत्र है।

इस प्रकार देखा जाय तो कोष की उपलब्धता के अनुसार मंत्री महोदय के निर्वाचन क्षेत्र की सिंचाई की योजना पर धीरे–धीरे काम हो रहा है। लेकिन प्रभावी क्षेत्र के ग्रामीण लगातार सामना कर रहे हैं। मंडल गांव की संगीता सिंह यहां के लोगों के प्रतिरोध संघर्ष में काफी सक्रिय हैं और उन्होंने मुझे बताया कि ठेकेदार ने उन लोगों को धमकी दी। उसने कहा–"मैं देखता हूं कि बांध बनने का काम तुम लोग कैसे रोकते हो"।

बांध के निर्माण में जो विलंब हो रहा है और इसके निर्माण से संबंधित परियोजना में जितने तरह के परिवर्तन हो रहे हैं वे ही इससे सम्बद्ध एकमात्र पहलू नहीं हैं। अनेक ग्रामीणों को उन जमीनों के एवज में जिसे वे खो चुके हैं एक या दो रुपए प्रति पेड़ के अनुसार "मुआवजा" मिला है। इसे साबित करने के लिए उनके चेकों को देखा जा सकता है।

छोटानागपुर समाज विकास संस्थान के शत्रुघन कुमार ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा कि आप खुद कल्पना करिये कि इन चेकों को जारी करने वाले भूमि अधिग्रहण अधिकारी को अच्छी तरह पता है कि इन साल वृक्षों की कीमत 700 रुपए प्रति क्यूबिक फुट है। उन्होंने यह भी बताया कि अनेक मामलों में उन विस्थापित लोगों को जिनकी जमीन 1984 में ले ली गई थी प्रति एकड़ महज 6000 रुपए की दर से भुगतान हुआ जबकि उस जमीन का मूल्य उस समय तीस हजार रुपए प्रति एकड़ से भी अधिक था।

गांव वाले यह नहीं मानते कि जिले के मौजूदा अधिकारी उनके प्रति विद्वेष का

भाव रखते हैं। वे तो उपायुक्त संतोष मैथ्यू को अपना बहुत बड़ा हमदर्द भी मानते हैं। उन्होंने बताया कि मैथ्यू साहब ने एक बार एक वरिष्ठ मंत्री को भी बुलाया था ताकि यह अपनी फरियाद सुना सकें। एक ग्रामीण ने बताया कि यहां ठेकेदारों की इतनी चलती है कि वे प्रशासन की सुनते ही नहीं। ठेकेदार सीधे पटना जाता है, मंत्री के साथ अपनी गोटी बैठाता है और फिर आकर यहां उसका धंधा शुरू हो जाता है।

डाल्टनगंज में वशिष्ठ नारायण सिंह ने बांध से होने वाले फायदों के दावों के खोखलेपन पर रोशनी डाली। श्री सिंह एक सम्मानित व्यक्ति हैं और वे बिहार राज्य निर्माण निगम में प्रबंधक के पद पर रह चुके हैं। वह संभवतः पलामू के प्रमुख सिंचाई विशेषज्ञ भी हैं। सिंह का मानना है कि उत्तरी कोयल परियोजना पैसे की बरबादी है। उनका कहना है कि यहां छोटे–छोटे बांधों की जरूरत है। यहां ऐसे बांध होने चाहिए जो पानी के अनिश्चित स्रोतों के साथ किसी सामान्य स्तर की परियोजना के माध्यम से जुड़े रहें। जैसा कि औरंगा अथवा कन्हार में है। उनका यह कहना सही है कि एक दो मध्यम दर्जे के बांध बनाने से ज्यादा फायदा हो सकता है। लेकिन मौजूदा संदर्भ में क्या उन लोगों के साथ कोई न्याय किया जा सकता है जो इस तरह के बांध के निर्माण के कारण अपने घरों से वंचित हो जाएंगे।

परियोजना स्थल के अनेक लोगों ने सरकारी झूठे वायदों का जिक्र किया। उन्होंने बताया कि किस तरह से उनसे वायदा किया गया था कि यहां के लोगों को काम मिल जाएगा, यहां स्कूल खोले जाएंगे और मुआवजे की अच्छी राशि दी जाएगी। प्रतिरोध आंदोलन की एक महिला कार्यकर्ता मूर्ति ने बताया कि इस क्षेत्र के तीस गांवों के लिए न तो कोई स्कूल है और न कोई आंगनबाड़ी। यहां तक कि यहां कोई अस्पताल भी नहीं है।

दस्तावेज देखने से पता चलता है कि जिले में चल रही अन्य परियोजनाओं की चपेट में आए लोगों की भी किस्मत कुछ भिन्न नहीं होगी। कधावन जलाशय योजना से चालीस से भी अधिक गांवों के लोग उजड़ जाएंगे। कनहर परियोजना से भी लगभग इतने ही लोग बर्बाद होंगे। औरंगा योजना से बेशक पलामू को पानी मिल जाएगा जिसकी उसे बहुत जरूरत है पर इससे कम से कम पंद्रह गांव उजड़ जाएंगे। केवल ताल्हे नदी परियोजना से कोई उजड़ेगा नहीं। इससे 20 करोड़ रुपए की लागत में 8,000 हेक्टेयर भूमि की सिंचाई हो सकेगी जो निश्चय कुटकू बांध के मुकाबले कई गुना तर्कसंगत है। वशिष्ठ नारायण सिंह बताते हैं, 'तो भी ताल्हे नदी परियोजना पर कोई काम अभी तक शुरू नहीं हुआ, इसके लिए धन ही नहीं है।' उनका कहना है कि सिंचाई के मामले को राज्य अपनी कोई गंभीर जिम्मेदारी नहीं मानता। 'क्यों नई परियोजनाएं शुरू की जाएं? जो मौजूदा परियोजनाएं हैं वहीं अभी मरम्मत न होने के कारण खतरनाक हालत में पहुंच गई हैं। बिहार में जहां पहले सिंचाई के मद में हर साल 350–400 करोड़ रुपए निर्धारित किये जाते थे, वहीं अब प्रति वर्ष 120 करोड़ रुपए आवंटित किये जाते हैं। केवल लगभग

40 करोड़ रुपए परियोजनाओं पर व्यय होते हैं। रख–रखाव का काम ठप पड़ा हुआ है। पिछले तीन सालों से किसी भी अधिकारी को यात्रा भत्ता नहीं मिला है। सारी गाड़ियां बेकार पड़ी हैं इसलिए जरूरी से जरूरी मरम्मत का काम भी ऐसे ही पड़ा हुआ है।'

कुटकू बांध के कार्यस्थल पर काम कभी भी पूरी तरह नहीं रुकेगा। इसका ध्यान रखेंगे ठेकेदार और मंत्री। विशाल सफेद हाथी की पृष्ठभूमि में खड़े मूर्ति ने मुझसे कहा– 'यहां डैम बंद हो सकता है लेकिन ठेकेदारी नहीं बंद होगी।

पुनश्चः

बांध के निर्माण स्थल तथा प्रभावित गांवों तक मुझे ले जाने वाले कवि, गायक और जननेता वैद्यनाथ सिंह की कुछ हफ्तों बाद हत्या कर दी गई। उनकी हत्या कुछ वर्दीधारी लोगों के एक दस्ते ने की जिसे आमतौर पर माओइस्ट कम्युनिस्ट सेंटर से संबद्ध माना जाता है। एमसीसी इस इलाके में सक्रिय एक उग्रवामपंथी ग्रुप है जो हिंसक गतिविधियों के लिए कुख्यात है। लेकिन वैद्यनाथ के मित्र यह नहीं मानते कि हत्या में इस गुट का हाथ है। उनका मानना है कि यह हत्या ठेकेदारों और उनके स्थानीय दलालों ने की है और भ्रम पैदा करने के लिए वर्दी का सहारा लिया गया था। बांध के खिलाफ संघर्ष जारी है और वैद्यनाथ की आवाज उन गरीब लोगों के बीच आज भी जिंदा है जिनका वह नेतृत्व करते थे। उनकी आवाज पलामू की उस रात में गाए उन गीतों में भी जिंदा है जिन्हें मैंने 90 मिनट के दो कैसेटों में टेप किया था।

नीमाः एक अभिशप्त गांव की तस्वीर

नीमा, गोड्डा (बिहार): नीमा गांव के लिये धूल सचमुच एक बड़ी समस्या है। हर आदमी की आंखें और नथुने धूल से भरे होते हैं और पानी भी धूल से गाढ़ा बना रहता है। खाना पकाते समय पानी के साथ धूल की भी अच्छी खासी मात्रा भोजन का हिस्सा बन जाती है। बाहर कपड़ा सुखाने के लिए टांगिए तो उस पर धूल की परत और पहने हुए कपड़ों में अंदर तक इसका प्रवेश। संथाल आदिवासियों के आमतौर पर साफ चमचमाते मकानों के ऊपर भी धूल की परत साफ दिखाई देती है।

नीमा अपने चारों तरफ फैले एशिया की सबसे बड़ी 'सिंगिल पिट ओपने कास्ट' खदानों से घिरा है। यह ईस्टर्न कोलफील्ड्स लिमिटेड की राजमहल कोयला खदान परियोजना, ललमटिया है। गांव के पूरब में खदान है जिससे प्रतिदिन औसतन 11000 टन कोयला निकलता है। पश्चिम में खुद कारखाना है। नीमा के दक्षिण में परियोजना का मुख्य वर्कशाप और भंडार है जहां रात दिन काम होता रहता है और इसके उत्तर में तो ऐसा लगता है जैसे किसी नकली पहाड़ की श्रृंखला मौजूद हो। यहां 120 टन और 170 टन के डम्पर्स ने खुदाई से निकली मिट्टी का पहाड़ खड़ा कर दिया है– पृथ्वी की ऊपरी सतह की खुदाई की गई है ताकि नीचे कोयले की परत तक पहुंचा जा सके।

राजमहल हील्स की पहाड़ियों के बीच एक विशाल गांव की पृष्ठभूमि उभरती रहती है। कीचड़ भरी गलियों के दोनों तरफ एक कतार से आकर्षक मकान खड़े हैं। इन मकानों में आपको संथाल स्थापत्य कला का अद्भुत नमूना देखने को मिलेगा। इन्हें मिट्टी और पारंपरिक सामानों से बनाया गया है। एक आकलन के अनुसार नीमा में चार हजार से अधिक लोग रहते हैं। इनमें से लगभग एक तिहाई संथाल हैं। शेष अन्य समुदायों से हैं जिनमें मुसलमानों की बहुलता है।

हालांकि धूल की परतें अभी भी उन दीवारों पर जमी हुई हैं फिर भी मिट्टी के बने इन मकानों में से कुछ तो निश्चय ही बहुत खूबसूरत हैं। संथालों को पता है कि गर्मी का मुकाबला करने के लिए किस तरह के मकान बनाए जाएं। इनके मकान की दीवारें प्रायः तीस इंच मोटी होती हैं और यही वजह है कि बाहर मौसम कितना भी गर्म अथवा उमस भरा हो अंदर आने पर सुखद शीतलता का अहसास होता है। शहरी वास्तुशिल्पियों को इनसे यह कला सीखनी चाहिए। मकानों में मेरी गहरी दिलचस्पी देखकर नीमा गांव के एक आदिवासी बम बिहारी मुरमू ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा–'हां–हां आप इसकी खूब तस्वीरें खींच लीजिए। इन तस्वीरों की हमको भी जरूरत

पड़ेगी क्योंकि जल्दी ही इन मकानों को ध्वस्त किया जा सकता है।

नीमा एक ऐसा गांव है जिसे पता है कि वह ध्वस्त होने के लिए अभिशप्त है।

कोयला परियोजना ने 18 गांवों को प्रभावित किया है। जिनमें से 12 खदान की सीमा के अंदर हैं। सबसे बुरी तरह प्रभावित गांव हैं नीमा, हिजूकीठा और घाटी सिमरा। इनमें से नीमा सबसे बड़ा है। बरसात के मौसम में इन गांव तक पहुंचना किसी नर्क को पार करने जैसा हो जाता है। समूचा रास्ता कोयले की धूल, कचरे और कीचड़ से भरा होता है। जगह–जगह गंदगी के ढेर दिखाई देते हैं जो देश के सबसे गरीब जिले गोड्डा की खदानों के नतीजे हैं।

लेकिन नीमा की कहानी उन भावी विस्थापितों की कहानी नहीं है जो अपने अस्तित्व के लिए अंतिम संघर्ष कर रहे हों। यहां के कुछ निवासी उसी परियोजना में कर्मचारी हैं जिसने इनकी जमीनें छीन ली हैं और जिसके कारण यह विस्थापन के कगार पर खड़े हैं। इनमें से अधिकांश छोड़ने के लिए भी उत्सुक हैं। यहां के एक निवासी और इस परियोजना के कर्मचारी जयनारायण सिंह पूछते हैं–"क्या आप यह सोचते हैं कि हम जिंदगी भर इसी हवा में सांस लेना चाहते हैं?"

नीमावासियों को महसूस होता है कि उनके साथ छल किया गया है। यह योजना मूलतः उन्हें तथा यहां के अन्य निवासियों को लाभ पहुंचाने के लिए तैयार की गई थी। इन लोगों ने नौकरियों के बदले अपनी सैकड़ों एकड़ जमीनें छोड़ दीं। लेकिन केंद्र सरकार ने नौकरियों के लिए जो मानदंड तैयार किये थे उनमें बराबर वह परिवर्तन करती गई। शुरू में उन लोगों को काम पर लगाया गया जिन्होंने परियोजना के लिए एक एकड़ या इससे अधिक जमीन दी थी। इसके बाद इसमें एक परिवर्तन किया गया और यह नियम बनाया गया कि प्रत्येक परिवार से केवल एक व्यक्ति को काम पर लिया जाएगा। अंत में यह नियम बना कि जिन लोगों ने दो एकड़ जमीन दी है उनके परिवार के एक व्यक्ति को नौकरी दी जाएगी।

नीमा के अनेक लोग ललमटिया कोइलरी की पुरानी भूमिगत खदानों में पहले से ही काम कर रहे थे। ये खदानें 1980 के दशक में शुरू की गई ओपन कास्ट आपरेशन से पहले से सक्रिय थीं। इस प्रकार देखें तो उन्हें हर हाल में काम पर लिया जाना ही था। उनके लिए जमीन के बदले नौकरी के नियम का कोई अर्थ नहीं सिवाय इसके कि उन्हें अकारण ही अपनी जमीनों से हाथ धोना पड़ा और गांव के मोहालियों के लिए, जो अनुसूचित जातियों में सबसे निचले तपके से आते हैं, यह एक बर्बादी ही साबित हुआ। उनमें से अधिकांशतः या तो भूमिहीन थे या उनके पास इतनी कम जमीन थी कि जो सरकार द्वारा निर्धारित दो एकड़ की सीमा से भी नीचे थी।

उनमें से कुछ को उनकी झोपड़ियों के एवज में 1500 से 2000 रुपए तक "मुआवजा" मिलेगा। इसकी तीनगुनी राशि में वे उस तरह के मकान नहीं बना सकते जिन मकानों के एवज में उन्हें यह राशि दी जा रही है। सबसे बुरी बात तो यह है कि

यह सारा कुछ उस जिले में हो रहा है जो संथाल परगना डिविजन में पड़ता है। यहां कानून के अनुसार जमीन न केवल अहस्तांतरणीय है बल्कि इसे किसी को उपहार के रूप में भी नहीं दिया जा सकता। लेकिन यहां ऐसा हुआ और यह सब कोल बियरिंग ऐक्ट के तहत किया गया। 1980 के दशक में केंद्र सरकार ने भारत के राष्ट्रपति द्वारा जारी एक अधिसूचना के जरिए इनकी जमीनों पर कब्जा कर लिया। जब परियोजना शुरू हुई तो नीमा के निवासियों को इसकी थोड़ी भी भनक नहीं लगी और वे इस बात से बिलकुल अनजान थे कि इसके कैसे दुष्परिणाम होने जा रहे हैं। उन्हें सब कुछ तब पता चला जब जमीन उनके हाथ से निकल गई थी। अधिग्रहण की प्रक्रिया बड़ी तेजी से चली और जब एक बार चली तो रुकी नहीं।

संथाल जनजाति के एक मुखर युवा बाबा जी का कहना है कि वे अपने काम में बहुत कुशल थे। हम करें भी क्या? अब न हमारे पास पानी है और न बिजली और धूल हमारी जिंदगी को तबाह कर रही है। वे चाहते हैं कि हम यहां से चले जाएं लेकिन उन्हें भी यह नहीं पता है कि हम कहां जाएं। मैंने उन लोगों से टार्च और मोमबत्तियों की रोशनी में दो रातों तक घंटों बातचीत की और उनका इंटरव्यू लिया। यहां बिजली की लाइन तो है लेकिन खदान के प्रबंधकों ने इन लोगों को आमतौर से मिलने वाली चार घंटे की बिजली में भी कटौती कर दी है। एक अधिकारी ने बताया कि वे हमारी बिजली चुराते हैं और इसी का दंड देने के लिए ऐसा किया गया है।

ईस्टर्न कोल फील्ड्स लिमिटेड, राजमहल के मुख्य महाप्रबंधक आर.सी. शर्मा का कहना है कि परियोजना के अधिकारी अब जल्दी ही नीमा में अपना कार्यालय स्थापित करेंगे और यहां भी बाड़ा सिमरा की तरह काम होगा। बाड़ा सिमरा एक ऐसा गांव है जहां पुनर्वास के गंभीर प्रयास देखे जा रहे हैं। लेकिन गांव वालों का कहना है कि बाड़ा सिमरा के साथ ऐसा क्यों किया गया: यह गांव खदान के विस्तार के मार्ग में सीधे–सीधे अवरोध का काम करता है। प्रबंधकों के स्रोतों ने भी इस बात की पुष्टि की।

ई.सी.एल. प्रबंधन बाड़ा सिमरा की अपनी उपलब्धियों का काफी बखान करता है। यहां तक कि यह इसकी खूबियों को लेकर एक वीडियो कैसेट भी बनाने की योजना पर काम कर रहा है। गांव वालों का कहना है कि इस गांव के प्रति जो उदारता दिखाई गई है उसके पीछे कुछ राजनीतिक कारण भी हैं। बाड़ा सिमरा कम से कम झारखंड ग्रुप के एक महत्वपूर्ण स्थानीय नेता का गांव है। मैं उस नेता के भाई से उसके शानदार आवास पर मिला। ई.सी.एल. के लिए काम करने वाले इंजीनियरों और भवन निर्माताओं ने उसके मकान के निर्माण में मदद पहुंचायी है। उसके भाई के मकान के बनाने में भी इन्हीं लोगों ने मदद की है। फिलहाल उसका भाई भूमिगत है क्योंकि इस ग्रुप ने झारखंड बंद का आह्वान किया है जिस पर सरकार ने कड़ा रुख अपनाया है। लेकिन इन सबके बावजूद इन दोनों भाइयों के मकान बनाने के काम में कोई रुकावट नहीं आई है। इस गांव में जाने पर साफ–साफ दिखाई देता है कि यूनियन के नेताओं और ई.सी.एल. के प्रबंधकों

के बीच अच्छी साठ–गांठ है।

वापस नीमा आने पर खदान के एक कर्मचारी ने बताया कि "उनका कतई इरादा नहीं है कि वे हमारे साथ न्याय करें। बाड़ा सिमरा में पुनर्वास से परियोजना की प्राथमिकताओं का पता चलता है, हमारी प्राथमिकताओं का नहीं।"

यहां के हजारों लोगों की जिंदगियां हमेशा के लिए बदल दी गई। इसके बावजूद ई.सी.एल. की राजमहल परियोजना के पास कोई पुनर्वास विभाग भी नहीं है। यह काम उन अंशकालिक अधिकारियों द्वारा किया जा रहा है जो अन्य विभागों की भारी जिम्मेदारियां भी संभाले हुए हैं। एक स्थानीय ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता का कहना है कि इसी से ई.सी.एल. की प्राथमिकताओं का पता चलता है।

जमीन के लिए मुआवजे की दर 1980 के दशक के शुरू के वर्षों में तय की गई। यह सबसे खराब जमीन के लिए तीन हजार रुपए प्रति एकड़ थी और सर्वोत्तम जमीन के लिए 17 हजार 500 रुपए प्रति एकड़ थी। अधिकांश जमीन को खराब वाली श्रेणी में डाल दिया गया है। ऐसा करते समय सदियों पुरानी कीमतों को ध्यान में रखा गया। एक ग्रामीण मिस्त्री मरंडई ने बताया कि अपने कठिन परिश्रम से हमने इस जमीन का कायापलट किया और जितनी कीमत में इसे खरीदा था उससे कई गुना अधिक की कीमत के लायक बना दिया। वे जिस दर से हमें मुआवजा दे रहे हैं उसके हिसाब से हम मौजूदा मूल्य पर अपनी जमीन के 10 प्रतिशत बराबर का हिस्सा भी नहीं पा सकते। यह सही भी है क्योंकि आज यहां जमीन की कीमत 52000 रुपए प्रति एकड़ हो चुकी है।

गांव वालों का कहना है कि मुआवजे की यह मामूली रकम भी सबको नहीं मिल रही है। हिजुकीठा में अनेक लोगों ने बताया कि उन्हें मुआवजे की राशि का महज एक चौथाई हिस्सा प्राप्त हुआ। बकाया राशि पर वे ब्याज मांग रहे हैं क्योंकि उसका भुगतान बाकी हुए दस साल से भी ज्यादा हो गए हैं। शर्मा का कहना है कि अनेक ग्रामीणों ने यहां आकर अपना चेक नहीं लिया जिसका नतीजा यह हुआ कि समय बीतने के साथ चेक की अवधि समाप्त हो गई।

हिजुकीठा की मेरी पहली यात्रा अनेक घटनाओं से भरी हुई थी। खदानों में विस्फोट के कारण जो कंपन हो रहा था उससे एक दीवार और दो दरवाजे ढह गये।

नीमा के ग्रामवासियों को जिन दिक्कतों का सामना करना पड़ता है उससे शर्मा को इनकार नहीं है। वस्तुतः खुद उनके शब्दों में उनकी स्थिति 'अत्यंत दयनीय और दिल दहला देने वाली है।' फिर भी अब तक उन्हें खाली करने की कोई नोटिस नहीं दी गयी है। एक निवासी ने बताया कि वे लोग बस इंतजार ही में हैं। उन्हें पता है कि कभी–न–कभी हम महसूस करेंगे कि ऐसी स्थितियों में यहां रहना असंभव है और फिर अपने आप ही हम यह जगह खाली करके चले जाएंगे।

लेकिन यह इतना आसान काम नहीं है। अन्य परियोजनाओं के विपरीत जहां लोगों को विस्थापित किया गया, जिन लोगों को यहां लाकर रखा गया है वह जाएंगे नहीं। यदि उन्हें ऐसा करने को कहा गया तो अगली सुबह वह फ़ैक्ट्री में अपनी हाजिरी देने पहुंच जाएंगे जिससे पहले से ही मौजूद विस्फोटक स्थिति और भी ज्यादा जटिल हो जाएगी।

जैसा कि यहां के प्रसिद्ध ट्रेड यूनियन नेता रामस्वरूप ने बताया–"कुछ को तो नौकरी मिल रही है लेकिन ज्यादातर लोग यहां से हटाए जा रहे हैं। ये उखड़े हुए लोग हैं जो न केवल अपने घरों से बल्कि अपनी संस्कृति और इतिहास से भी उखड़ते जा रहे हैं।" इसका एक स्वाद उस समय मिला जब कचरे के ढेर ने संथालों के पवित्र पेड़ जेहरथन को लील लिया और मृतकों को दफनाने के लिए बनायी गयी उनकी जगह समाप्त हो गई। रामस्वरूप का कहना है कि इसके बावजूद इन गांवों में से किसी भी गांव को कभी भी औपचारिक तौर पर खाली करने की नोटिस नहीं दी गयी। दरअसल सरकार यह नहीं चाहती कि खाली करने की नोटिस देकर मुआवजे का कोई मुद्दा खड़ा हो। रामस्वरूप का संगठन युनाइटेड कोल वर्क्स यूनियन (जो ऐटक से संबद्ध है) न केवल अपने सदस्यों के लिए बल्कि सभी विस्थापितों और प्रभावित लोगों के लिए संघर्ष कर रहा है। रामस्वरूप कहते हैं कि गरीबों को क्यों बांटकर देखा जाए?

नीमा के पास कुछ और भी परेशानियां हैं। यहां से अस्पताल की दूरी दस किलोमीटर है और जैसे–जैसे स्वास्थ्य संबंधी समस्याएं बढ़ती जा रही हैं अस्पताल की कमी अखरती जा रही है। इस क्षेत्र में केंद्रीय औद्योगिक सुरक्षा बल की एक चौकी भी है जिसकी वजह से इन्हें काफी मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। नीमा में कुछ सहमी हुई महिलाओं से मेरी बातचीत हुई जिन्हें कुछ ही घंटे पहले सीआइएसएफ के जवानों ने आतंकित किया था जब वे पानी लेने गई थीं। अबू तालिफ से भी मेरी बातचीत हुई जिसे गांव की सीमा के पास शौच करते समय पुलिस ने पकड़ लिया था और पीटा था। अपनी दुर्दशा की कहानी बताते हुए तालिफ अभी भी डर के मारे हकला रहा था।

प्रोजेक्ट्स ऐंड प्लानिंग डिपार्टमेंट के मैनेजर एस. उपाध्याय ने स्वीकार किया कि पुनर्वास की प्रक्रिया कठिनाइयों से भरी हुई है। इससे जुड़ी सामाजिक समस्याओं को स्वीकार किया जाना चाहिए। विस्थापन के शिकार लोग मानसिक तौर पर कहीं दूसरी जगह बसने को तैयार नहीं होते हैं हालांकि वे इसकी मांग करते हैं और हालांकि हम उन्हें बेहतर सुविधाएं और स्थान देने का वायदा करते हैं। लेकिन ऐसे वायदों के बारे में प्रोजेक्ट का रेकार्ड कोई बहुत प्रेरणादायक नहीं है।

जैसा कि बमबिहारी मुरमू ने बताया–"कुछ साल पहले हम लोगों को बताया गया कि एक महान उपलब्धि सामने खड़ी है, कि जो कुछ हो रहा है सब हमारे विकास के लिए है, कि हमलोग लगातार प्रगति कर रहे हैं। आज हालत यह है कि हममें से कइयों के पास कोई नौकरी नहीं है और हममें से सभी अपनी जमीन खो चुके हैं। हमें हासिल हुआ है तो केवल धूल। हमारे मकानों को देखिए। क्या नीमा को ध्वस्त करने के बाद

वे हमें ऐसा कुछ दे पाएंगे?"

नीमा के संदर्भ में सोचने पर बहुत भय लगता है।

पुनश्चः

मेरी अंतिम जानकारी के अनुसार नीमा के ग्रामवासियों को अपने संघर्ष के एक हिस्से में सफलता मिल गई थी। अब उन्हें यह अधिकार मिल गया था कि उन्हें सम्मान के साथ किसी दूसरे स्थान पर बसाया जाए और इसके लिए उन्हें मुआवजा दिया जाए। ईसीएल की यह साजिश विफल हो गई थी कि यहां के लोगों की जिंदगी को इतना कठिन बना दिया जाए कि वे अपने आप ही घर बार छोड़कर चले जाएं जिससे किसी तरह का मुआवजा न देना पड़े।

और खामोश पेड़ बोलते हैं

कट-ऑफ एरिया, मलकानगिरि (उड़ीसा): दूर–दूर तक फैले सूखे मरे हुए पेड़ों के जंगल। खामोश जल के ऊपर सर उठाये बगैर पत्तियों वाले ठूठ जो कई दशक पहले जल समाधि लेने के बाद आज भी आसमान की ओर देख रहे हैं और लगता है अभी कुछ बोल देंगे। इन्हें देखकर उन 91 गांव की याद आती है जो बालीमेला रिजर्वायर तथा मछकुंद नदी एवं अन्य परियोजनाओं की पेट में समा गयी। हम लोग जिस नाव पर बैठे थे उसमें अभी तक शोर–गुल हो रहा था लेकिन अब बिलकुल सन्नाटा छाया हुआ था। यह धीरे–धीरे आगे बढ़ रही थी। सन्नाटा छाना ही था क्योंकि 66 लोगों के लिए बनी नाव में लगभग 370 लोग सवार थे।

नाव में बैठे यात्रियों के मन में शायद यही सवाल उठता रहा होगा–किसी जमाने में यहां लोग बसते थे। यहीं, बिलकुल इसी जगह बच्चे खेला करते थे। नाव में सवार कुछ लोगों के लिए तो यह निजी अनुभव की बात थी क्योंकि सारा कुछ उनकी याददाश्त में हुआ था और जैसे–जैसे नाव उन खामोश जंगलों की तरफ बढ़ रही थी हम इस देश के सबसे सुनसान इलाके के करीब पहुंचते जा रहे थे: यह सुनसान इलाका बालीमेला तथा संबद्ध परियोजनाओं के कारण देश की मुख्य भूमि से अलग पड़ा 152 गांवों का समूह था। यह पूरा क्षेत्र इतना अलग–थलग था कि इसका आधिकारिक नाम भी "कट–ऑफ एरिया" हो गया था।

शायद इस आकार की दूसरी अन्य किसी नदी ने इतनी मात्रा में जल विद्युत का उत्पादन नहीं किया होगा जितना इस विनम्र मछकुंद नदी ने किया। यह साल में 720 मेगावाट बिजली पैदा करती है जिसे विभिन्न परियोजनाओं के जरिये उड़ीसा और आंध्र प्रदेश को दिया जाता है। पूरी तरह अलग–थलग पड़े इन 152 गांवों की मदद से और इनके बलिदान से दो राज्यों को बड़े पैमाने पर बिजली मिलती है। फिर भी यह असंभव है कि इन गांवों में से किसी भी घर में आपको बिजली के दर्शन हो जाएं। यहां तक कि धरला बेडा गांव के लगभग पक्के मकान में, जहां हमने रात बितायी थी एक भी बल्ब नहीं देखा। वैसे यह पंचायत का दफ्तर था।

यहां जो लोग रहते हैं वे भारतीयों के सबसे गरीब तबके से आते हैं। इन कट–ऑफ गांव में से किसी भी गांव की औरतें खेतों में काम करने के एवज में प्रति घंटे चार रुपए से ज्यादा नहीं कमा पातीं। यहां के लोग जितने ही गरीब हैं उतने ही कटे हुए हैं और यही वजह है कि इनकी कोई आवाज नहीं सुनाई देती। इन्हें जो सेवाएं दी

भारत में अत्यंत कटे पड़े इलाकों में से एक। बालीमेला तथा संबद्ध परियोजनाओं की कृपा से अलग–थलग पड़ा यह इलाका इतना सुनसान है कि सरकारी दस्तावेजों में भी इसे 'कट–ऑफ एरिया' लिखा जाता है। कई एकड़ों में फैले सूखे पेड़ों के जंगल। खामोश जल के ऊपर सर उठाये बगैर पत्तियों वाले ठूठ।

जाती हैं वह भी नहीं के बराबर हैं। अगर आप इन इलाकों से चित्रकोंडा के लिए रवाना हों तो आपको पहुंचने में तीन दिन लग जाएंगे। अभी जो इकलौती नाव चल रही है वह बहुत पुरानी और खतरनाक है क्योंकि इस पर हमेशा इसकी क्षमता से ज्यादा लोग सवार रहते हैं। यह सबेरे रवाना होती है और जान बाई तथा जंत्री के बीच अनेक अड्डों पर रुकती हुई घंटों में बासठ किलोमीटर की दूरी तय करती है। हमलोग चित्रकोंडा में इस पर सवार हुए थे और पलस्पदार की ओर बढ़ रहे थे।

रास्ते भर इस कट–ऑफ एरिया के गांवों के लोग छोटी–छोटी नौकाओं में हमारी नाव तक पहुंच रहे थे। यह बड़ी नाव चलते–फिरते बाजार की तरह हो गयी थी क्योंकि बाहर की दुनिया से संपर्क कराने का यही एकमात्र साधन थी। 1965 के युद्ध के बाद पूर्वी पाकिस्तान से भाग कर बंगाली शरणार्थी काफी संख्या में इधर आकर बस गए थे। हमने देखा कि हमारी नाव में गडाबा और परोजा आदिवासियों के अलावा बंगाली शरणार्थी भी भारी संख्या में थे। वे यहां के कर्मचारियों को मछली आदि बेचते थे और अपनी जरूरत की चीजें उनसे लेते थे।

एक बंगाली जोड़ा अब यात्रियों और कर्मचारियों से मोल–भाव कर रहा था। थोड़ी देर बाद गुस्से में बड़बड़ाता हुआ वह आदमी वापस अपनी नाव पर लौट गया और अपनी

पत्नी को मोल–भाव करने के लिए वहीं छोड़ दिया। उसे लगा कि इसमें काफी समय लगेगा। अब वह इस इलाके से आगे कुछ दूर तक चली जाएगी क्योंकि नाव चल चुकी थी और फिर अगले स्टॉप पर उतर कर उसको कई किलोमीटर तक पीछे पैदल आना पड़ेगा।

इस स्टीमर पर काम पाने के लिए लोग घूस देते थे। यहां आप कुछ भी बेच सकते हैं और मनमाना दाम वसूल सकते हैं। जो कर्मचारी हैं वे भी बहुत कुशल सौदागरों की तरह काम करते हैं उन्हें पता है कि अब आप घंटों तक के लिए इस स्टीमर में कैद हो चुके हैं। बंबई में हो सकता है बीड़ी आपको सस्ती मिल जाए लेकिन जो लोग इस कट–ऑफ एरिया में रहते हैं उनके लिए यहां से खरीदने के अलावा और कोई चारा ही नहीं है। कभी–कभी मलकानगिरि में यह खरीद–फरोख्त अदला–बदली की प्रणाली पर होती है।

मछकुंद घाटी से नीचे आने पर आपकी भेंट दिदाई लोगों से हो सकती है। यह जनजातियों का एक छोटा समूह है जिसमें अब पांच हजार से भी कम लोग रह गए हैं और जो यहां के अलावा और कहीं नहीं पाई जातीं। नदी यहां से आगे जाकर सिलेरू नाम से जानी जाती है। यही उड़ीसा और आंध्र प्रदेश की सीमा का भी काम करती है। मछकुंद जलविद्युत परियोजना के निर्माण से पूर्व यहां की स्थिति बिलकुल दूसरी थी। पुराने गजेटियर के अनुसार समूचे भारत में यह इलाका कई मामलों में विशिष्ट था। बालीमेला पॉवर प्रोजेक्ट की शुरुआत 1962–63 में हुई और इसके बाद यहां की तस्वीर ही बदल गई।

पलस्पादार में उतरने के बाद सुनसान, खूबसूरत जंगलों से गुजरते हुए दस किलोमीटर की दूरी तय करने के बाद हम धरला बेड़ा पहुंचे। यहां के घने और फुसफुसाते जंगलों से आप अनुमान लगा सकते हैं कि किसी जमाने में डूबने से पहले वह इलाका कैसा लगता रहा होगा। धरला बेड़ा में चित्रकोंडा का वीएलडब्लू (ग्राम सेवक) मूंगफली की बोरियां निःशुल्क बांट रहा था। वह हर व्यक्ति से पहले ही हस्ताक्षर ले लेता है लेकिन प्रत्येक परिवार को कितनी मूंगफली दी जा रही है इसे वह नहीं भरता। इस ग्रामसेवक का फैसला उसकी मर्जी पर निर्भर करता है और मूंगफली देते समय वह तौलने की जरूरत नहीं समझता हालांकि उसके साथ तराजू उपलब्ध है।

मूंगफली की जितनी भी बोरियां हैं उन पर साफ लिखा है, "अगर बोरी बंद और सीलबंद न हो तो इसे मत लें" लेकिन यहां जो भी बोरियां आईं वे सब खुली हुई थीं और उन पर किसी तरह की मुहर का तो सवाल ही नहीं था। गांव के साधुराम ने जो यहां के गिने–चुने शिक्षकों में से हैं बताया कि सरकार की ओर से मूंगफली इसलिए बांटी जाती हैं ताकि लोग इसका स्वाद लें और इसे पैदा करने के लिए प्रोत्साहित हों। लेकिन होता यह है कि यहां लोग इतने गरीब हैं कि सारी मूंगफली खाकर ही खत्म कर देते हैं। मिसाल के तौर पर परोजा जनजाति के अर्जुन पांगी की ही बात लें वैसे इसी व्यक्ति

की झोपड़ी में हमने उस रात का एक हिस्सा बिताया था। पांगी और उसका परिवार इतना गरीब है कि सूदखोर महाजन भी एक पैसा सूद पर नहीं देता है। पांगी ने बताया कि महाजन को लगता है कि हम कभी उसका कर्ज चुकता ही नहीं कर सकते।

महाजन का अनुमान सही लगता है। इस झोपड़े में एक भी सामान ऐसा नहीं है जिसकी कोई कीमत हो। जिन दिनों काम होता है, पांगी कुली का काम करता है। अगर वह दिन भर काम करता है तो दो किलो चावल खरीदने भर को पैसे मिल जाते हैं। पांगी और उसके परिवार के सदस्य बाहर जंगल में घूमकर कंदमूल, बांस की फुनगियां, बेर आदि इकट्ठा करते हैं ताकि उन्हें खाकर वे अपना काम चला सकें। उसके मित्र अनंदराम खिलो ने कहा—हमारी तो जिंदगी गुजर गई अब हो सकता है किसी दिन हमारे बच्चे पढ़–लिखकर कोई बेहतर जिंदगी जी सकें।

कट ऑफ एरिया के अंतर्गत आने वाले गांव में स्कूल तो हैं लेकिन बच्चे इतने गरीब हैं कि वे पढ़ने जा ही नहीं सकते। इसके अलावा लोगों को साल में अधिक–अधिक से चार महीने का रोजगार मिलता है। इसके बावजूद जमीन के लिए भूख बहुत ज्यादा है। पंगी ने कहा—'अगर मेरे पास बस दो–तीन एकड़ जमीन होती तो जिंदगी आराम से गुजर जाती।' लेकिन उन अफसरों के बारे में क्या कहा जाए जिनसे यह अपेक्षा की जाती है कि वे यहां आएंगे और इन चीजों को संभव बना सकेंगे।

साधुराम हंसते हुए बताता है—'कलक्टर साहब यहां कई बार आए वह जो बातें करते हैं बहुत अच्छी होती है। लेकिन उनके साथ के जो दूसरे अफसर हैं वे बस चित्रकोंडा में बैठे रहते हैं और वहीं से अपनी रिपोर्ट तैयार करके भेजते रहते हैं। अगर ऐसा नहीं हुआ तो वे सूखे वाले इलाकों तक आते हैं और वहां से अपने हरकारों को अलग–अलग गांव में भेज देते हैं और वे हरकारे ही लोगों से जाकर मिलते हैं। जब कोई अफसर आपको बुलाता है तो आपको हाजिर होना ही पड़ता है। एक बार पत्रकारों का एक दल आया और नदी के किनारे अफसरों के साथ बैठ गया। उन अफसरों के लिए खाना लाने के लिए गांव के कुछ लोगों को बीस किलोमीटर से भी ज्यादा की दूरी तय करनी पड़ती थी। इसके बाद वे यहां से वापस गए और फिर उन्होंने हमारी जिंदगी के बारे में लिखा कि हम कैसे रहते हैं, यह सब जानने के लिए उन्होंने गांव में आने की तकलीफ नहीं की।'

आदिवासियों के एक उभरते हुए नेता कवासी कामराज ने पूछा—'जो लोग यहां रह रहे हैं, क्या ऐसा कोई कारण दिखाई देता है कि वे अपने को भारतीय कहें? राष्ट्रीय जीवन में उनकी किस तरह हिस्सेदारी है? सरकारें तो बदल जाती हैं लेकिन उनकी जिंदगी में कोई तब्दीली नहीं आती। ये अदृश्य लोग हैं हालांकि इनकी संख्या लगभग 30 हजार है। इनको उन परियोजनाओं में से किसी से भी कोई लाभ नहीं मिला। जिनके लिए उन्होंने कुर्बानी दी। 'कवासी बराबर हमारे साथ रहा और उसी की मदद से कट ऑफ एरिया की हमारी यात्रा संभव हो सकी।

फिर भी विकास के कुछ चिन्ह मौजूद हैं। सरपंच लोगों ने अपने लिए नए पक्के मकान बनवाने शुरू कर दिए हैं।

सरकारी विवरण को देखें तो पता चलता है कि 1962–63 में बालीमेला परियोजना के लिए यहां से लगभग 1200 परिवारों को विस्थापित होना पड़ा और इनमें से ज्यादातर आदिवासी थे। यह आंकड़ा आपको चौंकाने वाला लग सकता है। विडंबना यह है कि किसी ने उन लोगों के बारे में सही आंकड़ा भी दर्ज नहीं किया। जिन्हें विस्थापित किया जा रहा था। इसके अलावा उन हजारों लोगों के बारे में भी कोई जानकारी नहीं है जो सरकार द्वारा तय डूब क्षेत्र से बाहर रहते थे और जिनके जीवन को सहारा देने वाले उन सारे साधनों की समाप्ति हो गयी जिन्हें नदी से वे प्राप्त करते थे। इसने कट ऑफ एरिया की उन लोगों की भी काफी उपेक्षा की जिन्होंने उस जगह को खाली नहीं किया था बल्कि वे वहां से हटाए गए थे।

जिन लोगों को वहां से हटाया गया उन्हें भी किसी तरह का मुआवजा नहीं मिला। सरकारी दस्तावेजों के मुताबिक राज्य में 'पुनर्वास' पर 35 लाख रुपए खर्च किए। अगर 1200 परिवारों को ध्यान में रखें तो यह राशि प्रति व्यक्ति 500 रुपए से अधिक नहीं थी, सरकारी गाड़ियों, राजस्व विभाग के कर्मचारियों के वेतन और ऑफिस बदलने पर हुए खर्च के मद में आठ लाख बीस हजार रुपया व्यय किये गये थे। यह राशि हजारों विस्थापितों के लिए मकान खरीदने और मकान के लिए जमीन खरीदने पर व्यय की गयी राशि से दुगुनी थी।

हमलोग पंगी के नीम अंधेरे झोपड़े में बैठे थे जहां वही लोग हमें खाना खिलाने पर आमादा थे जो खुद साल में छह महीने फाकाकशी करते हैं। अंगराहंथल ने हमसे बताया—'डूब क्षेत्र में जो लोग अपनी जमीन गंवा बैठे वे फिर पलटकर वापस नहीं आये। शुरू–शुरू में अफसरों ने बताया था कि कुछ दिनों बाद हमारा नाम भी सरकारी कागजात में दर्ज हो जाएगा। अपने भोलेपन में हमने उनकी बातों पर यकीन कर लिया। फिर यहां आने के बाद हममें से कुछ ने थोड़ी जमीन पर कब्जा कर लिया—एकाध एकड़ पर। हमारे पास उन जमीनों का पट्टा भी है लेकिन इसकी मिट्टी बहुत खराब है। बस जंगल से ही हमें जो कुछ मिल जाता है उससे गूजर बसर करते हैं।'

उसकी पत्नी ने बताया—'यहां आने के बाद बहुत सी ऐसी चीजें थीं जो बच्चे चाहते थे लेकिन हम उन्हें दे नहीं सके। हमारे पास पैसे नहीं थे और अगर पैसे होते भी तो हम कहां से उन चीजों को खरीदते—दवाएं, कपड़े, खाने–पीने के सामान और ढेर सारी चीजें। आप इन्हें आज देख रहे हैं जब वे बड़े हो गए हैं। लेकिन यहां आने से हमारा बहुत नुकसान हुआ। सबसे ज्यादा नुकसान तो हमारे बच्चों को उठाना पड़ा।'

वापसी में वही खामोशी हमें अंदर से काटती रही। वे सूखे पेड़, ऊंगलियों की तरह तनी उनकी शाखाएं—ऐसा लगता था कि उनकी ऊंगलियां हमारी ओर इंगित हों जैसे किसी अपराधी के लिए होती हैं। शानदार और खुबसूरत पेड़ों से भरे हजारों एकड़ जंगल
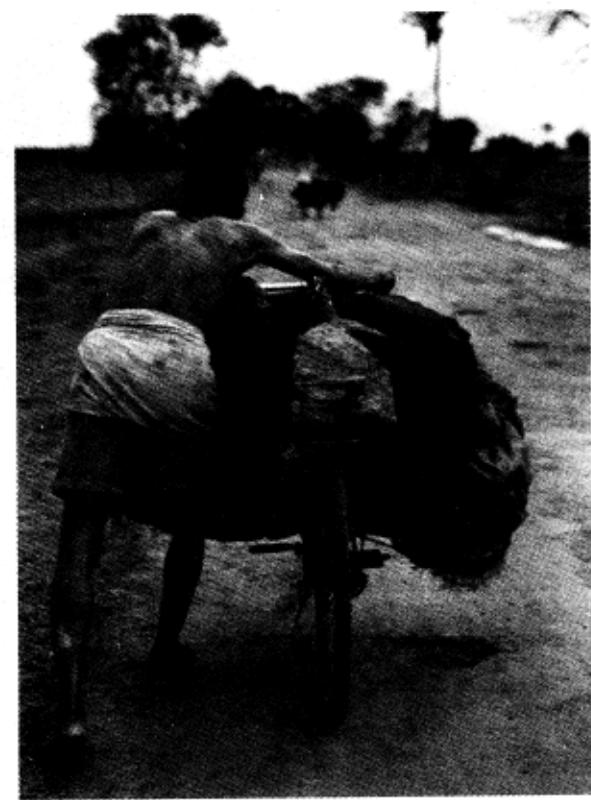
हमेशा के लिए खत्म कर दिए गए थे। बालीमेला विद्युत परियोजना पर 57 करोड़ रुपए खर्च किए गए लेकिन उनका जो कुछ बर्बाद हुआ वह इस राशि के मुकाबले कई गुना ज्यादा था। आजादी के बाद से उड़ीसा में जो विकास परियोजनाएं शुरू की गयीं उन पर कुल मिलाकर जितना पैसा खर्च किया गया उससे ज्यादा मूल्य उन लकड़ियों और जंगल के विभिन्न उत्पादों का था जिसे नष्ट कर इन परियोजनाओं के लिए जगह बनायी गयी। इन प्रारंभिक दशकों में सरकार का जो रवैया था उसकी अभिव्यक्ति चित्रकोंडा में खड़े किये गये कांकरिट की बेडौल इमारते हैं। यहां बड़ी शान के साथ यह घोषणा की जाती है कि परियोजना में डूबने वाले गांवों की संख्या 91 थी। चारो ओर इन पहाड़ियों में बिजली पैदा करने वाले संस्थान स्थापित किए गए लेकिन इस कट ऑफ एरिया में बस अंधेरे का साम्राज्य है।

हाशिए पर टिकी जिंदगी

जिंदा रहने की गरीबों की रणनीति

उन 200–240 दिनों के दौरान लोग क्या करते हैं जब उनके इलाकों में खेती नहीं होती ? वे लोग क्या करते हैं जिनके पास खेती करने का कोई जरिया ही नहीं है? विकास योजनाओं द्वारा उपेक्षित या सच कहें तो विध्वंसित लोगों के पास क्या कोई उपाय है ? गरीबों के पास अपने को जिंदा रखने की कौन सी रणनीति है ? इनसे निपटने के लिए वे कौन से तरीके अख्तियार करते हैं ?

तरीके अनेक हैं। इनमें से कुछ तो अत्यंत उम्दा किस्म के हैं पर सभी कमर तोड़ देने वाले हैं। जो भी हो गांवों में बसे करोड़ों भारतीयों में गजब का लचीलापन है और है गजब की जिजीविषा तथा अपने परिवार को सम्मान से पालने की इच्छा। यहां तक कि जहां वे हार जाते हैं, वे कोशिश में लगे रहते हैं कि इज्जत के साथ जिंदगी बसर कर सकें... और पराजय अक्सर उनकी नियति होती है।

अगर एक नजर इस पर दौड़ा ली जाय कि वे क्या क्या करते हैं और बदले में उन्हें क्या हासिल होता है तो आश्चर्य होगा। जिस जानलेवा मशक्कत से उन्हें गुजरना पड़ता है उससे वे बोझ ढोने वाले जानवर की तरह होते जाते हैं।

फिर भी उनकी कठिन मेहनत, ऐसे हालात में अपनी इज्जत बनाये रखना और आत्मनिर्भर बनने की उनकी ललक दिमाग में एक सवाल पैदा करती है। इन लोगों को अगर सही अवसर दिये जायं तो क्या ऐसी कोई चीज है जिसे वे हासिल नहीं कर सकते ? अगर उन्हें वे सारी चीज़ें मुहैया कर दी जायं तो कुछ अन्य समाजों ने अपने नागरिकों को दे रखी हैं तो ये लोग क्या नहीं कर सकते! मसलन सही अर्थों में भूमि सुधार, शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, काम करने के अवसर। उनकी रणनीतियों का महीनों तक ब्यौरा लेने के बाद अन्त में एक ही जवाब समझ में आता है: अगर उपरोक्त सुविधाएं इन्हें मिल जायं तो ये लोग अपनी दुनिया बदल सकते हैं और बदल देंगे। अपनी ही नहीं हमारी दुनिया भी।

रत्नापंडी की खतरनाक चढ़ाई

रामनाड (तमिलनाडु): रत्नापंडी नाडार को निश्चय ही दुनिया के सबसे कठिन कामों को संपन्न करने वालों की सूची में रखा जाना चाहिए। वह रोजाना ताड़ी निकालने के लिए ताड़ के पचास पेड़ों पर चढ़ता है–इनमें से कुछ पर तो वह दिन में तीन–तीन बार चढ़ता है। इसका मतलब उसे ऊपर–नीचे 150 बार चढ़ना–उतरना पड़ता है– उन पेड़ों पर जिनकी ऊंचाई तकरीबन 20 फीट होती है। उसका काम सवेरे 3 बजे से शुरू हो जाता है और 16–16 घंटे तक चलता रहता है। इस सारी कवायद के बावजूद वह दिन भर में महज पांच से आठ रुपए तक कमा सकता है।

सताइस वर्षीय रत्नापंडी एक पनइयरी नाडार है– नाडारों के अंदर इसी रूप में उसके समूह का वर्गीकरण है। लेकिन उसके जैसे कुछ हजार ऐसे हैं जो कठोर श्रम करने वाले इस समुदाय के संपन्न वर्ग की समृद्धि से अछूते हैं। यह समृद्धि ताड़ी के धंधे में लगे बिचौलियों, व्यापारियों और थोक डीलरों के लिए ही सुरक्षित है।

रामनाडड जिले के अपने गांव कवकुलम में रत्नापंडी जिन पेड़ों पर चढ़ने का खतरा मोल लेता है उनमें से एक पर भी न तो उसका स्वामित्व है और न नियंत्रण है। उसे कभी भी गरीबी को दूर करने के लिए बनाई गई किसी योजना से फायदा नहीं मिला है। उसे इस खतरनाक धंधे के लिए किसी बीमा की सुविधा भी नहीं है जिसमें पांव का थोड़ा सा फिसलना भी जानलेवा हो सकता है। ऊपर चढ़ते समय उसके पास पेड़ के गिर्द घिरी हुई रक्षाकवच जैसी रस्सी भी नहीं होती जैसा कि उसी के धंधे में लगे केरल के उसके साथी इस्तेमाल करते हैं। वह इन पेड़ों से ताड़ी नहीं निकाल सकता क्योंकि तमिलनाडु में इस पर प्रतिबंध है। इसलिए वह इसका इस्तेमाल जोग्गी के लिए ही करता है।

जिस दिन काम कम होता है, रत्नापंडी को चालीस पेड़ों पर चढ़ना पड़ता हैं अगर इन पेड़ों की ऊंचाई कम हुई–15 से 20 फीट तक की हुई–तो भी इसका मतलब यह हुआ कि उसे प्रतिदिन 5,000 फीट चढ़ना पड़ता है। मोटे तौर पर कहें तो इसका मतलब 250 मंजिल की इमारत पर सीढ़ियों से ऊपर चढ़ने और उतरने के बराबर हुआ। लेकिन रत्नापंडी सीढ़ियों का इस्तेमाल नहीं कर रहा है। वह अपने हाथों और पैरों को घिसटता हुआ ऊपर चढ़ रहा है। इसके साथ जुड़े जोखिम भी, जाहिर है, काफी हैं।

एक बार पेड़ पर चढ़ने के बाद रत्नापंडी टहनियों की जोड़ के पास अपना हंसुआ चलाता है और जोर लगाकर कच्चे फल के बंद मुंह को खोलता है। इससे उसका रस

उस बर्तन में टपकने लगता है जिसे लेकर वह ऊपर चढ़ा होता है। उस बर्तन को वह वहीं बांध आता है। थोड़े–थोड़े घंटे के बाद वह भरे हुए बर्तन को उतार लाता है और दूसरा बर्तन लगा देता है। ऊपर पहुंचने के बाद रत्नापंडी बहते हुए रस में कैल्शियम कार्बोनेट से बना एक पाउडर मिला देता है।

यह पाउडर एक उत्प्रेरक का काम करता है जो उस रस को ताड़ गुड़ में तब्दील कर देता है। पाउडर न मिलाया जाए तो यह ताड़ी हो जाएगा क्योंकि ताड़ी बनाने में भी इसी प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। रत्नापंडी की 25 वर्षीया पत्नी रानी इकट्ठा किये गये रस को एक बड़े बर्तन में डालकर उबालती और पकाती है। इसके बाद गाढ़े चाश्नी की तरह तैयार इस रस को वह नारियल के खाली खोलों में भरती है जहां जमकर ये गुड़ की शक्ल ले लेते हैं। अधिकांश लोग गन्ने के रस से बने गुड़ के मुकाबले ताड़ गुड़ को ज्यादा मीठा और बेहतर क्वालिटी का मानते हैं।

रस उबालने के लिए जिस बड़े कड़ाहे का वे इस्तेमाल करते हैं, वही उनकी एकमात्र संपत्ति है। उनके पास कोई जमीन नहीं है और उनके झोपड़ों में कोई ऐसा सामान नहीं होता जिसकी थोड़ी भी कीमत हो। वे अपने इस गुड़ को एक कमीशन एजेंट (थारागार) को बेचते हैं जिसके कर्ज से वे पहले से ही दबे रहते हैं। इससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि एजेंट को बाजार में इसकी जो कीमत मिलेगी, उसके मुकाबले बहुत कम पैसा ताड़ीवान को दिया जाए। लेकिन पनैयरी नाडार न केवल बेहद गरीब हैं, वे अत्यंत पिछड़े भी हैं और प्रायः पढ़े लिखे नहीं हैं।

रानी ने कहा, 'जरा देखिए, उसे मेहनत कितनी करनी पड़ती है और इसके लिए पैसा क्या मिलता है। और जरा उसका शरीर देखिए।' रत्नापंडी देखने से बीमार जैसा लगता है। ऐसा लगता है कि पनैयरी नाडार में से बदन के दर्द, दमा, चर्म रोग और तनाव से पैदा होने वाली बीमारियों की चपेट में जल्दी आ जाते हैं। हालांकि इसमें से कुछ अनेक दशकों तक श्रम जारी रखते हैं पर पेशे के दबाव के चलते आमतौर पर उनकी कार्यक्षमता समाप्त हो जाती है।

कडलाडी ब्लाक के पोरपंदीपुरम गांव में 22 वर्षीय करुकवेल नाडार और उसके दो साथी थोड़ी बेहतर स्थिति में हैं उसने 3,000 रुपए का कर्ज और 150 पेड़ ठेके पर लिया है– एक ऐसे जमींदार से जो यहां रहता नहीं है। वे मिलजुल कर सितंबर में समाप्त होने वाले सीजन के छह महीनों तक काम करते हैं। प्रत्येक को हर रोज 40–50 बार पेड़ पर चढ़ना पड़ता है– कुछ को तो रत्नापंडी की तरह दिन में तीन–तीन बार चढ़ना पड़ता है। दुर्भाग्यवश, यह सौदा उनके पक्ष में नहीं है और इसे इस तरह तैयार किया गया है कि यह इनके पक्ष में हो ही नहीं सकता।

करुकेवल और उसके साथियों ने यह कर्ज अपने कमीशन एजेंट से 36 प्रतिशत सालाना की दर पर लिया है। वही व्यक्ति इनका होलसेलर भी है। इतनी बड़ी ब्याज की रकम देने में उन्हें दिक्कत होने लगी और इनके ऊपर काफी पैसा चढ़ गया। इसलिए

इन्हें बाजार की कीमत से कम में अपना गुड़ उसे बेचना पड़ा। चूंकि सरकार की दिचलस्पी खत्म करने में नहीं है, इसलिए तमिलनाडु के इस सबसे पिछड़े और गरीब इलाके में जहां पहले जमींदारी प्रथा लागू थी, इन लोगों को यहां प्रचलित थारागार प्रणाली से शायद ही राहत मिल सके।

करुकेवल का कहना है–'अगर हमारे पास कोई और उपाय होता तो हम इस काम को छोड़ देते। कोई और हुनर अथवा अवसर न होने के कारण उनके सामने और

करुकेवल नाडार को मौसम के दिनों में रोजाना तीन–तीन बार पचास पेड़ों पर चढ़ना उतरना पड़ता है। रामनाडड के ताड़ी निकालने वाले केवल अपने हाथों और पैरों का इस्तेमाल करते हैं। वे बचाव के लिए पेड़ और कमर के गिर्द कोई रस्सा भी नहीं बांधते जैसा कि केरल वाले बांधते हैं। अगर थोड़ा भी पैर फिसल जाय तो मौत के सिवाय कुछ भी न मिले।

कोई रास्ता ही नहीं है। सीजन के पहले दो महीनों में रोजाना 8 से 10 किलो रस इकट्ठा करके तीनों में से प्रत्येक हर महीनों 600 रुपए या इससे थोड़ा अधिक कमा लेते हैं। सीजन खत्म होते रस बनना बंद होने लगता है और तब वे दिन भर में महज एक–दो किलो ही रस निकाल पाते हैं।

हालांकि फायदा बिचौलिए को होता है पर गुड़ बनाने के दौरान जो भी खर्च आता है, वह टेपर को झेलना पड़ता है। कैल्शियम कार्बोनेट से बना दो लीटर पावडर तीन रुपए में मिलता है और इस पर उनका हर महीने 60 रुपए और कभी–कभी तो 90 रुपए तक खर्च हो जाता है। इसके अलावा रस को उबालने और पकाने के लिए ईंधन के रूप में लकड़ी की जरूरत पड़ती है। इसकी लागत घटती–बढ़ती रहती है पर 10–15 किलो गुड़ पैदा करने के लिए तकरीबन 15 रुपए ईंधन पर खर्च हो जाते हैं। करुकवेल का कहना है कि 'दरअसल ताड़ी तैयार करना ज्यादा सस्ता है। ताड़ी तैयार करने में इन मर्दों पर पैसे नहीं खर्च होते।'

चूंकि उन्हें प्रति किलो गुड़ पर महज 4–5 रुपए मिलते हैं, अगस्त और सितंबर में उनकी आमदनी में 5 रुपए से लेकर 8 रुपए तक की गिरावट आती है जबकि काम पहले ही की तरह करना पड़ता है। प्रति किलो गुड़ पर बिचौलिए को मोटे तौर पर 12 रुपए मिलते हैं जिसके लिए सारा जोखिम टापेर को उठाना पड़ता है। इस बीच अप्रैल और मई के महीनों में जो ठीक–ठाक आय होती है, उसे कर्ज तथा अन्य खर्चे अपनी चपेट में ले लेते हैं।

तो भी, इस मामूली आय से भी उन्हें कुछ सहारा ही मिलता है क्योंकि सितंबर के बाद उनके पास कोई काम नहीं होता। कर्ज के बोझ तले दबे इन लोगों के पास 3,000 रुपए का ऋण चुकाने का कोई साधन नहीं होता। बेमौसम की बारिश से वे सहमे रहते हैं क्योंकि इससे जो भी थोड़ी बहुत आमदनी की गुंजाइश रहती है, खत्म हो जाती हैं पनैयरी समुदाय के किसी भी व्यक्ति के पास कपड़ों का ऐसा एक भी सेट नहीं होता जो अच्छी हालत में हो।

जब सीजन नहीं होता तो यहां के ताड़ीवान रामनाडड की शोषणकारी नमक झीलों में कुली का काम करते हैं–थोड़े पैसों के लिए। ऐसा लगता है कि रामानाथपुरम (या रामनाडड) में विकास का यह जो रूप है, इसने समुदाय को पीछे छोड़ दिया है। साठ वर्ष की उम्र में भी कवाकुलम,के थंगावेलु नाडार को अपनी रोजी–रोटी कमाने के लिए रोज 20 से 25 पेड़ों पर चढ़ना पड़ता है। वह इस काम को पिछले 40 वर्षों से भी अधिक समय से कर रहा है।

लगता है कि कवाकुलम के ताड़ीबानों के कई परिवार इस गर्मी में यहां से तंजौर चले गए हैं। शायद वहां गैर कानूनी तौर पर ताड़ी निकालने का काम चल रहा हो। कइयों को ऐसे काम की जरूरत रहती है जिससे वे अपने कर्ज अदा कर सकें। रामनाडड में मैंने जिस भी पनैयरीनाडार से बातचीत की वह भारी कर्ज से लदा हुआ था। कुछ समय

बाद इस बात का कोई मायने नहीं रह जाता कि वे कितना गुड़ बनाते हैं। वे न केवल अपने कर्ज का भुगतान कर रहे हैं बल्कि अत्यंत कम दाम में बिचौलियों को पनाइवेल्लम भी बेच रहे हैं। यह उन्हें करना ही है। रोजाना के भोजन के लिए जो दूसरे कर्जे लेने पड़े हैं, उन्हीं का यह नतीजा है।

उन्हें जिस तरह का कठिन काम पूरा करना पड़ता है, उसका मतलब है कि वे अपने खानपान में एक सीमा से ज्यादा कमी नहीं कर सकते। रानी बताती है, "उन्हें मछली और भात चाहिए ही, इसलिए जिंदा रहने के लिए हमेशा कर्ज लेना पड़ता है।" इस तरह वे कर्ज के जाल में फंसते जाते हैं। फिर भी हमने देखा कि रत्नापांडी जितना 'माछ–भात' खाता है, वह उसके काम की भीषणता के मुकाबले बहुत कम है।

तमिलनाडु किसान सभा के एक कार्यकर्ता ने बातचीत के दौरान बताया, "उनका काम कठिनतम है, पैसा न्यूनतम है और खतरा अधिकतम है लेकिन कोर्ट भी विकास योजना उनके हालात में सुधार नहीं ला सकती। वैसे भी सरकार के पास इनके लिए कोई योजना है भी नहीं। उनकी हालत तब तक सुधर नहीं सकती जब तक हम कर्ज के व्यूह से उन्हें न निकालें, इन पेड़ों पर उनका नियंत्रण न स्थापित करा दें और अच्छी कीमतों के लिए संघर्ष न करें।'

ऊर्जा की गोड्डा शैली

ललमटिया, गोड्डा (बिहार): किशन यादव एक पैडल वाली साइकिल 1200 रुपए में खरीदता है। साइकिल का पैसा चुकता करने के बाद वह 200 रुपए और खर्च करके सीट और हैंडल के बीच के डंडे को और मजबूत बनाता है। फिर चेन को या तो निकाल कर अलग कर देता है या उसी में लटकते छोड़ देता है। इसके बाद उसकी सीट को उखाड़ कर टेढ़ा कर देता है जिससे सीट का मुंह आसमान की ओर हो जाता है।

अब यादव अपनी साइकिल इस्तेमाल करने के लिए तैयार है। चलाने के लिए नहीं–क्योंकि उसके लिए तो चेन की जरूरत पड़ेगी–बल्कि एक ट्राली के रूप में इस्तेमाल के लिए जिस पर वह 250 किलोग्राम तक कोयला लाद कर 40 से 60 किलोमीटर तक की दूरी तय कर सके। अपनी इस कमरतोड़ मेहनत के एवज में वह प्रतिदिन 10 रुपए तक कमाता है–जो बिहार में न्यूनतम मजदूरी का बमुश्किल तीसरा हिस्सा हुआ।

यादव ललमटिया से गोड्डा जाएगा और वापस आएगा–वहां तक चलने, आराम करने और माल पहुंचाने में पूरे तीन दिन लगेंगे। स्वरोजगार का इससे भी कठिन कोई रूप हो सकता है–सोचना कठिन है फिर भी गोड्डा के लगभग 3,000 परिवार इसी पर निर्भर हैं।

सभी कोयला वाले या साइकिल वाले (इसी नाम से वे जानते जाते हैं) एक पैडलया चेन नहीं हटाते पर आगे के डंडे को जरूर मजबूत कराते और सीट का मुंह ऊपर की ओर कर देते। यादव उनका मजाक उड़ाते हुए कहता है–"जल्दी ही समझ में आ जाएगा कि दाहिनी ओर वाली पैडिल टूट जाएगी और अगर चेन ढीला नहीं किया गया तो चलने में रुकावट पैदा होगी।"

कोयला बेचने के बाद ही यादव पैडिल और चेन को उनकी असली जगह लगाता है और फिर साइकिल से वापस ललमटिया पहुंच कर खाने–पीने का सामान खरीदता है। इस कठिन कवायद को वह हफ्ते में दो बार से अधिक नहीं कर सकता। कभी–कभी कोयला वालों की यह यात्रा बांका जिले में बौंसी तक, जो 60 किलोमीटर दूर है या 80 किलोमीटर दूर राजौन तक भी होती है। इस सारी यात्रा के दौरान वे पैर के जोर से इस भारी बोझ को साइकिल पर ठेलते हुए ले जाते हैं जिसमें शरीर का कचूमर निकल जाता है। आमतौर से कोयला वालों की साइकिलों पर 200 से 250 किलोग्राम का वजन होता है पर कुछ का दावा है कि वे इससे भी भारी वजन ढोते हैं।

250 किलोग्राम तक कोयला लाद कर चालीस किलोमीटर का सफर तय करना। इस कमरतोड़ मेहनत के एवज में इन्हें दिन भर में 10 रुपये से भी कम मिलते हैं – जो बिहार में निर्धारित न्यूनतम मजदूरी की बमुश्किल एक तिहाई राशि है।

सरकारी तंत्र उनके इस कारोबार को 'गैरकानूनी' कहता है। ऐसा क्यों? क्योंकि वे उन कोयला बीनने वालों से कोयला खरीदते हैं जो राजमहल कोयला खदान परियोजना, ललमटिया से निकले कचरे का जो पहाड़ तैयार होता है उसमें लगभग तीन प्रतिशत निचले दर्जे का कोयला होता है।

राजमहल परियोजना के एक बहुत बड़े अफसर ने बताया, ''सच्चाई तो यह है कि अगर कचरा बीनने वाले नहीं होते तो यह कोयला बिना इस्तेमाल हुए ही बर्बाद हो

जाता और अगर ये साइकिलवाले न होते तो यह कभी गोड्डा पहुंच ही नहीं पाता और वहां रहने वाले अधिकांश गरीब लोग कभी इतना सस्ता ईंधन पाते ही नहीं। यह तो एक राष्ट्रीय बचत है।'

मुद्दों के गड्डमड्ड हो जाने का खतरा है क्योंकि कोयले के खनन से संबंधित ढेर सारी गैर कानूनी गतिविधियां हैं। तो भी, कोयले के खान से निकलने और बेचने से संबंधित तीन मुख्य गैरकानूनी स्वरूप हैं:

- राजमहल परियोजना के विभिन्न डिपो से चोरी और एक स्थान से दूसरे स्थान भेजे जाने के दौरान कोयले की चोरी। लेकिन इसके लिए कभी किसी ने किसी साइकिलवाले पर आरोप नहीं लगाया।
- भ्रष्ट अधिकारियों की मदद से ताकतवर कोयला माफिया के नियंत्रण में चल रहा गैरकानूनी खनन। यह निश्चय ही यादव अथवा प्रह्लाद प्रसाद साह जैसे साइकिलवालों के जरिये संचालित नहीं है जो प्रतिदिन 12 रुपए से कम पैसे कमा रहे हैं।
- कचरे में से कोयला बीनने का काम बेहद गरीब लोग करते हैं। साइकिलवालों को कोयला उनसे (या उनको नियंत्रण में रखनेवाले दादाओं) मिलता है। यही वे लोग हैं, और इनमें अधिकांश औरतें हैं, जिन्हें अधिकारियों ने आमतौर पर 'राष्ट्रीय बचत के लिए जिम्मेदार माना है।

राजमहल के एक वरिष्ठ अधिकारी ने स्वीकार किया कि किसी भी एक दिन लगभग 1000 साइकिलवाले काम में लगे होते हैं। इनमें से कोई भी हफ्ते में दो से ज्यादा फेरा नहीं लगा सकता। अगर पूरे साल में कोयलावालों द्वारा 'गैरकानूनी' ढंग से बेचे गए समूचे कोयले का हम हिसाब लगाएं तो भी यह ललमटिया में दो दिनों में होने वाले उत्पादन के बराबर नहीं आएगा।''

ललमटिया से चलकर चालीस किलोमीटर दूर गोड्डा वाले रास्ते पर मैं साइकिलवालों के पीछे पीछे चल दिया। हालांकि दूरी बहुत नहीं है पर उन्हें एक रात के विश्राम की जरूरत पड़ती है। अच्छे मौसम में जब यह शरीर को चूर कर देने वाली यात्रा है तो खराब मौसम में तो यह नर्क ही लगती होगी। वे धीरे–धीरे उस बेहद रद्दी सड़क पर आगे बढ़ रहे थे जहां उन्हें चढ़ाई पर प्रायः उस कमरतोड़ बोझ को ठेलना पड़ता था।

कोयलावाले लगभग 20 की कतार में साथ–साथ चलते हैं। इनका साथ–साथ चलना जरूरी भी है क्योंकि अगर कोई एक कहीं लड़खड़ाता है तो वह बिना किसी दूसरे की मदद के उठ ही नहीं सकता। इसके अलावा हर एक को लंबी चढ़ाई पर एक दूसरे की मदद की जरूरत पड़ती है। मैंने यादव को ऐसा ही एक रास्ता अपने दोस्तों की मदद से पार करते देखा। पार करने के बाद यादव ने एक मजबूत लकड़ी बोरे के नीचे लगा कर अपनी साइकिल को 'पार्क' किया और फिर पीछे आ रहे अपने साथी की मदद के

लिए गया।

कोयलावाले अपने साथ दो वक्त का खाना लेकर चलते हैं। खाने में थोड़ा सा चावल और उस पर छिड़की हुई गीली सब्जी होती है–दाल नहीं होती। अपना माल बेचने के लिए उन्हें जो तीन दिन बिताने पड़ते हैं, उसमें खाने पर और 15 रुपए इनके खर्च होते हैं।

गोड्डा के सिवान पर खाने के लिए जो ग्रुप रुका उनके साथ रहकर मैंने देखा कि इनके बीच जात–पात का भेदभाव नहीं है। ब्राह्मणों और राजपूतों को छोड़कर गोड्डा की लगभग सभी जातियां कोयले की 'रीसाइकलिंग' के धंधे में लगी हैं। मंतो मांझी हरिजन है जो प्रह्लाद और अहन साह के साथ है जो कि जाति से बनिया हैं। इसके अलावा इनके साथ यादव, कोइरी, संथाल तथा अन्य कई जातियों के लोग हैं। ऐसा लगता है कि आर्थिक जरूरतों ने तमाम सामाजिक सीमाओं को तोड़ दिया है।

इस जानलेवा धंधे से ये लोग क्यों चिपके पड़े हैं जबकि सरकारी विकास परियोजनाओं में ज्यादा पैसा मिल जाता है? क्या उन्हें पता नहीं है कि इस समय बिहार में दैनिक न्यूनतम मजदूरी रु 30.50 है? इस बात पर एक जोरदार ठहाका सुनाई देता है। मांझी ने बताया, "वह तो ठेकेदारों के लिए है। सरकारी काम में वे हमें कहां से इतना देंगे? 20 रुपए के लिए भी हमें दूसरा ही काम करना होगा।"

उनके अपने इस व्यापार का अर्थशास्त्र चौंकाने वाला है और अगर सतही तौर पर देखा जाए तो कोई भी धोखा खा सकता है। जब मैं पहली बार किशन यादव से मिला तो वह गोड्डा शहर में एक घरेलू औरत से 105 रुपया ले रहा था। एक बार की बिक्री में अगर इतना पैसा मिलता है तो क्या बुरा है? उनके साथ कई दिनों तक काम करने के बाद ही मैं जान सका कि इसमें इनकी कितनी कमाई है। कोयलावाले 250–300 किलोग्राम कोयला ललमटिया में 30 रुपये में खरीदते हैं। इसके बाद इनमें से प्रत्येक स्थानीय ठगों को 5 रुपये 'रंगदारी' का देते हैं। इसके बाद पुलिस को उन्हें 10 रुपए 'हफ्ता' देना पड़ता है। ललमटिया और गोड्डा के बीच पांच पुलिस चौकियां हैं और हर चौकी पर इनमें से प्रत्येक पर दो रुपये देने होते हैं। तीन दिन की इस यात्रा में खाने–पीने पर उनके 15 रुपये खर्च होते हैं।

अहन साह ने बताया, "अपनी साइकिलों के रख–रखाव पर हर बार हमारे लगभग 15 रुपए खर्च हो जाते हैं। साइकिल के बाल बियरिंग बड़ी तेजी से खराब होते हैं और हर तीन महीने पर साइकिल की ट्यूब और कभी–कभी तो टायर भी–बदलना पड़ता है।" लगभग 75 रुपए खर्च करने के बाद उस समूचे बोझ के एवज में गोड्डा में उन्हें 100 से 105 रुपए मिलते हैं (पटना में इसका उन्हें 300 रुपए तक मिल सकता हैं)। इस तरह उनके पास कुल 30 रुपए बचते हैं– तीन दिनों की कुल कमाई। चूंकि यह बोझा वे हफ्ते में दो बार से अधिक नहीं ढो सकते, उनकी साप्ताहिक आय 60–70 रुपए से ज्यादा अथवा 8–10 रुपए प्रतिदिन से ज्यादा नहीं हो सकती। अगर वे राजौन

जाएं तो 150 रुपया या इससे अधिक मिल सकता है लेकिन हफ्ते में दो बार करने वाली यात्रा की दृष्टि से देखें तो वह बहुत कठिन है।

गोड्डा के डा. पी.के. दाराधियार ने बताया कि 'साइकिलावालों को टी.बी., सीने में तेज दर्द, सांस संबंधी रोग तथा अन्य कई बीमारियां लग जाती हैं।' अपने मरीजों में प्रायः वह साइकिलवालों को पाते हैं। बीमारी के कारण प्रह्लाद साह एक महीने कुछ नहीं कर सका। कोयलावालों के साथ यह आम बात है। पुलिस ने उसकी साइकिल जब्त करने का फैसला किया और उसे अपनी साइकिल भी गंवानी पड़ी।

जिले के अधिकारी कोई ऐसी प्रणाली तैयार करने की उम्मीद में हैं जिससे गोड्डा कस्बे तक ट्रक से कोयला लाया जा सके। उनका कहना है कि तब साइकिलवाले कस्बे की सीमा के अंदर काम कर सकेंगे। कोयलावाले घबराए हुए हैं– उन्हें डर है कि इससे स्वरोजगार का उनका जुगाड़ भी खत्म हो जाएगा। यह जिंदा रहने की उनकी रणनीति है और इसे वे नहीं छोड़ना चाहते।

सरकारों का तख्ता पलटने वाली पत्ती

कांटारोली, सरगुजा (म.प्र.): वनस्पतिशास्त्री इसे 'डायसपायरोस मेलानाक्सिलोन' कहते हैं। निर्माता इसे बीड़ी कहते हैं। व्यापारी इसे मुनाफा कहते हैं, राजनीतिज्ञों के लिए इसका नाम है सत्ता और गरीबों ने इसे नाम दिया है अस्तित्व।

इसके अलावा जो अन्य लोग हैं, वे इसे तेंदू पत्ता कहते हैं और यह ऐसी पत्ती है जो मध्य प्रदेश में सरकारें पलटने की हैसियत रखती हैं।

एक मुद्दे के रूप में हो सकता है इसका कद उतना बड़ा न हो जितना 1993 के राज्य विधानसभा चुनावों में अयोध्या वाले मुद्दे का था। तो भी भारतीय जनता पार्टी के कुछ नेता अपने नुकसान के बारे में भ्रम फैलाते रहते हैं जो पत्ती के कारण उन्हें भुगतना पड़ा क्योंकि तत्कालीन मुख्यमंत्री सुंदरलाल पटवा ने सहकारी संघ के तौर पर तेंदू इकट्ठे करने के काम की अनदेखी करनी चाही।

उनके इन प्रयासों से गरीबों पर मार पड़ी और मुट्ठी भर निजी व्यापारियों को करोड़ो रुपए का फायदा हुआ। लाभ पाने वालों में से कुछ तो राज्य स्तर पर भाजपा के बड़े नेता थे। भाजपा के एक पटवा–विरोधी सदस्य ने बड़ी कटुता के साथ कहा, "पार्टी को अपने किये का भुगतान वोटों के रूप में करना पड़ा। सहकारी संगठनों को समाप्त करने और सारे एकाधिकार व्यापारियों जैसे निजी हितों के हाथों में सौंप देने से उन लोगों पर मार पड़ी जिनकी जिंदगी का यह आधार है।"

तो भी, सरकारी फैसले और वोटों के बीच यद्यपि संबंध काफी वास्तविक और ठोस है, इनका सीधे सीधे संबंध सरगुजा जिले के जंगलों में तेंदू की पत्तियां तोड़तीं गरीब आदिवासी महिलाओं के साथ जोड़ना आसान नहीं है।

जब जांजगीर गांव की प्यारी अथवा कांटारोली की पुतुली नाम की आदिवासी औरतें जब मई की एक सुबह 4.30 बजे सो कर उठती हैं और नींद पर काबू पाने से पहले ही चलना शुरू कर देती हैं। हमेशा की तरह इन पर हालांकि काम को बोझ पहले ही जैसा है पर इस बार ये अकेली नहीं हैं। इन पत्तियों को तोड़ने के लिए, जिन्हें बीड़ी बनाने के लिए भेजा जाता है, लाखों की संख्या में बेहद गरीब परिवार जुट पड़ते हैं।

सवेरे के 5.30 बजते–बजते कांटारोली गांव के निकट जंगल के सिरे पर–जहां साढ़े चार किलोमीटर चलने के बाद पहुंचा जा सकता है– एक अद्‌भुत दृश्य दिखाई देता है। दर्जनों मर्द, औरतें और बच्चे गजब की फुर्ती से हाथ चला रहे हैं और तेंदू पत्तियों को तोड़ कर इकट्ठा करते जा रहे हैं। ऐसा लगता है जैसे जंगल रूपी छत्ते पर मानव

रूपी मधुमक्खियों की एक छोटी–मोटी सेना मंडरा रही हो।

जैसे ही सीजन खत्म होने लगता है (जो छः हफ्ते से अधिक समय तक नहीं रहता) जंगल तक की दूरी बढ़ती जाती है, बच्चे जल्दी थकने लगते हैं और उन औरतों पर बोझ बढ़ता जाता है जिन्हें लौट कर अभी और भी कई कामों में जुट जाना है। फिर भी उन्हें पत्तियां तोड़ने जाना ही पड़ता है क्योंकि इससे जो भी आमदनी होगी उससे आने वाले और भी भयावह दिनों का खर्च चलेगा।

पुतुली मुझसे बताती है कि 'यह तो हमारे जिंदा रहने का मामला है।' पचास पत्तों के एक 'गड्डे' पर पत्ती तोड़ने वाले को 30 पैसे मिलते है। अगर पुतुली दिन भर में 100 गड्डा तोड़ लेती है तो वह 30 रुपए कमा सकेगी। सीजन जब होता है तो वह औसतन 80 से 100 गड्डियां तैयार कर लेती है। ऐसा बहुत ही कम हुआ है जब उसने 100 से ज्यादा गड्डियां तैयार किये हों।

मुझसे बात करते समय भी उसका हाथ एक क्षण के लिए भी नहीं रुका। लाखों बार किसी काम को दुहराते रहने से जो सहजता आ जाती है उसी सहजता के साथ उसका एक हाथ पत्तियों के गुच्छे पर जाता था और बिना किसी खास प्रयास के उसे तोड़ कर फुर्ती के साथ दूसरे हाथ में या बांह और गोद के बीच पहुंचा देता था। दूसरे हाथ में गट्ठर मोटा होने के बाद वह उन्हें लेकर उन दो डोलचियों में से किसी एक में डाल देती है जो उसके साथ का कोई एक लकड़ी के दोनों सिरों पर लटकाए अपने कंधे पर संभाले रहता/रहती है।

प्यारी ने अपनी बांह के नीचे दबे गट्ठर को संभालते हुए बताया, " मैं रोजाना 70 से 80 गट्ठे तोड़ लेती हूं।' पुतुली के परिवार में छः सदस्य हैं जिनमें चार बच्चे शामिल हैं। इनमें से प्रत्येक 50 पत्तियों के 20 से 30 गट्ठे इकट्ठा कर लेते हैं। चूंकि उसका पति लगभग 100 गट्ठा तैयार कर सकता है इसलिए शुरू के हफ्तों में परिवार के सभी छः सदस्य मिल कर औसतन 300 गट्ठे तैयार कर लेते है। इन दिनों में उसकी कमाई रोजाना 90 रुपए तक हो जाती है।

इसका मतलब यह हुआ कि अगले दो महीनों में वे जो भी पैसे कमाएंगे उसके मुकाबले सीजन के शुरुआती दो हफ्तों में वे ज्यादा कमा लेते हैं। दिन बीतने के साथ इस काम की दर में गिरावट आती जाती है।

तो भी इसमें कोई शक नहीं कि इन बेहद गरीब लोगों के लिए, खासतौर से भूमिहीन अथवा सीमांत किसानों के लिए, मई का महीना सबसे कमाऊ महीना होता है। कोई भी परिवार महीने में 2000 रुपए से अधिक कमा सकता है जो सरगुजा के लिए बहुत ही अच्छी रकम है और यह आय इस दौरान अन्य साधनों से की जाने वाली आय के अतिरिक्त है।

पत्ता इकट्ठा करने का काम दिन में लगभग 11 बजे समाप्त हो जाता है पर उनका काम न तो पत्ते तोड़ने के साथ समाप्त होता है और न उन्हें भुगतान ही तुरत

कांटारोली में जंगल में तेंदू पत्ता तोड़ना। 50 पत्तियों का एक गड्डा तैयार करने पर पुतुल को कुल 30 पैसे मिलते हैं। फिर भी तेंदू पत्ता तोड़ना यहां के गरीबों की आय का मुख्य साधन है। बेहद फुर्ती के साथ हाथ चलाते हुए सीजन के शुरू के हफ्तों में एक परिवार कुल मिला कर 300 गड्डा तैयार कर लेता है।

मिलता है। मैंने गौर किया कि थोड़ा बहुत ऊपरी लाभ तब मिलता है जब सवेरे 5.30 बजे से 11 बजे तक पत्ते तोड़ने के बाद हम घर लौटते हैं। कोई नौजवान एक पेड़ के तने पर बड़ा पत्थर मारता है और उससे झड़कर गिर रहे तेंदू फल को लूटने के लिए बच्चे दौड़ पड़ते हैं। वापस झोंपड़े में आकर जब औरतें खाना पकाने, सफाई करने और अच्छी–खासी दूरी से पानी भरने सहित सारे कामों से फुरसत पा जाती हैं तब पत्तों को छांटने का काम शुरू होता है।

डोलची में से पत्तों को निकालने के बाद, वे उन्हें बड़े करीने से 50–50 के समूह में रखती हैं और इनको अलग अलग बंडलों में बांधती हैं। इस काम में भी कुछ घंटे लगते हैं। यहां फिर समूचा परिवार एक इकाई की तरह बैठता है लेकिन मां और बेटियों को ही ज्यादा काम निबटाना पड़ता है। हालांकि आमतौर पर बंडलों में गांठ लगाने का काम मर्द करते हैं।

साढ़े चार बजते–बजते वे लोग 'फाड़' की ओर चल देते हैं जो तेंदू पत्तियों का बाजार है। इस बाजार का इंचार्ज, जिसे फाड़ मुंशी कहते हैं, प्रत्येक के गट्ठर की जांच

करता है और हिसाब लगाता है कि कितना भुगतान किया जाना चाहिए। वन विभाग सीजन के दौरान समूची प्रक्रिया को आसान बनाने का प्रयास करता है।

फाड़ में लाये गये गट्ठरों को लंबी–लंबी पंक्तियों में रखा जाता है– कभी–कभी तो सारा मैदान ही भर जाता है। जंगल की ओर से दर्जनों विभिन्न दिशाओं से फाड़ तक लोगों के आने का दृश्य अत्यंत रोमांचक होता है। फाड़ मुंशी नियम पूर्वक प्रत्येक 100 बंडल में से 20 बंडल चुरा लेता है। लगता है इस घटिया हरकत को किसानों ने चुपचाप स्वीकार कर लिया है। प्यारी कहती है, "हम कर भी क्या सकते हैं! वह तो यहां का मालिक है।"

पहले, निजी ठेकेदार प्यारी, पुतुली तथा उनके परिवारों आदि से कुछ पैसे देकर सीधे पत्तियां खरीद लेते थे। मौजूदा प्रणाली कोई आदर्श प्रणाली तो नहीं है पर लालची व्यापारियों के चंगुल से इन्हें थोड़ा दूर रखती है। पुरानी प्रणाली में जंगलों पर बाहरी तत्वों का अतिक्रमण इतना बढ़ा कि 1964 में तेंदू पत्ता इकट्ठा करने के काम का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

फिर समूचे क्षेत्र को कुछ व्यक्तियों को किराये (लीज) पर दिया गया जिससे निजी ठेकेदारों द्वारा जंगलों की लूट बढ़ गई। इस मोर्चे पर उथल–पुथल के दौरान मध्य प्रदेश की कुछ सरकारों ने पाया कि तेंदू पत्ते की कीमत सत्ता की कीमत हो सकती है। जैसे–जैसे व्यापारियों के मुनाफे में वृद्धि होती गई, गरीबों की दुर्दशा बढ़ती गई।

1988–89 में मुख्यमंत्री अर्जुन सिंह ने इस नागफांस को तोड़ना चाहा। समूची प्रक्रिया का मौजूदा तीन–स्तरीय प्रणाली में सहकारीकरण कर दिया गया। इसके आधार में ग्राम स्तर के प्राथमिक कोऑपरेटिव हैं जिनके जिम्मे पत्ते इकट्ठा करना, सुखाना और उत्पाद की है।

दूसरे स्तर पर ऐसे सहकारी संगठनों का संघ है जो इसके परिवहन और भंडारण की देखरेख करता है। सबसे ऊपर के स्तर पर एक शीर्ष संस्था 'मध्य प्रदेश माइनर फारेस्ट प्रोड्यूस फेडरेशन' है जो प्रति वर्ष तेंदू पत्ते के लगभग 50 लाख थैलों के विक्रय और विपणन के लिए जिम्मेदार है।

शिर्ष संस्था प्राथमिक सहकारी संगठनों द्वारा भुगतान के लिए धन की व्यवस्था करती है–इसके लिए प्रतिवर्ष लगभग 150 करोड़ रुपए चाहिए–और बीड़ी निर्माताओं के लिए पत्तों की नीलामी की भी व्यवस्था करती है।

राष्ट्रीय स्तर पर पैदा होने वाले तेंदू पत्ते का लगभग 50 प्रतिशत अकेले मध्य प्रदेश में होता है जो कच्चे माल के रूप में 325 करोड़ रुपए मूल्य का हुआ। लेकिन इसका अधिकांश भाग दक्षिण के राज्यों को चला जाता है।

अपने शासनकाल के दौरान पटवा सरकार ने व्यापारियों का पक्ष लिया जिससे गरीबों का काफी नुकसान हुआ और राजस्व के मामले में मध्य प्रदेश पर काफी चोट पड़ी। ऑडीटरों के अनुसार सरकार को 55 करोड़ का घाटा हुआ जबकि अन्य स्रोतों के अनुसार

यह घाटा 200 करोड़ रुपए से ज्यादा का था।

शायद ही किसी के संदेह हो कि भाजपा की सरकार को 1993 के अंत में इस सौदे का काफी खामियाजा उठाना पड़ा। महत्वपूर्ण बात यह है कि नई कांग्रेस सरकार के सत्ता में आते ही पहला काम भाजपा सरकार के किये को उलटने का किया। तबसे भाजपा के खिलाफ कांग्रेस के हाथों में 'तेंदू घोटाला' एक बड़ा हथियार बना हुआ है।

सरगुजा से रवाना होते समय मैंने देखा कि पैसों के भुगतान में देर होने के कारण कुछ जगह विरोध के स्वर उठ रहे हैं हालांकि कुछ जिलों में यह प्रक्रिया ठीक ढंग से संपन्न लगती है। फिर भी अगर कहीं कोई गड़बड़ी है और उसे कांग्रेस सरकार गंभीरता से नहीं लेती तो यह बुद्धिमानी नहीं होगी?

आमतौर से बीड़ियां जल कर खत्म हो जाती हैं। पर जहां पत्तों का मामला है, कभी-कभी सरकारों पर बन आती है।

बिरहोरों का विलुप्त होता संसार

झबहर, पलामू (बिहार): अखू बिरहोर की विधवा पत्तियों और घास पात से बनी अपनी 'कुंभा' या झोपड़ी के बगल में चुपचाप बैठी है। बिरहोर बस्ती पलामू जिले के बालूमठ ब्लाक में स्थित झबहर गांव के बिलकुल बाहर है। झबहर के लोग, जिनमें से कुछ ने जिला मुख्यालय डाल्टनगंज के शानदार बंगलों को देखा है, इन 'कुंभों' को एयरकंडीशंड कहते हैं वे ऐसा क्यों कहते हैं, यह हमें उस समय पता चला जब छोटानागपुर से आने वाली ठंडी हवाएं इन झोपड़ों से होकर गुजरीं और ठंड से हमारी हड्डियां कांप गयीं।

बिरहोर भी उसी आस्ट्रो-एशियाटिक भाषाई समूह के हैं जिनमें हो, संथाल या मुंडा जनजाति के लोग आते हैं। वे जंगल (बिर) के लोग (हो) हैं। छोटानागपुर क्षेत्र की खानाबदोश जाति के ये लोग मुख्य रूप से पलामू, रांची, लोहदगा, हजारीबाग और सिंहभूम के आसपास विचरते रहते हैं। कई मामलों में बिरहोर लोग अजीबो गरीब प्राणी हैं।

इनकी जाति भी समाप्त होती जा रही है। 1971 की जनगणना में बताया गया कि उस वर्ष इनकी संख्या लगभग 4,000 थी। अब वे महज 2000 के आस-पास हैं। हो सकता है इससे भी कम हो। इसमें उड़ीसा के लगभग 144 और मध्य प्रदेश के 670 भी शामिल हैं। बेशक इनका मुख्य समूह बिहार में है। इस राज्य में 1971 की जनगणना के समय इनकी संख्या 3,464 थी। 1987 में बिहार के एक सरकारी अध्ययन के मुताबिक इनकी संख्या घटकर 1,590 हो गई थी। मध्य प्रदेश में इनकी संख्या 1971 में 738 से घट कर 1991 में 670 हो गई थी।

इनके समाप्त होते जाने की वजह उन जंगलों का धुंआधार ढंग से विनाश है जिन पर ये निर्भर हैं। इनकी जरूरतों अथवा इनके अजीबोगरीब स्वरूप पर ध्यान दिये बिना तैयार की गयी विकास प्रक्रिया से कोई मदद नहीं मिली। बिरहोर मुख्य रूप से शिकार जुटाने वाली जाति रही है। वे रस्सियां बनाने और लकड़ी का काम भी करते रहे हैं। जंगलों को 'आरक्षित' कर दिये जाने के बाद से वे न तो लकड़ी काट सकते थे और न रस्सी बनाने के लिए रेशा निकाल सकते थे। वे जो समान तैयार करते थे उनकी कीमत इतनी कम मिलती थी कि उनकी लागत भी नहीं निकल पाती थी। जब कुछ इलाकों में जंगलों की जबर्दस्त कटाई होने लगी तो शिकार के काम से भी इनकी छुट्टी हो गई। प्राकृतिक विपदा या संकट के समय सबसे ज्यादा मार इन पर ही पड़ती है।

उस खामोश बैठी औरत की ओर इशारा करते हुए सुखरा बिरहोर ने कहा,

उसकी ओर देखिए। पिछले साल जब सूखा पड़ा, हम लोग बर्बाद हो गए। उसका पति अखू भूख से मर गया। खाना और लाल कार्ड हम तक पहुंचा ही नहीं।" लाल कार्ड एक आपातकालीन राशन कार्ड है जिसे अकाल अथवा अकाल जैसी स्थिति में बांटा जाता है। पलामू के एक वरिष्ठ अधिकारी ने **1992** में इन कार्डों को मंगाने की बुद्धिमानी दिखाई। सरकारी तौर पर अकाल के नियम लागू नहीं हुए थे लेकिन संकट काफी गंभीर था। फिर भी बिरहोरों को ये कार्ड नहीं मिले।

सुखरा बिरहोर बताता है, 'हम लोगों को एक दो कार्ड झबहर के कुछ अच्छे लोगों के कारण मिल सका था। कोई और आया ही नहीं।" संख्या में कम, निरक्षर और बेहद पिछड़े होने के कारण बिरहोर अपनी आवाज उस समाज के कानों तक नहीं पहुंचा सकते थे जिसकी इनको सुनने में कोई दिलचस्पी ही नहीं थी।

जनजाति के बारे में अज्ञानता से भी काफी गड़बड़ हुआ। इसी कारण बिरहोरों के बारे में जनगणना का आंकड़ा भी गलतियों से भरा है। यहां के लोग बिरहोर हैं। उड़ीसा के सुंदरगढ़ जिले में स्थानीय लोग इन्हें मनकिदी कहते हैं। संबलपुल जिले में ये मनकिर्दिया हो जाते है। नाम का यह दोनों लेबुल बंदरों को पकड़ने में इनकी निपुणता के कारण है। चूकि बंदर प्रायः फसलों और फलों को बरबाद करते रहते हैं, स्थानीय लोग बंदरों को पकड़ने के लिए बिरहोरों को इस काम में लगाते हैं। जंगलों के खत्म होने के साथ उनका यह काम भी खत्म हो गया।

1971 में, इस खानाबदोश समूह को उड़ीसा में तीन अलग–अलग जनजातियों–बिरहोर, मनकिदी और मनकिर्दिया– के रूप में गिनती करके काम समाप्त कर दिया गया। इस गलती को **1981** में दुरुस्त किया गया और इनकी गिनती एक जनजाति के रूप में की गई। इस तरह उस राज्य में बिरहोरों की संख्या में **44** प्रतिशत का 'इजाफा' हो गया जबकि सचाई यह थी कि उनका समूह कम होता जा रहा था। उड़ीसा सरकार ने इस बढ़ोतरी पर अपनी पीठ थपथपायी। इसलिए बिरहोरों के बारे में आंकड़ा बेहद अविश्वसनीय है।

शिकारी के रूप में बिरहोर लोग बड़े–बड़े जंगलों के साथ अपने जीवन की भरपूर संगति बैठा कर रहते थे। जंगलों का उन्होंने कभी फिजूल इस्तेमाल नहीं किया और हमेशा वे विवेक से काम लेते रहे। यहां तक कि कायदे से देखा जाए तो उनकी बस्तियों में भी दस से ज्यादा झोपड़ियां नहीं दिखाई देतीं। उनकी ये बस्तियां जंगल में चारों तरफ फैली रहती हैं। इससे फायदा यह होता है कि जो विभिन्न समूह हैं उनको जंगल के संसाधनों में हिस्सा बंटाने का समान और उचित अवसर मिल जाता है। आज अपनी पैतृक भूमि बिहार में वे जंगलों की अभूतपूर्व कटाई और 'विकास' के शिकार हो गए हैं।

झबहर से बाहर बिरहोर कालोनी का कोई भी बच्चा स्कूल नहीं जाता है। महिला साक्षरता नहीं के बराबर है और राजू बिरहोर का मानना है कि इन सभी इलाकों में आदिवासियों के मामले में यही बात देखने को मिलेगी। वह बताता है कि हमलोग अपने

बच्चों को स्कूल भेजना चाहते हैं लेकिन हमारे पास इतने पैसे ही नहीं हैं कि हम उन्हें भेज सकें। रामवृक्ष बिरहोर ने कहा कि खाने के लिए तो पैसे ही नहीं होते फिर स्कूल कहां से भेजें। इन बस्ती में रहने वाले लोगों के चेहरों को देखें, खासतौर से बच्चों के चेहरों को देखें तो साफ–साफ पता चलता है कि इन पर कुपोषण का कितना गहरा असर है। यहां के एक राजनीतिक कार्यकर्ता नरेंद्र चौबे ने बताया कि इन लोगों के यहां बाल मृत्युदर भी बहुत ऊंची है। इलाके के अन्य समुदायों के मुकाबले इनके बच्चे बहुत कम दिनों तक जिंदा रह पाते हैं।

इनकी इस दुरावस्था के लिए शराबखोरी ने भी काफी योगदान किया है। बावजूद इसके यहां अपराध नहीं है। झबहर पंचायत के एक सदस्य ने बताया कि ये लोग तो अद्भुत प्राणी हैं। अगर इन्हें पता चल जाता है कि एक मील दूर पर भी कहीं कोई डकैती वगैरह पड़ रही है तो वे इसे अपना व्यक्तिगत मामला मानते हुए लाठी डंडा लेकर दौड़ पड़ते हैं। मैंने आज तक किसी बिरहोर को अपराध करते हुए नहीं देखा। झबहर के लोग बिरहोर के प्रति असाधारण रूप से उदार हैं। बेशक पलामू और हजारी बाग के अलावा इन लोगों को आमतौर पर उपेक्षा का ही शिकार होना पड़ा है।

जहां तक सरकारी कार्यक्रमों की बात है इनमें से ज्यादातर बेकार ही साबित हुए हैं। इसे आप यह भी कह सकते हैं कि सरकारी कार्यक्रमों को भ्रष्ट तंत्र ले उड़ता है। आवास योजनाएं विनाशकारी साबित हुई क्योंकि जिन वास्तुकारों ने इनके लिए मकानों की योजना तैयार की थी उन्होंने कभी बिरहोर लोगों को देखा ही नहीं था। उन्हें इनकी व्यावहारिक विशिष्टताओं की भी कोई जानकारी नहीं थी। इन आदिवासियों की स्वास्थ्य संबंधी चिंताजनक स्थिति को देखते हुए सरकार ने कुछ योजनाएं तैयार कीं लेकिन अफसरों और उनके दलालों ने इन योजनाओं के लिए निर्धारित रकम को हड़प लिया।

झबहर गांव के एक निवासी ने हंसते हुए कहा कि "यहां तक कि इनके पास तीसरी फसल भी नहीं पहुंच सके।" मैंने उत्सुकतावश पूछा– तीसरी फसल का क्या मतलब? मुझे तो अभी तक केवल दो ही फसलों की जानकारी है। मैंने गौर किया कि उसे इस सवाल की उम्मीद थी। उसने बताया–"इस इलाके में तीसरी फसल है सूखा राहत। इसके लिए बहुत ज्यादा पैसा मिलता है लेकिन इस फसल को आमतौर से ब्लाक स्तर के अफसर और उनके ठेकेदार दोस्त काट ले जाते हैं। केवल मामूली सा हिस्सा जनता तक पहुंचता है। अब उस मामूली से हिस्से में से बिरहोर लोगों को क्या मिले? वे तो जंगल में कंदमूल और बेर, मौसमी फल आदि खाकर जिंदा रहते हैं और कभी–कभी तो कई–कई दिनों तक भूखे ही रह जाते हैं।'

जब हमने रामवृक्ष बिरहोर को 'देशज लोगों के अंतर्राष्ट्रीय वर्ष **(1993)**' के बारे में बताया तो उसे बहुत आश्चर्य हुआ। क्या सचमुच यह हमलोगों के लिए बनाया गया था? उसने सवाल किया। फिर कुछ देर सोचने के बाद उसने कहा–'ऐसा नहीं हो सकता। अगर ऐसा होता तो हम अभी तक इस हालत में नहीं पड़े रहते। उसने अपना

सामान उठाया और चुपचाप वहां से चला गया। शायद अब समय हो गया था कि वह जाकर किसी चूहे को अपने जाल में फंसाए और कम से कम देशज लोगों के एक परिवार को कई दिनों की भूख से मुक्ति दिलाए। ठीक ऐसे ही समय इस विषय पर की गई विश्व स्तर की तमाम घोषणाएं, इस पर लिए गए ढेर सारे प्रस्ताव और इस पर आयोजित होने वाले बड़े–बड़े सेमिनारों की व्यर्थता का अहसास होता है। चौबे ने कहा–जहां तक मुझे जानकारी है इस क्षेत्र में कभी किसी बिरहोर का नाम मतदाता सूची में नहीं रहा। यह समूह भारतीय समाज के सबसे निचले हिस्से में रहता है।

खरगोश पकड़ना, रस्सियां बुनना, तैयार होने पर कुछ डोलचियां बेच देना–इन गतिविधियों को देखते हुए लगता है कि बिरहोर लोग अभी किसी दूसरे युग में रह रहे हैं। उनके अंदर जमा पूंजी रखने की प्रवृत्ति नहीं है और उनका जीवन आत्मसम्मान से भरा रहता है। अखू की विधवा ने मुझसे बातचीत के दौरान कहा–'हमने कभी किसी से भीख नहीं मांगी। उन्होंने यह कहा था कि अगर सूखा पड़ेगा तो सबकी मदद की जाएगी। ऐसा नहीं हुआ। हमारे पास न तो पैसा था और न खाना था–हम उपवास करते रहे और उसकी मौत हो गई। यहां तक कि हम अपने पुरखे जंगल से भी कुछ नहीं ले पाते हैं क्योंकि अब यहां भी हमारी जरूरतें कम से कम पूरी होती हैं। अगर जंगलों का विनाश हो गया तो यह निश्चित जानो कि बिरहोरों का भी विनाश हो जाएगा।

उड़ीसा और बोझ की ईंटें

बोलांगीर (उड़ीसा) **और विजयनगरम्** (आंध्र प्रदेश): आंध्र प्रदेश के विजयनगरम् के इस ईट भट्ठे वाले इलाके में हर चीज के ऊपर ईट से निकली धूल की पर्त जमी है। कम उम्र के मजदूर गड्ढों में खड़े हैं, वहां से लगभग बीस किलोग्राम वजन की ईंटें उठाकर बाहर ले जा रहे हैं और एक बूढ़े आदमी को सौंपते जा रहे हैं। यहां जो लोग काम कर रहे हैं उनका पूरा शरीर धूल से पटा हुआ है और जैसे ही वे एक बार धूल झाड़कर अपने को साफ सुथरा करते हैं दूसरे क्षण फिर उनका वही रूप हो जाता है। इनमें से कइयों को गंभीर खांसी की शिकायत है और कइयों की हालत ऐसी है कि ऊपर से भले ही पता न चले लेकिन सांस संबंधी खतरनाक समस्या की चपेट में वे आ चुके हैं।

गड्ढे के पास खड़ा आंध्र प्रदेश का सुपरवाइजर भी तेलुगु में नहीं बोलता है। इसकी वजह यह है कि जो भी मजदूर वहां काम कर रहे हैं उनमें से लगभग सभी उड़ीसा के कालाहांडी–नवापाडा और बोलांगीर क्षेत्रों से आए हैं। अपने घर में भूख की मार से बचने के लिए वे आंध्र प्रदेश के ईंट भट्ठों में गुलामी करने के लिए अभिशप्त हैं। इस मुसीबत में भी रानानाहक को उस समय बड़ी खुशी हुई जब उसे पता चला कि मैं कुछ ही दिनों पहले नवापाडा में उसके गांव तारपोड से होकर लौटा हूं। उसने पूछा–जब आप वहां गए तो आपने क्या देखा? गांव वाले अच्छी तरह तो हैं न? नाहक टूटी फूटी हिंदी बोल लेता है। कालाहांडी क्षेत्र के बहुत सारे लोग खुद को उड़ीसा की बजाय छत्तीसगढ़ का मानने में सुख महसूस करते हैं।

इस बीच वह बूढ़ा आदमी ईट के भंडार की ओर बढ़ रहा है। यहां पड़े हर ईट का वजन लगभग ढाई किलो है और एक बार में वह बीस ईंटें उठाता है। दिनभर में वह गड्ढे से लेकर आग की भट्ठी तक 45 बार आता जाता है और दोनों के बीच की दूरी 25 से 50 मीटर के बीच की है। हर खेप में यह व्यक्ति 45 किलो वजन ढो रहा है। जब यह बूढ़ा व्यक्ति अकेले अथवा अपने परिवार के अन्य सदस्यों की मदद से लगभग दो टन ईट ढो चुका होगा तो इसे तकरीबन नौ रुपए मिलेंगे।

सुपरवाइजर ने बताया कि उसकी कमाई इतनी ही नहीं है। उन्हें ईट बनाने के लिए भी पैसा मिलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब नाहक के परिवार के पांचों सदस्य मिल जुलकर दिन भर में एक हजार ईंटें बना लेते हैं तो उन्हें 40 रुपए मिल जाता है। सुपरवाइजर ने आश्चर्य के साथ बताया–जरा देखिए कितने आराम से यह लोग दिन भर में 50 रुपए कमा लेते हैं। अगर उन ईंटों में से कोई ईट खराब हो गई अथवा बेकार

अमरु मांझी अपने परिवार के सदस्यों के साथ गड्ढे से लेकर आग की भट्ठी तक जब लगभग दो टन ईंट ढो लेता है तो उसे नौ रुपये मिलते हैं। ईंट बना कर वे कुछ और पैसे कमा लेते हैं। लेकिन दिन भर के बाद परिवार के प्रत्येक सदस्य के पास 12 रुपये से ज्यादा नहीं बचते।

साबित हो गई तो भट्ठा मालिक उस 40 रुपए में से ईंट की कीमत काट लेता है। ऐसा हर रोज नहीं होता कि वे ईंटें भी बनाएं और उन्हें ढोकर गोदाम तक ले भी जाएं। पड़ोस के विशाखापट्टनम् शहर के भवन निर्माताओं का मानना है कि इस इलाके की ईंटें आमतौर पर खराब किस्म की होती हैं।

अंततः यहां काम करने वाले परिवारों के प्रत्येक सदस्य प्रतिदिन 8 से 12 रुपए तक कमा लेते हैं। यह इस बात पर निर्भर करता है कि उनके परिवार के कितने लोग काम कर रहे हैं या उनकी मजदूरी में कितनी कटौती हो रही है। भट्ठा मालिकों का कहना है कि यहां के जो लोग पड़ोस के विजयनगरम् के भवन उद्योग से परिचित हैं वे कुछ एकड़ जमीन में ईंट भट्ठा बनाकर लाखों रुपए कमा रहे हैं।

इस इलाके से अपरिचित, यहां की भाषा से अनजान इनमें से बहुत सारे लोग खाने पीने की चीजों की खरीद के लिए ठेकेदार पर निर्भर रहते हैं। ठेकेदार उन्हें पड़ोस

के कस्बे की किसी ऐसी दुकान का पता दे देता है जहां से आमतौर पर उसका भी संबंध बना रहता है। इसीलिए यहां के कई घरों में (घरों से मतलब बमुश्किल पांच फीट ऊंची झोपड़ी जिसमें घुसने के लिए आपको घुटने तक झुकना पड़ जाए) जो चावल बनता है वह बेहद रद्दी किस्म का होता है। कंकड़ और चावल के अतिरिक्त तरह–तरह के अनाजों से मिला हुआ यह पदार्थ प्रति किलो ग्राम 7 रुपए की दर से यह लोग खरीदते हैं। रानानाहक ने बड़े भोलेपन के साथ कहा–सुपरवाइजर साहब बहुत मदद करते हैं। उन्होंने ही हमें वह दुकान दिखाई जहां से हम सारा सौदा खरीद कर लाते हैं। घासीराम ने बताया कि यहां कम से कम काम तो मिल जाता है। अगर हम बोलांगीर या नवापाडा में जाएं तो हम खाएंगे क्या?

विकल्प नामक गैर सरकारी संगठन के डॉक्टर एस.के.पटनायक का कहना है कि कालाहांडी–बोलांगीर क्षेत्र में बेरोजगारी की समस्या ने भयंकर स्थिति पैदा कर दी है। जमीन, मजदूरी और उत्पादन में लगातार गिरावट आने के कारण यहां के लोग विस्थापित होने के लिए मजबूर हो गए हैं। इस संगठन ने बोलांगीर के चार ब्लॉकों के पचास गांव का सर्वेक्षण किया। डॉक्टर पटनायक ने बताया कि जिन गांवों से लोग विस्थापित होकर बाहर गए हैं उनमें यह देखा जाता है कि हर पांच विस्थापित में से एक आंध्र प्रदेश के ईंट भट्ठों में काम करता है। इस रोजगार के लिए कभी–कभी वे चार सौ किलोमीटर तक की दूरी भी तय करते हैं।

पश्चिम उड़ीसा कृषिजीवी संघ के जगदीश प्रधान का कहना है कि कालाहांडी क्षेत्र में रोजगार की ऐसी स्थिति के लिए सरकार की विकास रणनीति जिम्मेदार है। यहां 1954 में औसत मजदूर के लिए 268 कार्य दिन होते थे (कुछ कारणों से 272 कार्यदिन को पूर्ण रोजगार माना जाता है) आज हालत यह है कि यहां का मजदूर वर्ष में महज 128 कार्यदिन पाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि कार्यदिवसों में 50 प्रतिशत की गिरावट आई है और यही वजह है कि इतने बड़े पैमाने पर लोग इस इलाके को छोड़कर बाहर जा रहे हैं। इसके अलावा परंपरागत सिंचाई प्रणाली के विनाश ने और भी ज्यादा क्षति पहुंचाई है। इतना ही नहीं जो लोग अनाज उत्पादन में लगे हैं उनको अपने उत्पादों की बहुत मामूली कीमत मिलती है और यहां जो विकास परियोजनाएं शुरू की गई हैं उनकी जड़ें जनता में नहीं हैं।

आंध्र प्रदेश रोजगार के केवल कुछ सप्ताह प्रदान करता है। इनमें से अनेक विस्थापित लोग रोजगार न होने की हालत में मध्य प्रदेश के रायपुर शहर में जाकर रिक्शा चलाते हैं। घासीराम ने याद करते हुए बताया कि रायपुर में खुशहाल दिनों में शाम होते–होते मेरे पास 15 रुपया आ जाते थे।

इतने जबर्दस्त शोषण के बावजूद इन मजदूरों में से कोई भी इससे मुक्ति का उपाय नहीं ढूंढ सकता। इंटरस्टेट माइग्रैंट वर्कमेंस (रेगुलेशन आफ इम्प्लायमेंट ऐंड कंडीशंस आफ सर्विस) ऐक्ट, 1979 के अंतर्गत इन्हें कोई राहत नहीं मिल सकती।

उड़ीसा के मुख्य श्रम आयुक्त बी.बी. मिश्र का कहना है कि अगर कोई व्यक्ति किसी ठेकेदार के जरिए नहीं बल्कि अपनी मर्जी से अपने गांव को छोड़कर विस्थापित होता है तो उसे इस कानून के तहत कोई राहत नहीं दी जा सकती है। उन्होंने बहुत जोर देकर कहा कि इस कानून में संशोधन किया जाना चाहिए। मिश्र ने ही इस तथ्य को भी रेखांकित किया कि इस कानून में उस राज्य के श्रम विभाग पर कोई जिम्मेदारी नहीं है जहां जाकर यह मजदूर काम कर रहे हैं।

साधारण शब्दों में कहें तो उड़िया मजदूरों को इसलिए इन सारी मुसीबतों को झेलना पड़ रहा है क्योंकि वे अपनी मर्जी से आंध्र प्रदेश पहुंचे थे। वे किस हद तक ठेकेदारों की चपेट में हैं इससे श्रम विभाग को कोई मतलब नहीं है। दूसरी बात यह है कि आंध्र प्रदेश के श्रम विभाग को उनके शोषण के लिए कानूनी तौर पर जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता।

वे कौन लोग हैं जो अपने घरों को छोड़कर चंद पैसों के लिए 400 किलोमीटर की दूरी तय कर रहे हैं विकल्प के सर्वेक्षण के अनुसार इनमें से 42 प्रतिशत भूमिहीन खेतिहर मजदूर हैं। 31 प्रतिशत ऐसे हैं जिनके पास एक एकड़ अथवा इससे भी कम जमीन है जबकि 16 प्रतिशत लोगों के पास दो एकड़ से कम जमीनें हैं। डॉक्टर पटनायक का कहना है कि संक्षेप में कहें तो इन विस्थापित भूमिहीन खेतिहर मजदूरों में से 90 प्रतिशत इसी तरह के हैं।

बूढ़ा अमरू माझी, जो इसी 10 प्रतिशत वाली श्रेणी में आता है फिर उस गड्ढे की ओर बढ़ रहा है। उसने बताया कि किसी जमाने में उसके परिवार के पास चार एकड़ से ज्यादा जमीन हुआ करती थी जो बाद में सूदखोरों द्वारा हड़प ली गई। अपने गांव बदकनी की चर्चा आने पर उसकी आंखों में एक चमक दिखाई देती है। लेकिन वह बातचीत करने के लिए अधिक समय तक रूक नहीं सकता। रानानाहक भी बातचीत करने में समय नहीं बरबाद कर सकता। सुपरवाइजर की निगाहें हम पर ही लगी हुई हैं और अभी कई खेप ईंटें ढोनी बाकी हैं।

बैलगाड़ियों पर मौन प्रतिबंध

बत्रा, सरगुजा (म.प्र.): मध्य प्रदेश का सरगुजा ही हिंदी भाषी क्षेत्र का ऐसा अकेला जिला क्यों है जहां आपको एक भी चलती–फिरती बैलगाड़ी नहीं मिलेगी? पड़ोस के समृद्ध बिलासपुर जिले की सड़कें इन बैलगाड़ियों से भरी दिखती हैं। सरगुजा की सीमा से परे पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार की ओर भी इन्हें पाया जा सकता है। लेकिन सरगुजा में, जो बिलासपुर से भी बड़ा है, एक भी बैलगाड़ी आपको दिखाई नहीं देगी।

भारत में बैलगाड़ी को एक तरह से देहाती क्षेत्र का प्रतीक मान लिया गया है। इसके अलावा यह एक ऐसा वाहन है जिसकी मदद से चार हजार करोड़ रुपए से भी अधिक की विदेशी मुद्रा की प्रतिवर्ष बचत होती है। इस अनुमान के आधार पर कहा जा रहा है कि अगर बैलगाड़ियों की मदद से अनाज को इधर–उधर ले जाने की बजाय तेल से चलने वाली किसी आधुनिक प्रणाली का इस्तेमाल किया जाता तो पेट्रोल के आयात पर इतने ही पैसे खर्च होते। समूचे देश में अनुमानतः डेढ़ करोड़ (बैल) गाड़ियां हैं। इनमें से लगभग 90 प्रतिशत गाड़ियों को बैलों के जोड़े खींचते हैं।

किसी विरोधी को "बैलगाड़ी मानसिकता" वाला कहना शहरी बहस का एक जुमला है। एक बार लोकसभा में एक प्रधानमंत्री ने अपने आलोचकों पर इन्हीं शब्दों से प्रहार किया था। क्या बैलगाड़ी इतनी वाहियात चीज है? भारत में रेल व्यवस्था और घरेलू विमान सेवा काफी अच्छी है जो दुनिया की सबसे बड़ी व्यवस्था मानी जाती है। इसके अलावा जल और सड़क परिवहन व्यवस्था भी बहुत अच्छी है। फिर भी बैलगाड़ियों की मदद से अनाज की जितनी मात्रा ढोई जाती है उसका महज एक तिहाई हिस्सा इन आधुनिक परिवहन साधनों की मदद से ढोया जाता है। लगभग एक दशक पूर्व इंडियन इंस्टीट्यूट आफ मैनेजमेंट बंगलौर के एम.एस. रामस्वामी और सी.एल. नरसिंहन ने इस तथ्य को रेखांकित किया था कि भारत में पशुओं की मदद से चलने वाली गाड़ियों से पूर्णकालिक अथवा आंशिक तौर पर लगभग दो करोड़ भारतीयों को रोजगार मिलता है। इस रोजगार के पारिश्रमिक के रूप में या तो उनको नकद पैसे मिलते हैं अथवा किसी और रूप में इसका भुगतान किया जाता है।

फिर क्या वजह है कि विशाल सरगुजा जिले में, जिसका क्षेत्रफल 23000 वर्ग किलोमीटर है और जो मध्य प्रदेश के किसी भी औसत जिले के क्षेत्रफल (7000 वर्ग किलोमीटर) से तीन गुना बड़ा है, बैलगाड़ियों का इस्तेमाल नहीं किया जाता? यहां की तो सड़कें भी बहुत खराब हैं और ऐसी हालत में इनकी यहां और भी ज्यादा जरूरत है।

इससे भी ज्यादा हैरानी की बात तो यह है कि आपको कई समृद्ध किसानों के अहातों में कुछ बैलगाड़ियां खड़ी दिखेंगी जिनका इस्तेमाल नहीं होता। कुछ तो बहुत पुरानी किस्म की हैं जिनमें लकड़ी का अच्छा काम दिखाई देता है।

सरगुजा के ग्रामीण क्षेत्रों में घूमते हुए उन तीन हफ्तों में मैंने लगभग सभी गांवों में यह सवाल किया। मेरे सवालों का जो जवाब मिला उनसे पता चलता है कि सरगुजा में बैलगाड़ियों के इस्तेमाल पर एक अलिखित मौन प्रतिबंध है। इसके पीछे मुझे कई कारणों को भी बताया गया।

कालीपुर गांव में लालता प्रसाद ने बताया—यहां के बैल बेहद कमजोर हैं। वे खेत तो जोत नहीं पाते फिर गाड़ी कैसे खींच पाएंगे? जब हमें खुद ही पेट भर खाना नहीं मिलता तो हम उनको कहां से खिलाएं। जो धनी लोग हैं वे सामान ढोने के लिए अस्थायी मजदूरों का इस्तेमाल कर लेते हैं और उन्हें आदमियों को खिलाने की जरूरत नहीं पड़ती। इस तरह देखा जाए तो बैलों की देखभाल करने के मुकाबले यह ज्यादा सस्ता पड़ता है।

यहां तक कि 1980 के दशक के शुरुआती वर्षों में किये गये एक सर्वेक्षण में यह अनुमान लगाया गया कि ग्रामीण भारत में किसी पशु की देख—रेख पर न्यूनतम वार्षिक लागत लगभग 1169 रुपए आती है। इस राशि का लगभग साठ प्रतिशत मवेशियों के लिए चारे का इंतजाम करने में लगता है। यद्यपि आधिकारिक तौर पर कोई ताजा अनुमान उपलब्ध नहीं है फिर भी यह समझा जा सकता है कि उस समय से आज तक की अवधि में देख—रेख की लागत में वृद्धि हुई होगी।

निश्चय ही यहां के बैल पड़ोस के विलासपुर के बैलों के मुकाबले बहुत कमजोर हैं। सूरजपुर के एडवोकेट मोहन कुमार गिरि ने बताया कि एक बार उन्हें पांच हार्स पावर के डीजल पम्प को 16 किलोमीटर तक ले जाने के लिए किराए पर एक बैलगाड़ी लेनी पड़ी। उस डीजल पम्प की ढुलाई बहुत कठिन साबित हुई। मुझे बैलगाड़ी के लिए 15 रुपए देने पड़े लेकिन उसे खींचने के लिए बैलों का किराया 100 रुपया देना पड़ा। लोग डरते हैं कि यहां की ऊंची नीची जमीन के कारण गाड़ियों में जुते बैल मर सकते हैं। इसलिए गाड़ी और बैलों के मालिकों ने तरह—तरह की शर्तें लगाई और सोलह किलोमीटर की यह दूरी सात घंटे से भी अधिक समय में पूरी की जा सकी।

सरगुजा के भूतपूर्व राजा एम.एस. सिंहदेव (जो फिलहाल राज्य योजना बोर्ड के उपाध्यक्ष हैं) का कहना है कि उनके पास इसकी कोई ठोस वजह नहीं है। वह सोचते हैं कि इसके मूल में कुछ और बातें हैं। मसलन ऐतिहासिक तौर पर देखें तो सरगुजा के बड़े—बड़े जंगलों में एक जमाने में बड़े खूंखार शेर रहा करते थे। उन्होंने बताया कि हमारी सड़कें जंगलों के बीच से होकर जाती हैं और मवेशियों की तरफ शेर का आकर्षण बड़ी तेजी से होता है। उनका मानना है कि कुछ गिनी चुनी गाड़ियां जिनका इस्तेमाल नहीं हो रहा है शायद किसी बैलगाड़ी योजना अथवा ऐसी ही किसी योजना के तहत लोगों

को दी गयी होंगी।

लेकिन देश के अन्य ऐसे हिस्सों में भी बैलगाड़ियां चलती ही हैं जहां खतरनाक जंगल हैं। बत्रा गांव में बलराम प्रसाद सिंह ने हमें एक और कारण बताया। इन्होंने जो कारण बताया उसमें भी कई बातें थीं जो अन्य लोग भी बताते थे। बेशक इसमें रोजगार की दर्दनाक स्थिति का थोड़ा जिक्र था। बलराम प्रसाद सिंह का कहना है कि इसमे कोई शक नहीं कि सड़कें खराब हैं, जंगली जानवरों का डर है और बैलों पर ज्यादा बोझ पड़ता है लेकिन बैलगाड़ियों के इस्तेमाल का अर्थ यह है कि आपके पास इतना अतिरिक्त उत्पादन हो रहा हो जिसे आप बाजार तक ले जाएं। यहां स्थिति ही दूसरी है। लोगों के पास इतना उत्पादन ही नहीं होता जिसे वे बाजार तक पहुंचाएं। चूंकि बाजार ले जाने और बाजार से लाने वाले सामान की मात्रा इतनी कम होती है कि वे अपने कंधे पर रख लेते हैं और पैदल ही सारी दूरी तय कर लेते हैं। उनका कहना है कि यहां का छोटा किसान इस हालत में नहीं है कि केवल अपनी खेती (कइयों के पास तो खेत भी नहीं हैं) से ही गुजर—बसर कर ले। वह छोटे—छोटे काम करके अपना पेट पालने लायक पैसे कमा लेता है। वह बड़े किसानों के यहां काम करता है और लोगों का सामान ढोता है। बैलगाड़ियों से उसकी आय पर ही उल्टा असर पड़ेगा। इसीलिए सरगुजा में हम बैलगाड़ियों का इस्तेमाल नहीं करते।

यह बात कुछ जंचती है। मंडी लगने के दिन सुनसान सड़कों पर भी लोगों की भीड़ देखी जा सकती है जो पीठ और कंधों पर अपना सामान लादे चले जा रहे हैं और जिसके लिए बैलगाड़ी की कोई जरूरत नहीं है। सरगुजा के कलक्टर आर.के. गोयल ने बताया कि यहां के लगभग एक लाख लोग साल में 125 दिनों से ज्यादा का रोजगार नहीं पाते। शेष दिनों में उनका जीवन संघर्ष चलता रहता है।

यहीं आकर मानव—परिवहन से होने वाली अतिरिक्त आय महत्वपूर्ण हो जाती है। इसीलिए जो किसान बैलगाड़ियों का इस्तेमाल कर सकते हैं वे भी ऐसा करने से खुद को बचाते हैं जिससे स्थिति और खराब न हो। भोपाल में एक वरिष्ठ अधिकारी ने इसे "जीविका चलाने वाली नैतिकता" का नाम दिया। एक अलिखित समझौता है कि जो लोग बेहतर स्थिति में हैं उन्हें ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए जिससे उन लोगों की जिंदगी पर असर पड़े जो गरीब हैं।

जिस प्रकार परिवहन के आधुनिक रूपों ने बैलगाड़ियों की भूमिका को पीछे ठेल दिया है उसी प्रकार मवेशियों से चलने वाली अन्य गाड़ियां भी बैलगाड़ियों के स्तर तक पहुंच गयी हैं। इनके कारण किसानों और मजदूरों की भूमिका भी कमजोर पड़ती जा रही है जो मजदूरी पर निर्भर रहते रहे हैं। भारत में एक गांव से दूसरे गांवों तक सामान लाने ले जाने का अस्सी प्रतिशत काम मजदूरों के द्वारा किया जाता है। यही वजह है कि परिवहन के बड़े साधनों को मान्यता कम मिलती है।

सरगुजा में लोग लम्बी—लम्बी दूरियां सर पर या कंधे पर बोझ उठाकर तय

सरगुजा में लोग असाधारण रूप से लम्बी दूरियां सर पर या कंधे पर बोझ ढो कर तय करते हैं। जो बेहद गरीब हैं उनके लिए बैलगाड़ी अपेक्षाकृत उन्नत और महंगी टेक्नालाजी। भारतीय किसानों में से केवल 40 प्रतिशत के पास काम करने योग्य एक जोड़ा मवेशी है।

करते हैं। वे प्रायः दूसरे के सामानों और उत्पादों को ढोते हैं। यहां एक बात और गौर करने लायक है कि अत्यंत गरीब लोगों के लिए बैलगाड़ियां भी अपेक्षाकृत विकसित और मंहगी टेक्नालॉजी है। भारत में जितने भी किसान हैं उनमें से केवल 40 प्रतिशत के पास काम करने योग्य एक जोड़ा मवेशी हैं। अन्य 60 प्रतिशत में से अधिकांश लोग किसी दूसरे से जानवर उधार लेते हैं और इसके बदले श्रम अथवा नकद धनराशि के रूप में वे भुगतान भी करते हैं। कुछ भूमिहीन मजदूरों के पास भी मवेशी होते हैं और वे इन मवेशियों को गाड़ियों में जोतकर किराए पर चलाकर कुछ आमदनी कर लेते हैं।

मध्य प्रदेश में चावल की खेती के मामले में सरगुजा काफी आगे है और इसकी उत्पादकता राज्य की औसत उत्पादकता से बहुत कम भी नहीं है। हालांकि यहां कुछ ही लोगों के हाथों में सारी संपदा केंद्रित है। यही वजह है कि अनेक लोग बेहद गरीबी की जिंदगी बिताते हैं और उनके पास ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे वे मंडी में ले जाकर बेच सकें।

सरगुजा की गरीबी का भी बहुत पुराना इतिहास है। सुल्तान वंश, मुगल वंश, मराठा और ब्रिटिश–इन सभी ने इस इलाके से टैक्स अथवा नजराना वसूल किया।

सुल्तानों और मुगलों ने इस इलाके को हाथियों के लिए पसंद किया। 1919 तक अंग्रेज भी यहां आकर बसने लगे जबकि वे पड़ोस के रियासतों से काफी पैसा उगाहते थे। प्रति वर्ष वे महज 2500, 500 और 387 रुपए क्रमशः सरगुजा, कोरिया और चंगभखर रियासतों से लेते थे।

18वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में मराठों ने कोरिया पर कब्जा कर लिया जो अब तक सरगुजा के अधीन था। यहां की जमीन इतनी उबड़–खाबड़ थी कि उन्होंने जान बूझकर समूचे क्षेत्र को अपने शासन के अधीन नहीं किया। इस छूट देने के एवज में उन्होंने कोरिया के राजा से महज दो हजार रुपए की मांग की। जब उन्हें यह पता चला कि उससे दो हजार रुपए भी नहीं वसूले जा सकते तो उन्होंने तय कर दिया कि अगले पांच साल तक वह हर साल दो सौ रुपए ही दिया करे। उन दिनों के गजट को देखने से पता चलता है कि यह राशि भी उन्हें नहीं मिल सकी और फिर यह मानकर कि यह राजा एक रुपए भी नहीं देगा उन्होंने कुछ मवेशी लेकर उसे मुक्त कर दिया। गजट के अनुसार उन्होंने पांच घोड़े, तीन बैल और एक भैंस की वसूली की।

इससे पहले उन्होंने राजा के मवेशियों को पकड़ रखा था लेकिन इनमें से ज्यादातर बेकार साबित हो रहे थे। यह देखकर मराठों ने उन मवेशियों को भी लौटा दिया और सुलह करके वापस चले गए।

आज भी बैलगाड़ियों की दृष्टि से देखें तो यहां के जानवर बहुत कमजोर हैं। करहाया गांव में एक व्यक्ति ने मुझसे कहा–यहां आदमी और बैल में क्या फर्क है। सरगुजा में मनुष्य भी भारी बोझ तले दबा एक जानवर ही है।

मुसीबतों का पहाड़

गोड्डा (बिहार): धर्मी पहाड़िया का कद चार फीट तीन इंच है और उसका वजन उसके सर पर लदी 40 किलोग्राम लकड़ी के वजन से भी कम है। वह अपने गांव सरकटिया से सात किलोमीटर की दूरी तय कर हफ्ते में एक या दो बार हाट में आती है। लेकिन यहां आने से पहले उसे 24 किलोमीटर दूर जंगल तक जाना पड़ता है जहां से जलौनी लकड़ी काटकर और उसका गट्ठर बनाकर वह यहां तक पहुंचती है। इस प्रकार उसे कुल 31 किलोमीटर की दूरी तय करनी पड़ती है। जो गट्ठर वह बेचने के लिए लाती है उससे उसे आठ या नौ रुपए मिल जाते हैं।

उसका रास्ता राजमहल की पहाड़ियों से घिरे उबड़–खाबड़ पगडंडियों से भरा है। लेकिन धर्मी को जिंदा रहने के लिए कम से कम हफ्ते में एक बार यहां आना ही पड़ता है। वह पहाड़िया जनजाति से है जिसकी इस देश में बहुत बुरी हालत है। पुराने संथाल परगना डिवीजन में फैले गोड्डा जिले में लगभग 20,000 पहाड़िया रहते हैं। कई दशकों के वायदों, योजनाओं और प्रगति के बावजूद उनकी हालत में कहीं से कोई भी सुधार नहीं हुआ है।

सूदखोर महाजनों और व्यापारियों के चंगुल में पड़े धर्मी और उसकी जैसी हजारों औरतों को अपनी गरीबी से छुटकारा पाने के लिए पेड़ों से लकड़ियां तोड़नी पड़ती हैं। अनेक पहाड़ियों के लिए लकड़ी आय का प्रमुख साधन है। कुछ ऐसी भी हैं जिन्हें लकड़ी की तस्करी करने वाले महाजनों के लिए काम करना पड़ता है। गोड्डा कॉलेज की डॉक्टर सुमन दरधियार का कहना है कि इसका नतीजा यह होता है कि बड़े पैमानों पर जंगलों की कटाई होती जा रही है और पर्यावरण का संतुलन बिगड़ता जा रहा है। डॉक्टर दरधियार का अध्ययन "इकोलॉजी ऑफ द पहाड़िया कम्युनिटी इन संथाल परगना" महाजनों के चंगुल में पड़े इन गरीब और असहाय लोगों के निष्ठुर शोषण से संबंधित है।

हाट में मैंने धर्मी को बताया कि मुझे इस बात का यकीन ही नहीं होता कि वह इतनी दूरी से इतना बोझ उठाकर आ रही है। हमारे चारों ओर अच्छी खासी भीड़ इकट्ठा हो गई थी जो इस बात पर मेरी हैरानी को समझ नहीं पा रही थी। किसी ने बताया कि अनेक औरतें तो इससे भी ज्यादा दूरी तय करती हैं। मैंने सोचा कि इसकी जांच की जाए। अगले दिन हमने अलग–अलग इलाकों में पहाड़िया औरतों के साथ रास्ता तय करने का फैसला लिया।

अगले दिन सवेरे छह बजे तेथरी गोड्डा के पहाड़ी रास्ते से जाते समय आधी दूरी तय करने के बाद हमें लगा कि यह कोई बुद्धिमानी वाला फैसला नहीं था। कुछ पहाड़िया गांव तक पहुंचने के लिए आपको दो–तीन किलोमीटर वैसी ही चढ़ाई चढ़नी पड़ सकती है जैसी पहाड़ों पर होती है। हमने ऊंचाई पर चढ़ते हुए आठ किलोमीटर की दूरी तय की। काफी देर तक चहलकदमी करने के बाद हमें पहाड़िया औरतों का एक समूह दिखाई दिया जो हाथ में हंसिया लिए हुए थीं और एक लाइन से जंगल की ओर जा रही थी। वे इतनी तेज चल रही थीं कि उनके साथ कदम मिलाकर चलना बहुत मुश्किल था। फिर भी हांफते हुए हम स्टेशन तक पहुंचे। ऊपर से हमने देखा कि औरतों के और भी कई समूह हैं जो या तो जंगल की ओर आ रहे हैं या जंगल से होकर गांव की ओर लौट रहे हैं। हर औरत के सर पर जलौनी लकड़ी का बड़ा सा बोझ है जो 30 से 40 किलोग्राम वजन तक का होगा।

*

पहाड़िया औरतें ऊपर से देखने पर बहुत स्वस्थ और पुष्ट लगती हैं लेकिन सच्चाई यह है कि इनमें से कुछ ही 50 वर्ष की उम्र तक जी पाती हैं। गोड्डा में पहाड़िया आबादी वाले अनेक गांवों में 50 की उम्र पार करने वाले औरतों या मर्दों में से बहुत कम दिखाई देते हैं। कुछ औरतें तो 45 भी नहीं पार कर पाती हैं।

गुही पहाड़िनी को जिस दिन लकड़ी लेकर हाट जाना होता है उस दिन वह 40 किलोमीटर से भी अधिक की दूरी तय करती है लेकिन उसकी छोटी सी जिंदगी में जितनी लंबी यात्राएं करनी पड़ती हैं। उसका यह महज एक मामूली हिस्सा है। उसे पानी लेने के लिए भी 6 से 8 किलोमीटर तक चलना पड़ता है।

उसने चेहरे पर मुस्कान बिखरते हुए कहा–"पानी का सोता यहां से बहुत दूर नहीं है।" (इसका अर्थ यह हुआ कि यह दूरी लगभग दो किलोमीटर है।) उसने बताया कि एक बार में चूंकि वह ज्यादा पानी नहीं ला सकती इसलिए किसी–किसी दिन उसे इस दूरी को तीन–चार बार पार करनी पड़ती है। सप्ताह में दो बार हाट तक जाने वाले दूरी के अलावा यह दिनचर्या है। हो सकता है कि पानी का सोता 'महज' दो किलोमीटर की दूरी पर हो। लेकिन यह रास्ता बहुत दुर्गम और उबड़–खाबड़ है जिससे सचमुच शरीर थककर चूर हो जाता है।

*

गुही का मामला कोई अनोखा मामला नहीं है। अधिकांश पहाड़िया औरतों को इसी तरह जिंदगी गुजारनी पड़ती है। जिस समय हम उस ढलान वाले रास्ते से नीचे उतर रहे थे जो बारिश की वजह से बहुत खतरनाक हो गया था तब हमें लगा कि इस पर चलने का मतलब क्या होता है। गुही जैसी पहाड़िया औरतें साल में जितनी दूरी तय

करती हैं उसे जोड़ा जाए तो यह दिल्ली से बंबई के बीच की दूरी के बराबर होगी।

यहां के लोग पहाड़ियों पर जगह बदल–बदल कर खेती करते रहे हैं। इससे उर्वरता बढ़ती है बशर्ते आप खेती के बाद उस जमीन को दस साल के लिए छोड़ दें ताकि वहां पहले की तरह जंगल उग आए और जमीन की उर्वरता फिर पुराने स्तर तक पहुंच जाय। किसी जमाने में पहाड़िया लोगों के खेती करने का यही तरीका था। लेकिन अब कर्ज के बोझ, आर्थिक दबाव तथा जिंदगी की जरूरतों ने उन्हें मजबूर कर दिया है कि वे जला कर उर्वरता बढ़ायें और दस साल से काफी पहले ही उस पर फिर खेती करने लगें। यह क्रम बिगड़ने से जंगल समाप्त होते गए। इसके अलावा एक ही जमीन पर जरूरत से ज्यादा खेती करने से मिलने वाले लाभ में भी लगातार गिरावट आती गयी।

यहां की पैदा हुई सेमें बंबई के बाजार में काफी मंहगी बिकती हैं। लेकिन इसका लाभ पहाड़ियों को नहीं मिलता। चंद्रशेखर पहाड़िया ने बताया कि मुझे अपनी फसल उस महाजन को देनी पड़ती है जिससे उसने कर्ज लिया था। इसका नतीजा यह है कि वह एक रुपए के बदले एक किलोग्राम अनाज ले लेता है। कभी ऐसा नहीं होता कि पहाड़िया लोग अपनी उपजाई फसल का खुद ही उपभोग करें। सारा अनाज महाजन के हाथों बेच दिया जाता है। डॉक्टर दरधियार ने अपने अध्ययन में अनुमान लगाया है कि पहाड़िया लोगों की आय का 46 प्रतिशत हिस्सा महाजन से लिए गए कर्ज की अदायगी में चला जाता है। इसके अलावा लगभग 39 प्रतिशत हिस्सा अप्रत्यक्ष रूप से उनके पास ही पहुंचता है। (जरूरी सामानों की खरीद के रूप में)।

*

औरतों के पीछे चलते हुए पहाड़ी से नीचे उतरते समय हम नंगी पहाड़ियों के दर्दनाक दृश्य को देख रहे थे। जिन गांवों से हम गुजरते थे वहां हमने देखा कि स्कूलों के नाम पर या तो खाली इमारतें पड़ी हैं अथवा इनका अस्तित्व केवल कागजों तक ही सीमित है। पहाड़िया लोगों में हमें कोई भी साक्षर महिला नहीं मिली।

यह बड़ा मुश्किल काम था कि महिलाओं से आगे 20 मीटर तक कोई बढ़ जाए और उनकी तस्वीरें ले। जैसे ही हमें महसूस होता था कि अब हम इस चिलचिलाती धूप और उनकी तेज चाल का मुकाबला नहीं कर सकते, वे किसी ढलानें पर रूक जातीं और पास के झरने से पानी पीने लगतीं। उनके ऐसा करने से हमें आराम मिलता, दम फूलते फेफड़ों को राहत मिलती और हमारा अहम् भी आहत नहीं होता। वे तो तीन घंटे से भी अधिक समय तक लगातार चलती रह सकती हैं।

डॉक्टर दरधियार के अध्ययनों से पता चलता है कि यहां जो सोते हैं उनके जल में आयोडीन की कमी है और वे बहुत खराब किस्म के हैं। उनका कहना है कि ऐसा लगता है कि यहां के लोगों के अस्वस्थ रहने की यह एक प्रमुख वजह है।

यहां काम लायक पानी की सप्लाई बिलकुल नहीं है। वर्षों से इस इलाके की जो

उपेक्षा हुई है उसी का यह नतीजा है। इसलिए पानी से होने वाले तरह–तरह के रोगों से पहाड़िया जनजाति के लोग पीड़ित हैं। यहां बहुत सारे ऐसे मामले मिलेंगे जो पेचिश, दस्त और लीवर बढ़ने से संबंधित हैं। ऐसे भी कई लोग हैं जो टीबी, गठिया और खून की कमी जैसी बीमारियों से ग्रस्त हैं। इसके अलावा यह क्षेत्र मलेरिया के लिए भी बहुत कुख्यात है। दोरियो गांव का एक बहुत पुराना निवासी गंधे पहाड़िया बताता है कि अगर यहां कोई बीमार पड़ जाता है तो आसपास एक भी अस्पताल नहीं है जहां उसका इलाज कराया जा सके। हम उस मरीज को चारपाई से बांधते हैं और फिर बांस की बल्लियों पर टांग कर उसे 15 किलोमीटर दूर तक ले जाते हैं तब कहीं किसी अस्पताल के दर्शन होते हैं।

औरतों ने अब तक पानी पी लिया था और वे हमारे सवालों का जवाब देने की कोशिश कर रही थीं। यहां पानी लाने की किसी औरत की क्षमता की जांच इस बात से होती है कि वह अपनी भावी ससुराल के लोगों के साथ कितनी मेहनत कर सकती है। पहाड़िया लोगों में औरतें ससुराल वालों के साथ रहने लगती हैं और इसके कुछ दिनों बाद शादी की रस्म पूरी की जाती है।

संदर पहाड़ी ब्लॉक के ऊपर सिदर गांव के एक बुजुर्ग एतरो पहाड़िया का कहना है कि पानी ढोने की क्षमता ही असली जांच है। किसी लड़की को तभी घर की बहू बनाया जाता है जब यह देख लिया जाता है कि उसके अंदर पानी ढोकर लाने की ताकत है या नहीं।

संथाल पहाड़िया सेवा मंडल के गिरिधर माथुर पिछले 14 वर्षों से इस जनजाति के बीच काम कर रहे हैं और वह महसूस करते हैं कि इस "प्रोवेशन" वाले पहलु को काफी बढ़ा चढ़ाकर बताया जाता है। वैसे वे यह भी मानते हैं कि पुरुषों के काम करने की क्षमता की इस तरह जांच नहीं की जाती। माथुर का यह भी कहना है कि ससुराल वालों के घर में जाने के बाद औरत भी किसी न किसी आधार पर पुरुष को अस्वीकार कर सकती है।

*

तेथिरीगोड्डा और भोडा खोटा के बीच की ढलान काफी फिसलन भरी है और यहां नुकीले पत्थरों की भी संख्या काफी है। पहाड़िया लोग इससे चिंतित नहीं होते। माथुर का कहना है कि यहां की सड़कें विकास की नहीं बल्कि शोषण की प्रतीक हैं। उनकी बात में दम है। हमने खुद भी देखा कि पहाड़िया लोग अगर मैदानी इलाकों के करीब हैं तो उबड़–खाबड़ रास्ते वाले गांवों में रहने वाले पहाड़िया के मुकाबले महाजनों की चपेट में वे ज्यादा हैं।

सरकार द्वारा चलाई गई विकास योजनाओं में कभी भी पहाड़िया लोगों को वह स्थिति नहीं दी गई जिसमें वे खुद यहां के बारे में निर्णय ले सकें। एक प्रयोग के तहत

कई पहाड़िया परिवारों को दो–दो गायें दी गईं। चूंकि इन लोगों के यहां दूध निकालने और बेचने की कोई प्रथा नहीं है इसलिए जाहिर है कि इनके दूध का इस्तेमाल केवल बछड़े ही कर सके।

पहाड़िया लोग दूध से बने उत्पादों का भी इस्तेमाल नहीं करते। दरअसल वे गाय का मांस खाते हैं और निश्चय ही कइयों ने इस तरह मिले कर्ज को हजम कर लिया। कुछ ने यह भी कोशिश की कि सुनसान इलाके में ले जाकर गाय को मार डाला। कुछ के साथ तो ऐसा भी हुआ कि उन्होंने कर्ज तो कभी नहीं लिया लेकिन कर्ज अदायगी की नोटिस उनके पास आ गई।

माथुर का कहना है कि सरकारी धन से यहां के ठेकेदारों के ही शरीर पर चर्बी चढ़ी है। भ्रष्ट अधिकारियों की उपेक्षा से परेशान होकर पहाड़िया को यहां के महाजनों के चंगुल में ही जाना पड़ता है। राजनीतिक तौर से जागरुक युवक मधु सिंह, जो पहाड़िया जनजाति का ही है, ने बताया कि अफसर तो आते हैं और चले जाते हैं लेकिन महाजन लोग हमेशा यहीं बने रहते हैं।

जहां तक राजनीतिक आंदोलनों का सवाल है, इनका बहुत सीमित असर दिखाई देता है। **1960** और **1970** के दशक में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चले एक आंदोलन ने पहाड़िया लोगों की कुछ जमीन को महाजनों के चंगुल से छुड़ाया लेकिन सरकार ने इस पर कोई कार्रवाई नहीं की और सारी जमीनें फिर महाजनों के हाथ में चली गईं। यहां कई गैर सरकारी संगठनों ने भी काम किया और इन संगठनों में से ऐसे भी बहुत सारे थे जिनकी नियत ठीक थी लेकिन इन्हें भी कोई सफलता नहीं मिली।

डॉक्टर दरधियार और उनके साथ काम कर रहे डॉक्टर पी.के. वर्मा का कहना है कि ये लोग घुमक्कड़ प्रवृत्ति के हैं। ऐसे लोगों को कुछ भी कर्ज देना खतरे से खाली नहीं है। सरकार इस तथ्य से इनकार करती है लेकिन यह तो मानती ही है कि इनको कर्ज देना जोखिम वाला काम है। सरकार ने और भी कई कार्यक्रमों की यहां घोषणा की है लेकिन इनसे भी ऐसा ही लगता है कि ठेकेदारों और महाजनों को ही फायदा मिलेगा पहाड़ियों को नहीं। मधु सिंह का कहना है कि हमारे जंगल तो गायब होते जा रहे हैं, हमारी जमीने हमसे छिनती जा रही हैं और हमारा दर्द बढ़ता जा रहा है।

*

जब हमलोग पहाड़पुर से आगे हाट में पहुंचे तो हमने देखा कि जहां से हमने उन औरतों को सबसे पहले देखा था वहां से यह दूरी **24** किलोमीटर की है। इसका मतलब सारे दिन में हमने **40** किलोमीटर का सफर तय किया। अगले आठ दिनों में मुझे इसी प्रक्रिया को दुहराना भी है। हमने अपनी आंखों से देखा कि औरतें **30–40** किलोग्राम लकड़ी के गट्ठर को पांच से सात रुपए में बेच रही थीं।

अगली सुबह थककर चूर हालत में मैं गोड्डा पहुंचा और मेरी निगाह **1947** में स्थापित 'स्वाधीनता स्तंभ' पर गई। इस पर खुदे नामों में से मुझे पहला नाम एक पहाड़िया का ही दिखाई दिया। वैसे भी शहीदों में से अधिकांश पहाड़िया जनजाति के ही थे।

ये वे लोग हैं जो आजादी की लड़ाई में मरने वालों की सूची में सबसे ऊपर हैं लेकिन आजादी से मिलने वाले फायदों में सबसे नीचे हैं।

कहारों की मुसीबतें

नूनमाटी, गोड्डा (बिहार): 1967 में शिवशंकर लाइया ने जब मैट्रिक की परीक्षा पास की तो गोड्डा के कहारों के लिए यह एक बड़ी घटना थी। अपनी बिरादरी में वह पहला युवक था जिसने इतनी शिक्षा प्राप्त की थी। यहां के कहारों की हालत के बारे में कहा जाता है कि गोड्डा के पहाड़िया से भी बुरी जिंदगी वे जीते हैं।

समय बीतने के साथ यह उपलब्धि भी धीमी पड़ती गई। खासतौर से तब जब अगले 26 सालों तक लइया को कोई काम नहीं मिला। इस बीच इस बिरादरी का दूसरा मैट्रिक पास लड़का जोगिंदर लाइया टीबी की चपेट में आ गया और मर गया। आज हालत यह है कि नून माटी में अथवा गोड्डा कस्बे के अंतर्गत पड़ने वाले गौरी घाट गांव में कहारों का एक भी लड़का स्कूल नहीं जाता। शिवशंकर लाइया ने बताया कि दो बच्चों ने स्कूल में दाखिला लिया था लेकिन उनकी पढ़ाई का खर्च निकालना भी बहुत मुश्किल था। अच्छा यही है कि ये लड़के बकरी और सूअर चराने का काम करें।

कहारों को यहां कदार या कधार भी कहा जाता है और अनेक अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के मुकाबले ये लोग ज्यादा गरीब और पिछड़े हैं। वैसे इनकी जाति का नाम किसी भी सूची में नहीं आता। इसका सबसे बड़ा नुकसान यह है कि अनुसूचित जातियों/जनजातियों को मिलने वाले लाभों से ये वंचित रह जाते हैं। ऐसी कम ही जातियां हैं जिन्हें कहारों जितना उत्पीड़न झेलना पड़ता हो और जिनके पास अपने बचाव के लिए कोई साधन न उपलब्ध हो।

वे लगभग पूरी तरह भूमिहीन खेतिहर मजदूर हैं। मुझे केवल एक अपवाद मिला। नून माटी में एक व्यक्ति ऐसा था जिसके पास एक कट्ठा जमीन थी। इन लोगों ने जिस जमीन पर अपने मकान बनाए हैं वह भी उनकी नहीं है—सरकारी कागजात में उसे चारागाह दिखाया गया है। सिबू लाइया ने बताया कि जब उसने यहां मकान बनाया था तो गांव के बहुत सारे लोगों ने विरोध किया। सिबू के दादा पहले कहार थे जो नून माटी में पहुंचे थे।

गोड्डा, बांका और भागलपुर जिलों में 50–60 गांवों में कहारों की बस्तियां हैं। इन सभी बस्तियों में अधिक से अधिक दो सौ परिवार रहते हैं और संथाल परगना डिवीजन से बाहर इनका अस्तित्व नहीं है। दूसरी जातियों के लोग अपने को इनसे दूर रखते हैं। नून माटी के बलदेव बदाई ने बताया कि हरिजन लोग भी हमारे साथ मेल जोल नहीं करते। हमें घर के अंदर नहीं घुसने दिया जाता और जो सार्वजनिक तालाब हैं उनमें

हम मछली भी नहीं पकड़ सकते।

इसलिए अब वहां के कहार लोग किसी और जुगाड़ से मछली पकड़ते है। वे तालाब से एक नाली निकालते हैं और उसमें आने वाली मछलियों को हाथ से पकड़ते हैं। वे खेतिहर मजदूर के रूप में प्रतिदिन 12 रुपए से ज्यादा की मजदूरी नहीं पाते। गौरी घाट में रहने वाले कुछ कहार कुली का काम करते हैं और वे प्रतिदिन 20 रुपए तक कमा लेते हैं। चाहे खेतिहर मजदूर हों अथवा कुली इनमें से किसी को साल में 180 दिन या अधिक से अधिक दो सौ दिन से ज्यादा काम नहीं मिलता।

जिन कहारों से मेरी बातचीत हुई उनमें से एक को भी इसकी जानकारी नहीं थी कि बिहार में न्यूनतम मजदूरी रु. 30.50 है। यहां अभी कुछ वर्ष पूर्व तक बंधुआ मजदूरी प्रथा बदस्तूर कायम थी और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चले संघर्ष के फलस्वरूप इस प्रथा से इन्हें मुक्ति मिली। कहारों ने इस क्षेत्र के जमींदारों के भीषणतम अत्याचार झेले हैं। इन जमींदारों ने कहार औरतों का भरपूर यौन उत्पीड़न किया है और पुरुषों को मजबूर किया है कि वे हर तरह का काम करें।

इन लोगों की क्रय शक्ति कुछ भी नहीं है। गौरी घाट के एक नौजवान पूरन का कहना है कि हम लोग पूरी तरह सार्वजनिक वितरण व्यवस्था से अलग पड़े हुए हैं। हमारे पास पैसा ही नहीं है कि हम कुछ खरीद सकें। इनकी खुराक में आपको कोई दाल नहीं दिखाई देगी। चीनी की खपत के बारे में इन्हें कोई जानकारी नहीं है।

समाज में कुजात की तरह जिंदगी बिताने वाले कहारों को और भी कई तरह की पीड़ा झेलनी पड़ती है। इस समुदाय के किसी सदस्य के पास ऐसा कौशल विकसित करने का कोई साधन नहीं है जिसकी मदद से इनकी आय में वृद्धि हो सके। जमीन इनके पास बिलकुल नहीं है और साथ में कोई शिल्प भी नहीं है जिससे इन्हें कई तरह की मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। मजदूरी के रूप में ये कुशल कारीगरों के सहायक बनकर रह जाते हैं। अभी हाल के वर्षों में इनमें से कुछ ने बैंड बजाना सीखा है। बलदेव बदाई ने अपने 13 साथियों को लेकर बैंड बजाने की एक टोली तैयार की है जिससे वह कुछ समारोहों में जाकर कुछ पैसे कमा लेता है।

खुद गौरी घाट में कहार बस्तियों में कोई समारोह नहीं होते और यहां अकसर अंधेरा छाया रहता है। यहां बिजली नहीं है और लोगों के पास मिट्टी का तेल खरीदने की ताकत नहीं है। चूंकि ये लोग अनुसूचित जाति/जनजाति के दायरे से बाहर हैं इसलिए इन्हें सिद्धांत रूप में ही सही किसी आवास कार्यक्रम में भी शामिल नहीं किया गया है। एक औसत कहार का मकान छोटी सी कोठरी की तरह है। इसी में वे खुद भी रहते हैं और उनके सूअर भी रहते हैं। किसी भी कहार की कोठरी में दरवाजा नहीं मिलेगा। सुर्जा देवी ने बताया कि खाने के लिए तो पैसा ही नहीं है फिर दरवाजा कहां से लगाएं। उसने कहा कि हमारे पास कुछ है भी नहीं जिसे कोई चुराकर ले जाए।

लीला देवी सवाल करती है—परिवार के छह सदस्यों के साथ हम चार–पांच रुपए

रोजाना की कमाई पर कैसे काम चला सकते हैं। हमारे बुजुर्गों को भी कोई पेंशन नहीं मिलती। (बिहार सरकार बूढ़े लोगों को सौ रुपए प्रतिमाह की सामाजिक सुरक्षा पेंशन देती है)। मेरे दो बेटे बंबई में किसी जगह चले गए। उस जगह को लोग कल्यान बताते हैं। क्या तुमने यह नाम सुना है?

कल्यान में भी उसके बेटे दिहाड़ी मजदूर के रूप में काम करते हैं और वे कुछ भी पैसा घर नहीं भेज पाते। लेकिन लीला देवी खुश हैं कि वे यहां से चले गए। उसने बताया कि न जाने कितने दिनों तक हमलोग कुछ भी नहीं खा सके और जिस दिन खाने को मिला भी, पेटभर नहीं मिला। मतंगी लइया ने बताया कि हमारी बिरादरी में शराबखोरी बढ़ती जा रही है और मर्द लोग जो भी पैसा मिलता है शराब पर फूंक दे रहे हैं। जगदेव लइया नामक एक बूढ़े कहार का अनुमान है कि नौजवान लोग अपनी रोज की दिहाड़ी का एक चौथाई हिस्सा शराब पर बर्बाद कर दे रहे हैं।

गोड्डा, बांका और भागलपुर में संभवतः 15000 के आसपास कहार बसे हुए हैं। ईट भट्ठों में काम करके, बर्तन बनाने के काम में लगकर और कभी–कभी खेती–बारी के जरिये वे अपना गुजर करते हैं लेकिन ये सारे काम सीजनल हुए। अब तक किसी अधिकारी ने यह जानने की कोशिश नहीं की कि वास्तव में इनकी संख्या क्या है। इनसे संबंधित जो सरकारी आंकड़ा है वह भी बहुत त्रुटिपूर्ण है। जगदेव लइया ने बताया कि वे हमारी गिनती इसलिए नहीं करते क्योंकि हम उनके लिए कोई माने नहीं रखते। हमारे पास इतने वोट नहीं हैं कि जिससे हम कोई फर्क ला सकें। हमारी बिरादरी के लोग अपनी रोजी–रोटी के लिए इधर–उधर घूमते रहते हैं इसलिए उनको संगठित करके कोई आंदोलन चलाना बहुत ही कठिन काम है। इससे भी बुरी बात यह है कि हम अशिक्षित और निरक्षर हैं।

मौजूदा संदर्भ में कहारों की मुख्य मांग यह है कि उन्हें अनुसूचित जाति की सूची में शामिल किया जाए। यह एक ऐसी दौड़ है जो समय के विरुद्ध जा रही है। एक राजनीतिक कार्यकर्ता के रूप में एस.पी. तिवारी का कहना है कि–वे एक लुप्त होते समूह हैं और चुनावी राजनीति में उनका कोई स्थान नहीं है। उनकी किसी भी बस्ती में आप चले जाइए और आपको पता चल जाएगा कि अब से दस वर्ष पूर्व के मुकाबले आज कितने कम लोग रह गए हैं। यह एक ऐसा समूह है जिसने हर तरफ से और हर तरह का उत्पीड़न झेला है।

इसके बावजूद कहार लोग निष्क्रिय नहीं हैं। उनके बीच भयंकर असंतोष है और उन्हें अपने बारे में एक अहसास भी है जिसकी अभिव्यक्ति सुर्जा देवी के शब्दों में इस प्रकार हुई–हम बेड़ियों में इसलिए जकड़े हैं क्योंकि हमें शिक्षा नहीं मिली। अनुसूचित जाति की सूची में शामिल किये जाने की मांग के साथ–साथ उनकी दो और मांगे हैं जिनका सरोकार शिक्षा और भूमि से है और अगर इन मांगों की पूर्ति नहीं की गई तो हो सकता है कि आज से कुछ साल बाद ऐसी स्थिति आ जाए जब आपके पास गिनती के लिए भी कोई कहार न बचे।

और उसका नाम है मंगल

मुदुलीपाडा, मलकानगिरि (उड़ीसा): उसने मुस्कुराते हुए बताया कि उसका नाम मंगल है। उसकी पत्नी का नाम शनिचरी है। उसकी दो बेटियां हैं और दोनों का नाम इतवारी है। एक बेटा है जिसका नाम बुधुवा है। कुछ प्राचीन जनजातियों के लोग प्रायः अपने बच्चों का नाम उस दिन पर रख देते हैं जिस दिन वे पैदा होते हैं। लेकिन मलकानगिरि के अपर बोंडा लोग, खासतौर से बहुत अंदर गांव में रहने वाले इस प्रथा का अनुसरण करते हुए कुछ पूजा–पाठ भी करते हैं।

इस प्रकार सोमवार को पैदा हुए व्यक्ति का नाम बोंडा लोग सोमा और औरत का नाम सोमवारी रख देते हैं। अगर कोई औरत मंगलवार को पैदा हुई है तो उसे मंगली कहेंगे और अगर उस दिन कोई लड़का पैदा हुआ है तो उसका नाम मंगल रख दिया जाएगा। बोंडा लोग अपने मवेशियों का नाम भी इसी तरह रखते हैं।

कोरापुट क्षेत्र का मलकानगिरि जिला बोंडा लोगों का एकमात्र गृह प्रदेश है। इसके अलावा और कहीं उनकी आबादी नहीं मिलती। जो लोग पहाड़ की तलहटी में रहते हैं उनको निचला बोंडा कहा जाता है। यहां रहने वाले अन्य जातीय समूहों से सांस्कृतिक तौर पर उनमें बड़ी भिन्नता है। इनका एक दूसरा समूह बीहड़ पहाड़ियों में समुद्रतल से 3000 फीट की ऊंचाई पर रहता है और इस समूह को जाहिर है, ऊपरी बोंडा कहते हैं। वैसे बोंडा शब्द अब पुराना पड़ गया है। आजकल विशेषज्ञ लोग इन्हें बोंडो कहते हैं। सरकारी दस्तावेजों में इनको बोंडा–परोजा कहा जाता है।

जो भी हो इन सारे नामों को इनसे बाहर के समाज ने इन्हें दिया है। खुद अपनी बिरादरी में वे अपने को रेमो कहते हैं जिसका सीधा–साधा अर्थ होता है आदमी। विशेषज्ञों ने बोंडा लोगों को आस्ट्रो–एशियाटिक जातीय समूह का सदस्य माना है जो कभी प्राचीन काल में बाहर से आकर जयपुर पहाड़ियों में बस गए थे। 1990 में बोंडा लोगों की संख्या महज 4431 थी। मलकानगिरि के कलक्टर जी.के. ढल के अनुसार बोंडा लोग विश्व की 15 प्राचीनतम जनजातियों में से एक हैं। अपनी आजीविका के लिए वे इधर–उधर से भोजन जुटाते हैं, शिकार करते हैं और जगह बदल–बदलकर खेती करते हैं।

खेती–बारी के ही क्रम में इन्होंने सिंचाई के जरिये फसल उगाने का काम शुरू

किया। सरकारी बोंडा डेवलपमेंट एजेंसी का अनुमान है कि औसतन खेती–बारी करने वाले एक परिवार के पास महज एक एकड़ जमीन होती है। इसमें से केवल एक तिहाई जमीन सूखी जमीन होती है जहां वे चावल या गेहूं पैदा कर सकते हैं। लगभग आधी एकड़ जमीन में ये लोग कोदो और दाल पैदा करते हैं। जमीन के एक छोटे से हिस्से में इनकी झोपड़ी होती है और उसी के चारों ओर साग–सब्जी उगाते हैं। इस जमीन पर इन्हीं की मिल्कियत होती है। लेकिन कुछ जमीन ऐसी भी होती है जिस पर सामूहिक खेती की जाती है और अलग–अलग परिवार बारी–बारी इसका इस्तेमाल करते हैं। हर मामले में महिलाओं पर ही काम का बोझ सबसे ज्यादा होता है।

बोंडा लोग पिछड़ेपन और एक खासतौर के पूर्वाग्रह के शिकार हैं। यहां के कलक्टर और बोंडा डेवलपमेंट एजेंसी के अधिकारी विभिन्न परियोजनाओं के जरिये इस स्थिति का मुकाबला कर रहे हैं लेकिन यह आसान काम नहीं है। 1988 से 1992 के बीच ऊपरी बोंडा क्षेत्र में सरकार ने 10 अध्यापकों की नियुक्ति की। इनमें से एक भी अध्यापक ने अपना काम नहीं संभाला क्योंकि वे यह सोचकर ही डर जाते थे कि खतरनाक बोंडा लोगों के बीच उन्हें रहना पड़ेगा। यहां तक कि सरकार ने जब दंडित करने के लिए इन अध्यापकों की तनख्वाहें रोक दीं तब भी इनमें से कई काम पर नहीं गये।

बोंडा की पहाड़ियों में स्थित मुदुली पाड़ा कालोनी के लिए नियुक्त पुलिस अधिकारी खैरीपुट में ही रहना पसंद करते हैं। वे वहीं से अपना काम चलाते हैं। बस चालकों का कहना है कि ऊपरी बोंडा लोग बिना टिकट यात्रा करते हैं और मारपीट करते रहते हैं इसलिए खैरीपुट और मुदुलीपाड़ा के बीच बस सेवाएं समाप्त कर दी गई। इसका अर्थ यह हुआ कि अगर आपके पास जीप नहीं है तो पहली बस्ती तक पहुंचने के लिए 14 किलोमीटर की दूरी पैदल ही तय करनी पड़ेगी। इसके अलावा यहां हत्याओं की दर भी बहुत ज्यादा है और इतनी ज्यादा दर इस क्षेत्र में किसी एक समूह के संदर्भ में नहीं देखी गई।

निश्चय ही यह तस्वीर बहुत हतोत्साहित करने वाली है लेकिन इनमें कुछ बातों को बढ़ा चढ़ाकर कहा गया है। जहां तक हत्याओं की उच्च दर का सवाल है यह पूरी तरह उस समुदाय के भीतर है–बाहर के लोगों को शायद ही कभी ये नुकसान पहुंचाते हों। इनके यहां चोरी–डकैती जैसे अपराध नहीं के बराबर हैं। हमने ऊपरी बोंडा के गांव की यात्रा की और हमें कहीं भी कोई कठिनाई नहीं हुई। हमने यह भी देखा कि कभी–कभी वे लोग बस से नीचे की पहाड़ी तक जाते हैं और उन्होंने औरों की तरह बस का किराया भी दिया।

अंद्राहॉल के बच्चे बोंडा परियोजना के तहत चलने वाले स्कूल को काफी पसंद भी करते हैं। इन बच्चों के अध्यापक मांगराज मैट्रिक भी नहीं पास हैं और उनके सहयोग

के लिए अहिल्या नाम की जो महिला है उसने सातवीं कक्षा की पढ़ाई बीच में छोड़ दी थी। इन दोनों में से कोई भी बोंडा जाति का नहीं है लेकिन इनमें से किसी को कभी कोई दिक्कत नहीं हुई। यही वजह है कि जैसे–जैसे लोग इस जनजाति के बारे में ज्यादा जानकारी पाने लगे हैं पहले से बनी–बनाई धारणाएं समाप्त हो रही हैं।

अहिल्या ने अंद्राहाल स्कूल के अहाते में हमसे बताया कि इनके बच्चे पढ़ना लिखना चाहते हैं जबकि औरों का ख्याल है कि वे ऐसा नहीं चाहते होंगे। अहिल्या इन बच्चों को दिन में दो बार खाना देती है जो स्कूल आने के लिए एक बहुत बड़ा आकर्षण है। जिस समय हमलोग बातचीत कर रहे थे कई बच्चे जबर्दस्ती कक्षा के अंदर पहुंच गए ताकि वे अपने पुराने साथियों के साथ बैठ सकें। उन्हें ऐसा लग रहा था कि उन पर कोई ध्यान नहीं दे रहा है।

इस तरह के समूहों की देखभाल करने वाले कुछ अधिकारी "आदिम जनजाति" शब्द से नाखुश हैं। उनका कहना है कि इस शब्द के साथ जो नकारात्मक ध्वनि जुड़ी हुई है उससे मदद नहीं मिलती। इस शब्दावली को चुनने के पीछे जो मानदंड निर्धारित किये गये हैं उनका सरोकार एक लुप्त होती आबादी से है जहां टेक्नालॉजी का स्तर भी बहुत नीचा है। इसके अलावा इसके साथ निम्न शिक्षा स्तर, सामाजिक आर्थिक तौर पर अत्यंत पिछड़ी अवस्था और कुछ प्राचीन जनजातियों से जुड़ी अन्य समस्याएं भी शामिल हैं। जो भी हो कोई भी इस शब्दावली से खुश नहीं है। एक विशेषज्ञ का कहना है कि हम इन्हें कृषि व्यवस्था शुरू होने से पूर्व का समूह मान सकते हैं। इन्हें आदिम जनजाति कहने का क्या तुक है? लेकिन नीति के स्तर पर किसी नई सोच के अभाव में इसी शब्द का इस्तेमाल जारी है।

किसी जाति के बारे में बनी–बनाई धारणाओं से भय की उत्पत्ति होती है। और इस तरह के भय ने ऊपरी बोंडा लोगों के लिए तय किये जाने वाले कार्यक्रमों को नुकसान पहुंचाया है। 1980 के दशक में इनके बीच साक्षरता दर बहुत नीची थी जो 3.61 प्रतिशत थी। वैसे भी उड़ीसा में कुल आदिवासियों के बीच साक्षरता दर बहुत कम है जो 13.96 प्रतिशत है। महिलाओं के बीच यह दर नगण्य हैं। ऊपरी बोंडा लोगों में केवल एक व्यक्ति मंगल चालान मैट्रिक पास है। वह मुदुलीपाड़ा हाईस्कूल में अध्यापक है। हम जब वहां पहुंचे तो वह मौजूद नहीं था। हमारी मुलाकात गुसुम और आदिबारी नाम की महिलाओं से हुई जो इस समुदाय से नौकरी करने वाली पहली महिलाएं हैं। ये दोनों एक स्कूल में हेल्पर का काम करती हैं और गांव में अपने परिवार से आर्थिक रूप से स्वतंत्र होकर रहती हैं।

गुसुम और आदिबारी बोंडा बच्चों को स्कूल जाने के लिए प्रेरित करती हैं। यहां के सारे स्कूल अंद्राहॉल जैसे नहीं हैं। आदिबारी ने बताया कि जब मां खेत में सारे काम करती है और बाप सोलप (सागो खजूर की शराब) की तलाश में जाता है तो बच्चों की

परंपरागत बोंडा महिलाएं अपने कमर के गिर्द बस कपड़े का एक टुकड़ा लपेटती हैं जिसे वे खुद बुनती भी हैं। कुछ औरतें अपना सर भी मुंड़ाती हैं। इसके लिए कभी–कभी वे ऐसे प्राचीन औजार का इस्तेमाल करती हैं जिससे उन्हें टिटनेस हो सकता है।

कौन देख–भाल करेगा। यही वजह है कि बच्चे स्कूल जाने से कतराते हैं। बोंडा लोगों के बीच बाल मृत्युदर बहुत ही ज्यादा है। कभी–कभी तो प्रति हजार बच्चों में से 150 बच्चे मर जाते हैं। समूचे उड़ीसा में बाल मृत्युदर प्रति हजार पर 122 है।

आदिबारी और गुसुम ने अपनी परंपराओं को काफी हद तक तोड़ा है–मिसाल के तौर पर कपड़े पहनने के मामले में लेकिन समुदाय की ओर से उन्हें किसी तरह के विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। परंपरागत बोंडा औरतें अपनी कमर की गिर्द एक कपड़े का टुकड़ा लपेटे रहती हैं। इस कपड़े की लंबाई लगभग एक मीटर और चौड़ाई लगभग 40 सेंमीटर होती है। इस कपड़े को महिलाएं खुद ही बुनती हैं। इन औरतों के

गले में मोतियों के कई नेकलेस, अल्युमीनियम की जंजीरें होती हैं, हाथ में पीतल की चूड़ियां और कई तरह के गहने होते हैं। यहां की औरतें किसी प्राचीन उपकरण से अपना सर भी मुड़ाए रहती हैं। इस प्रक्रिया में प्रायः उन्हें टिटनेस भी हो जाता है।

गुसुम ने बताया कि सर मुड़ाने की प्रथा का संबंध किसी अंधविश्वास से है और इसे किसी पुराने शाप से जोड़ा जाता है। बताया जाता है कि प्राचीन काल में देवी सीता को देखकर कुछ औरतों ने मजाक उड़ाया जिससे नाराज होकर उन्होंने सभी बोंडा औरतों को शाप दिया कि वे नंगी रहेंगी और सर मुड़ाए रहेंगी। लेकिन, गुसुम का कहना है कि इन सारी बातों से चिंता इस पर होती है कि ठंड के मौसम में बच्चे बीमार पड़ जाते हैं। वह यह नहीं चाहती कि लोगों पर उनकी इच्छा के विरुद्ध कुछ थोप दिया जाएं लेकिन इतना वह जरूर चाहती है कि कम से कम जाड़े के महीनों में, जब बोंडा की पहाड़ियों में एक तरह से शीत–लहर चलती है, छोटे बच्चे ठंड की चपेट में आने से बच जाएं।

बोंडा लोगों की झोपड़ियों में हवा या रोशनी आने जाने की कोई व्यवस्था नहीं है और मकान बनाने का इनका कौशल इस क्षेत्र में रहने वाले अन्य आदिवासियों के मुकाबले काफी पिछड़ा हुआ है। इसमें कोई शक नहीं कि उनके इस कौशल में बहुत सुधार करने की जरूरत है। सरकार की ओर से जो योजनाएं यहां लागू की गई हैं उनमें ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है। जिन दिनों हम वहां ठहरे हुए थे कुछ सरकारी अधिकारी एक योजना लेकर आए जिसमें बोंडा लोगों की सभी झोपड़ियों पर टिन की छत डालने का कार्यक्रम था। एक परियोजना अधिकारी ने हमें बताया कि टिन की छत से बहुत नुकसान होगा। गर्मियों में ये लोग परेशान हो जाएंगे। इसके अलावा इसकी मरम्मत के लिए उन्हें व्यापारियों और अधिकारियों पर निर्भर रहना पड़ेगा।

देवी सीता से संबंधित तथा इसी तरह की अन्य दंत–कथाओं से ऐसा लगता है कि इन्हें पौराणिक हिंदूवाद के दिनों में रहने वाले प्राचीन लोगों के साथ संबद्ध करने का प्रयास किया गया था। अधिकांश हिस्सों में बोंडा लोगों की अपनी धार्मिक प्रथाएं हैं। उनकी जो भयानक छवि प्रचलित है उससे कुछ लाभ भी है। मिसाल के तौर पर उनके आस–पास जो जंगल हैं (जो संरक्षित नहीं हैं) उनमें किसी का साहस नहीं होता कि वह लकड़ी की तस्करी कर सके। बाहर के समाज से अब उनका धीरे–धीरे परिचय हो रहा है। एक जनजाति जो सैकड़ों हजारों वर्षों से ज्यों की त्यों बनी हुई है उसे महसूस हो रहा है कि उसकी दुनिया में अब तेजी से बदलाव आने जा रहा है। कभी–कभी यह बदलाव बेहतरी के लिए होता है। लेकिन अफसोस की बात है कि प्रायः इस बदलाव से उन्हें नुकसान ही उठाना पड़ा है।

घुमक्कड़ लेकिन कल्पनाशील

पुडुकोट्टई और तिरूकत्तापल्ली (तमिलनाडु): अभी कोई दूसरी फसल नहीं होने वाली है। मरियप्पन और उसके आठ सदस्यों वाले परिवार के पास खाद्यान्न का कोई सुरक्षित भंडार नहीं है और परिवार के सभी सदस्यों ने मिलकर अप्रैल के महीने में दो सौ रुपए से भी कम कमाया है। मई के प्रारंभिक दिनों में उसने तय किया कि वह बेमौसम ही गांव छोड़कर चला जाएगा। अपनी पत्नी और बच्चों को लेकर मरियप्पन पुडुकोट्टई जिले को छोड़कर चला गया।

52 वर्षीय मनिक्कम और 37 वर्षीय मुथु स्वामी के परिवारों ने भी यही फैसला लिया। मरियप्पन की ही तरह दोनों के पास सूखे की चपेट में आए खेत थे जो आकार में एक एकड़ के तिहाई हिस्से के बराबर थे। इन लोगों ने अप्रैल में नहीं के बराबर कमाई की थी। सरकार की ओर से दोपहर का खाना मुफ्त देने की योजना से यह फायदा जरूर हुआ कि छोटे बच्चे भूख से मरने से बच गए। बड़े लोगों का हाल यह था कि अगर वे बहुत खुशकिस्मत हुए तो दिनभर में दो बार "कूज" खा लेते थे–आमतौर पर यह खाना भी पूरे दिन में एक ही बार नसीब होता था। सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अंतर्गत सरकारी सस्ते गल्ले की दुकान से बिकने वाले चावल की कीमतों में वृद्धि से अब चावल भी उनकी पहुंच से परे हो गया था। ये दोनों परिवार अम्बलक्कर जनजाति से थे जिसे सरकारी दस्तावेजों में अनुसूचित नहीं माना गया है।

जिन दिनों बड़ी अच्छी स्थिति रहती है उन दिनों भी पुडुकोट्टई के लोगों की क्रय शक्ति बहुत खराब होती है। इसका अनुमान ग्रामीण बाजार के थॉमसन इंडेक्स से लगाया जा सकता है। इस सूचकांक का उद्देश्य विज्ञापनदाताओं, विपणनकर्ताओं, मीडिया के योजनाकारों आदि को जानकारी मुहैया कराना है। इसका कार्य 383 ग्रामीण जिलों की बाजार क्षमता का आकलन करना है। इस सूचकांक के अंतर्गत 23 तत्व आते हैं जो पम्पसेटों और ट्यूबवेलों से लेकर बिजलीकरण तक अपने में शामिल किये हुए हैं।

पुडुकोट्टई का सबसे नजदीक का जिला तंजौर है जो इन 383 जिलों में पहले नंबर पर है। सूचकांक में इसे अधिकतम 100 अंक प्राप्त हैं? और पुडुकोट्टई इसका अंक है महज 10.97 फिर भी इसी के अंतर्गत समूची आबादी आती है। अब इसके अंतर्गत मरियप्पनों और मनिक्कमों की क्रय शक्ति भला क्या होगी। जाहिर है कि वह नहीं के बराबर है। मई में जब यह जिला सूखे की चपेट में आया पुडुकोट्टई के हजारों खेतिहर मजदूरों को अपना घर छोड़कर जाना पड़ा। अकेले तुलकमपट्टी नाम की बस्ती से 160

से भी अधिक परिवारों ने गांव छोड़ दिया। इनमें से कुछ ने घर के बुजुर्गों को गांव में ही रहने दिया था लेकिन सभी ने अपने बच्चों को अपने साथ रखा। ये लोग कहां गए? थनजौर में इन्हें कौन सा काम मिलेगा जबकि खेती से संबंधित सारे मुख्य काम सीजन के साथ समाप्त हो गए थे। आखिर ये गरीब लोग जिंदा रहने की कौन सी रणनीति का अनुसरण कर रहे हैं। जो बूढ़े गांवों में रह गए हैं उनका काम कैसे चलेगा। उनके लिए खाना कहां से आएगा वे क्या खाएंगे, जो कुछ भी वे खाएंगे उनका पैसा कौन देगा।

यह जानने का एक तरीका यह हो सकता था कि हम उस नई जगह की तलाश करें जहां ये लोग गांव छोड़ने के बाद बसे थे। बशर्ते ऐसी कोई जगह हो तो। यह जानने की कोशिश का मतलब था कि हम विभिन्न परिवारों, बिचौलियों, ट्रक मालिकों, ठेकेदारों आदि से बातचीत करें। कई मामलों में परिवार के लोगों को कोई ठोस जानकारी नहीं थी। जिन गांवों से लोग समूह बनाकर निकले थे वहां बस एक ही जवाब सुनने को मिलता था– वे कहीं कुली का काम कर रहे होंगे। अब इसमें सबसे बड़ी जटिलता यह थी कि ये लोग हर वर्ष गांव से जाने वाले नियमित लोग नहीं थे जिनका कोई बंधा–बंधाया कार्यक्रम हो। ये घुमक्कड़ किस्म के आव्रजक थे जो ऐसे किसी भी स्थान में जा सकते थे जहां उन्हें महसूस होता कि जिंदा रहने के लिए कुछ कमा सकेंगे।

कुछ केरल की ओर गए और कुछ ने पड़ोस के पशुमपान जिले को चुना। कुछ ऐसे भी थे जो बिना सोचे समझे कहीं के लिए भी चल पड़े यह मानकर कि वे झाड़ू वगैरह बना लेंगे, पेड़ काट लेंगे अथवा कहीं काम हो रहा होगा तो मजदूरी कर लेंगे। कोई ऐसा काम जिसमें उन्हें हर रोज 12–15 रुपए मिल जाएं और जो शायद 4–5 दिन चल सके। इसके बाद वे फिर कहीं और के लिए रवाना हो जाएंगे। महीने में अधिकांश दिनों में इनमें से कइयों को बेरोजगार रहना पड़ता है। जिन दिनों में वे काम करते हैं उसका मकसद बस भोजन मिलना होता है।

इन घुमक्कड़ों की तलाश में मुझे साइमन और गरफुंकेल की पंक्तियां याद आईं जो तकरीबन बीस साल पहले काफी प्रसिद्ध थीं:

लेइंग लो
सीकिंग आउट दि पुअरर क्वार्टर्स
व्हेयर दि रैग्ड पीपुल गो
लुकिंग फार दि प्लेसेज
ओनली दे वुड नो

इन समूहों का पता लगाने में थोड़ा समय लगा। हमें राजकुमार नामक एक अर्थशास्त्री मिला जिसने त्रिचि के भारतीय दर्शन विश्वविद्यालय से गरीबी की समस्या पर एम. फिल की थिसिस तैयार की थी। राजकुमार ने इस काम में हमारी मदद की। उसने बताया कि अब मई की समाप्ति तक हमें वह परिवार मिल जाएगा जो तुलकमपट्टी से चला था।

वे खुशकिस्मत थे कि उन्हें एक महीने के लिए काम मिल गया था। सीमा पार करते हुए वे सबसे पहले तंजौर शहर गए। वहां से वे पश्चिमी तंजौर जिले में तिरूकत्तापल्ली नामक एक सुनसान इलाके की ओर बढ़े। यहां अधिकतम तीन महीनों के लिए ये ईंट–भट्ठे पर काम कर सकते थे।

तिरूकत्तापल्ली में किसान सभा के एक नेता ए. कालीदास ने हमें बताया कि जो लोग नियमिततौर पर खेतिहर मजदूरों के रूप में आते हैं उन्हें लेकर यूनियन का गठन किया जा सकता है। उनके अधिकारों को सुरक्षा दी जा सकती है लेकिन इस तरह के खानाबदोश मजदूर जो यद्यपि बहुत गरीब हैं पर इन्हें एक साथ रख पाना बेहद कठिन है। उनके घुमक्कड़पने से यह सुनिश्चित होता है कि हम उनकी यूनियन नहीं बना सकते। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि ये लोग कुछ पैसे कमा लेते हैं लेकिन जहां तक शोषण का सवाल है इसके चपेट में आने की संभावना भी बहुत अधिक है।

यहां चूंकि उन्हें ठेकेदार पर ही निर्भर रहना पड़ता है, इसलिए ये लोग जो भी सामान खरीदते हैं उसकी कीमत उन्हें बाजार में उपलब्ध सामान की कीमत से ज्यादा चुकानी पड़ती है। यहां तक कि चाय के मद में जो पैसा खर्च होता है वह भी प्रतिदिन प्रत्येक परिवार के लिए कुछ रुपयों में हो जाता है।

यहां काम सवेरे साढ़े तीन–चार बजे के करीब शुरू होता था क्योंकि सूरज की रोशनी में रखने के लिए ईंटों का तैयार होना जरूरी था। फिर भी चूंकि यह काम पीस रेट के आधार पर था इसलिए कई घंटों तक चलता रहता था। हमने जब उन्हें भट्ठे के अंदर काम करते देखा तो उस समय सूरज की रोशनी काफी तेज थी जो ईंटों और आदमियों दोनों को एक ही तरह से तपा रही थी। भट्ठे की देखभाल का काम ठेकेदार के जिम्मे था बावजूद इसके किसी परिवार द्वारा बनाई गई ईंटें बारिश के कारण अथवा अन्य किसी वजह से खराब हो जाती थीं तो वह इसके पैसे उस परिवार की मजदूरी में से काट लेता था। यहां तक कि अगर कोई परिवार एक हजार ईंटें बना लेता था तो ठेकेदार उन ईंटों की ओर देखे बिना ही कुल मजदूरी में से पचास ईंटों की मजदूरी कम कर देता था। वह यह मानकर चलता था कि इतनी ईंटें तो खराब होंगी ही।

तुलकमपट्टी में रहने वाले मनिक्कम से यहां मेरी मुलाकात हुई–हमने उसके वीरान पड़े मकान को देखा था। उसने बताया कि अगर पांच सदस्यों वाले उसके परिवार ने बहुत मेहनत करके ईंटें बनाई तो अधिक से अधिक दो हजार ईंटें बनाई जा सकती हैं जिसका भुगतान 55 रुपए प्रति हजार की दर से होता है। लेकिन पहले हफ्ते के बाद इस राशि को भी घटाकर 45 रुपए प्रति हजार कर दी जाती है।

उसने बताया कि अगर वे मिलकर एक सप्ताह में 11000 ईंटें तैयार करते हैं तो परिवार के प्रत्येक सदस्य को औसतन 90 से 100 रुपए प्रति सप्ताह अथवा 13 से 14 रुपए प्रतिदिन प्राप्त होता है। इसके कारण वे गरीबी रेखा से काफी नीचे पड़े रहते हैं। इस क्षेत्र के लिए निर्धारित न्यूनतम मजदूरी की जो दर है उसका आधा ही इन्हें इस

प्रकार मिल पाता है। उनके राशन कार्ड देखने से पता चला कि इनमें से प्रत्येक परिवार की संयुक्त आय प्रति माह 300 से 350 रुपए है।

मनिक्कम ने बताया कि तंजौर जिले में इसके परिवार को एक ही ऐश था– उसे यहां चावल मिल जाता था। वे अपनी आय का 180 से लेकर 200 रुपए तक चावल पर खर्च कर देते थे। चूंकि वे पूरी तरह ठेकेदार पर निर्भर थे इसलिए उन्हें बढ़ी हुई कीमतें अदा करनी पड़ती थीं और ईंधन, चाय तथा अन्य जरूरी सामानों पर हर महीने लगभग ढाई सौ रुपए खर्च करने पड़ते थे। कुछ मामलों में उन्हें और छोटी मोटी चीजों के लिए ठेकेदार को पैसे देने पड़ते थे। इस हिसाब से उनकी जो कुल साप्ताहिक आय होती थी उसी के बराबर विभिन्न मदों में पैसे भी खर्च होते थे।

एक और महत्वपूर्ण मद में इनका पैसा खर्च होता था। यह उन लोगों पर लागू होता था जिनके परिवार के कुछ बुजुर्ग लोग गांव में ही रह गए थे। इन मामलों में समूचा परिवार हर शुक्रवार को यानी साप्ताहिक अवकाश के दिन अपने गांव तुलकमपट्टी जाता था। मुथुस्वामी ने बताया कि शुक्रवार के दिन गांव जाते समय हम अपने बुजुर्गों के लिए 10–12 रुपए का राशन, मिर्च, प्याज वगैरह लेकर जाते हैं। परिवार के बड़ों ने भी इस बात की पुष्टि की। उन्हें हर हफ्ते शुक्रवार का इंतजार रहता है। तुलकमपट्टी में मरियम्मन ने बताया कि उस दिन हमें पता ही नहीं चलता कि अकेलापन और भूख क्या चीज है।

औसतन इस तरह के परिवार के लोग बस के किराए पर प्रति सप्ताह 40 या 50 रुपया खर्च करते हैं। इस प्रकार अपने बुजुर्गों के लिए खाने के मद में जो पैसा खर्च होता है उससे तीन गुना अधिक आने जाने पर खर्च हो जाता है। फिर भी वे उस दिन जाना नहीं भूलते जिन दिनों सीजन नहीं होता है और उन्हें काम की तलाश रहती है वे हजारों किलोमीटर की दूरी नापते रहते हैं और बचा–खुचा पैसा इसी में खर्च हो जाता है। बच्चों को स्कूल का मुंह देखना कभी नसीब ही नहीं हुआ।

मद्रास इंस्टीट्यूट ऑफ डेवलपमेंट स्टडीज के डाक्टर के.नागराज का कहना है कि यह जिंदा रखने की अत्यंत जर्जर रणनीति है। इस तरह के खानाबदोश परिवार अत्यंत निम्न आय के स्थाई क्षेत्र में पड़े रहते हैं और इनके चारों ओर भयंकर असुरक्षा है। बस परिवार में कोई एक बीमार हो जाए अथवा कोई एक शादी पड़ जाए तो सारा ताना–बाना बिखर जाएगा।

फिर भी मुथुस्वामी के शब्दों में "यहां की हालत पुडुकोट्टई के मुकाबले बेहतर है क्योंकि वहां तो सूखे ने सारी फसल ही चौपट कर दी है।" हताशा के बीच उपजी एक क्षीण सी आशा ने परिवार को जिंदा रखा है। तंजौर और पुडुकोट्टई के बीच जो सबसे बड़ा फर्क है वह यह है कि तंजौर में सिंचाई की बहुत अच्छी सुविधा है। यहां वैभव और कुंठा दोनों एकदम निकट के पड़ोसी हैं।

जिन चीजों से छुटकारा नहीं मिला

पुडुकोट्टई (तमिलनाडु): पुडुकोट्टई और रामनाड जिलों में लोगों की गतिविधियों का अगर एक नक्शा बनाएं तो वह कैसा दिखाई देगा? आप कोशिश करिये और आपको लगेगा कि जैसे चीटियों की कोई बहुत बड़ी बाम्बी खड़ी है और उसमें ढेर सारी गतिविधियां हो रही हैं। बेशक इससे यह भी पता चलता है कि यहां कितने बड़े पैमाने पर और स्थाई तौर पर लोगों का आव्रजन जारी है जिसके लिए यह क्षेत्र प्रसिद्ध है।

जो बेहद गरीब हैं उनमें से कुछ ऐसे भी हैं जिनके पास अपना घर छोड़कर काम के लिए कहीं जाने का अवसर नहीं है। अन्ना वसल ब्लाक का चेन्नइया नामक हरिजन कर्ज चपेट में ऐसा फंसा है कि वह इस इलाके को छोड़ ही नहीं सकता। जिस जमींदार ने उसे पैसा दिया है उसने पहले उसे मजदूरी के लिए रखा जब भी उस जमींदार को मजदूर की जरूरत होती है, वह चेन्नईया को बुलवा लेता है। यहां तक कि अच्छी फसल के दिनों में भी चेन्नइया को हमेशा अपने महाजन जमींदार की सेवा के लिए खड़ा रहना पड़ता है।

पुडुकोट्टई और रामनाड में आपको मार्च 1993 तक के जारी किए राशनकार्ड मिल सकते हैं जिनमें आठ सदस्यों के परिवार की संयुक्त आय 250 से 300 रुपए महीने तक की दिखाई गई है। चेन्नइया की ही तरह यहां के अधिकांश लोग साश्वत कर्ज के बोझ तले दबे हुए हैं।

इनमें से जिनके पास थोड़ी बहुत जमीनें हैं (अनेक के पास तो बिलकुल जमीन नहीं है) उन्हें सिंचाई की कोई सुविधा नहीं है और अच्छे दिनों में भी उन्हें अपना काम चलाना मुश्किल हो जाता है। अगर यह भी मान लें कि इस जिले में कोई बड़ा जमींदार नहीं है तो भी पुडुकोट्टई में भूमि सुधार के नाम पर केवल धोखा–धड़ी ही हुई है। तमिलनाडु के बाकी हिस्सों के लिए भी कमोबेश यही बात सच है।

1972 में एक सरकारी रिपोर्ट ने यह निष्कर्ष निकाला कि समूचे राज्य में 21 लाख एकड़ की घोषित अतिरिक्त भूमि के दो प्रतिशत से भी कम हिस्से को सरकार ने अपने अधिकार में लिया। इससे भी बुरी बात तो यह है कि बाद की सरकारों ने इस दो प्रतिशत का भी महज दो तिहाई हिस्सा वितरित किया।

पुडुकोट्टई में 1992 में किये गये एक सरकारी अध्ययन में बताया गया है कि सिरुमरूधर जैसे गांवों में ऐसे परिवार मिल जाएंगे जिन्होंने छह अलग–अलग नामों से जमीनों पर कब्जा कर रखा है। इस अध्ययन में एक दूसरे तरह के अपराध की भी मिसालें

मिलती हैं। जिन इलाकों में अतिरिक्त भूमि पर किसानों का कानूनी तौर पर स्वामित्व है वहां भी पुराने जमींदार अभी तक उन जमीनों पर लगान वसूलते रहते हैं। रिपोर्ट में बताया गया है कि जिन लोगों को जमीन का स्वामित्व सौंपा गया है, वे अतीत में अतिरिक्त भूमि के मालिकों के यहां काम करते थे। और कई मामलों में तो भूमि सुधार की कार्रवाई महज कागजों तक ही सीमित रह गई है।

यहां उद्योगों का भी ऐसा विस्तार नहीं हुआ जिससे गरीबों को कोई उम्मीद दिखाई दे। आपको यहां ऐसे उद्योगपति मिल जाएंगे जिनका यहां से कुछ भी लेना देना नहीं है–वे हवाई दौरों की तरह आते हैं और पिछड़े इलाके में उद्योग स्थापित करने के नाम पर राज्य से मिलने वाले हर फायदों को हड़पकर फिर गायब हो जाते हैं। वे यहां अपनी इकाई स्थापित करते हैं और जैसे ही रियायत वाला पांच वर्ष का समय बीतता है, वे चले जाते हैं।

एक स्थानीय ट्रेड यूनियन नेता जियाउद्दीन का कहना है कि मजदूरों पर दबाव बहुत ज्यादा है उनका कहना है कि यहां के जझारू मजदूर संगठन भी मजदूरी बढ़ाने के मुद्दे पर कोई कदम उठाने में हिचकिचाते हैं। दरअसल नौकरी की इतनी जरूरत है कि कोई आंदोलन किया ही नहीं जा सकता।

कोविल पट्टी के गोविंद राजन कहते हैं, "हमें बस आप तीन एकड़ जमीन और थोड़ा सा पानी दे दें और फिर देखें कि कैसे इस जिले को काम लायक बनाया जा सकता है। इस बात से पेरियाकोट्टई के लोग भी सहमत हैं। मुझे कोई सरकारी अफसर समझ कर उन्होंने बड़ी बेताबी के साथ अपने गांव की अतिरिक्त भूमि के बारे में बताया जिसका अभी तक वितरण नहीं किया गया था। मुझे पता चला कि इलाके से बाहर रहने वाले अन्य जमींदारों की तरह किसी बड़े राजनीतिक नेता का इस बेनामी जमीन पर कब्जा है। वह भी इस गांव से कहीं दूर रहता है। तमिलनाडु में सरकार की कार्यसूची में भूमि सुधार है ही नहीं। उस पर मजे की बात यह है कि सिंचाई के जो भी सीमित संसाधन हैं वे निजी नियंत्रण में हैं और इस नियंत्रण में लगातार वृद्धि होती जा रही है।

इन परिस्थितियों में सूखा अपरिहार्य है और इसी के साथ लोगों का घर छोड़कर काम की तलाश में बाहर जाना भी लाजिमी है। आश्चर्य की बात यह है कि यहां से बाहर जाने वाले हजारों परिवारों को आव्रजकों की सूची में नहीं रखा गया है। निश्चय ही हमारे पास जो सबसे अच्छे आंकड़े हैं वे नेशनल सेंपल सर्वे के हैं और इन आंकड़ों को तैयार करते समय भी किसी आव्रजक को "निवास का पिछला स्थान" का होने वाला परिभाषित किया गया है। इसका तात्पर्य उस गांव से है जहां वह अब से तत्काल पूर्व कम से कम छह महीने तक लगातार रह चुका हो।

पुडुकोट्टई के अनेक आव्रजकों ने कभी भी किसी स्थान में छह महीने नहीं गुजारे। हां, जो लोग थनजौर चले गए उन्होंने जरूर इतना समय गुजार लिया होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि सही अर्थों में जो आव्रजक हैं उनमें से अनेक इस परिभाषा

की परिधि से बाहर पड़े रहते हैं। एक अधिकारी ने मुझसे कहा कि आपको यह देखकर हैरानी होगी। आपको लगेगा कि क्या हम लोग आव्रजकों के मामले पर विचार कर रहे हैं या एक परिभाषा बनाकर उनको इस दायरे से बाहर कर दे रहे हैं। उस अधिकारी ने बताया कि किसी के पास यह आंकड़ा नहीं है कि कितने लोग घर–बार छोड़कर यहां से चले गए। जब तक हम यह अभिनय करते रहेंगे कि उनका अस्तित्व ही नहीं है तब तक हम उनके साथ आव्रजक जैसा व्यवहार भी नहीं कर पाएंगे।

इसी सर्वेक्षण में आव्रजन के पीछे जो आर्थिक कारण हैं उनका भी जिक्र किया गया है। इससे भी बड़े अजीबो–गरीब निष्कर्ष निकलते हैं। इसमें भी तीन तरह के खाने बनाए गए हैं–रोजगार की तलाश, बेहतर रोजगार की तलाश और नौकरी/व्यापार संबंधी अनुबंध का स्थानांतरण।

मद्रास इंस्टीट्यूट ऑफ डेवलपमेंट स्टडीज के डा. के. नागराज इस पूरे दृष्टिकोण को ही गलत मानते हैं। उनका कहना है कि इसमें यह फर्क नहीं किया गया है कि किसी कार्पोरेट कंपनी का अधिकारी बेहतर अवसर के लिए बंबई से दिल्ली जाकर बस रहा है अथवा गरीबी से त्रस्त होकर कोई खेतिहर मजदूर पुडुकोट्टई से तिरुकत्ता पल्ली जाकर बसने को मजबूर हो रहा है।

पहले मामले में स्थान बदलने वाला व्यक्ति एक खुशहाल जिंदगी जी रहा होता है और वह अपनी खुशहाली को और बेहतर बनाने के लिए अपना घर छोड़ रहा है। दूसरा व्यक्ति आजीविका की तलाश में घर छोड़ने के लिए मजबूर हो रहा है। लेकिन सरकार के लिए इन बातों का कोई महत्व नहीं है। उसने जो परिभाषा तैयार की है उसके अंतर्गत जमशेदपुर और कलकत्ता के बीच धुआंधार चक्कर लगाने वाले रूसी मोदी और मुथुस्वामी के बीच कोई फर्क नहीं है जिसने सूखे से निजात पाने के लिए अपने गांव गंधर्व कोट्टई को छोड़ दिया। हो सकता है कि मुत्थु स्वामी को जब यह पता चले कि सरकारी परिभाषा के अनुसार उसमें और रूसी मोदी में कोई फर्क नहीं है तो वह खुश हो जाए।

देनदार, लेनदार और कर्ज देने वालों का गिरोह

सूदखोरी, कर्ज और ग्रामीण भारतीय

सूदखोर महाजन किसानों को किस तरह कभी खत्म न होने वाले कर्ज के जाल में फंसा लेते हैं? किस तरह उनके ब्याज की दरें व्यापारिक दरों की सीमा को लांघ जाती हैं और किस तरह कानूनी तौर पर निर्धारित सीमा से कई गुना अधिक हो जाती हैं? मैं जानता था कि ये चीजें बहुत बड़े पैमाने पर 19वीं शताब्दी के बंगला साहित्य में देखने को मिलती हैं। रामनाडथ के उस क्षेत्र के लिए जाने से पूर्व, जहां किसी जमाने में जमींदारी प्रथा थी, मुझे यह सब जानकर कुछ अजीब सा लगा। ग्रामीण क्षेत्रों की रिपोर्टिंग के जो मेरे पुराने अनुभव थे वे बिलकुल दूसरी तरह के थे। लेकिन ऐसा लगता था कि प्रमाणों के आगे मेरी बनी बनाई धारणाएं थोड़ी देर भी नहीं टिक सकेंगी।

चाहे जो हो यहां तो समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम चलाया जा रहा था जिसने कर्ज तथा सहायता राशि के रूप में करोड़ों रुपए लाखों परिवारों के बीच बांटे हुए थे। ग्रामीण क्षेत्र के गरीबों के लिए इनके पास ऐसी अनेक योजनाएं थीं जिनके तहत आसान शर्तों पर कर्ज दिया जाता था। ग्रामीण कर्ज के कार्यक्रम के अंतर्गत कई बैंकों तथा अन्य औपचारिक स्रोतों से पैसा निकाला गया था। इन आंकड़ों की रोशनी में मेरा यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक था कि इस क्षेत्र में सूदखोर महाजनों पर लोगों की निर्भरता नहीं होगी। दूसरे, मैं यह भी सोचता था कि कर्ज की अदायगी के लिए शारीरिक तौर पर जिस तरह हिंसा का प्रयोग किया जाता है वह तो कम से कम नहीं ही होगा।

सब कुछ बहुत सुहावना था और मुझे लग रहा था कि इन गरीब जिलों में मुझे अधिक समय नहीं बिताना पड़ेगा। आखिरकार सरकारी नीति ने समाज के सबसे निर्धन लोगों को अपना लक्ष्य बना ही लिया। मैंने देखा कि यहां कई निजी देनदार हैं जो बिना किसी ब्याज के कर्ज दे देते हैं। लेकिन मुझे तब झटका लगा जब रामनाडथ जाने पर मुझे मालूम हुआ कि किस प्रकार किसी जमींदार द्वारा दिया गया ब्याज मुक्त ऋण अथवा पेशगी के रूप में दिया गया धन किसी परिवार को कई पीढ़ियों तक गुलामी करने के लिए मजबूर कर देता है। यही मुझे आठ जिलों का दौरा करने के बाद पता चला कि संस्थाओं द्वारा दिये जाने वाले ऋण की हालत क्या है। मैंने देखा कि किस प्रकार सूदखोर महाजन गरीबों की आबादी वाले इन गांवों के लिए अपना एजेंडा तैयार करते हैं। मैंने देखा कि हिंसा के बदले अपनाए जाने वाले दूसरे तरीके कर्ज की अदायगी के मामले में किसी भी मायने में कम असरदार नहीं साबित होते।

मुमकिन है कि 19वीं शताब्दी के कथाकारों को अपने समय के यथार्थ को व्यक्त करने में उन समाज वैज्ञानिकों के मुकाबले ज्यादा सफलता मिली हो जो बीसवीं शताब्दी में रह रहे हैं और जिन्होंने हमारे युग के यथार्थ को पकड़ने की कोशिश की हो।

अखिल भारतीय ऋण और निवेश सर्वेक्षण का पिछला संस्करण 1981–82 में प्रकाशित हुआ था। इसमें बताया गया था कि सर्वेक्षण के तहत जिस दशक को लिया गया है उसमें प्रत्येक खेतिहर परिवार के औसत ऋण में लगभग 139 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। इसके अलावा असम को छोड़कर हर राज्य में कर्जदारी में वृद्धि हुई है। अनेक राज्यों

में 75 प्रतिशत से अधिक खेतिहर मजदूरों के परिवार कर्ज में डूबे थे। इनमें भी सबसे बुरी स्थिति दलितों और आदिवासियों की थी।

एक दावा यह किया जाता है कि 1978 में समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम की शुरुआत ने इन स्थितियों में परिवर्तन ला दिया। इसके बाद बैंकों और संस्थाओं से दिये जाने वाले कर्ज की राशि में काफी वृद्धि हुई और पहली बार अनेक गरीब परिवारों को विधिवत कर्ज दिया गया। लेकिन ये बातें काफी हद तक गुमराह करने वाली हैं।

गरीबों के अंदर भी कई स्तर मौजूद हैं और गरीबी के भी विभिन्न स्वरूप दिखाई देते हैं। इसमें जितना ही नीचे आप हैं उतनी ही कम संभावना इस बात की है कि इस तरह के ऋण सुविधाओं का लाभ आपको प्राप्त हो सकेगा। 1987 में रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया ने इस तथ्य को रेखांकित भी किया। यह सच है कि भारत में कर्ज के रूप में जो नकद धनराशि दी जाती है उसका 60 प्रतिशत हिस्सा वित्तीय संस्थाओं के जरिये ही बांटा जाता है लेकिन जिन परिवारों को यह ऋण दिया जा रहा होता है उनकी संख्या कुल कर्जदारों का महज छह प्रतिशत होती है।

कुछ स्थानों में–जैसे तमिलनाडु के कुछ हिस्सों में–मुमकिन है कि खेतिहर मजदूरों की पहुंच इस तरह के कर्ज तक कुछ ज्यादा हो। लेकिन अन्य हिस्सों में– जैसे बिहार के कुछ भागों में–वे इस लाभ से वंचित रह जाते हैं। ऐसी अवस्था में उन्हें फिर ऋण के अनौपचारिक स्रोतों अर्थात सूदखोर महाजनों की शरण में जाना पड़ता है। इसके अलावा कुछ गरीब परिवारों को इस कार्यक्रम से राहत मिलने के बावजूद यह भी देखा गया है कि इसकी आड़ में कई गड़बड़ियां भी हुई हैं। योजना आयोग के परियोजना मूल्यांकन संगठन के निष्कर्षों को देखने से हमें इसकी जानकारी मिलती है।

एक वर्ष में भारत के महालेखा निरीक्षक ने समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम का परीक्षण के तौर पर आडिट किया। इस आडिट के दौरान पाया गया कि सीमित नमूनों की जांच करने पर भी "अन्य उद्देश्यों के लिए धन का व्यय" किया गया था जो 16 करोड़ रुपए से भी अधिक था। इस खर्च का छोटा सा भी हिस्सा ग्रामीण लोगों के लाभ के लिए इस्तेमाल नहीं किया गया। इस समूची धनराशि का लगभग पांचवां हिस्सा उन बड़ी कंपनियों को गया जो शहरों में कार्यरत थीं।

लेखा परीक्षकों ने उन सामानों की भी सूची तैयार की जिस पर 16 करोड़ रुपए व्यय हुए थे। इनमें एयरकंडीशनर, रंगीन टेलीविजन और थ्रीव्हीलर्स स्कूटर्स के साथ–साथ जीपों, मेटाडोरों की खरीद पर काफी पैसे खर्च किये गए थे। इसके अलावा डायरी की छपाई और व्हिस्की, रम, वियर, सोडा, लंच, चाय, बिस्किट आदि के मद में काफी पैसे खर्च हुए थे।

यह कहने का मतलब ऐसा नहीं है कि समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अंतर्गत जो ऋण दिये गये हैं उनसे गरीबों का कभी फायदा नहीं हुआ। दरअसल मौजूदा राजनीतिक और सामाजिक ढांचे में इस तरह की जो सहायता है वह नाम मात्र की हो

जाती है। इससे छनकर जो पैसा बाहर निकलता है वह सहायता राशि से कई गुना ज्यादा हो जाता है। इससे वही लोग प्रभावित भी होते हैं जिनको सचमुच राज्य से ऋण की जरूरत रहती है।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद शुरू के वर्षों में बैंकों के जरिये ग्रामीण क्षेत्रों को दिये गये कर्ज से लाखों परिवारों को मदद मिली थी। बाद के वर्षों में भी कुछ समय तक यह प्रक्रिया जारी रही। लेकिन जैसे–जैसे ऊपर के स्तर पर राजनीतिक प्रतिबद्धता में कमी आती गई उसी के अनुसार नीचे के स्तर पर लाभ का अनुपात भी कम होता गया। 1990 का दशक आते–आते 3768 में से महज एक सौ कस्बों में बैंकों से जो ऋण दिया गया वह समूचे भारत में बैंकों से दी गई कर्ज–राशि का 65 प्रतिशत था। इन शहरों में से बंबई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास, अहमदाबाद, बंगलौर, हैदराबाद और कानपुर को सबसे ज्यादा लाभ पहुंचा। जहां तक ग्रामीण क्षेत्रों की बात है, वे तो काफी पीछे छूट गए।

इसके अलावा ग्रामीण बैंकिंग व्यवस्था जहां बहुत अच्छी है वहां भी यह गांवों में सत्ताधारी खेमे की गिरफ्त में पड़ चुकी है। इसका प्रायः अर्थ यह होता है कि अगर कुछ लोगों को लाभ मिला भी तो इसमें सबसे नीचे के स्तर पर वही लोग होते हैं जो सबसे गरीब हैं।

अधिकांश राज्यों में पंचायतें पहले भी एक मखौल रही हैं और आज भी उनकी स्थिति कुछ बदली नहीं है। इसका नतीजा यह हुआ है कि जिन ग्रामसभाओं को यह काम सौंपा गया कि वे उन लोगों की शिनाख्त करें जिनको मदद की जरूरत है तो उन्होंने जो कुछ किया उससे और नुकसान ही हुआ। बिहार के कई हिस्सों में देखा गया कि सरपंच के परिवार के ही सदस्यों को बार–बार सहायता राशि बांटी गई। इसका अर्थ यह निकला कि एक से भी अधिक योजनाओं के तहत एक ही परिवार ने कई बार कर्ज ले लिया।

बिहार के लोग जानते हैं कि उन्हें कुछ पैसा खर्च करने की जरूरत है ताकि वे भी समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अंतर्गत कर्ज पाने वालों की दौड़ में शामिल हो जाएं। पलामू में मैंने इस कार्यक्रम के संक्षिप्त अंग्रेजी नाम आइ.आर.डी.पी. का एक नया रूप सुना–*इसको रुपया देना पड़ेगा*। इससे पता चलता है कि इस कार्यक्रम के तहत दी जाने वाली सहायता राशि ने अपनी कैसी छवि बनाई है। इसके अलावा 1989–90 के बाद गांवों में ऋण देने की पुरानी प्रथा के ध्वस्त हो जाने से भी गरीबों पर काफी चोट पड़ी है।

एक छोटे आदिवासी किसान का उदाहरण लें जिसे इस योजना के तहत 8000 रुपए का ऋण प्राप्त हुआ। 1989–90 से पूर्व इस कर्ज पर उसे 6.5 से लेकर 8 प्रतिशत तक ब्याज देना पड़ता। आज उसे इसी राशि के लिए 12.5 प्रतिशत ब्याज देना पड़ता है। निश्चय ही बंबई या दिल्ली के मुकाबले, जहां 18 प्रतिशत ब्याज देना होता है, यह राशि बहुत कम है। लेकिन इसे और भी कम किया जा सकता था।

अनेक मामलों में यह देखा गया है कि 8000 रुपए की ऋण राशि में से छोटे सरकारी अधिकारियों और स्थानीय बैंक अधिकारियों के हिस्से में लगभग 3000 रुपए चला जाता है। लेकिन कर्जदाता को एक दस्तावेज पर अंगूठे का निशान लगाकर यह ऐलान करना पड़ता है कि उसे 8000 रुपए मिले। उसे इसी राशि पर ब्याज की रकम अदा करनी पड़ती है जबकि यथार्थ में उसे केवल 5000 रुपया ही मिल सका। अगर इस पर गौर करें तो हम पाएंगे कि उसे 20 प्रतिशत के हिसाब से ब्याज देना पड़ा जो व्यापारिक बैंकों की निर्धारित दरों से भी ज्यादा है। इसके अलावा उसे वह तीन हजार रुपया लौटाना पड़ता है जो उसने ऋण के रूप में कभी लिया ही नहीं।

ग्रामीण लोगों को इन योजनाओं के अंतर्गत गाएं और भेड़ें भी दी गई हैं। इन्हें देते समय किसी ने यह जानने की जरूरत नहीं महसूस की कि जिन लोगों को गाएं और भेड़ें दी जा रही हैं उनकी हैसियत इस योग्य है कि नहीं कि वे इन मवेशियों को चारा खिला सकें। प्रायः ऐसा होता है कि जिन गरीब लोगों को यह सुविधाएं दी गई उनके मवेशी या तो किसी बीमारी से मर गए या उन्हें भरपूर चारा नहीं मिल सका और वे बेकार हो गए। एक तरफ मवेशियों को खोने का नुकसान तो उन्हें उठाना ही पड़ा दूसरी ओर उनके बीमा कराने पर जो खर्च आया वह भी उन्हें झेलना पड़ा।

डा. वी.के. रामचंद्रन ने "कृषि में मजदूरी, श्रम और पराधीनता" शीर्षक अध्ययन में इस पहलू पर काफी विचार किया है। 1986 में तमिलनाडु के एक गांव के सर्वेक्षण के दौरान उन्होंने देखा कि उस गांव में एक भी ऐसा परिवार नहीं है जिसके पास वे मवेशी बचे रहे हों जिन्हें समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अंतर्गत लाभ पहुंचाया गया था। इसके अलावा बीमा कंपनियों से जो धनराशि उन्हें मिलनी चाहिए वह भी नहीं मिल सकी जबकि प्रीमियम की सारी किश्तें उन्होंने अदा कर दी थीं। डा. रामचंद्रन का कहना है कि अनेक गरीब परिवारों के लिए यह योजना एक क्रूर अभिशाप साबित हुई।

बिहार में गोड्डा में अधिकारियों ने पहाड़िया जनजाति के लोगों को इन योजनाओं के तहत लाभ पहुंचाया जबकि इस जनजाति ने कभी इसकी इच्छा भी नहीं जाहिर की थी। अधिकारियों ने अनेक परिवारों को दो-दो गाएं दीं। इन गायों की खरीद में आमतौर पर काफी भ्रष्टाचार हुआ। अधिकारियों ने सस्ते मूल्य पर कमजोर और बीमार गाएं खरीदीं और गरीब परिवारों को ये गाएं सौंप दी गईं। गोड्डा में उस जनजाति के बारे में अज्ञानता ने और भी गड़बड़ कर दी।

पहाड़िया लोग दूध के बने उत्पादों का सेवन नहीं करते लेकिन किसी को इसकी जानकारी ही नहीं थी। दरअसल वे गोमांस खाते हैं और कइयों ने योजना के तहत मिली सहायता का इस्तेमाल भी इसी रूप में कर लिया। कुछ अन्य लोगों ने सूखे वाले इलाके में गायों को छोड़ दिया जहां वे मर खप गईं। फिर इन बेहद गरीब लोगों को उस कर्ज का भुगतान करना पड़ा जिसे इन्होंने कभी चाहा भी नहीं था।

'लंपट लोकप्रियता' और छोटे किसानों पर लदे हुए कर्ज के मुद्दे पर प्रहार करने

वाले संपादकीय लिखने में अनेक पत्रकारों को काफी समय तक व्यस्त रहना पड़ा। यह सही है कि लाखों छोटे किसानों पर कुल मिलाकर विभिन्न संस्थाओं का 21000 करोड़ रुपए का कर्ज चढ़ा हुआ है। लेकिन साथ ही यह भी एक तथ्य है कि इस कर्ज का बोझ उठाने वाले किसानों की कुल संख्या के मुकाबले बड़े और मझोले व्यापारियों की एक बहुत छोटी संख्या है जिन पर संस्थाओं का कर्ज इतना है कि जो किसानों को कर्ज के रूप में दी गई धनराशि का लगभग तीन गुना होगा। लेकिन बड़े व्यापारिक घरानों द्वारा कर्ज की अदायगी न किए जाने पर संपादकीय लिखने की प्रेरणा नहीं आती। इन संपादकों को पता है कि उनके वेतन के पैसे कहां से आते हैं।

एक के बाद एक जिन गांवों में मैं गया किसानों ने उन अनुभवों को बताया जो कर्ज हासिल करने से संबंधित कठिनाइयों से हैं। उन्होंने बताया कि कर्ज के लिए उन्हें लंबी दूरी तय करनी पड़ती थी और दफ्तर में कई-कई बार जाना पड़ता था। उन्होंने बताया कि किस तरह छोटे अफसरों की जेबें गर्म करनी पड़ती थी, जगह-जगह से तरह-तरह के प्रमाण-पत्र लेने में उन्हें कितनी दिक्कतों का सामना करना पड़ता था और इस सारी प्रक्रिया में उनका कितना समय और पैसा खर्च होता था।

आमतौर पर घरेलू जरूरतें ही उन्हें कर्ज लेने को मजबूर करती थीं। घर में खाने-पीने पर जो खर्च आता था इसके अलावा शादी-ब्याह और तीज-त्यौहार के मौके पर भी पैसों की जरूरत पड़ती थी। कभी-कभार मकान की मरम्मत के लिए अथवा उत्पादन से जुड़े कार्यों के लिए भी इन पैसों का इस्तेमाल किया जाता था। इस तरह के कामों के लिए सरकारी स्तर पर कर्ज की कोई व्यवस्था नहीं है। लेकिन अगर घर में खाने के लिए पैसे न हों तो वे किसका दरवाजा खटखटाएं?

गांव में सूदखोर महाजन पड़ोसी की तरह ही होता है। अगर किसी किसान को तीन हजार रुपए की जरूरत है तो इसके लिए उसे फिर हफ्तों किसी दफ्तर के चक्कर नहीं काटने पड़ते हैं। उसे यह पैसा गांव में ही मिल जाता है। बेशक कभी-कभी ब्याज की पहली किश्त को मूलधन में से काट लिया जाता है। कोई उससे यह नहीं पूछने जाता कि किस काम के लिए वह कर्ज ले रहा है-उसे इसके लिए कोई सफाई नहीं देनी पड़ती है। मुमकिन है कि ब्याज के बोझ से उसकी जिंदगी समाप्त हो जाए लेकिन थोड़े समय की राहत के रूप में यह कर्ज काम आ जाता है।

1989-90 के बाद औपचारिक ग्रामीण ऋण व्यवस्था के समाप्त होने के साथ ही उत्पादन संबंधी कार्यों के लिए भी कर्ज मिलना कठिन हो गया है। इसी का नतीजा है कि किसानों को महाजनों की शरण में जाना पड़ता है। इस कर्ज के दुष्चक्र से निकलने की छटपटाहट भी ग्रामीण परिवारों में देखी जाती है लेकिन इससे बाहर निकलने का रास्ता कइयों के लिए बहुत कठिन है।

कर्ज की सीमा और शर्तें चौंकाने वाली हैं। हर जगह नकद धनराशि उपलब्ध है। रामनाड में हमने "ब्याज मुक्त" ऋण देखा तो भोदन में यह कर्ज अनाज के रूप में है।

खरियार में यह कपड़े के रूप में देखा जाता है। इसके अलावा और भी कई रूप हैं। बदले में कर्ज देने वाला जमीन, बेगार, उत्पाद, संपत्ति, या इन सब चीजों में से थोड़ा–थोड़ा मिलाकर वसूल लेता है। पश्चिमी उड़ीसा के कई हिस्सों में यह देखा गया है कि कर्ज अदायगी की अक्षमता ने बंधुआ मजदूरी प्रथा और वेश्यावृत्ति को जन्म दिया।

"सूदखोर" शब्द भी कम जटिल नहीं है। इसमें आपको पूर्णकालिक लोग बहुत कम मिलेंगे। प्रायः देखा जाता है कि जमींदार और व्यापारी ही अपनी अन्य गतिविधियों के साथ–साथ इस धंधे को भी चलाते रहते हैं। यह तो बड़े स्तर की बात है। इसके अलावा कुछ दुकानदार और छोटे सरकारी अधिकारी भी इस काम में लगे हुए हैं। इतना ही नहीं खुद गरीबों के बीच से भी कुछ ऐसे लोग हैं जो छोटी–मोटी राशि कर्ज के रूप में देते हैं और बदले में ब्याज वसूलते हैं। मिसाल के तौर पर कालाहांडी में दलितों का एक गुट सूदखोरी का काम करता है। लेकिन यहां काम का स्तर बंटा हुआ है और छोटा स्थानीय सूदखोर शहर में बसे बड़े सूदखोर का वसूली एजेंट होता है। गरीब पड़ोसियों के बीच व्यापारिक किस्म की सौदेबाजी भी चलती रहती है।

कर्जदारी के बारे में कुछ भी बताते समय संख्या और श्रेणी का महत्व तो है लेकिन इस समस्या को संख्या तक सीमित कर देना समस्या की अनदेखी है। जहां तक नकद राशि की बात है उससे पूरी कहानी का केवल एक अंश ही सामने आता है। सूदखोरी का अर्थ वही है कि जो किसी भी सूदखोरी के नतीजे के रूप में दिखाई पड़ता है। एक सीमा के बाद इस समस्या से निपटने की किसान की क्षमता पूरी तरह समाप्त हो जाती है और फिर इसका कोई अर्थ नहीं रह जाता कि वह जो सालाना ब्याज दे रहा है वह 120 प्रतिशत है अथवा 380 प्रतिशत।

बंबई की वेश्या बस्ती कमाठीपुरा में महिलाएं वेश्याओं के रूप में बंधुआ बनी हुई हैं। वर्षों पूर्व उनके नाती–पोतों ने 12 रुपए से 50 रुपए तक का कर्ज लिया था जिसके फलस्वरूप उन्हें इस स्थिति से गुजरना पड़ रहा है। समूचे पश्चिमी उड़ीसा में आपको ऐसे गांव मिल जाएंगे जहां मजदूरों और किसानों को न केवल कुछ पैसा कमाने के लिए लंबी–लंबी दूरी तय करते हुए शहर की ओर जाना पड़ता है बल्कि उन्हें परिवार पर चढ़े कर्ज के कारण भी यह कष्ट झेलना पड़ता है। समूचे देश में ऐसे लोग आसानी से मिल जाएंगे जिन्हें इस कर्ज के कारण अपनी जमीन, जीविका और सामाजिक प्रतिष्ठा से हाथ धोना पड़ा।

कर्जदारी की प्रथा से गुलामी और निर्भरता पैदा होती है। कर्ज देने वाला कितना भी क्रूर क्यों न हो और उसने कितनी भी धूर्तता से यह पैसा क्यों न कमाया हो पर कर्ज चुकता करने की प्रवृत्ति को एक आदर्श प्रवृत्ति माना गया है और मनुस्मृति के ही समय से भारतीय चेतना में यह बात बैठा दी गई है कि कर्ज का बोझ उतार कर ही जाना चाहिए। मनु ने राजा के लिए कोई फैसला लेते समय जिन 18 बातों पर जोर दिया था उसमें पहली बात यह थी कि जिस व्यक्ति के बारे में फैसला लिया जाना है उसने कर्ज

की राशि का भुगतान किया है अथवा नहीं।

मनु का कहना था कि "जिसने कर्ज दिया है उसे यह अधिकार है कि वह कर्ज की राशि वापस पाने के लिए किसी भी साधन का इस्तेमाल करे और जिसने कर्ज लिया है उसका यह कर्तव्य है कि वह किसी भी तरह से कर्ज का भुगतान करे।" बेशक कुलीन लोगों को इस नियम से अलग रखा गया था। कहा गया था कि निम्न जाति के लोग अगर कर्ज का भुगतान नहीं कर सकते हैं तो वे बदले में सूद सहित अपना श्रम दें जबकि ब्राह्मणों के लिए यह विधान था कि वे "सुविधानुसार किश्तों में कर्ज की अदायगी कर दें।

इस नियम के बने न जाने कितनी शताब्दियां बीत गईं पर आज भी अभिजात वर्ग को यह सुविधा प्राप्त है। यही वजह है कि बड़े व्यापारिक घरानों पर कर्ज का बोझ पहाड़ की तरह ही क्यों न हो जाए, वे किश्तों में भी इसका भुगतान करने के बारे में नहीं सोचते।

थारागर का अत्याचार

रामनाड (तमिलनाडु): थारागर (कमीशन एजेंट) ने एक छोटे किसान द्वारा लायी गयी दो बोरियों में से एक के मुंह में दोनों हाथ डाला और उसमें से एक किलोग्राम मिर्चियां निकाल लीं। बड़े लापरवाह ढंग से इन मिर्चियों को उठाकर उसने एक तरफ रख दिया–यह सामी वथल (भगवान का अंश) था।

रामस्वामी मंत्रमुग्ध होकर देखता रहा। उसके पास पौन एकड़ जमीन है जिसमें वह मिर्च की खेती करता है और इसी से अपना गुजारा चलाता है। वह कुछ कर भी नहीं सकता था क्योंकि इस थारागर के अलावा और किसी को वह अपनी मिर्चियां बेच ही नहीं सकता। ऐसा क्यों? दरअसल सीजन के शुरुआत में ही इस थारागर ने रामस्वामी को अग्रिम राशि के रूप में दो हजार रुपए दे दिए थे और फसल बोए जाने से पहले ही उसने सारी उपज को खरीद लिया था।

रामनाड्थपुरम्, जिसे रामनाड भी कहते हैं, पहले जमींदारी थी और इस जमींदारी की जगह सूदखोरी ने ले ली है और सूदखोरी का यह एक महत्वपूर्ण रूप है। बावजूद इसके भारत के सर्वाधिक गरीब जिलों में से एक इस जिले के थारागर केवल सूदखोर ही नहीं है। उनके पास बड़ी–बड़ी जोतें भी हैं, परिवहन के व्यापार से जुड़े थोक विक्रेता उनके पास हैं और कुछ मामलों में ये लोग निर्यात भी करते हैं। रामास्वामी का जिस थारागर से साबका पड़ा है उसके साथ यह सारी खूबियां जुड़ी हुई हैं। इसके साथ उसके संबंध भी बहुत घनिष्ठ हैं। रामनाड मिर्च व्यापारी एसोसिएशन के अध्यक्ष ने मुझे बताया कि इस इलाके में केवल वही काम कर सकते हैं जो हमारे सदस्य हैं।

इस एसोसिएशन में कुल 70 लोग हैं जो रामनाथपुरम् के बाजार में आने वाली मिर्च की समूची फसल पर नियंत्रण रखते हैं और इस तरह से सबसे ज्यादा मिर्च पैदा करने वाले इस जिले के अत्यंत गरीब हजारों किसानों की जिंदगी पर भी उनका नियंत्रण बना रहता है। इस जिले में धान की फसल के बाद मिर्च की पैदावार सबसे ज्यादा होती है।

जैसे ही रामस्वामी ने थारागर के क्षेत्र में प्रवेश किया उस एजेंट ने प्रत्येक सौ रुपए मूल्य पर पांच रुपए की दर से 20 रुपए का कमीशन जमा करा लिया। रामस्वामी के पास दो बोरियां थीं और प्रत्येक में 20 किलोग्राम मिर्चे थीं। रामस्वामी इन मिर्चो को किसी और के हाथ उसी हालत में बेच सकता है अगर इस थारागर ने खरीदने की अनिच्छा जाहिर कर दी हो।

थारागर ने थोक व्यापारियों से पहले ही सलाह मशविरा कर लिया है। वैसे भी सारे थोक व्यापारी उसी की बिरादरी के हैं। इसके बाद वह अपने साथी थारागरों की मदद से मिर्चो की कीमत निर्धारित करता है। इस काम को वे हाथों और उंगलियों की किसी गोपनीय भाषा से करते हैं और ऐसा करते समय एक तौलिए के नीचे वे अपनी उंगलियों के साथ कुछ बातचीत करते रहते हैं। मिर्च का मालिक किसान बस चुपचाप उनकी हरकतें देखता रहता है। किसानों द्वारा लाई गई हजारों किलो मिर्चे थारागर के अहाते में कई–कई दिन तक पड़ी रहती हैं क्योंकि उनके बीच कीमतें निर्धारित करने के सिलसिले में बातचीत जारी रहती है। इस दौरान बिजली की रोशनी और पंखों की हवा के कारण उनकी मिर्चे सूखती भी रहती हैं। जब तक थारागरों की बातचीत पूरी होती है इन मिर्चों का वजन काफी कम हो चुका होता है।

जिस मामले का मैं जिक्र कर रहा हूं उसमें थारागर ने रामस्वामी को दस रुपए प्रति किलोग्राम मूल्य निर्धारित किया। इसके बाद इसी में से थोड़ी मिर्च सामीवथल के रूप में निकाल दी गई जिससे उस गरीब किसान को दस रुपए की और चोट पड़ गई। इसके बाद थारागर ने 20 रुपए और काट लिए और यह कहा कि जिन बोरियों में मिर्चे रखी गई हैं उनका वजन एक किलोग्राम है। सचाई यह है कि इन बोरियों का वजन दो सौ ग्राम के आसपास था।

फिर रामस्वामी ने देखा कि उसने अपनी जिन बोरियों को बड़ी सावधानी से तौला था और प्रत्येक बोरी का वजन बीस किलोग्राम पाया था, यहां के तौल में उनका वजन महज 18 किलोग्राम आया। इस तरह उसका 40 रुपया और कट गया। रामस्वामी को पता है कि उसे ठगा जा रहा है लेकिन यह स्पष्ट नहीं है कि किस तरह ठगा जा रहा है। थारागर भी यह नहीं बताता कि उसने कमीशन तो चालीस किलोग्राम पर लिया है लेकिन मूल्य का भुगतान केवल 32 किलोग्राम के लिए कर रहा है।

सीजन के समाप्त होते–होते रामस्वामी को थारागर के यहां पांच चक्कर लगाने पड़े और हर चक्कर में भगवान का अंश देते–देते उसकी काफी मिर्चे ऐसे ही निकल गई। अपने श्रम की एवज में उससे निर्धारित मूल्य के अनुसार कुल 1600 रुपए मिलेंगे। लेकिन अगर थारागर इन्हीं मिर्चों का निर्यात कर दे तो वह इससे 20000 अथवा इससे भी अधिक पैसे कमा लेगा। इसके अलावा रामस्वामी ने जो दस बोरियां पहुंचाई हैं उनमें से कुल लगभग चालीस किलोग्राम मिर्चे एजेंट के पास मुफ्त में ही पहुंच जाती हैं। यह हाल यहां के सैकड़ों रामस्वामियों का है।

इन्हीं मिर्चो को अगर वह खुद जाकर मद्रास के बाजार में बेचता तो उसे कम से कम प्रत्येक किलोग्राम पर 25 रुपए मिलते जबकि थारागर के यहां उसे प्रति किलो महज दस रुपए प्राप्त हुए हैं। अगर उसके पास कोई अपनी वितरण व्यवस्था होती तो यह अपनी मिर्चो को केरल के बाजार में पहुंचाने की व्यवस्था करता जहां कीमतें चालीस रुपए प्रति किलो हैं।

वास्तविक उत्पादक तो चुपचाप खड़ा रहता है जबकि थारागरों में से दो लोग मिर्चों की कीमत तय करते हैं। इनमें से एक मिर्च के ढेर पर खड़ा हो जाता है। फिर दोनों एक तौलिये के नीचे हाथ मिलाते हैं और उंगलियों की भाषा से मिर्च की कीमत लगाते हैं।

रामस्वामी के एजेंट में 70 का गुणा करिये और उत्पादक किसान में कई हजार का गुणा कर दीजिए फिर आप रामनाड पहुंच जाएंगे। जैसा कि यहां के एक वरिष्ठ अधिकारी का कहना है कि रामनाड में "एक अजीबोगरीब शोषणकारी संबंध" विद्यमान है। इसके अलावा लाखों करोड़ों रुपए का बाजार चंद लोगों की मुट्ठी में कैद है जिनका समूचा व्यवसाय किसानों को कर्ज के जाल में फंसाकर रखने पर ही टिका हुआ है।

एक बात और देखने में आती है कि अगर किसी थारागर की जमीन इन

किसानों की जमीनों के आसपास है तो आप पाएंगे कि किसानों को ये लोग पानी भी बेचते हैं। इस पृष्ठभूमि में देखें तभी हम उस नफरत को समझ सकते हैं जो थारागरों के खिलाफ रामनाड के गरीब किसानों के अंदर है।

एक बार फिर रामस्वामी की बात करें। उसने इन मिर्चों को पैदा करने में तीन हजार रुपए व्यय किये जबकि इन्हें उसे केवल 1600 रुपए में थारागर के हाथों बेचना पड़ा। अपने खेतों में पानी देने के लिए उसे थारागर के पंपिंग सेट की मदद लेनी पड़ी थी जिस पर उसने 300 रुपए खर्च किए थे। इससे उसके ऊपर एक और कर्ज चढ़ गया जबकि पिछले वर्ष इसी तरह के कामों के लिए उसे कर्ज लेना पड़ा था जो अभी तक चला आ रहा था। इसका अर्थ यह हुआ कि अगले दो या तीन सीजन के लिए रामस्वामी की फसल गिरवी रखी जा चुकी है। इससे बड़ी विडंबना क्या होगी कि जिस फसल का बीज भी उसने खेत में नहीं डाला है वह पहले से ही थारागर के हाथों बंधक बन गई है।

रामस्वामी की ही तरह अधिकांश एक एकड़ अथवा इससे कम जोत वाले छोटे और गरीब किसान बदहाली में पड़े हुए हैं। ऐसे मामलों में किसान के ऊपर एजेंट का नियंत्रण पूरा–पूरा हो गया है। हालांकि यह भी देखने में आया है कि थारागर लोग तपाक से जवाब देते हैं कि जो अग्रिम राशि उन्होंने किसानों को दी है उस पर कोई सूद नहीं लिया गया है। मिर्ची का बाजार मंदा चल रहा था और मंदी के मौजूदा कारण पर प्रकाश डालते हुए मद्रास विकास अध्ययन संस्थान के एक शोधकर्ता विद्यासागर ने बताया कि यह तथाकथित मंदी इसलिए आई है क्योंकि अब बाजार के महाजन सीधे किसानों से खरीद करने लगे हैं। जब खरीद का काम पूरा हो जाएगा तो अगले दो तीन महीनों में कीमतें फिर ऊपर चढ़ जाएंगी।

रामनाड के मिर्च किसान कीमतों में आई मौजूदा मंदी को थारागरों का षड़यंत्र मानते हैं। अतीत के अनुभव से उनके इस संदेह की पुष्टि होती है। एक बार अप्रैल के महीने में जिले के तत्कालीन कलक्टर ने हस्तक्षेप किया और व्यापारियों को निर्देश दिया कि वे एक बोरी की कीमत दो सौ रुपए दें। एतिवायाल गांव के अनुसूचित जाति के एक युवा किसान बोस ने बताया कि उन लोगों ने एक सप्ताह तक एक बाजार में इस निर्देश का पालन भी किया लेकिन आगे चलकर फिर मिर्चों की कीमत 80 रुपए प्रति बोरी हो गई।

रामनाड मिर्च व्यापार एसोसिएशन के अध्यक्ष आर. श्रीधरन इससे असहमत हैं। उनका कहना है कि जरूरत से ज्यादा उत्पादन होने के कारण कीमतों में गिरावट आयी है और ऐसा केवल यहीं नहीं हो रहा है बल्कि समूचे देश में यह स्थिति है। जब उनसे यह पूछा गया कि यदि ऐसा ही है तो थारागर लोग किसानों को अग्रिम राशि देकर और ज्यादा मिर्चें पैदा करने के लिए क्यों प्रेरित करते हैं? इसके जवाब में श्रीधरन ने बड़े हल्के–फुल्के ढंग से कहा कि अग्रिम धनराशि देना तो यहां का दस्तूर है।

निर्यात के बारे में उन्होंने बताया कि अगर फसल अच्छी हुई हो और सीजन अच्छा चल रहा हो तो हम प्रत्येक किलोग्राम पर 4.40 डॉलर पा जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि रामस्वामी को जहां बीस किलोग्राम की पूरी बोरी पर मामूली सा पैसा मिलता है वहीं निर्यात करने वाले को एक किलोग्राम पर 150 रुपए मिल जा रहे हैं। श्रीधरन खुद भी एक थोक विक्रेता और निर्यातकर्ता है। मेरी उससे बातचीत उसकी इलेक्ट्रानिक्स की दुकान में हुई। वह काफी बातूनी है इस कस्बे में वाशिंग मशीन और रेफ्रिजरेटर बेचने वाली गिनी चुनी दुकानों में से उसकी दुकान है।

सरकार ने बाजारों को व्यवस्थित करने की जो योजना बनाई है उसका असर यहां कितना है? यह पूछने पर व्यापारी लोग इसका मजाक उड़ाते हैं और किसानों को तो इसकी कोई जानकारी भी नहीं है। श्रीधरन का कहना है कि सरकार की योजना तभी प्रभावकारी हो सकती है जब वह किसानों को तो गोदाम की सुविधाएं दे और हमें ऋण की। उसने यह नहीं बताया कि क्यों न सरकार खुद ही किसानों को भी ऋण की सुविधाएं दे लेकिन एक दूसरे थारागर ने मेरे सवाल के जवाब में कहा कि अगर सरकार ही यह काम करने लगेगी तो हम यहां किसलिए बैठे हैं।

थारागरों द्वारा जो ऋण सुविधाएं दी जाती हैं उनके बारे में एक वरिष्ठ अधिकारी ने बताया कि पुराने जमाने में इसको नंगी लूट कहा जाता था। आज भी किसान लोग इसी रूप में इसे देखते हैं।

इतिवायल गांव के अनुसूचित जाति के किसान नटराजन ने एक थारागर से ब्याज मुक्त अग्रिम राशि के रूप में कुछ पैसे लिए थे लेकिन उसका भुगतान वह समय से नहीं कर सका। नतीजा यह हुआ कि उसे अपनी अगली फसल एक दूसरे थारागर के पास गिरवी रखनी पड़ी। इस बीच चूंकि उसे जिंदा रहने के लिए फसल उगानी ही थी, उसने बहुत कम मूल्य पर अपना उत्पाद थारागर के हाथों बेच दिया। इस प्रक्रिया में उसे अपनी पत्नी का एकमात्र जेवर गिरवी रखना पड़ा जिसकी कीमत लगभग चार हजार रुपए थी। जेवर भी उसे एक थारागर के यहां ही रखना पड़ा और बदले में उसे मिले 1200 रुपए। इस राशि पर उसे प्रति माह दस प्रतिशत की दर से ब्याज देना पड़ता था। दस प्रतिशत का मतलब हुआ कि 120 प्रतिशत सालाना। नटराजन को पता है कि वह कभी भी कर्ज नहीं उतार पायेगा और जीवनभर ब्याज ही देता रह जाएगा।

एक स्थानीय कार्यकर्ता वी. काशीनाथ दुरई ने बताया कि थारागरों को पता है कि उनके एडवांस देने का क्या असर होने जा रहा है। यही वजह है कि वे बड़ी उदारता के साथ 'ब्याज मुक्त एडवांस' दे देते हैं।

क्या इस अविश्वसनीय प्रणाली को समाप्त किया जा सकता है? तमिलनाडु किसान सभा के जिला सचिव आर. ज्ञानवसलम का कहना है कि हां इसे समाप्त किया जा सकता है। इसके लिए राज्य को चाहिए कि वह गुंटूर की तरह एक उचित बाजार पैदा करे और इस बात के लिए हस्तक्षेप करे कि उत्पादन करने वाले को प्रति किलोग्राम

25 रुपए की न्यूनतम राशि तो मिले ही। इसके अलावा सरकार के पास तौल करने की एक ऐसी प्रणाली होनी चाहिए जो शहर में प्रवेश करने वाली सभी बोरियों की जांच करे और उसे अपना प्रमाण पत्र दे। उन्होंने यह भी बताया कि यहां मिर्च से तेल निकालने वाली एक फैक्ट्री होनी चाहिए जिससे उन संभावनाओं को भी पूरा किया जा सके जिसके लिए जिले से बाहर के केंद्रों पर आश्रित रहना पड़ता है और बेशक किसानों के लिए ऋण की सुविधाएं तो होनी ही चाहिए।

ज्ञानवसलम की स्पष्ट राय है कि जब तक कर्ज के चक्र को तोड़ा नहीं जाएगा, कोई प्रगति नहीं हो सकती। वह बहुत सक्रिय रूप से मिर्च पैदा करने वाले किसानों को संगठित करने में लगे हैं ताकि वे अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर सकें। ज्ञानवसलम को उम्मीद है कि उनकी कुछ मांगें जरूर मानी जाएंगी। तब तक रामस्वामी और नटराजन को अपनी बोरियां लेकर थारागर के पास जाना ही पड़ेगा।

मोटी 'तनख्वाहें' पाने वाले गुलाम

रामनाड (तमिलनाडु): मिसल गांव लगभग 40 किलोमीटर की दूरी पर है। यह दूरी कहां से नापी जाती है किसी को नहीं पता। शायद यही कारण है कि यहां के जमींदार एक ऐसी तरह की बंधुआ मजदूरी प्रथा को लागू करने में लगे रहते हैं जो अत्यंत धूर्ततापूर्ण है पर जिस पर लोगों का ध्यान नहीं जाता। इन जमींदारों की इस धूर्तता के शिकार चकिलियायान लोग हैं जो हरिजनों में सबसे नीचे की श्रेणी में आते हैं। वैसे भी रामनाड में जो जातीय ढांचा है उसकी सबसे निचली श्रेणी पर हरिजन ही हैं।

हरिजनों में पल्लन और पारायन समूहों के लोग भी आते हैं जो खुद भी एक दूसरे के साथ छुआछूत का व्यवहार करते हैं। जहां तक चकिलियायान लोगों की बात है उन्हें तो कोई हरिजन नाई भी नहीं मिलता जिनसे वे अपने बाल कटवा सकें। परंपरागत तौर पर वे चमड़े का काम करते हैं और ढोल बजाते हैं।

इस गांव के चकिलियायान लोगों की दुर्दशा यहीं तक सीमित नहीं है। मुदुकुलुत्तूर ताल्लुक में रहने वाले लगभग 80 परिवारों में से प्रत्येक परिवार का कोई न कोई सदस्य गांव के जमींदार के यहां बंधुआ मजदूर की जिंदगी जी रहा है।

यहां की बंधुआ प्रथा इस प्रकार है—जमींदार उस बंधुआ मजदूर को "वेतन" के रूप में कुछ पैसे देता है और साथ ही वेतन के अलावा कुछ अन्य सुविधाएं भी मुहैया करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उसे पूरे साल के लिए एक हजार रुपए का भुगतान कर दिया जाएगा और उसे इस बात की छूट होगी कि घर में खाने के बाद जो कुछ बच जाता है उसे वह अपने साथ ले जा सके। मालिक बड़ी शान के साथ यह बताता है कि इसमें मालिक—नौकर संबंध के अलावा और कुछ भी नहीं है।

मजे की बात यह है कि जो नौकर है वह और कहीं काम नहीं कर सकता और एक तरह से उस जमींदार का वह गुलाम है। जयमनी और अरमोगम को अपनी बेटी जयरानी की शादी के लिए नकद पैसों की जरूरत थी। जयमनी का कहना है कि हमारे पास बंधक रखने के लिए अपनी मेहनत के अलावा और कुछ भी नहीं था। इसलिए उन्होंने सूदखोर महाजन से कुछ अग्रिम धनराशि ली और अपने बेटे के श्रम को उसके यहां गिरवी रख दिया। अगले दिन सवेरे से ही उसका बेटा उस महाजन जमींदार के यहां हाजिरी बजाने लगा और सवेरे आठ बजे से लेकर रात के नौ बजे तक वह वहीं खटता रहता। घर के सारे कामकाज तो वह करता ही था उसे मालिक के मवेशियों को लेकर चराने भी जाना पड़ता था। रात में दस बजे वह अपने साथ घर का बचा खुचा जूठन लेकर

अपने झोंपड़े पर पहुंचता था। यह सिलसिला पिछले कई महीनों से चल रहा है और इसके एवज में उसे सालाना तन्खवाह के रूप में एक हजार रुपए दिये जाएंगे।

बारह महीने खत्म होने पर उसे एक और साल के लिए बंधुआ बनना पड़ेगा क्योंकि दो हजार रुपए के कर्ज पर ब्याज इतना चढ़ चुका होगा कि जिसे उतार पाना ही मुश्किल होगा। यह ब्याज दस रुपया प्रतिमाह की दर से है अर्थात एक सौ बीस प्रतिशत सालाना। इससे पहले से उसका पिता खुद उसी मालिक के यहां बंधुआ है क्योंकि ब्याज के पैसे का भुगतान वह नहीं कर सका था।

साठ वर्षीय पछी चकिलियायान तबके के बूढ़े लोगों में से एक है। उसके राशन कार्ड में उसका नाम पछी ही दर्ज है जिसका अर्थ तमिल में कीड़े—मकोड़े से होता है। आपको यहां एक और नाम—अदिमाई मिलेगा जिसका अर्थ है गुलाम। मालिकों ने कई पीढ़ियों से इस तपके के लोगों के लिए इसी तरह के नाम तय कर रखे हैं। इन नामों को बहुत बचाकर रखा गया है।

इनके राशन कार्डो को देखने से पता चलता है कि आठ सदस्यों वाले परिवार की मासिक आय दो सौ से ढाई सौ रुपए प्रतिमाह है।

पछी का कहना है कि मासिक आय के रूप में जो राशि लिखी गई है वह भी अफसर की मनमानी है। 'पूरे साल तो हम लोगों की कोई कमाई होती ही नहीं है फिर उसने ढाई सौ रुपए प्रतिमाह लिख दिया।' राशन कार्ड देखने से पता चलता है कि आय संबंधी आंकड़े के लिए जो कालम बना है उसमें अजीब तरह की जानकारियां मांगी गई हैं। मिसाल के तौर पर—क्या डबल गैस सिलिंडर उपलब्ध है? दो सिलिंडर और गैस का चूल्हा खरीदने में इतना पैसा व्यय हो जाएगा जितना समूचा परिवार सीजन के किसी बहुत अच्छे महीने में कमाएगा।

कुछ ऐसे भी हैं जो दूसरों के मुकाबले थोड़े खुदकिस्मत हैं। अरूमुगम को तन्ख्वाह तो मिलती ही है साथ ही उसे मालिक के घर तीनों वक्त खाना—खाने को भी मिल जाता है। लेकिन सबकी किस्मत ऐसी नहीं है। इन परिवारों की जो लड़कियां बंधुआ के रूप में काम करती हैं उन्हें काम तो लड़कों के जितना ही करना पड़ता है लेकिन वेतन के रूप में कुछ भी नहीं मिलता। बस खाने के लिए उन्हें कुछ मिल जाता है।

शरमुगम की बेटी चित्रावली की उम्र 12 साल है। वह भी उसी जमींदार के यहां बंधुआ है लेकिन उसके लिए कोई वेतन नहीं तय है। वह मालिक के यहां खाना खाती है और रात में सबके खाने के बाद जो बच जाता है उसे लेकर अपने घर जाती है। उसका बेटा 15 वर्षीय वेलु भी बंधुआ है लेकिन उसे 1400 रुपए की सालाना तन्ख्वाह मिलती है जैसे ही यह पैसा मिलता है वह पहले लिए गए ऋण पर जमा ब्याज की किस्त के रूप में वहीं जमा हो जाता है। वेलु यहां लगभग पांच वर्षो से काम कर रहा है और उसके काम के घंटे 12 से भी ज्यादा होते हैं। उसके मालिक ने हमें बहुत खुश होकर बताया कि उसका वेतन पहले एक हजार रुपए था जो बढ़ा देने के बाद 1400 हो गया।

22 वर्षीय श्रीनिवासन को मालिक ने छह महीने पहले 500 रुपए का कर्ज दिया और ब्याज की पहली किश्त के रूप में उसी समय 50 रुपए काट लिया। अब तक श्रीनिवासन 300 रुपए दे चुका है लेकिन यह रकम केवल ब्याज की रकम है। उसे नहीं लगता कि वह मूलधन भी कभी वापस कर पाएगा। अभी तो इसी कर्ज का ब्याज चुकता करने के लिए उसे कुछ और लोगों से भी कर्ज लेना पड़ा है।

हमने बहुत कोशिश की कि शायद ऐसा कोई परिवार मिल जाए जिसका कोई भी सदस्य बंधुआ न हो। पछी की दो बेटियां 20 वर्षीया मनिपुष्पम और 19 वर्षीया समियांद्राल दोनों बंधुआ मजदूर हैं लेकिन उनके लिए कोई वेतन नहीं है। चकिलियायान लोग अन्य मामलों में भी काफी कमजोर और पिछड़े लोगों की श्रेणी में आते हैं।

रामनाड के हरिजनों की अवस्था अन्य इलाकों के हरिजनों की तुलना में काफी खराब है। 1981 की जनगणना में अनुसूचित जातियों के बीच साक्षरता दर 25.3 प्रतिशत थी जो रामनाड में इससे भी लगभग सात प्रतिशत कम है। राष्ट्रीय स्तर पर हरिजन महिलाओं के बीच साक्षरता दर 11 प्रतिशत है लेकिन रामनाड में यह सात प्रतिशत से भी नीचे है। इसके अलावा यहां के हरिजनों के बीच चकिलियायान लोगों की स्थिति सबसे ज्यादा गई गुजरी है। मिसल गांव में जिन 210 निरक्षर लोगों से हमारी मुलाकात हुई उनमें से 160 से भी अधिक इसी समुदाय के थे। उनमें से केवल चार ने किसी हाईस्कूल के दर्शन किये थे। आज वे भी इतने पढ़े लिखे नहीं हैं कि कोई काम कर सकें।

इनके खाने की शैली देखकर और भी घबराहट होती है। ऐसे अनेक परिवार हैं जो पूरी तरह जूठन पर अथवा फेंके हुए खाने पर निर्भर रहते हैं। कभी–कभी तो ऐसा भी होता है कि मालिक के घर का जूठन इनका मुख्य आहार हो जाता है। आय और व्यय के बीच जो बहुत बड़ा अंतर है उससे ऐसा लगता है कि इनकी कर्जदारी कभी खत्म ही नहीं हो सकती।

यहां जातीय उत्पीड़न इस सीमा तक है कि अभी हाल तक अगर कोई साफ सुथरा और दाढ़ी मूछ बनाए चकिलियायान समुदाय का कोई दिखाई दे जाता था तो दंगा होने के लिए इतना ही काफी था। यहां की ऊंची जाति के लोगों ने हमेशा हरिजनों पर इस बात के लिए दबाव डाला कि वे अपनी हैसियत के मुताबिक कपड़े पहने अर्थात मैले कुचैले ही कपड़ों में रहें। इसकी जड़ें इतिहास में हैं। 1850 के दशक में मद्रास के ब्रिटिश गवर्नर ने पोशाक संबंधी इस नियम को बदलने की कोशिश की। उसने यह नियम बनाया कि अगर कोई हरिजन औरत अपना धर्म परिवर्तन करके ईसाई धर्म को अपना लेती है तो वह अपनी छाती और कंधे ढक सकती है। उससे पहले तक यहां की ऊंची जाति के लोगों ने जो नियम बनाए थे उनके अनुसार उन्हें ऐसा करने की छूट नहीं थी। इसका नतीजा यह हुआ कि 1950 और 1960 के दशक में चकिलियायान समुदाय के बहुत सारे लोगों ने ईसाई धर्म को कबूल कर लिया। लेकिन इससे भी उनकी हालत में बहुत सुधार नहीं आया।

यह एक ऐसा समुदाय है जिसके मामले में सचमुच सरकार ने हस्तक्षेप करने की कोशिश की। यह मानते हुए कि वे अत्यंत गरीबों में भी गरीब तपके के हैं, सरकार ने 1981 में गांव के अंदर जमीन का एक टुकड़ा अधिग्रहीत किया ताकि इनके लिए कुछ मकान बनाए जा सकें। ऐसा करते ही मिसल गांव के जमींदारों ने फौरन इसका विरोध किया। यह मामला 1986 तक लटकता रहा और अंततः जमींदारों पर सरकार ने दबाव डाला कि वे इस जमीन को दे दें।

इसका अर्थ यह हुआ कि आज लगभग तीस परिवारों के पास या तो मकान है या मकान बनाने के लिए जमीन। लेकिन इतने ही परिवार अभी भी बेघर–बार हैं। कुल मिलाकर देखें तो उनकी स्थिति में कुछ खास तब्दीली नहीं आई है क्योंकि सरकार की दिलचस्पी जातीय उत्पीड़न को चुनौती देने में तनिक भी नहीं है।

रामनाड जिले में हरिजनों की आबादी लगभग 18 प्रतिशत है और इनमें से 90 प्रतिशत से भी अधिक मिसल जैसे ग्रामीण क्षेत्रों में बसे हैं। जनगणना के आंकड़ों से पता चलता है कि इनमें से एक तिहाई भूमिहीन खेतिहर मजदूर हैं। शेष छोटे किसान और बटाई पर खेती करने वाले हैं। अब से दो वर्ष पूर्व एक युवा प्रोबेशनर आईएएस अधिकारी ने रामनाड जिले के 80 गांवों का अध्ययन किया था। उसने अपनी इस महत्वपूर्ण रिपोर्ट में बहुत दुखी होकर लिखा कि–" मैंने पाया कि पचास प्रतिशत से भी अधिक हरिजनों के परिवारों में जो संपत्ति है वह सौ रुपए से अधिक की नहीं है।" इसमें खेती बारी से संबंधित औंजारों को नहीं शामिल किया गया है।

मिसल के चकिलियायान लोगों के लिए रोजगार के अवसर बिलकुल नहीं हैं और उनके पास जमीन भी नहीं है। यहां तक कि शादी–ब्याह अथवा गमी के मौके पर परंपरागत रूप से ढोल बजाने के उनके कामों में भी बहुत बाधा पड़ी है। पछी और शरमुगम सहित उनके कुछ साथियों ने हमें उन ढोलों को दिखाया जो पड़े–पड़े बर्बाद हो रहे हैं क्योंकि उनके पास इतना पैसा भी नहीं है कि उनकी मरम्मत करा सकें। शरमुगम ने कहा कि अगर यह ठीक हालत में होते तो भी हम शादी–ब्याह के मौके पर इसे बजाकर साढ़े सात सौ रुपए तक कमा सकते थे लेकिन आज तो ऐसा करने की हालत में भी हम नहीं हैं।

1871 में दासता के संबंध में एक टिप्पणी करते हुए मद्रास के जनगणना आयुक्त ने चकिलियायान लोगों का जिक्र किया था। (इन्हें परिया लोगों के साथ शामिल कर लिया था)। अपनी रिपोर्ट में उस आयुक्त ने लिखा था कि बिना किसी अपवाद के ये लोग बड़ी जाति वालों के दास हैं। इस टिप्पणी के लिखे जाने के एक सौ बीस वर्ष से भी अधिक समय बीत जाने के बाद आज भी चकिलियायान लोगों की हालत वैसी ही बनी हुई है।

पुनश्चः

यहां तथा अन्य अनेक राज्यों में बंधुआ मजदूरी का स्वरूप काफी ढका हुआ है। प्राथमिकताओं की सूची में यह सबसे नीचे है और ऐसा लगता है कि यह प्रथा समाप्त नहीं होगी। तमिलनाडु सरकार कहती है कि राज्य में बंधुआ मजदूर प्रथा के इक्के–दुक्के मामले होंगे। 1996 के शुरू के महीनों में सरकार के इस दावे की पोल खुल गई। उच्चतम न्यायालय ने एक आयोग का गठन किया जिसने अपनी रिपोर्ट में बताया कि तमिलनाडु में बंधुआ मजदूरों की संख्या दस लाख से भी ज्यादा है। (और बेशक इस बंधुआ प्रथा का आधार है कर्ज)।

आयोग ने तमिलनाडु के सभी 23 जिलों में विभिन्न 20 पेशों में काम करने वाले लोगों का सर्वेक्षण किया। इस सर्वेक्षण की समाप्ति पर राज्य सरकार के नजरिए के बारे में उसने टिप्पणी की–" राज्य सरकार तथा विभिन्न जिलों के प्रशासकों द्वारा जो विवरण दिया गया वह अधिकांश जिलों की वास्तविकता से मेल नहीं खाता और कई मामलों में तो इस विवरण के पीछे एक धूर्तता दिखाई देती है।"

सूदखोर महाजन की वापसी

नवापाडा (उड़ीसा): खरियार ब्लाक के अमलापाली गांव में जहां अधिकांश लोगों के पास औसतन एक एकड़ से भी कम जमीन है, बिरान्सी वहां का बड़ा जमींदार है क्योंकि उसके परिवार के पास बीस एकड़ से भी अधिक जमीन है। इसी के साथ वह गरीबी से ग्रस्त इस क्षेत्र के सर्वाधिक गरीब लोगों में से भी एक है। उसने बताया कि 'मेरी जमीन का अधिकांश हिस्सा महाजनों के पास गिरवी रखा हुआ है। हमें हर साल फसल खराब होने पर ऐसा ही करना पड़ता है। दरअसल यह मेरे पिता जी के जीवनकाल से ही शुरू हो गया था, जब 1965 के सूखे के समय उन्हें एक सूदखोर महाजन से पचास रुपए का कर्ज लेना पड़ा था।'

यद्यपि जमीन के कागजात में मालिक के रूप में उसी का नाम चल रहा है तो भी आज बिरांसी के पास 25 एकड़ में से बमुश्किल दो एकड़ जमीन पर उसका स्वामित्व है। शेष जमीन अलग–अलग तीन चार महाजनों के पास बंधक पड़ी हुई है। यहां के असंख्य परिवारों को इन्हीं अनुभवों से गुजरना पड़ा है। उन्हें अपनी जमीन पर अपना स्वामित्व कभी नहीं मिलेगा।

नवापाडा जिले और पुराने कालाहांडी के सभी ब्लाकों में भोदन सबसे दुर्दशाग्रस्त ब्लाक है। यहां भी समूचे इलाके में सूदखोर महाजनों का ही कब्जा है। भगवान, लखमीधर जैसे अनेक गरीब किसान और इनके पड़ोसी महाजनों के कर्ज से दबे हैं और अगले मौसम में भी इन्हें इन महाजनों की दया पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। फिर भी वे खरियार के किसानों के मुकाबले अपने को 'खुशकिस्मत' समझते हैं। इस ब्लाक के अनेक हिस्सों में उनके जैसे कई किसान हैं जिन्होंने महाजनों पर निर्भर रहने के बावजूद अपनी एक इंच भी जमीन नहीं गवायी। उन्हें इस तरह का कोई खतरा भी नहीं है।

अगर यह बात आश्चर्यजनक लगती है तो सीनापाली ब्लाक का मामला और भी अजीब लगेगा। यहां पर महाजन लोग उन किसानों को कर्ज दे रहे हैं जिनके पास खरियार या भोदन के किसानों की तरह गिरवी रखने के लिए न तो कोई जमीन है और न कोई संपत्ति है। जगत, बकरधन और बंधु हरिजन जैसे लोगों को इस अजीब किस्म की परोपकारिता से काफी फायदा हुआ है।

क्या इस बात का कोई तुक है? बिलकुल है। प्रत्येक ब्लाक में महाजनों ने अपना एजेंडा तय कर रखा है। इन्होंने जमीन की क्वालिटी देखी है, वहां उपलब्ध अन्य सुविधाओं की छानबीन की है और यह पता किया है कि यहां नियंत्रण में लोगों को रखने

के लिए किस चीज का इस्तेमाल किया जा सकता है। इस नजरिये से देखें तो उन्होंने समय–समय पर काम के अलग–अलग तरीके भी निकाले हैं।

भोदन के कूट गांव नामक गांव का एक आदिवासी भगवान बताता है–'हमारे खेत बड़े ऊबड़–खाबड़ हैं और मिट्टी बड़ी कड़ी है। इसको भला कौन जोतना चाहेगा? और तो और, जो भी हम पैदा करते हैं वह सब यहां के सूद खोर महाजन उठा ले जाते हैं।' इन बातों के अलावा एक चीज और देखने लायक है कि यह एक वीरान इलाका है और खेती के मौसम में भी दिहाड़ी पर काम करने के लिए आम तौर पर कोई आना पसंद नहीं करता। यहां ऐसी सिंचाई सुविधाएं भी नहीं हैं जिन्हें काम चलाऊ कहा जा सके। यही वजह है कि भोदन के लोगों को अपनी जमीन से बहुत ज्यादा हाथ नहीं धोना पड़ा। महाजन लोग इस जमीन को चाहते ही नहीं हैं।

मिसाल के तौर पर भगवान ने अपने कर्ज के आंशिक भुगतान के रूप में महाजन को पहले थोड़ा चावल मुफ्त में दे दिया। इसके बाद उसने हड़बड़ी में उसी महाजन के हाथों चावल की अपनी बाकी आठो बोरियां बेच दीं। उसने बताया–'मेरे परिवार को नकद पैसों की जरूरत थी हमें बहुत जल्दबाजी में चावल बेचना पड़ा।' इसका नतीजा यह हुआ कि उसे महज दो रुपये प्रति किलो से भी कम दाम मिला।

गोवर्धन चिंडा बताता है कि उसने मुश्किल से एक बोरी बीज महाजन से लिया था। इसके बदले में उसे भुगतान के रूप में अपनी कुल पैदावार का आधा हिस्सा देना पड़ा। इस पर यकीन करना बड़ा कठिन लगता है। यहां के बिखरे गांवों में अलग अलग लोगों से घंटों पूछताछ करने के बाद इस बात की पुष्टि हुई कि गोवर्धन का मामला कोई अकेला मामला नहीं है। दूसरों के साथ भी ऐसा ही हुआ है।

अधिकांश मामलों में, लेकिन हमेशा नहीं, कर्ज लेने की जरूरत तब पड़ती है जब इनके परिवार के सामने खाने के लिए भी कुछ न हो। विकल्प नामक गैर सरकारी संगठन के डा. एस के पटनायक का कहना है कि सूदखोर महाजन उन्हें कर्ज के रूप में धान उस समय देता है जब सीजन मंदा होता है। और इसके बदले में वह फसल का हिस्सा ऐसे समय लेता है जब सीजन जोरों पर होता है। किसान भी अपनी पैदावार दे देते हैं यह सोच कर कि इसका कुछ हिस्सा कर्ज चुकता करने में निकल जायेगा और बाकी वे इसलिए देते हैं क्योंकि उन्हें तुरत पैसों की जरूरत होती है ताकि जिंदा रह सकें।

सबसे बड़ी विडंबना तो यह है कि महाजन उनसे फसल खरीदकर जमा कर लेता है और जब मंदी का दौर शुरू होता है तो उसी अनाज को वह उन किसानों को कर्ज के रूप में दे देता है। यह वही अनाज है जो उसने अच्छे सीजन में भी मिट्टी के भाव खरीदा था। इस प्रकार वे दो रुपये प्रति किलो की दर से चावल बेचने को मजबूर हो जाते हैं और बाद में जब वही चावल कर्ज के रूप में वे लेते हैं तो उस पर ब्याज की राशि इतनी ज्यादा हो जाती है कि वे ब्याज ही देते रह जाते हैं और मूल धन चुकता होने का नाम ही न लेता।

भगवान के साथ समस्या इतनी ही नहीं है। वह इस सामान्य प्रक्रिया से भी अलग है। यहां मलेरिया का बहुत जोर है और परिवार में बीमारी के आते ही आदिवासी के लिए जरूरी हो जाता है कि वह महाजन से एक और नया कर्ज ले ले। इसमें कोई शक नहीं कि खाद्यान्न खरीदने की जरूरत का कर्ज लेने से जाना पहचाना संबंध है। लेकिन इस इलाके के अनेक ग्रामवासी चिकित्सा जरूरतों के कारण महाजनों की चपेट में आ गये। दवाएं खरीदने के लिए कर्ज की जो राशि दी जाती है उस पर ब्याज की दर भले ही उतनी न हो जितनी अनाज खरीदने के लिए दी गयी राशि पर होती है पर जो भी सूद दिया जाता है वह किसी भी अर्थ में कम नहीं होता। बाघ सिंह ने दवाओं के लिए 100 रुपये का कर्ज लिया और साल खत्म होते होते ब्याज बगैरा मिलाकर उसके ऊपर 220 रुपये चढ़ गये थे।

जो भी हो इन सबके पीछे भूख ही बुनियादी कारण रही है। दो ब्लाकों के अनेक गांवों में मैं और डा. पटनायक साथ–साथ गये और मैंने देखा कि इन गांवों में ब्याज की दर 120 से लेकर 380 प्रतिशत सालाना वसूली जाती है। (बेशक एक अर्थ में देखें तो इन दरों में से कुछ का शुरुआती दौर के बाद कहने के लिए ही कोई महत्व है। दरअसल एक सीमा के बाद किसान की क्षमता इस बुरी तरह ध्वस्त हो चुकी होती है कि ब्याज की दर 120 प्रतिशत हो या 380 प्रतिशत, कोई फर्क नहीं पड़ता।) भोदन ने ही हमें ऐसे लोग मिले जिन्हें एक बोरी बीज के बदले अपनी आधी से भी अधिक फसल से वंचित होना पड़ा।

हरिगुन चिंडा ने हमें बताया–'यहां आपको जमीन की जरूरत नहीं है। अगर आपके पास पांच बोरी धान है तो वह जमीन के मुकाबले ज्यादा कीमती है। आप उसे कर्ज के रूप में बांट कर और उस पर ब्याज दर ब्याज लेकर ज्यादा मुनाफा कमा सकते हैं। अगर आप जमीन के मालिक हैं तो कर्ज में लगातार डूबते ही जायेंगे। पांच बोरी धान से आप बीस बोरी कमा सकते है। लेकिन 20 एकड़ खेत से आप सारी जमीन खोकर कंगाल हो सकते हैं। इसलिए कौन जमीन रखना चाहेगा।

महाजन द्वारा अपना हिस्सा ले लिए जाने के बाद कुल अनाज का जो भाग बचता है उसे लेकर किसान बाजार नहीं जा पाता। चूंकि इतवार को ही बाजार लगता है, इस इलाके से लेकर बाजार तक के रास्ते में जगह–जगह सूद वसूलने वाले अपनी वसूली के अड्डे बनाए रहते हैं और जैसा कि इनमें से एक ने हमें बताया–'अनाज बेचने के लिए लम्बा सफर करने के कष्ट से हम आदिवासियों को बचा लेते हैं'।

इस दुष्चक्र को ही तोड़ने के लिए शायद जिला प्रशासन ने पहली बार इस इलाके में एक ऐसी मंडी बनाई जहां कुछ नियम कानून चलते हों। यहां वे सरकारी तौर पर न्यूनतम समर्थन मूल्य तय करते हैं। मिसाल के तौर पर यहां अच्छे और बहुत अच्छे अनाज के लिए क्रमशः 310 और 330 रुपए निर्धारित किये गये।

भगवान के लिए यह खबर बहुत देर से आईः 'जब मैंने न्यूनतम समर्थन मूल्य

के आधे से भी कम भाव पर चावल बेच दिया तब सरपंच ने मुझे न्यूनतम समर्थन मूल्य के बारे में जानकारी दी।' ऐसा अनेक किसानों के साथ हुआ। गांव के लोगों की राय है कि जिले के उप-कलक्टर सरोज कुमार झा के प्रयासों से गठित मंडी एक अच्छा कदम है। कुछ का यह मानना है कि अगर इसे ठीक से चलाया गया तो अगले साल इसे सफलता मिल सकती है।

खरियार की स्थिति की जानकारी हमें जमीन से वंचित होने के घटनाओं और उत्पादन में कमी के उदाहरणों से मिलती है और यह भी पता चलता है कि भोदेन में क्यों कर्ज देने वाले जमीन लिए बगैर उधार दे देते हैं। लेकिन सीनापली ब्लाक के बारे में क्या बताया जाए? क्या वजह है कि यहां कर्ज देने वाले महाजन उनको संरक्षण भी देते है। जिनके पास न तो कोई जमीन है और न किसी तरह की संपत्ति? उसी ब्लाक के खालना गांव के गोटी हरपाल का कहना है कि-'यहां वे मजदूरी के रूप में खून चूसते हैं। चूंकि यहां किसी तरह का रोजगार नहीं है इसलिए हमारे पास कुछ खरीदने के लिए पैसा भी नहीं है। हमारे पास जमीन नहीं है इसलिए पैसे के बदले हम मजदूरी ही दे सकते हैं।' इस श्रम के एवज में सूदखोर महाजन कभी-कभी उन्हें चावल या पैसे दे देते हैं जो उड़ीसा सरकार द्वारा निर्धारित पच्चीस रुपए की न्यूनतम दिहाड़ी का भी चौथाई हिस्सा होती है।

इसका अर्थ यह हुआ कि नवापाडा के आसपास महाजनों को प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक समुदाय की विशिष्टताओं की अच्छी जानकारी हो चुकी है। उन्होंने इसी जानकारी के आधार पर अपना कारोबार फैला रखा है। वे तय करते हैं कि अलग-अलग ब्लाकों में उत्पादन और वसूली की क्या शर्तें होंगी। यही वजह है कि खरियार में महाजन किसानों से जमीन लेता है। भोदेन में उनसे अनाज लेता है और सीनापली में लगभग कुछ भी पैसा दिये बगैर उनसे मजदूरी कराता है। यहां के अनेक पिछड़े जिलों में काम करने वाले एक वरिष्ठ अफसर ने भुवनेश्वर में मुझे बताया-'संपत्ति, जमीन, कर्ज और किसानों की जरूरतों के बारे में यहां के महाजनों के पास जितनी जानकारी है उतनी जानकारी सरकार के किसी सर्वेक्षण से भी नहीं मिल सकती। इन महाजनों ने हर जानकारी को बहुत व्यवस्थित ढंग से तैयार किया है।'

जमीन, श्रम, कर्ज और बाजार के बीच जो अजीबो-गरीब संबंध है उसके भंवर में कालाहांडी क्षेत्र के किसान पूरी तरह फंसे हुए हैं। जैसे-जैसे ग्रामीण क्षेत्रों को ऋण देने की सरकारी व्यवस्था समाप्त होती गई, उनकी मुसीबतें बढ़ती गईं। वे लगातार महाजनों पर निर्भर होते गए। 19वीं शताब्दी के उत्तार्द्ध का साहित्य अगर देखें और उन दिनों के अखबारों की खबरों पर ध्यान दें तो पाएंगे कि सूदखोर महाजन की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती थी जो इधर के वर्षों में लगातार समाप्त होती गई थी। मौजूदा परिस्थितियों ने एक बार फिर उसे जोरदार ढंग से उभरने का मौका दे दिया है।

परदेसी मजदूर और गिरवी

नवापाडा (उड़ीसा): केंदूपट्टी गांव के नौजवान सनथ पोध को जब दहेज में नई चमचमाती साइकिल मिली तो उसे लगा कि अब कमाई करने के नए अवसर तैयार हो गए। नवापाडा-बोलंगिर क्षेत्र के तमाम लोगों की तरह उसने सोचा कि वह कुछ दिनों के लिए रायपुर चला जाएगा जहां रहकर अच्छे पैसे कमाए जा सकते हैं। उसने सोचा था कि कुछ हफ्तों तक रिक्शा चलाकर वह अच्छी कमाई कर लेगा।

जो भी हो सनथ के पास कभी इतना पैसा ही नहीं हुआ कि वह बस का टिकट खरीद सके और रायपुर जा सके। इसी बीच दहेज के रूप में यह साइकिल आ गई। साइकिल मिलते ही उसने पैसा जुटाने का एक तरीका ढूंढ निकाला जिसके बारे में उसने मुझे बताया-'मैंने एक महाजन के यहां अपनी साइकिल गिरवी रख दी और उससे पचास रुपए मिल गए। अब इसमें 40 रुपए तो बस का किराया था और 10 रुपया खाने-पीने के लिए। मैं जानता था कि रायपुर में कुछ हफ्तों के अंदर ही मैं सैकड़ों रुपए कमा लूंगा। इसके बाद में वापस आऊंगा, महाजन को 150 रुपए या जो भी ब्याज लगाकर बनता है मैं चुकता करूंगा और साइकिल मेरे कब्जे में आ जाएगी।'

यह सुखद लेन-देन तीन बार हुआ। चौथी बार जब सनथ रायपुर से वापस लौटा तो महाजन ने बताया कि उसकी साइकिल गायब हो गई। महाजन ने कहा कि बहुत परेशान होने की जरूरत नहीं है, वह खुद भी उसके साथ साइकिल की तलाश करेगा। कई हफ्ते बीत गए लेकिन साइकिल नहीं मिली। फिर सनथ ने उस महाजन से कहा क्यों न पुलिस में रिपोर्ट लिखा दी जाए। महाजन बहुत खुश हुआ और उसने कहा कि मैं खुद तुम्हारी ओर से रिपोर्ट दर्ज कर आता हूं। महाजन ने यह भी कहा की पुलिस को इस बात का सबूत चाहिए कि यह साइकिल तुम्हारी ही थी इसलिए वह रसीद लेकर आओ जो खरीदने के समय मिली थी। सनथ के पास साइकिल के मालिक होने का यही एक मात्र सबूत था जो उसने लाकर महाजन को दे दिया। इस घटना को एक वर्ष हो गए।

सनथ को दोनों राज्यों में से किसी में संरक्षण नहीं मिला। वह एक खानाबदोश, फुटकर काम करने वाला मजदूर है और उस श्रेणी में नहीं आता कि उसे एक प्रवासी मजदूर के रूप में मध्य प्रदेश में संरक्षण मिल सके। उड़ीसा में उसके समूचे गांव की महाजनों पर जो निर्भरता है उससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि इस व्यवस्था से लड़ने में भी वह एक खास सीमा से परे नहीं जा सकता।

यहां, कम से कम कुछ क्षेत्रों में, महाजनों और प्रवासी मजदूरों के बीच अजीब सा संबंध है। कुछ प्रवासी मजदूर ऐसे भी हैं जो पैसा कमाने के साथ-साथ कुछ और भी काम कर लेते हैं जिससे कर्ज चुकता कर सके। यहां जो भी कायदे कानून हैं वे सब इनके हितों के खिलाफ जाते हैं। इसी वजह से जब भी कोई मामूली सी गड़बड़ी होती है, रेत की बुनियाद पर खड़ी उनकी दुनिया भरभरा कर गिर जाती है।

अब से पांच वर्ष पूर्व पंजाब के रोपड़ नामक स्थान में एक कारखाने में हुए विस्फोट के फलस्वरूप जब 19 प्रवासी उड़िया मजदूरों की मौत हो गई तो इस राज्य के श्रम विभाग ने इन मजदूरों की विधवाओं की ओर से मुआवजे के लिए पंजाब पर दावा किया। इस दावे के जबाव में उन सभी विधवाओं के नाम पंजाब से सम्मन जारी हुआ कि वे व्यक्तिगत तौर पर वहां उपस्थित हों और वहां की एक अदालत में गवाही दें। इनमें से अधिकांश महिलाएं जिन्दगी में कभी भी अपने गांवों से बाहर नहीं गई थीं।

उड़ीसा के श्रम विभाग ने कहा कि इस तरह के सम्मन का कोई तुक नहीं है और उसने मदद की पेशकश की। उसने कहा कि इन विधवाओं का बयान वह खुद दर्ज कर सकता है। यदि ऐसा नहीं तो पंजाब की अदालत किसी व्यक्ति को यहां भेजकर उनका बयान रिकार्ड करा सकती है। पांच वर्ष बीत गए लेकिन इस मामले में रत्ती भर भी प्रगति नहीं हुई। मारे गए मजदूरों के परिवारों को कुछ भी नहीं मिला। उन ठेकेदारों ने मजदूरों का बकाया पैसा भी परिवारजनों को नहीं दिया जो उन्हें लेकर पंजाब गए थे।

बोलांगिर के बदकनी गांव में अथवा नवापाडा के खरियार गांव जैसी कुछ जगहों में यह स्पष्ट हो गया है कि सूदखोर महाजनों के एक नये वर्ग के रूप में मजदूरों को ठेके पर काम दिलाने वाले ठेकेदारों का उदय हुआ है। आंध्र प्रदेश में कालाहांडी से आए कुछ मजदूरों ने मुझे बताया कि उनमें से प्रत्येक को ठेकेदारों द्वारा नियुक्त मेठ ने पेशगी रकम के रूप में 350 रुपए दिये थे ताकि वे यहां आकर काम करें। ठेकेदार ने उन्हें कुछ कर्ज भी दिया था ताकि उनका आना जारी रहे।

जो भी हो उसने इस बात का ध्यान रखा कि उनके साथ यह सौदेबाजी आंध्र प्रदेश में ही की जाए। उड़ीसा में क्यों नहीं? दरअसल उड़ीसा में उसे अंतर्राज्यीय प्रवासी मजदूर (रोजगार एवं सेवाशर्त विनियमन) अधिनियम, 1979 के प्रावधानों के अंतर्गत काम करना पड़ता।

उड़ीसा का श्रम विभाग आंध्र प्रदेश में नहीं काम कर सकता और आंध्र प्रदेश में वहां के श्रम विभाग के पास ऐसा कोई कानून भी नहीं है जिन्हें उड़ीसा में भर्ती किये गये मजदूरों पर लागू किया जा सके। इसलिए ठेकेदार रूपी महाजन इस तरह अपना काम कर रहे हैं। वे मजदूरों से आंध्र प्रदेश में सौदेबाजी कर रहे हैं लेकिन श्रम विभाग के अधिकारियों को बता रहे हैं कि उन्होंने इनके साथ अनुबंध उड़ीसा में किया है। इस रणनीति के तहत काम करते हुए ठेकेदारों ने इस इलाके से बहुत बड़े पैमाने पर मजदूरों को निर्माण कार्यों के लिए भर्ती कर लिया है और बंबई में भवन निर्माण के कामों में लगा

दिया है- बस आठ से दस हफ्तों के लिए।

मजदूरों के साथ शर्तें तय करते समय प्रायः उन्हें पेशगी रकम के रूप में कुछ पैसे दे दिए जाते हैं। जो एक तरह से कर्ज होता है ताकि वे बंधे रहें। बोलंगिर स्थित एक गैर सरकारी संगठन विकल्प द्वारा किया गया सर्वेक्षण बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें बताया गया है कि अल्प अवधि के लिए इस क्षेत्र से (जो कुछ महिनों से लेकर दो साल तक कि अवधि है) जो मजदूर जाते हैं वे सभी प्रवासी मजदूरों का पंद्रह प्रतिशत हिस्सा होते हैं।

प्रवासी मजदूरों में कर्ज एक आम बात है। गंगा पोथ का मामला देखें। उसकी फसल अच्छी हो या बुरी हर हाल में उसे नुकसान उठाना पड़ता है। अगर फसल नहीं हुई तो उसे महाजन से 120 से लेकर 380 प्रतिशत की दर पर कर्ज लेना पड़ता है और नुकसान ही नुकसान उठाना पड़ता है। अगले साल अगर शानदार फसल हुई तो भी गंगा को कोई फायदा नहीं होता क्योंकि उसकी फसल का काफी हिस्सा पहले से ही महाजन के यहां गिरवीं रखा होता है। सारा लाभ महाजन को होता है क्योंकि बाजार से फसल की असली कीमत उसी को मिलती है।

इस बीच अपने ही हालत में पड़े अनेक लोगों की तरह सीजन न रहने पर गंगा इधर-उधर भटकता रहता है ताकि वह किसी तरह अपने को जिंदा रख सके और कर चुकता कर सके। इस प्रक्रिया में वह समय-समय पर जहां जाता है वहां भी कर्जदार बन चुका होता है। उसने मुझे बताया-'रायपुर में एक महाजन का 380 रुपया मेरे ऊपर है। महाजन को पता है कि मैं वापस आऊंगा इसलिए उसने मुझे कुछ पैसे दे दिये।' आंध्र प्रदेश के ईंट भट्ठों में काम करने वाले कालाहांडी के मजदूरों के बारे में भी यही बात लागू होती है। इन मजदूरों ने यहां नये कर्ज ले लिए हैं। अपने ठेकेदार से इन्होंने पैसे लिए ताकि बीच-बीच में पड़ने वाले संकट का मुकाबला कर सकें। महाजनों से, जो ठेकेदार भी है, ली गई अग्रिम राशि के फलस्वरूप ही प्रवासी बनने की प्रवृत्ति में तेजी से वृद्धि हो रही है।

बोलांगिर-नवापाडा क्षेत्र के हजारों प्रवासी मजदूरों के बारे में विकल्प द्वारा किये गये सर्वेक्षण के अनुसार 20 प्रतिशत से ज्यादा मजदूर आंध्र प्रदेश के ईंट-भट्ठों में काम कर रहे हैं। इसके अलावा 10 प्रतिशत किसानी और खेती-बाड़ी में लगे हैं। 8 प्रतिशत निर्माण मजदूर हैं और 11.25 प्रतिशत रिक्शा खींचते हैं। रिक्शा चलाने वाले अधिकांश मजदूर मध्य प्रदेश में हैं। इनके बाद जो बचे-खुचे हैं वे तरह-तरह के छोटे-मोटे कामों में लगे रहते हैं। स्कूल आबादी का 50 प्रतिशत हिस्सा अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति का है। इनमें से लगभग सभी के ऊपर कर्ज का भारी बोझ है। कुछ पर तो दोनों जगहों का कर्ज है-जहां से वे चले हैं और जहां काम के लिए पहुंचे हैं।

बंबई में भवन निर्माण के काम के लिए जाने वाले मजदूरों की संख्या फिलहाल कम है लेकिन यह तेजी से बढ़ रही है। बोलांगिर के बदकनी जैसे गांवों में मेरी मुलाकात

रघुनाथ और दुलाभा बेहेड़ा जैसे लोगों से हुई जो बंबई रहकर काम कर चुके थे। उनके अनुभवों और नवापाडा जिले के अमला पाले तथा अन्य गांवों के लोगों के अनुभवों से कुछ ऐसे सवाल पैदा होते हैं जो किसी को भी परेशान कर सकती हैं।

इन सब में आम तौर पर अपनी पहली यात्रा को काफी सुखद पाया। महानगर का आकर्षण काफी था। उन्होंने सोचा था कि प्रतिदिन 30 रुपए की मजदूरी उनके लिए बहुत अच्छी रहेगी। हालांकि अगर जोड़ा जाए तो यह हमेशा 30 रुपए भी नहीं रहा। ठेकेदारों ने उन्हें आकर्षित करने के लिए शुरू में कुछ पैसे दिये थे लेकिन बाद में उनकी मजदूरी में से अच्छी खँासी कटौती हो जाती थी। सबका यह मानना था कि उन्होंने जो कुछ कमाया उसका एक बहुत बड़ा हिस्सा महाजनों की जेब में चला गया।

मैंने उनसे पूछा कि अगर बंबई में तुम बीमार पड़ जाते थे तो क्या होता था? बेहेड़ा ने बताया कि ठेकेदार बहुत भला आदमी था। बीमार पड़ते ही वह एक डाक्टर लाता था। डा. एक टिकिया देता था जिसके खाते ही हम ठीक हो जाते थे।

जब कम से कम 3 लोगों ने इसी तरह का अनुभव सुनाया तो मेरे दिमाग में कुछ सवाल उठे। क्या वे बता सकते थे कि वह कौन सी दवा थी? उन्हें कुछ नहीं पता था। क्या उनमें से कुछ के पास अभी–भी वे दवाएं मौजूद थी? नहीं। दवा खिलाते समय डा. के साथ–साथ सुपरवाइजर भी मौजूद रहता था। हमारे पास कोई दवा नहीं छोड़ी जाती थी। हमलोग लिखना–पढ़ना तो जानते नहीं इसलिए कुछ बता नहीं सकते।

मुझे पता चला कि और बहुत से मजदूर ऐसे थे जिनका इलाज इसी तरीके से होता था। दुर्भाग्यवश अधिकांश मजदूर बंबई में किसी एक स्थान पर भी कुछ हफ्तों या महीनों काम कर सके थे इसलिए वे कोलाबा और बांद्रा जैसे बड़े इलाकों के अलावा और कोई नाम नहीं ले पाते थे। उड़ीसा वापस आते तक इनमें से कोई स्वस्थ नहीं मिलता था।

क्या इन मजदूरों को 'स्टेराइड' दिया जाता था जिनसे वे तेजी के साथ काम कर सकें? उड़ीसा के गैर सरकारी संगठन ए.एस.आर.ए. के दुर्गादास जैसे कुछ कार्यकर्त्ताओं का संदेह है। उनका कहना है कि निर्माण कार्यों के लिए मजदूरों को ले जाने वाले संदिग्ध किस्म के ठेकेदारों ने इन प्रवासी मजदूरों का बहुत शोषण किया है।

सवाल पैदा होता है कि सरकार कब प्रवासी मजदूर अधिनियम में संशोधन करेगी ताकि इस तरह के शोषण पर रोक लगाई जा सके? या कम से कम शोषण की इस प्रक्रिया को कठिन बनाया जा सके? एक और महत्वपूर्ण सवाल है कि सरकारी नीतियां कब इस यथार्थ से रू–ब–रू होंगी कि सूदखोर महाजन, ठेकेदार और इनके द्वारा दी जाने वाली 'पेशगी' रकमें इस देश के सर्वाधिक गरीब लोगों को अपनी जकड़ में कसती जा रही हैं?

कर्ज लो और अपनी छत से हाथ धोओ

रामानुजनगर, सरगुजा (म.प्र.): बमधा भैसा फालिया के लगभग सभी लोग नहकुल पांडो के मकान के आंगन में मौजूद हैं और उसकी छत की छाजन डालने में लगे हैं। यहां हर आदमी बिना पैसा लिए काम कर रहा है। बेशक नहकुल बीच–बीच में महुआ की शराब इन लोगों को थोड़ी–थोड़ी मात्रा में देता रहता है। छत पर छाजन डालने के लिए अगर उसे टाइल्स खरीदने पड़ते तो पांडो जनजाति की हैसियत के मुताबिक काफी पैसा खर्च हो जाता। खुद टाइल बनाने में बहुत समय भी लगता जबकि उसी समय में वह कहीं और काम करके पैसे कमा सकता था।

इसलिए यह देखना अच्छा लग रहा था कि उसका समूचा समुदाय उसकी मदद के लिए आ पहुंचा है। आदिवासी तौर तरीके में यह एक आम बात है। लेकिन क्या वजह है कि नहकुल इतने दिनों से बगैर छत के रह रहा था। जब मैंने उससे पूछा तो काफी हिचकिचाहट के बाद उसने बताया कि कुछ दिनों पूर्व उसने 4800 रुपए का एक कर्ज लिया था।

कर्ज लेने के विचार से उसके अंदर कोई उत्साह नहीं था। उसने देखा था कि यहां के कई लोगों ने कर्ज लिया और उन्हें अपनी जमीन गंवानी पड़ी। लेकिन यह सरकारी कर्ज था जो खासतौर से आदिवासियों के फायदे के लिए स्थानीय बैंक के जरिए बांटा गया था। इसलिए उसने सोचा कि इस कर्ज को लेने में कोई खास नुकसान नहीं होना चाहिए।

लेकिन नुकसान था। नहकुल बताता है–"मैंने 4800 रुपए इसलिए लिए थे ताकि दो गाएं खरीद सकूं और यही उस सरकारी कर्ज योजना का मकसद भी था। लेकिन मैं वह कर्ज अदा नहीं कर पाया। किस्त देने का समय आ गया और दबाव बढ़ने लगा। मैंने कई चीजें बेचीं ताकि किस्त अदा की जा सके। मेरे पास ऐसे कम ही सामान थे जिनसे कुछ पैसे मिल पाते। अंत में मैंने अपनी छत के टाइल्स बेच दिए।"

वह कर्ज जिसका उद्देश्य नहकुल को गरीबी से निजात दिलाना था। उसका नतीजा यह हुआ कि उसे अपनी छत से ही हाथ धोना पड़ा। उसके पास अब गाएं भी नहीं हैं। पैसे की तंगी ने गायों को बेचने के लिए मजबूर कर दिया। सबसे बुरी बात तो यह है कि उसी जैसी हालत में पड़े कई लोगों ने इन योजनाओं के अंतर्गत मवेशियों के बीमे की प्रीमियम की राशि भी अदा की थी। अक्सर उन्हें जो जानवर मिलते हैं वे बहुत घटिया किस्म के होते हैं। यह भी देखा गया है कि प्रायः इन गांव वालों के पास इतनी

सुविधाएं नहीं होतीं कि वे मवेशियों को ठीक–ठाक चारा दे सकें और अच्छी तरह पाल सकें। अनेक गाएं और भैंसें मर जाती हैं। अधिकांश इलाकों में अगर आप ढूंढना शुरू करें कि क्या ऐसा कोई आदमी है जिसे अपने मवेशी के मरने के बाद बीमा की रकम मिली तो अधिकांश मामलों में आपको निराशा ही हाथ लगेगी।

सूरजपुर सिविल कोर्ट के एडवोकेट एच.एन. श्रीवास्तव ने बताया–''अधिकारियों को शायद ही इस बात की फुर्सत मिलती हो कि इन कार्यक्रमों का पांडो लोगों पर पड़ने वाले संभावित प्रभावों को वे अध्ययन कर सकें। यहां तक कि वे उनकी वास्तविक जरूरतों पर भी कभी ध्यान नहीं देते। अधिकारियों को बस लक्ष्य पूरा करना होता है–कि इतने लोगों को कर्ज दे दिया गया और इतने लोग इससे लाभान्वित हुए। नहकुल को आखिर क्या फायदा हुआ ?''

कभी–कभी वे अपना लक्ष्य पूरा करने से भी ज्यादा कुछ काम कर लेते हैं। वारड्राफ नगर क्षेत्र में एक व्यापारी को एक अपंग पांडो की पेंशन प्राप्त हो रही है। पेंशन की यह राशि उस विकलांग पांडो के पास पहुंचनी चाहिए थी। यह व्यापारी उस पांडो की वृद्धावस्था पेंशन का भी एक हिस्सा चुरा रहा है। कुछ छोटे अधिकारियों की साठ–गांठ से यह काम चल रहा है। अनेक गांवों में आदिवासियों के नाम पर कई गैर आदिवासियों ने कर्ज ले रखे हैं। ज्यादातर आदिवासियों को लिखना–पढ़ना नहीं आता इसलिए प्रायः उनसे ऐसे दस्तावेजों पर अगूठे का निशान लगवा लिया जाता है जिनके बारे में उन्हें कोई जानकारी नहीं होती।

अक्सर यह भी होता है कि किसी पांडो को कागज पर 6000 रुपए का ऋण दिया गया लेकिन उसके हाथ में बमुश्किल 3000 रुपए ही आए। बाकी पैसा बैंक अधिकारियों और अन्य बिचौलियों के बीच बंट जाता है। लेकिन कर्ज लेने वाले को 6000 रुपए पर ही सूद चुकाना पड़ता है और जाहिर है कि उसे इस समूची धनराशि का ही पुनर्भुगतान भी करना पड़ता है।

सरगुजा में पांडो जनजाति के लगभग 24000 लोग हैं जो 11 ब्लॉकों में फैले हुए हैं। इन्हें ''आदिम जनजाति'' की आधिकारिक श्रेणी में नहीं रखा गया है। तो भी कई मामलों में वे अपने पड़ोसी कोरवा जनजाति के लोगों की ही तरह बदहाल हैं जिन्हें आदिम जनजाति की श्रेणी में रखा गया है। इस जनजाति के लिए करोड़ों रुपए की अकल्पनीय परियोजनाएं चलाई गई हैं। लेकिन इन परियोजनाओं का नतीजा कुछ भी नहीं निकला है।

इस जनजाति की वास्तविक समस्याओं पर किसी का थोड़ा भी ध्यान नहीं जाता। नहकुल के गांव में न तो कोई ट्यूबवेल है, न बिजली है, न स्कूल है और कोई सड़क भी नहीं है। इन लोगों के लिए रोजगार की भी कोई व्यवस्था नहीं है। ऐसा कभी–कभार ही होता है कि कोई विकास परियोजना शुरू हुई और इन्हें कुछ दिनों के लिए काम मिल गया। ऐसी हालत में सरकार द्वारा नियुक्त किये गये ठेकेदार लोग पांडो लोगों को उनके

श्रम के एवज में जो पैसा देते हैं वह कानूनी तौर से निर्धारित 28 रुपए की न्यूनतम मजदूरी की भी आधी होती है।

रामानुज नगर ब्लाक में पड़ने वाले नहकुल के गांव परशुरामपुरा के लगभग 60 घरों में से एक भी बच्चा स्कूल नहीं जाता। यहां से सबसे नजदीक पड़ने वाला ब्लॉक 60 किलोमीटर से भी ज्यादा की दूरी पर है। रामसई कहता है –'' बच्चे इतनी दूर कैसे जा सकते हैं ? रास्ते में जंगल पड़ता है जहां बहुत सारे सांप हैं।''

बीरसाई ने बताया कि इस इलाके में कोई स्कूल भी नहीं है। कहने के लिए एक स्कूल है लेकिन उसमें कभी पढ़ाई नहीं होती। वह मजाकिया अंदाज में बताता है–यहां का अध्यापक बहुत देशभक्त टाइप का है। हर साल वह 26 जनवरी और 15 अगस्त को झंडा फहराने जरूर आ जाता है।'' दरअसल यही वे दो दिन हैं जब अध्यापक के दर्शन होते हैं। उसने कुछ ऐसे तरीके निकाल लिए हैं जिससे बिना स्कूल में अपनी हाजिरी लगाए वह वेतन लेता रह सके।

फिर भी कभी–कभी चहल–पहल तेज हो जाती है जब अचानक सरकार की ओर से ऐलान किया जाता है कि आदिवासियों के लिए कुछ लाभकारी योजनाएं शुरू की जाएं। ऐसी ही एक योजना के अंतर्गत नहकुल को अपनी छत गंवानी पड़ी थी। श्रीवास्तव ने बताया कि नहकुल को सचमुच ऐसा महसूस हुआ कि सरकार उसके लिए कुछ करने जा रही है। उसे यह कैसे पता चलता कि वह महज एक लक्ष्य है जिसे सरकार को प्राप्त करना था। कोई भी परियोजना इस बात को ध्यान में रखकर तैयार की जाती है जो सरकार की वरीयताओं और उसके बजट के अनुरूप हो न कि यहां के पांडो लोगों अथवा अन्य आदिवासी समूहों की जरूरतों के अनुरूप।

यहीं के एक अन्य एडवोकेट मोहन कुमार गिरि, जो हमारे साथ कई दूर–दराज के गांवों की यात्रा पर थे ने बताया–''इसमें कोई शक नहीं कि नहकुल तथा अन्य आदिवासियों को पैसे की जरूरत थी लेकिन वे उन चीजों के लिए यह पैसा नहीं पा सके जिनकी उन्हें जरूरत थी। उन्हें ऐसी योजनाओं के लिए पैसा मिला जिनका उनकी जरूरत के साथ कोई मेल नहीं था। आमतौर पर आप कर्ज इसलिए लेते हैं कि आपके सर पर जो छत है वह सही–सलामत रहे। लेकिन नहकुल ने जो कर्ज लिया उससे वह अपनी छत ही गंवा बैठा। अब तो आप समझ सकते हैं कि क्यों इतने सारे लोग सूदखोर महाजनों के पास जाते हैं।''

पुनश्च :

जाहिर है कि यह घटना सूदखोरी के बारे में नहीं है। फिर भी महत्वपूर्ण बात यह है कि 1980 के दशक के उत्तरार्ध से दूर–दराज के ग्रामीण इलाकों के लिए औपचारिक कर्ज देने की जो योजनाएं बनी हैं उनके नतीजों का अध्ययन किया जाए। इस अर्थ में

देखें तो मामला केवल पांडो लोगों का नहीं है बल्कि देशभर में लाखों करोड़ों आदिवासियों के साथ इसी तरह के हादसे हुए हैं। यह अलग बात है कि अलग–अलग इलाकों में इस विद्रुप्ता के अलग–अलग रूप देखने को मिलते हैं। जैसा कि मोहन कुमार गिरि ने बताया, यह प्रणाली जिस तरह काम कर रही है उसका नतीजा कम से कम इस रूप में तो सामने आ ही रहा है कि ज्यादा से ज्यादा लोग सूदखोर महाजनों के चंगुल में पड़ते जा रहे हैं।

नवापाडा में प्याज के भाव

नवापाडा (उड़ीसा): ठाकुरदास महानंद को पूरा विश्वास था कि इस बार उसने व्यवस्था को मात दे दी है। ठाकुरदास अनुसूचित जाति का एक किसान है जिसके पास लगभग एक चौथाई एकड़ जमीन है। बहुत दिनों से वह अपने गांव कुडापल्ली के बिचौलियों और व्यापारियों के हाथ प्याज बेचते–बेचते तंग आ गया था। वे खुद तो बहुत मुनाफा कमाते थे लेकिन इसे मामूली सी रकम मिलती थी। उसने मुझे बताया कि–"फिर मैंने सोचा कि क्यों ने मैं अपनी उपज खुद ही लेकर तारपोड के बाजार में जाऊं।

यही सोचकर ठाकुरदास ने कुछ पैसे इकट्ठे किए और एक बैलगाड़ी किराए पर ली। दरअसल, उसके पास न तो बैल थे और न कोई गाड़ी ही थी जिस पर वह दस क्विंतल प्याज लादकर बाजार पहुंचाता। उसने सोचा था कि इस बार वह खुद ही तारपोड में व्यापारियों को बेचेगा या खुले बाजार में खुद रख देगा। तारपोड की दूरी 80 किलोमीटर थी और बाजार पहुंचते–पहुंचते बैल बुरी तरह थक गए थे।

लेकिन बैलों से भी बुरी हालत तो ठाकुरदास की तब हुई जब उसने तारपोड में देख लिया कि कोई भी व्यक्ति उससे प्याज खरीद ही नहीं रहा है। उसने जब बेचने की पेशकश की तो उसे जो दर बताया गया वह बहुत ही कम था और इतना कम था कि बिचौलिए को प्याज देने में ही उसे फायदा लगा। यह सब पूर्व नियोजित था। उन्हें पता था कि मैं बेचने के लिए परेशान हो रहा हूं। आखिरकार एक व्यक्ति ने चार क्विंतल खरीदे और वह भी उधार। उसने जिस दर पर लिया वह भी बहुत कम था। लेकिन उधार होने का मतलब वह पैसा मैं कभी पा ही नहीं सकता हूं।

व्यापारियों का एकाधिकार काफी असरदार साबित हुआ। ठाकुरदास का कहना है कि हालांकि स्थानीय तौर पर वहां प्याज खरीदने वाले बहुत सारे लोग हैं लेकिन कोई भी उनकी अवहेलना नहीं कर सकता। उस बाजार से प्याज खरियार रोड जाता है और फिर उड़ीसा के बाहर पहुंचता है। इसका सबसे ज्यादा हिस्सा मध्य प्रदेश में रायपुर में जाता है।

नवापाडा–कालाहांडी क्षेत्र के किसानों के लिए थोक विक्रेता, फुटकर विक्रेता, सूदखोर महाजन और व्यापारियों के बीच जो गठजोड़ है वह इतना मजबूत है कि ठाकुरदास जैसे हजारों छोटे–मोटे किसान उसे तोड़ नहीं सकते। इसके अलावा उसकी एक और समस्या थी जैसा कि उन्होंने खुद ही बताया–"अगर मैं बचे हुए छः

क्विंतल प्याज को दुबारा बैलगाड़ी में लादकर वापस लाता तो मैं तो उन बैलों को ही मार चुका होता। इसके अलावा वे बैल भी मेरे नहीं थे।"

नतीजा यह हुआ कि ठाकुरदास ने अपनी उपज का साठ प्रतिशत वहीं तारपोड की सड़क पर छोड़ दिया और अपने गांव वापस आ गया। उसने बताया–प्याज तो खराब होने वाली चीज है। कुछ दिनों तक मैंने कोशिश की उन्हें बेच दूं लेकिन मुझे घर भी आना था। यहां मेरी जरूरत थी। इसलिए मैंने सब कुछ वहीं छोड़ दिया और चला आया। अगली बार जब उसने प्याज पैदा किया–और वह भी बहुत दिनों के बाद ऐसा हुआ–उसने स्थानीय बिचौलिए द्वारा पेश की गई अनाप–शनाप कीमत पर सौदा तय कर लिया। वह चाहता था कि जो भी तय हो नकद हाथ में आ जाए। इस समय तक वह काफी कर्ज में डूब चुका था और प्याज का स्वाद उसे मिल चुका था।

नवापाडा में खेती–बारी करना कभी भी आसान काम नहीं रहा। यहां की महज नौ प्रतिशत जमीन ऐसी है जहां सिंचाई की जा सकती है, बाकी **91** प्रतिशत वर्षा पर ही निर्भर रहती है। इसके अलावा नवापाडा और समूचे कालाहांडी क्षेत्र में और भी ढेर सारी ऐसी समस्याएं हैं जिनके चलते खेती का काम बहुत मुश्किल हो जाता है।

स्थानीय चैंबर्स आफ कामर्स के एक वरिष्ठ सदस्य राजू ढोलकिया ने बताया, "यहां लगभग **500** व्यापारी हैं जिनमें तीन सौ छोटे व्यापारी हैं। लेकिन सबकुछ महज **15** बड़े परिवारों पर निर्भर करता है। इन्हीं **15** परिवारों ने बाहर के बाजारों, उत्पादों और विभिन्न सामानों के साथ अपने संबंध बना रखे हैं।

ढोलकिया ने यह भी बताया कि धान के व्यापारी दरअसल यहां सात हैं। और यहां जो भी पैदा होता है उसका अधिकांश हिस्सा बाहर चला जाता है।

कालाहांडी के बारे में एक आम छवि यह प्रचारित है कि यहां हरदम अभाव बना रहता है जो कि बिल्कुल गलत है। सच्चाई यह है कि समूचे उड़ीसा और समूचे भारत में प्रति व्यक्ति अनाज पैदा करने की जो दर है वह सबसे ज्यादा कालाहांडी में है। लेकिन सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि यहां जो भी उत्पादन होता है उसका महज **25** प्रतिशत ही यहां की आबादी को मिल पाता है। शेष उत्पादन व्यापारियों और महाजनों के जरिए इस इलाके से बाहर चला जाता है जिससे यहां के रहने वालों को संकट का सामना करना पड़ता है।

चावल मिल का जो मालिक है उसकी धान के व्यापार में इजारेदारी है। दूसरा कोई इसमें हाथ डाल नहीं सकता–ढोलकिया ने बताया। जिन परिवारों के पास चावल की मिलें हैं वे यहां के लगभग हर व्यापार में छोटा–मोटा दखल रखते हैं। आप नवापाडा के मुख्य बाजार से गुजरिए तो आपको एक भी ऐसी दुकान नहीं मिलेगी जो किसी स्थानीय उड़िया की हो। यहां पर लगभग सभी दुकानें रायपुर तथा मध्य प्रदेश

के अन्य हिस्सों से आए मारवाड़ी व्यापारियों की है।

उत्पादन के कुछ क्षेत्र ऐसे भी हैं जिसमें व्यापारियों के इस तंत्र ने प्रवेश नहीं किया है लेकिन वे बहुत थोड़े हैं और उन क्षेत्रों की संख्या तो इससे भी कम है जिन पर उनका नियंत्रण नहीं है। इस तरह के तंत्र का मुख्य केंद्र रायपुर है। अगर उड़ीसा–मध्य प्रदेश की सीमा पर आप कुछ घंटे खड़े हो जाएं तो बहुत चीजें समझ में आ जाती हैं। नवापाडा–कालाहांडी में प्रवेश करने वाले अधिकांश ट्रक खाली होते हैं लेकिन रायपुर की ओर जाने वाले अधिकांश सामान से लदे रहते हैं।

एक वरिष्ठ अधिकारी ने बताया कि यही तंत्र बिचौलियों की कई परतों के जरिये सूदखोरी भी करता है। यह कुछ व्यापारियों और महाजनों को पूंजी प्रदान करते हैं और इन महाजनों से यह पूंजी छोटे व्यापारियों तक पहुंचती है जहां से होते हुए और छोटे व्यापारियों तक आदि–आदि। निश्चय ही कालाहांडी में उत्पादन के बहुत अच्छे आंकड़े मौजूद हैं लेकिन कृषि के क्षेत्र में अभी–भी एक बहुत बड़ा इलाका ऐसा है जो अपार क्षमताओं से भरा है और जिन पर काम होना अभी बाकी है।

जब सूदखोरी और बाजार में व्याप्त धोखाधड़ी से ही काफी पैसा कमाया जा सकता है तो कृषि में पैसा लगाने से कोई खास लाभ नहीं है। यहां तक कि इस सोच की श्रृंखला में सबसे नीचे की कड़ी गरीब ठाकुरदास के भी यही निष्कर्ष हैं–" अब मैं केवल अपने और अपने परिवार के लिए प्याज उगाता हूं। जहां तक मुख्य फसल की बात है जो भी मैं पैदा करता हूं व्यापारी को बेच देता हूं।"

छोटे किसानों के संगठनों का जन्म होने लगा है और उनकी कोशिश है कि इस स्थिति को बदला जाए। वनवासी संघ, जागरुक श्रमिक संगठन जैसे कई संगठनों का निर्माण हो गया है और वे नए–नए तरीके लेकर आ रहे हैं ताकि किसानों को कम मेहनत में ज्यादा लाभ मिल सके। लेकिन शायद अभी बहुत समय लगेगा जब ठाकुरदास प्याज की अपनी गाड़ी लेकर खुद बाजार पहुंच सकें।

अपराध लेकिन कोई दंड नहीं

निशाने पर गरीब

ग्रामीण भारत के कुछ क्षेत्रों में कोर्ट–कचहरी जाना अपने ढंग का अनुभव होता है। अनेक दलितों और आदिवासियों का यही निष्कर्ष है। प्रायः उनके खुद के वकील भी उनके साथ बड़ा बुरा व्यवहार करते हैं। यहां जिन अपराधों का उल्लेख किया जा रहा है वे वही हैं जिन पर अदालतों में मुकदमें चले। लेकिन बहुत सारे अपराध उन लोगों के खिलाफ हैं जिनके पास अपने बचाव के लिए कुछ भी कहने को नहीं है। वे इतने कमजोर हैं कि अदालत तक उनकी पहुंच ही नहीं हो सकती।

इसके अलावा कुछ ऐसे भी अपराध हैं जिसकी चपेट में समूचा समुदाय ही आ गया है। मसलन पड़ैया लोगों के खिलाफ समाज की 'मुख्यधारा' द्वारा किया गया अपराध। कुछ ऐसे भी अपराध हैं जो किसी नाकारा राजनीतिक सत्ता और उसकी नौकरशाही द्वारा किए जाते हैं। मिसाल के तौर पर कोरवा लोगों के साथ किया गया व्यवहार। कुछ ऐसे भी अपराध हैं जिनका सरोकार एक समुदाय को दूसरे समुदाय के खिलाफ खड़ा कर देने से है।

हमें इस तरह के भी अपराध देखने को मिलते हैं जो किसी समूह विशेष द्वारा किया जाते हैं लेकिन अब से कुछ समय पहले तक इस तरह के अपराधों से वह समूह अछूता था। मिसाल के तौर पर बोंडा जनजाति के बीच प्रचलित बंधुआ मजदूरी प्रथा। अंत में उन मूर्खताओं का भी जिक्र जरूरी है जिसे विकास के नाम पर किया गया है। मिसाल के तौर पर गोड्डा में कोयले के खनन के लिए अपनाए गए कुछ तरीके। हो सकता है कि इनमें से कइयों के पीछे बहुत अच्छे इरादे रहे हों लेकिन इनके असर से वहां के लोगों के घरों का नष्ट होना और आजीविका का समाप्त होना किसी भी मामले में अपराध से कम नहीं है।

भूदान - अंतिम समर्थन

लातेहार, पलामू (बिहार): गोपाल सिंह ने एक अजीबोगरीब लड़ाई लड़ी है। कुछ दशक पूर्व विनोबा भावे का भूदान आंदोलन पलामू पहुंचा। जहां तक आंदोलन का संबंध है यह एक प्रशंसनीय प्रयास था जिसका उद्देश्य धनी भूस्वामियों को इस बात के लिए प्रेरित करना था कि वे स्वेच्छापूर्वक अपनी कुछ जमीन छोड़ दें जिन्हें गरीबों और भूमिहीनों के बीच बांट दिया जाए। जब आंदोलन जोरों पर था, गोपाल के पड़ोसी ने इस उद्देश्य के लिए अपनी जमीन दान में दी। निश्चय ही यह एक बहुत शानदार कदम था। बस इसमें गड़बड़ी इतनी ही थी कि पड़ोसी ने दान में जो जमीन दी थी वह उसकी नहीं बल्कि गोपाल सिंह की थी जिसके साथ उसकी पुरानी अदावत थी। इसके बाद अपनी उस जमीन को जिसको पड़ोसी ने दान में दे दिया था फिर से पाने के लिए गोपाल को लगभग बीस वर्ष तक मुकदमा लड़ना पड़ा।

शकूर मियां ने भी बड़ी उदारतापूर्वक अपनी जमीन दान में दे दी थी। उन्होंने विनोबा नगर में 88 एकड़ जमीन दी थी। विनोबा नगर एक पहाड़ी पर स्थित क्षेत्र है। पिछले अनेक वर्षों में इस इलाके को विकसित करने के लिए सार्वजनिक कोष से काफी पैसा खर्च किया जा चुका है। वहां एक उपकेंद्र, एक सड़क, एक स्कूल आदि बनने थे। लेकिन यथार्थ यह है कि अभी भी एक कच्ची सड़क के अलावा कुछ भी नहीं है। शकूर मिया के परिवार वालों को उनके इस परोपकार से कोई नुकसान नहीं हुआ। उनके पास आज जितनी बेनामी जमीन है वह भूदान वाले दिनों के पहले के मुकाबले कई एकड़ ज्यादा है।

लातेहार की अदालत के बाहर जब मैं मिला तो रेहलदाग गांव के मुनेश्वर सिंह बड़ी तेज आवाज में किसी पर गुस्सा हो रहे थे। उनके पास गुस्सा होने का कारण भी था। लगभग बीस वर्ष पूर्व मांगरा और गंगा ओरांव ने भूदान के अंतर्गत अपनी जमीन दान में दी थी और यह जमीन मुनेश्वर के पिता बिट्टू सिंह को मिली थी। 25 वर्ष से भी ज्यादा बीत जाने के बाद आज भी यह जमीन मांगरा और गंगा के पास ही है। लेकिन इस जमीन पर कब्जा करने के लिए मुनेश्वर को जो कानूनी लड़ाई लड़नी पड़ी है उसमें वह तहस–नहस हो गया।

कई वर्ष पूर्व पलामू के तत्कालीन उपायुक्त के. सुरेश सिंह ने कोशिश की थी कि समूचे क्षेत्र को भूदान क्षेत्र का दर्जा दे दिया जाए। आज भी लोग उनका नाम बहुत सम्मान के साथ लेते हैं। उस समय की भावना और आदर्श के फलस्वरूप कुछ

उपलब्धियां भी हासिल हुईं लेकिन उनमें से कइयों का आज कहीं अता–पता नहीं है। भूस्वामियों के वर्ग ने जो सेवा भाव प्रदर्शित किया उसके पीछे काफी हद तक उनका अवसरवादी चरित्र था और आदर्शवाद से पतित होते–होते किस तरह भूदान आंदोलन एक रैकेट बन गया इसका भी किस्सा काफी शर्मनाक है। पलामू में पहले भी सबसे ऊपर और आज भी प्रशासनिक मामले में योग्य लोगों की कमी नहीं है। लेकिन इतना होने के बावजूद इस पतनशीलता में कोई रुकावट नहीं आई।

कुछ आश्चर्यजनक अपवाद भी हैं। चंदवा के विश्वंभर दुबे आज भी साइकिल पर चलते हैं और भूमिहीनों की मदद करते हैं जबकि उनकी उम्र 65 वर्ष से भी ज्यादा हो रही है। वह अपनी उस साइकिल पर हर जगह घूमते रहते हैं, लोगों के झगड़े निपटाने की कोशिश करते हैं और भ्रष्ट जमींदारों द्वारा हड़पी गई जमीनों को वापस दिलाने में लगे रहते हैं। वजह यह है कि रचनात्मक कार्यकर्ता समाज नामक गैर सरकारी संगठन के अनुमंडलीय अध्यक्ष दुबेजी सही मायने में भूदान के अंतिम अनुयायी हैं। उनकी ईमानदारी के बारे में भी काफी शोहरत है। मजे की बात यह है कि अपनी इन्हीं खूबियों की वजह से वह एक ऐसे जीते जागते उदाहरण हैं जिनको देखकर समझा जा सकता है कि किस तरह वह आंदोलन पतित होता गया जिसके लिए उन्होंने अपनी आधी से अधिक जिंदगी कुर्बान कर दी। एक चीज से उन्हें बहुत क्षोभ होता है–वह यह कि उन्हीं जमींदारों ने जिन्होंने भूदान आंदोलन के अंतर्गत अपनी जमीनें दान में दी थीं, और भी गैर–कानूनी कब्जा बनाने के लिए अपनी इस पहल का इस्तेमाल कर लिया।

दुबे बताते हैं कि शुरुआत बड़े आदर्शवादी तरीके से हुई थी। 1952 में विनोबा भावे ने पदयात्रा शुरू की और 1957 आते–आते जमीन का वास्तविक रूप में पुनर्वितरण शुरू हो गया। विनोबा भावे का मानना था कि अगर जमींदारों से सीधे–सीधे अनुरोध किया जाए तो उनके दिलों को यह अपील छू सकती है। अगर ऐसा हो गया तो वे स्वेच्छापूर्वक अपनी कुछ अतिरिक्त जमीन दान कर देंगे और इस जमीन को भूमिहीन किसानों या गरीब किसानों के बीच बांटा जा सकेगा। जो भी हो, दान में दी गई जमीन में से अधिकांश जोतें गैरकानूनी थीं। इस सबके पीछे एक विचार यह भी था कि अगर स्वेच्छापूर्वक जमीन दे दी गई तो इससे जुझारू और काफी हद तक हिंसक भूमि संघर्ष को रोका जा सकेगा। विनोबा भावे ने तो पलामू में अपने आश्रम की भी स्थापना कर दी ताकि वहां समूचे इलाके में भूदान आंदोलन का कार्यक्रम चलाया जा सके।

भावे ने जैसा सोचा था बिल्कुल उसी ढंग से काम नहीं हुआ। दुबे का कहना है कि इस जिले में विनोबा जी का जो आश्रम था उसको भी जमीन हड़पने वालों ने नहीं छोड़ा। इस पर भी कब्जा कर लिया गया और यह कब्जा भी उन्हीं लोगों ने किया जिनको यह जिम्मेदारी दी गई थी कि वे आश्रम की रक्षा करेंगे। अब आश्रम में बना हुआ कुंआ ही बचा हुआ है जिस पर कब्जा नहीं हो सका है। दुबे के पास भूदान और जमीन के वितरण के बारे में सारी जानकारी उपलब्ध है। उनके बताए आंकड़ों के अनुसार पलामू

के तीन प्रखंडों के 268 गांवों में 1032 लोगों के बीच लगभग 2734 एकड़ जमीन का वितरण हुआ। इन प्रखंडों के नाम हैं–महुआडांड़, बरवाड़ी और गारू ।

इस विशाल जिले में यह कोई बहुत अच्छा आंकड़ा नहीं है लेकिन, दुबे का कहना है कि यह आंकड़ा भी गुमराह करने वाला है। इस आंकड़े में पचास प्रतिशत वह जमीन भी शामिल है जिस पर खेती की ही नहीं जा सकती और कुछ ऐसी जमीन भी है जो पैदावार की दृष्टि से बहुत खराब किस्म की है। इसके अलावा 1988 में ही 1500 एकड़ जमीन बालूमठ प्रखंड में वितरित की गई है लेकिन इसके औपचारिक दस्तावेज अभी तक उन लोगों को नहीं मिले हैं जिन्हें यह जमीनें दी गई हैं। यही हालत चंदवा प्रखंड में है जहां 400 सौ एकड़ जमीन वितरित की गई थी। इसके अलावा जिन लोगों को इस भूदान से "लाभ" हुआ है वे ऐसे मुकदमों में फंस गए हैं जिन्हें लड़ने के काबिल वे हैं ही नहीं।

अदालतों में चलने वाले कुछ मामले बहुत अजीब किस्म के हैं। चंदवा ब्लाक के शेरब गांव में एक व्यक्ति ने उस जमीन को दान में दे दिया जिस पर उसका तीन अन्य लोगों के साथ स्वामित्व था। उसने दान में न केवल अपने हिस्से की जमीन दी बल्कि दूसरों के हिस्से की भी जमीन दे दी। अब अन्य लोग अदालत में गए और वर्षो तक यह मुकदमा चलता रहा। जिस गांव में ग्रामसभा ने विनोबा भावे के आश्रम पर कब्जा किया वहां ग्रामसभा ने उस भूदान कमेटी को भी भंग कर दिया जो सारे काम की देख–रेख के लिए बनायी गयी थी। इसके बाद इसने सभी संबद्ध कागजात भी नष्ट कर दिये। इन लोगों ने गांव की उस जमीन पर भी कब्जा कर लिया जिसको सामूहिक स्वामित्व की जमीन माना जाता था।

चंदवा में लाल कुंदेरनाथ साहुदेव के वंशज स्वर्गीय जमींदार की उदारता को चुनौती देने में लगे हैं। साहुदेव ने विनोबा जी को जमीन दान में दी जिस पर इन दिनों वहां के आदिवासी खेती–बारी कर रहे हैं। इन आदिवासियों के अंदर यह क्षमता नहीं है कि वे कानूनी लड़ाई लड़ सकें। लेकिन साहुदेव के वंशज अब वह सारी जमीन वापस चाहते हैं। लातेहार कोर्ट में जफर मियां उस जमीन को दुबारा हासिल करने के लिए मुकदमा लड़ रहे हैं जिसे रसूल मियां ने तीस साल पहले उन्हें दान में दिया था। रसूल के बेटे ने उस जमीन को हड़प लिया जो उसके पिता द्वारा दान में दी गई थी। उसने तो जफर की उस जमीन पर भी कब्जा कर लिया जो मूल रूप से उसी की थी। ऐसी घटनाओं की सूची बहुत लम्बी है जिसका कोई अंत नहीं और अदालतों में चलने वाले इस तरह के मुकदमों की कहानी भी हैरतअंगेज है। बेशक इन मुकदमों में एक खास तरह की समानता भी है।

ऐसे अनेक भूस्वामी मिल जाएंगे जिन्होंने अपनी जमीन का एक हिस्सा दान में दे तो दिया लेकिन व्यवहार में कभी–भी उन्होंने उस पर से अपना कब्जा नहीं खत्म किया। कुछ ने ऐसी जमीनें भी दान में दे दीं जिन पर उनका कभी स्वामित्व ही नहीं था।

कुछ ने दान में दी गई जमीन पर लगे पेड़ों और फलों आदि के मुआवजे की मांग की।

- कुछ ऐसे मामले भी हैं जिनमें दान देने वाला किसान एक छोटा किसान है। उसके पास 1 एकड़ या उससे भी कम जमीन है। गोपाल सिंह जैसे इस तरह के लोगों की जमीन को उनके प्रतिद्वंद्वियों ने दस्तावेजों के साथ धोखाधड़ी करके दान में दिखा दी है।
- कुछ भूस्वामियों ने दान में दी गई जमीनों पर दुबारा कब्जा कर लिया और जिनको यह जमीन मिली थी उनको वहां से बेदखल कर दिया। कुछ ऐसे मामले भी हैं जिनमें ऐसे बेदखल किए गए लोगों को अपनी खुद की भी जमीन से हाथ धोना पड़ा। जमीन से संबंधित ढेर सारे विवाद पिछले बीस वर्षों से भी अधिक समय से अदालतों में लटके पड़े हैं। मुकदमें लड़ने वाले इसका खर्च झेल नहीं पा रहे हैं।
- जमींदारी उन्मूलन के बाद के शुरुआती वर्षो में कुछ जमींदारों ने चालाकी से काम किया। उन्होंने अपनी अतिरिक्त जमीन को भूदान में भी दे दिया और उसी जमीन को सरकार को भी सौंप दिया। इससे इतनी गड़बड़ी हुई कि यह पता ही नहीं चल सका कि इस पर वास्तविक नियंत्रण किसका होगा। नतीजा यह हुआ कि दोनों पक्ष मुकदमे में फंस गए। मुकदमा जितना ही लम्बा खिंचेगा उतने ही अधिक समय तक जमींदार का कब्जा उस जमीन पर बना रहेगा।

राजनीतिक कार्यकर्ता नरेंद्र चौबे का कहना है कि समय बीतने के साथ हमें अपने काम में कुछ कामयाबी भी मिली है। सुरेश सिंह तथा उनके अनुयायियों और विश्वंभर दुबे जैसे व्यक्तियों की मदद से हमने उन लोगों की लड़ाई में मदद की जो इस धोखाधड़ी के खिलाफ संघर्ष कर रहे हैं। क्या हम जमींदारों की उदारता पर निर्भर कर सकते हैं? दुबे जी जैसे लोगों का योगदान निश्चय ही महत्वपूर्ण है लेकिन अगर राजनीतिक शक्तियां इसमें लग जाएं तो उसका असर और भी ज्यादा होगा। इन शक्तियों के पास यह इच्छा होनी चाहिए कि वे अतिरिक्त जमीन पर कब्जा करें और फिर भूमिहीनों तक इसे पहुंचने दें।

ऐसा लगता है कि दुबे जी को भी इस बात की जानकारी है। लेकिन जमींदारों की उदारता पर उनका विश्वास अडिग है। हम जैसे ही उनके आफिस से निकलकर अपनी जीप में सवार हुए, उन्होंने भी अपनी साइकिल निकाली और लोगों को न्याय दिलाने के लिए वह किसी और गांव की ओर रवाना हो गए।

सुभासो की पीड़ा

कालीपुर, सरगुजा (मध्य प्रदेश): नीलामी जहां हो रही थी वहां लगभग घुप अंधेरा था। फिर भी उत्सुकता वश देखने वालों की अच्छी खासी संख्या थी। रात के नौ बजे थे लेकिन उस समय भी समूचा गांव वहां मौजूद था। जिस जमीन की नीलामी हो रही थी। उसका खरीदार भी वहां एक ही आदमी था। दरअसल यह समय ही ऐसा चुना गया था कि जिसमें सारा कुछ मन–मुताबिक संभव हो सके।

वास्तविक खरीदार वन विभाग का एक कर्मचारी राजेंद्र पांडे था। लेकिन खरीदार के रूप में नाम उसके साले का जाना था। जिस आदिवासी औरत की जमीन के साथ यह हादसा हो रहा था वह गोंड जनजाति की सुभासो थी। यह घटना कालीपुर नामक गांव की है जो भारत के सर्वाधिक गरीब जिलों में से एक सरगुजा जिले में है। यहां बहुमत भी आदिवासियों का ही है।

सुभासो ने भूमि विकास बैंक से कर्ज लिया था जिसे वह चुकता नहीं कर पायी। बैंक ने उसकी 9.73 एकड़ जमीन को नीलाम कर दिया। इस प्रक्रिया में इस नीलामी के पीछे जो लोग लगे थे वे उन सभी कानूनों का पूरी तरह उल्लंघन कर रहे थे जो ऐसे मामलों के लिए मध्य प्रदेश में बने हुए हैं।

अब इस मामले को ही देखिए पहली बात तो यह है कि सुभासो ने कोई कर्ज लिया ही नहीं था।

सुभासो बताती है कि जैसवाल साब (स्थानीय महाजन) ने मेरे आदमी को कहा कि इस कागज पर अंगूठे का निशान लगा दो और मैं शहर से यह कागज दिखाकर तुम्हारे लिए राशन लेता आऊंगा। उसी अंगूठे के निशान के बल पर जैसवाल साब ने उसके पति के नाम पर 7700 रुपए का कर्ज लिया यह कर्ज भी उस योजना के तहत लिया गया जो केवल आदिवासियों के लिए बनाई गई थी।

सुभासो और उसके पति के नाम का इस्तेमाल करके जायसवाल ने एक पम्पसेट का भी इंतजाम किया और अपनी जमीन में या यूं कहें कि सुभासो की जमीन में एक कुंआ खोदवा लिया। कालीपुर में जब अपने परिवार के साथ जायसवाल पहली बार आया था सुभासो के पति ने बड़ी उदारता पूर्वक अपनी जमीन में से कुछ एकड़ जायसवाल को बिना कोई पैसा लिए दे दिया था ताकि वह अपने लिए एक घर बना सके।

सुभासो रोते हुए बताती है कि इस उपकार का बदला उसने किस तरह दिया। जायसवाल और उसके बेटे दोनों की मृत्यु हो चुकी है लेकिन सुभासो के नाम से जो कर्ज

लिया गया था वह ब्याज मिलाकर 1986 तक 13720 रुपए हो गया था और इस राशि ने सुभासो को तोड़ दिया।

अचानक बैंक की नींद खुली जिसने इससे पहले कभी कोई नोटिस नहीं भेजी थी। बैंक ने सुभासो को अपनी चपेट में ले लिया और पहली बार उसे पता चला कि उसके नाम से कोई कर्ज चढ़ा हुआ है। बैंक के अधिकारी भी खुलेआम कानून का उल्लंघन कर रहे हैं क्योंकि यहां के कानून के अनुसार किसी आदिवासी की जमीन को नीलाम करना, उस पर कब्जा करना या उसे किसी और के नाम से हस्तांतरित करना गैर कानूनी है।

मध्य प्रदेश लैंड रेवेन्यू कोर्ट की धारा 170–बी के अनुसार राज्य को यह अधिकार है कि अगर किसी आदिवासी के साथ जमीन की खरीद फरोख्त में कोई धोखाधड़ी की गई है और यह मामला 1956 के बाद का है तो इस पर राज्य कार्रवाई कर सकता है। एक अधिकारी के अनुसार इस प्रगतिशील योगदान का श्रेय अर्जुन सिंह को जाता है। इन सबके बावजूद सुभासो के मामले में धारा 170–बी का पालन नहीं हुआ। जहां तक सुभासो की बात है उसे इस कानून की कोई जानकारी नहीं है।

सूरजपुर सिविल कोर्ट के एडवोकेट मोहन कुमार गिरि का कहना है कि इस मामले में जो भी कदम उठाया गया वह गैर कानूनी था और सारे अफसरों को इसकी जानकारी थी। नीलामी की घटना से यह अपराध और संगीन हो जाता है। सुभासो के बेटे कामेश ने बताया कि वह सबेरे यहां पहुंचा और इसने देखा कि आसपास के कई व्यापारी अपनी–अपनी थैलियां लटकाए पहुंच गए हैं लेकिन पांडे ने नीलामी का संचालन करने वाले को एक तरफ ले जाकर उससे कुछ बातचीत की। इसके बाद सभी वहां से गायब हो गए और रात में लौटे। तब तक सारे व्यापारी निराश होकर वापस जा चुके थे।

फिर उन्होंने महज 17,500 रुपए में वह जमीन बेच दी जिसकी वास्तविक कीमत दो लाख रुपए से भी ज्यादा है। पांडे ने बड़ी चालाकी के साथ अपने साले के नाम वह जमीन खरीदी क्योंकि पांडे खुद एक सरकारी कर्मचारी हैं। बैंक ने भी सुभासो के नाम दर्ज 3780 रुपए वापस करने की जरूरत नहीं समझी। जबकि कायदे से कर्ज की राशि काटकर इतने पैसे सुभासो को वापस मिलने चाहिए थे। इस पैसे को भी उन लोगों ने अपनी जेब में डाल दिया।

सुभासो का कहना है–" मैंने बड़ी विनती की, मैं गिड़गिड़ाता रही। उन्हें पता था कि मैंने कोई कर्ज नहीं लिया है फिर भी वे मेरी जमीन नीलाम करने पर आमादा थे और वह भी ऐसी दर पर जिसका आप अनुमान भी नहीं लगा सकते। सुभासो के पड़ोसी लालता प्रसाद ने बताया कि वह जमीन तो सोना उगलती थी। उसकी कीमत 15000 रुपए प्रति एकड़ से ज्यादा ही थी फिर भी उसे दो हजार रुपए प्रति एकड़ से भी कम की राशि पर पांडे के हाथों बेच दी गई। मेरे ख्याल से सुभासो के पति की मृत्यु के बाद उन लोगों ने समझ लिया था कि अब इसकी देख–रेख करने वाला कोई नहीं है इसलिए इसे

चाहे–जितना दबा दो। स्थानीय लोगों में से कुछ का तो यह भी कहना था कि उस जमीन की कीमत 25 से 40 हजार रुपए प्रति एकड़ थी। बात चाहे जो हो सुभासो को तो कुछ भी नहीं मिला। उसके पास तो उतनी ही जमीन बची रही जितनी पर उसका मकान खड़ा है।

इस बेतुके सौदे में बैंक को तो कर्ज से भी ज्यादा की राशि मिल गई। अगर उन लोगों ने जमीन की सही कीमत लगाई होती तो सुभासो को भी कुछ पैसे मिल जाते। इसमें बैंक का कोई नुकसान नहीं था। वह कर्ज की राशि काटकर बाकी पैसे सुभासो को दे देता।

निश्चय ही सुभासो के पक्ष में कानून की सारी बातें थीं और उसका निदान भी संभव था। सुभासो ने बताया कि मैं दो–दो बार जाकर कलक्टर से मिली और उन्होंने कहा कि तुम जाकर अपना खेत जोतो, तुम्हें कोई रोक नहीं सकता। लेकिन पांडे ने मुझे जोर–जबर्दस्ती से खेत से बाहर फेंक दिया। मैं उसका कैसे मुकाबला कर सकती थी। उसकी जो हैसियत थी और उसके पास जो कागजात थे उससे वह सरकारी तौर पर दबाव डाल सकता था। यहां यह ध्यान देने वाली बात है कि आदिवासी समुदाय वन विभाग से अत्यंत भयभीत रहता है। आदिवासियों का अनुभव है कि सरकार का यह सबसे शक्तिशाली और सबसे निर्दयी महकमा है। दरअसल, आदिवासियों का वन विभाग के लोगों से लगभग रोज ही साबका पड़ता है।

इसके अलावा कालीपुर नामक गांव बहुत दूर–दराज स्थित गांव है। 1986 में जब सुभासो के सामने इस तरह की मुसीबतें खड़ी हुई उस समय तो यह क्षेत्र और भी दुर्गम था। जितनी बार उसे कलक्ट्रेट जाना पड़ता था कई–कई किलोमीटर की दूरी पैदल ही तय करनी पड़ती थी और यह बहुत थका देने वाली यात्रा होती थी।

सब रजिस्ट्रार की अदालत ने जमीन हड़पने वालों के खिलाफ स्ट्रिक्चर पास किये। सहकारी समितियों के सब–रजिस्ट्रार आर.पी. भट्टी ने निष्कर्ष निकाला कि जितने भी अधिकारी इन मामलों से संबद्ध थे उन सबने बहुत बड़े पैमाने पर नियमों और कानून का उल्लंघन किया है। उन्होंने सुभासो को यह भी सलाह दी कि वह उचित अदालत में जाकर न्याय की गुहार करे।

लेकिन सुभासो टूट चुकी थी। कलक्टर का तबादला हो गया था और अब उसने नए कलक्टर को सारी बातें बताई। नए कलक्टर ने भी सिद्धांत रूप में उसके पक्ष को सही बताया। उसने स्थानीय तहसीलदार के नाम एक पत्र भी लिखकर सुभासो को दिया जिसमें निर्देश दिया गया था कि इस मामले पर उचित कार्रवाई की जाए। तहसीलदार ने सुभासो के हाथ से पत्र लेते हुए अपनी जेब में डाल लिया और हंसते हुए बोला–"तुम इस जमीन को कभी वापस नहीं पा सकती। चाहे इसके लिए तुम जो भी कर लो। "यह कहकर उसने सुभासो को भगा दिया।

इस घटना के बाद सुभासो कभी भी किसी सरकारी दफ्तर में नहीं गई। सूदखोरों, वन विभाग के कर्मचारियों और अफसरों, बैंक अधिकारियों और एक भ्रष्ट तहसीलदार से लड़ते–लड़ते वह थक गई थी और अब वह खुद को पराजित महसूस कर रही थी।

एडवोकेट एच.एन. श्रीवास्तव का कहना है कि भारत में अगर कोई सबसे ज्यादा असुरक्षित है तो वह आदिवासी औरतें ही हैं। सुभासो के मामले को श्रीवास्तव सूरजपुर सिविल कोर्ट तक ले गए थे। इस तरह के कई मामलों से उनका साबका पड़ चुका है। उनका कहना है कि कुछ मामलों में ऐसे लोग मुकदमा लड़ते–लड़ते ही पूरी जिंदगी गुजार देते हैं। प्रायः ऐसा भी होता है कि जितने की जमीन नहीं है उससे ज्यादा पैसा मुकदमें में ही खर्च हो जाता है। कितने साल तो केवल तारीख पड़ने में ही गुजर जाते हैं।

सुभासो के पास मुकदमा लड़ने का पैसा नहीं है। पैसा ही नहीं, उसके पास तो कुछ भी नहीं बचा है। चार सदस्यों का परिवार है और मजदूरी करके जिंदगी गुजारनी पड़ती है। सुभासो बहुत तरतीब के साथ अपने मामले को भी नहीं बता सकती। सब–रजिस्ट्रार के 1988 के एक आदेश को हमको दिखाते समय उसकी आंखों से आंसू बहने लगे और वह कागज गीला हो गया।

श्रीवास्तव का कहना है कि सुभासो के मामले को उसके व्यक्तिगत मामले के रूप में न देखिए। हजारों आदिवासियों के सामने इसी तरह की मुसीबतें हैं। उनकी हैसियत ऐसी नहीं है कि वे अपने अधिकारों को हासिल करने के लिए दबाव डाल सकें। उनके लिए इस बात का कोई अर्थ नहीं कि आपका कानून कितना प्रगतिशील है। सुभासो के मामले में आपको इन आदिवासियों की दुनिया की एक तस्वीर दिखाई देगी। आप देखेंगे कि इनका किस तरह उत्पीड़न हो रहा है और सरकारी मशीनरी इनके लिए क्या कर रही है। आप देखेंगे कि स्थानीय व्यवस्था इनके प्रति कितनी धोखाधड़ी कर रही है। अदालतें इन्हें किस तरह उलझाए हुए हैं। सूदखोर महाजन इनका किस तरह शोषण कर रहे हैं और देखा जाए तो यह भी पता चलता है कि आदिवासियों को निरक्षर बनाए रखने का फायदा सबसे ज्यादा किसे मिल रहा है।

अजनबी आगंतुकों को देखकर एक क्षण के लिए सुभासो के मन में उम्मीद की किरणें फिर जाग उठीं। उसने पूछा–" क्या आपको लगता है कि अगर मैं नए कलक्टर से जाकर मिलूं तो कोई फायदा होगा ? " अब तो एक नई सरकार भी है। सुभासो के सवाल का क्या जवाब हो सकता है ? यह जवाब ही हजारों आदिवासियों के भविष्य का फैसला कर सकेगा।

क्या किसी ने मेरी जमीन देखी है?

काचन, पलामू (बिहार): रनबीर कोरवा की एक समस्या है– वह अपनी जमीन ढूंढ नहीं पा रहा है। बेहद गरीब कोरवा जनजाति के रणवीर को 1991 में बिहार सरकार द्वारा चलाए गए अतिरिक्त भूमि पुनर्वितरण कार्यक्रम के अंतर्गत कुछ जमीन मिली थी। उसे 1.80 एकड़ जमीन का मालिक होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। दो वर्ष बीत गए लेकिन उसे अभी भी अपनी जमीन की तलाश है।

काचन गांव में जब मैं उससे मिला तो उसने बहुत उदास स्वर में कहा–मुझे नहीं पता कि मेरी जमीन कहां है। उसके पास जमीन का जो पट्टा है उसमें लिखा हुआ है कि सुर्गहा गांव में कट्ठा नंबर दो और प्लाट नंबर 420/26 उसका प्लाट है। इसमें जमीन का क्षेत्रफल भी 1.80 एकड़ बताया गया है। रनबीर का कहना है कि इस कागज के बावजूद उसकी जमीन कहीं नहीं है क्योंकि यह पता ही गलत है। पट्टे पर जो प्लाट नंबर दिया हुआ है, वह प्लाट मौजूद ही नहीं है।

रनबीर का मामला कोई बहुत अजीब नहीं है कोरवा जनजाति की ही फगूनी देवी को भी उसी गांव में उसी दिन जमीन आवंटित की गई। फगूनी का प्लाट नंबर 424/27 है। यानि रनबीर और फगूनी दोनों पड़ोसी हुए। फगूनी को जो जमीन दी गई है उसका रकबा 1.92 एकड़ है। दरअसल फगूनी को इसी चीज की जरूरत थी। अब उसे केवल अपनी जमीन ढूंढ निकालनी है। उसे जो भी पट्टा दिया गया है उसमें साफ बताया गया है की जमीन के एक सिरे पर वन (जंगल) है लेकिन इससे भी उसे अपनी जमीन ढूंढने में कोई मदद नहीं मिली।

बिहार में जमीन के पुनर्वितरण का जो घपला है उसमें ऐसे कई मामले सामने आए हैं। यहां पलामू में कोरवा जनजाति के अनेक लोगों के साथ यह हादसा हुआ है। (इस जनजाति का मुख्य हिस्सा खास तौर पर पहाड़ी कोरवा सीमा के उस पार मध्य प्रदेश में सरगुजा जिले में रहता है) इन लोगों की परेशानी को और ज्यादा जटिल बनाने में राज्य के भूमि सर्वेक्षण ने योगदान किया जो 1980 वाले दशक के उत्तरार्द्ध में शुरू हुआ था। इससे जमीन हड़पने तथा भ्रष्टाचार के अन्य रूपों को अपनाने के नए–नए तरीके सामने आए। इसका नतीजा यह हुआ कि कुछ लोग पूरी तरह बर्बाद हो गए और नौकरशाही के स्तर पर जो बड़ी गड़बड़ियां हुई उनसे हालत बद–से–बदतर होती चली गई।

जब भी जमीन के पुनर्वितरण की कोई योजना घोषित होती है गरीबों के अंदर

उम्मीद की किरणें फूट पड़ती है। प्रायः उन्हें जिस वास्तविक अनुभव से गुजरना पड़ता है वह रनबीर और फगूनी देवी के अनुभवों से बहुत भिन्न नहीं होता। लेकिन क्या सर्किल ऑफिस जाकर ये लोग अपनी समस्या का समाधान नहीं ढूंढ सकते?

रनबीर ने बताया कि–"मैंने सर्किल ऑफिस के कई चक्कर लगाये लेकिन सर्किल कर्मचारी ने मुझे अफसर से मिलने नहीं दिया। उसे प्रति एकड़ पचास रुपए के हिसाब से घूस चाहिए था। इसका मतलब यह था कि अगर मैं उसे 80 रुपए देता तब वह मुझे अफसर के पास जाने देता। मेरे पास इतना पैसा कहां था? "गरीब कोरवा के लिए 80 रुपए बहुत होते हैं। यही हालत अन्य जातीय समुहों की है। ये लोग जिस क्षेत्र में रहते हैं वहां इस राशि का आधा पैसा भी कर्ज लेने के एवज में जिंदगी भर बधुआ मजदूरी करना कोई खास बात नहीं है।

पंचायत के स्तर पर विवादों का निपटारा भी यहां बहुत कठिन है। लगान आदि तथा जमीन से संबंधित मामलों का जहां तक ताल्लुक है असली ताकत सर्किल आफीसर के पास है। इस छोटे से जगत में उसके अधिकार अपार हैं। गरीब आदिवासियों के लिए उस तक पहुंचना एक टेढ़ी खीर है। लम्बे उबड़–खाबड़ रास्तों को पास करते हुए अगर वे किसी तरह उसके दफ्तर तक पहुंच भी गए तो उससे मिलना संभव ही नहीं हो पाता है। इन सबके बावजूद उसके बिना कोई काम नहीं हो सकता।

गनोरी कोरवा को एक दूसरे गांव में जमीन 'आवंटित' की गई है लेकिन वह भी अभी उस जमीन की तलाश में ही भटक रही है। उसने बताया– सर्किल आफीसर का दफ्तर 30 किलोमीटर दूर है। वहां जाने में ही काफी पैसा लग जाएगा। दिन भर वह घूम–घूम कर अपने–लिए खाना जुटाती है और अगर वह सर्किल अफसर तक गई तो इस काम में उसे घंटों का नुकसान हो जाएगा। उसने भी यही बताया अगर कोई वहां पहुंच गया तो उससे कह दिया जाता है कि सी.ओ. साहब मीटिंग में हैं या सी.ओ. साहब बाहर गए हैं या और कुछ। सी.ओ. भी हम लोगों पर कोई ध्यान नहीं देता और सारे दिन दफ्तर के बाहर बैठाए रहने के बावजूद वह बिना मिले चला जाता है। उनका अर्दली हमसे कहता है कि अगर पैसे दो तो मैं साहब से मिलवा दूं।

किसी भी सरकारी दफ्तर में जाने पर आदिवासियों अथवा हरिजनों को बहुत तल्ख अनुभव होता है। बिहार में पचास से भी अधिक दिनों की यात्रा के दौरान मैंने जिन एकाधिक दफ्तरों को देखा वहां मैंने पाया कि आदिवासियों के साथ बहुत दुर्व्यवहार होता है। फिर भी चूंकि जमीन के सर्वेक्षण से काफी हंगामा हो गया है उन्हें इन दफ्तरों के चक्कर लगाने ही पड़ते हैं।

एक वरिष्ठ अधिकारी ने बताया–बड़े जमींदार से लेकर सत्ता के छोटे–छोटे स्थानीय केंद्रों तक अर्थात् पोस्टमास्टर, स्कूल हेडमास्टर अथवा किसी एडवोकेट तक सबने जमीन हड़पने में अपनी भूमिका निभाई है। पहले जमीन हड़पने के लिए प्रायः मारपीट का सहारा लेना पड़ता था लेकिन जबसे सर्वेक्षण की शुरूआत हुई अब कागजों

के स्तर पर हेराफेरी करके काम चला लिया जाता है। यह ज्यादा कारगर तरीका साबित हुआ है। होता यह है कि सर्वेक्षण का काम करने वाले कर्मचारी को लोग घूस दे देते हैं और वह गरीब किसान कि जमीन को उस आदमी के नाम कर देता है जिससे उसे घूस मिला है।

इन सब हरकतों से अजीबों–गरीब स्थिति पैदा हो जाती है जैसे कि खुदग नामक गांव में देखने को मिली। यहां हमने देखा कि गणपत सिंह और उसकी बिरादरी के दूसरे लोगों के नाम कागज के पट्टे में साफ–साफ दर्ज थे लेकिन सर्वेक्षण का काम करने वाले कर्मचारी ने उनकी जमीन को एक दूसरे गांव लावरपुर के पोस्टमास्टर के नाम कर दिया था। मजे की बात यह है कि उस कर्मचारी ने गणपत से भी 2000 हजार रुपए बतौर घूस लिए थे ताकि पट्टे में उसका नाम बना रहे। अब हालत यह है कि गणपत को जमीन और पैसा दोनों से हाथ धोना पड़ा। अनेक दशकों से जमीन हड़पने की इस तरह की घटनाओं ने यहां के गरीबों के लिए काफी मुसीबतें पैदा की है। इन आदिवासियों और हरिजनों के लिए लम्बे–लम्बे मुकदमें लड़ना संभव ही नहीं है और अगर उनकी जमीन को किसी वकील ने ही हड़प लिया हो तब तो उसे वापस पाना असंभव ही हो जाता है। फिर भी वे लड़ते हैं, काफी जोखिम उठाकर लड़ते हैं और अनेक तरीकों से लड़ते हैं। पलामू में कुछ और भी बातें हैं जो उन्हें मदद पहुंचाती है।

यहां शत्रुघन कुमार नामक व्यक्ति ने एक गैर सरकारी संगठन बना रखा है जिसका नाम है छोटा नागपुर समाज विकास संस्थान। फिलहाल इस संस्था के पास कुल 8000 हेक्टेयर की जमीन हड़पने के मामले हैं। यह संस्था उन लोगों की ओर से, जिनकी जमीनें हड़प ली गईं, मुकदमें लड़ रही है। कुमार का कहना है कि अभी हमारा सारा ध्यान उन चार ब्लाकों पर है जिनमें हमने अपना काम केंद्रित कर रखा है। वे ब्लाक हैं चैनपुर, रांका (गढ़वा), भंडरिया और बरवाडीह केवल इन चार ब्लाकों में ही पांच हजार से अधिक आदिवासी और हरिजन परिवारों की जमीनें हड़पी जा चुकी है।

यहां एक और बात बहुत आम जैसी लगती है। गरीब लोगों को कह दिया जाता है कि वे गैर–मजरूआ जमीन पर बस जाएं। काफी मेहनत करने के बाद जब वे जमीन को खेती योग्य बना लेते हैं तो उन्हें बलपूर्वक वहां से हटा दिया जाता है। आदिवासियों की जमीन को, कम से कम सिद्धांत रूप में सही, छोटानागपुर कास्तकारी अधिनियम के अंतर्गत सुरक्षा प्राप्त है। इसमें यह प्रावधान है कि अगर कोई आदिवासी भी अपनी जमीन हस्तांतरित करना चाहे अथवा बेचना चाहे तो वह उसी थाने के अंतर्गत पड़ने वाले क्षेत्र के किसी आदिवासी को दे सकता है और इसके लिए भी उपायुक्त की अनुमति लेनी जरूरी है।

लेकिन होता क्या है आदिवासियों की जमीनें गैर आदिवासियों के हाथ में पहुंचती जा रही है। यह प्रक्रिया उन स्थानों में और भी ज्यादा तेजी से हो रही है जहां आदिवासियों के पास कोई ऐसा राजनीतिक संगठन नहीं है जो उनकी ओर से संघर्ष चला

सके। इस तरह के मामलों की खोजबीन करने वाले एक गैर सरकारी संगठन सर्वांगीण ग्राम विकास केंद्र के अनुसार पलामू के गांवों में सैकड़ों ऐसे मामले हैं।

ऊपर जिस कानून का उल्लेख किया गया है उसमें हरिजनों की जमीन को तो सैद्धांतिक तौर पर भी सुरक्षा नहीं प्राप्त है इसलिए आजकल जमीन हड़पने वालों का असली निशाना हरिजन हैं। लातेहर में जिस भूईया हरिजन समुदाय के साथ मैं रुका हुआ था उस समुदाय के प्रत्येक सदस्य ने इस तरह अपनी जमीन का कुछ न कुछ हिस्सा खो दिया था। इसका अर्थ यह भी हुआ कि अदालतों में जमीन से संबंधित जितने भी मामले आ रहे हैं उनमें से अधिकांश मामले जमीन हड़पने के हैं और इन सभी मामलों में हरिजनों की जमीनें हड़पी गई हैं।

लेकिन कई संगठन, राजनीतिक दल तथा अन्य लोग इस धांधली के खिलाफ संघर्ष कर रहे हैं। यहां तक कि अतिवामपंथी माओइस्ट कम्युनिस्ट सेंटर (एम.सी.सी.) का भी जमींदारों पर जबर्दस्त आतंक है। इस तरह की विविध शक्तियों और बेहद हमदर्द वरिष्ठ जिलाधिकारियों की मदद से यह लड़ाई जीती जा सकती है। लेकिन जब तक ऐसा नहीं होता, रनबीर कोरवा को शायद अपनी जमीन की तलाश जारी रखनी पड़ेगी।

पड़ैया होने का दर्द

बालूमठ, पलामू (बिहार): खेतों और जंगलों में छुपे लोगों को बाहर आने के लिए प्रेरित करने में कुछ घंटे लग गए। दरअसल, उन लोगों ने जैसे ही हमे देखा, वे अपनी औरतों और बच्चों को छोड़कर भाग खड़े हुए और जाकर कहीं छुप गए। पड़ैया लोगों की जो गिनी–चुनी बस्तियां हैं उनमें से एक का नाम है पकड़ी और जैसे ही हमारी गाड़ी पकड़ी के करीब पहुंची की यह हादसा हुआ। हमलोग एक जीप में थे। और यहां जीप का मतलब है पुलिस और पुलिस का मतलब है पिटाई तथा बर्बरता।

काफी देर तक उन्हें समझाया जाता रहा और इसके बाद सीपीआईएम के एक स्थानीय नेता ने जब पहल की तब वे बहुत डरते–डरते बाहर आए। उस नेता को यह समझाने में बड़ी मुश्किल हो रही थी कि न तो मैं पुलिस हूं और न किसी सरकारी दफ्तर से आया हूं।

पड़ैया जनजाति के लोग अब बहुत कम रह गए हैं। यह भारत के सबसे गरीब तबकों में से एक है और इस पर "अपराधी" जनजाति के होने का ठप्पा लगा हुआ है। यह ठप्पा अंग्रेजों ने इन पर लगाया था। अक्सर ऐसा होता है कि बालूमठ ब्लाक में जब भी कोई वारदात हुई पुलिस इस बस्ती में आ जाती है और सारे पड़ैया लोगों को पकड़कर थाने ले जाती है। यह उन स्थितियों में भी होता है जहां इस बात की थोड़ी भी गुंजाइश न हो कि उस वारदात में पड़ैया जाति के लोगों का कोई हाथ होगा।

मेरे पकड़ी पहुंचने के 15 घंटे पहले ही पुलिस ने गोपाल पड़ैया नामक नौजवान को गिरफ्तार कर लिया था। गंगा पड़ैया ने बताया–उन्होंने न तो गिरफ्तारी की कोई वजह बताई और न यही बताया कि उसका कसूर क्या है, कुछ भी नहीं। बाद में थाने जाकर जब मैंने पता लगाया तो एक अधिकारी ने मुझसे कहा कि वे लोग गोपाल को एक चोरी के सिलसिले में पकड़कर लाए हैं जो कुछ समय पहले हुई थी। कब हुई थी, मैंने पूछा। उन्होंने जबाव दिया–लगभग दो साल पहले। मैंने सवाल किया कि थाने से महज दो किलोमीटर की दूरी पर खुलेआम गैर कानूनी ढंग से खदानों में से चोरी का काम चल रहा है। उसके लिए आप क्यों नहीं परेशान होते। उस अधिकारी ने कहा–यह मेरे विभाग की समस्या नहीं है।

भोला पड़ैया ने हंसते हुए कहा–अगर हम पुलिस के लिए काम कर रहे हों तब भी हमें कोई राहत नहीं मिलती। ठीक ही है उसे यह जानना भी चाहिए। दो साल पहले उसने एक पुलिस अफसर के घर में नौकर का काम किया। गंगा पड़ैया भी इसी तरह

का काम कर चुका था। दोनों एक ही जगह काम कर रहे थे। उस मकान में कई दिनों तक काम करने के बाद इन दोनों को मजदूरी के रूप में दस–दस रुपए मिले। इसके अलावा एक स्थानीय जमींदार ने भी दस–दस रुपए दिए क्योंकि इन दोनों ने उसके यहां भी कुछ दिन काम किया था। उस पैसे से इन्होंने दो–दो किलो चावल खरीदा। लेकिन जब वे घर लौट रहे थे तो रास्ते में पुलिस ने उन्हें पकड़ लिया और बड़ी पिटाई की। इनके साथ फगुना पड़ैया भी था। इनके पास चावल का होना ही पुलिस के लिए यह मानने को काफी था कि इन्होंने कहीं से अपराध किया है और तब कुछ कमाई हुई है। गंगा पड़ैया ने बताया कि हमारी कोई बात वे सुन ही नहीं रहे थे। बस वे यही कहते जा रहे थे, तब कुछ कमाई हुई है। बिना चोरी किए तुम्हारे पास इतने पैसे कहां से आए कि तुम चावल खरीद सको।

उनकी रिहाई के कुछ दिनों बाद उग्रवादी संगठन माओइस्ट कम्युनिस्ट सेंटर (एमसीसी) के सदस्यों ने उस गांव का दौरा किया। अपराध के दुष्परिणामों के बारे में पड़ैया लोगों के बीच भाषण देने के बाद उन्होंने फगुना का उदाहरण प्रस्तुत किया और उसे 'जंगल लूटने' का अपराधी बताया। चूंकि एमसीसी के लोग लकड़ी के स्थानीय तस्करों से बंधे हुए चंदे (लेबी) के रूप में भारी रकम वसूलते हैं इसलिए इनके द्वारा लगाया गया यह आरोप कुछ अजीब ही था। उन्होंने फगुना को काफी पीटा जिसके बाद वह बीमार पड़ गया और मर गया।

वन विभाग के छोटे–मोटे अधिकारियों से इन पड़ैया लोगों को लगातार मिलती है। तुरुवा पड़ैया ने बताया–अगर हम एकदम सूखी दीमक लगी लकड़ी भी लेकर दिखाई दे जाते हैं तो वे हमारा पीछा करने लगते हैं। सूखे के दिनों में अनेक पेड़–पौधे पूरी तरह जल जाते हैं और अगर हम उस लकड़ी को भी इस्तेमाल करने के लिए उठा लेते हैं तो जंगल का रेंजर हमें पीटे बिना न छोड़ता। वह कहता है कि तुमने पहले इसे काटा होगा और उसके बाद सूखने के लिए डाल दिया होगा।

बड़होर आदिवासियों के साथ पड़ैया लोग उन जनजातियों में से है जिन्हें 1993 के मध्य तक भयंकर सूखे और लगभग अकाल जैसी स्थिति में सबसे ज्यादा चोट पहुंची। न तो उन परियोजनाओं में भी कोई काम मिलता जिन्हें राहत पहुंचाने के नाम पर शुरू किया गया था और जब सब कुछ सामान्य हो उस समय भी सरकारी दफ्तरों में इन्हें काम मिलना बहुत ही मुश्किल होता है। कोई भी इस बात के लिए तैयार नहीं होता कि इन्हें अच्छे चरित्र का प्रमाण पत्र दें। एक बार एक दयालु किस्म के अफसर ने इनमें से कुछ को अपनी जिम्मेदारी पर चरित्र संबंधी प्रमाण पत्र दिया। तुरुवा पड़ैया का कहना है कि उस प्रमाण–पत्र की मदद से हमारे चार लोगों को होमगार्ड की नौकरी मिल गई लेकिन जब वह अफसर चला गया तो इन लोगों को भी नौकरी से बाहर कर दिया गया।

गंगा पड़ैया ने बताया–'जब सूखा पड़ा तो हमारे लिए गेट्टी की जड़ें और गुन्ना की पत्तियां पाना भी असंभव हो गया।' इनके पास जमीन के जो छोटे–छोटे टुकड़े

हैं उनसे इनका काम नहीं चल सकता। जिस समय हम लोग बातचीत कर रहे थे एक नौजवान औरत गेट्टी की गांठों को पका रही थी। यही इनका भोजन है। इन्हें न तो चीनी के बारे में कोई जानकारी है और न कभी दाल नसीब होती है। सूखा पड़ने पर पेड़–पौधे सूख गये, गेट्टी का नाम–निशान नहीं रह गया और कुछ पड़ैया मौत की गोद में चले गये। खुशकिस्मती से जिला स्तर के कुछ बड़े प्रशासक इस भीषण समस्या के समाधन के लिए कुछ उपाय लेकर आए। उनके प्रयास से समूचा जिला एक भयंकर विपदा की

गेट्टी की गांठों को पकाती एक पड़ैया औरत। यही इनके भोजन का मुख्य हिस्सा है। इन्हें न तो चीनी के बारे में कोई जानकारी है और न दाल नसीब होती है। जब सूखा पड़ा पेड़–पौधे सूख गये हैं, गेट्टी का नाम–निशान नहीं रह गया और कुछ पड़ैया मौत की गोद में चले गये। लेकिन बड़े स्तर के कुछ जिला अधिकारियो ने अपने प्रयास से लोगों को भारी विपत्ति से बचा लिया।

चपेट में आने से बच गया। अगर ऐसा नहीं हुआ होता तो न जाने कितनों की जानें गई होतीं।

पड़ैया लोगों को एक ऐसे तंत्र से जूझना पड़ता है जिसके अंदर इनके प्रति न केवल अवमानना का भाव भरा हुआ है बल्कि जो इनमें नफरत भी करता है और कोई सुखद स्थिति नहीं है। खुशहाली के दिनों में भी पड़ैया लोगों के पुनर्वास की कोशिशें कुछ खास सफल नहीं रही हैं। इंदिरा आवास योजना के अंतर्गत इनके लिए जो 'मकान' बनाए गए उनकी उम्र अभी पांच वर्ष भी नहीं हुई है। उन मकानों को दिखाते हुए एक एनजीओ कार्यकर्ता ने हमसे कहा–इन खंडहरों को देखिए ये तो पुराने पलामू के किले से भी गई गुजरी हालत में हैं।

इंदिरा आवास योजना के अंतर्गत बने उन खंडहरनुमा मकानों के सामने खड़े होकर मुस्कुराते हुए तुरुवा पड़ैया ने कहा कि ये तो बिल्कुल ही बेकार हैं। यह बात उसने इतना सहमते हुए कहा जैसे हम लोग इस हालत के लिए कहीं उसको ही न दोषी ठहरा दें। जब हमारी तरफ से उसे अनुकूल प्रतिक्रिया दिखाई दी तब उसने बताया–पहली बारिश में ही इन मकानों की छत गिर गई और यह पहली बारिश भी मकान खड़े होने के दो महीने के अंदर ही हुई थी। आप खुद ही देख लीजिए कि जो भी ढांचा किया गया वे सब भर–भराकर गिर पड़े हैं।

इन मकानों में से अधिकांश में कभी कोई नहीं रहा। दूर–दराज के इलाकों में इंदिरा आवास बस्तियों में बनाए गए मकानों के साथ यह एक खास बात देखी जाती है। अनेक स्थानों पर इनके ढांचे खड़े हैं और पूरी बस्ती सुनसान पड़ी है। कहीं–कहीं तो इन मकानों में मवेशी और अनाज रखे गए हैं। इनकी बनावट ऐसी है कि इनमें दम घुटता है–अंधेरे सीलन भरे और खिड़कियों से रहित मकान। उन लोगों के लिए तो यहां रहना बिल्कुल ही असंभव है जो ईंधन के रूप में लकड़ी का इस्तेमाल करते हैं।

पकड़ी में इन मकानों को ठेकेदारों और भ्रष्ट अफसरों ने अपनी देख–रेख में बनवाया जो पहली ही बारिश में ढह गए। बेशक इसके बाद एक भी अफसर यह देखने नहीं गया कि वे किस हालत में है। एक एनजीओ कार्यकर्ता ने बताया–जिन मकानों की दीवारें नहीं गिरी हैं उनमें भी कोई नहीं रहता। आप बालूमठ ब्लॉक हेडक्वार्टर में चले जाइए और आप देखेंगे कि पूरी–पूरी बस्ती खाली पड़ी हुई है। इसके दो कारण हैं पहला कारण तो यह कि अंदर का ढांचा बहुत ही कमजोर है और दूसरा यह कि यहां से थाना बहुत करीब है और वे डरते हैं कि थाना करीब होने से पुलिस का जुल्म अक्सर झेलना पड़ेगा।

पड़ैया लोगों के पास एक खास तरह का रक्षात्मक उपाय भी है जो बराबर काम करता रहता है। पकड़ी का कोई भी नौजवान रात में गांव में नहीं रुकता क्योंकि उसे डर रहता है कि कभी भी पुलिस आ सकती है। वे खेत के सिरे पर सोते हैं जहां से जंगल की शुरुआत होती है। इनका कोई भी बच्चा फिलहाल स्कूल नहीं जा रहा है। तुरुवा

पड़ैया ने बताया कि वैसे भी कोई अध्यापक यहां आने के लिए तैयार नहीं है। एक बार रामचंद्र पड़ैया ने एक स्कूल की शुरुआत की। रामचंद्र कक्षा छह तक की पढ़ाई कर चुका है और इस जाति में वह सबसे ज्यादा पढ़ा–लिखा व्यक्ति है। गंगा पड़ैया ने बताया कि स्कूल खोलने के कुछ ही महीनों बाद एक दिन पुलिस आई और उसे किसी मामले में फंसा कर उठा ले गई। इसके बाद से स्कूल भी बंद हो गया।

एक भले और शिक्षित आदिवासी मार्टिन तिर्की ने जब इस ब्लाक हेडक्वार्टर में स्कूल खोलने की खुद ही इच्छा जाहिर कि तो सरकार ने तुरंत उनको इस काम में लगा दिया। वह कई महीनों तक बड़ी ईमानदारी के साथ स्कूल चलाते रहे लेकिन जब उन्हें सरकार से कोई तन्ख्वाह नहीं मिली और किसी की मदद भी नहीं मिली तो वह छोड़ कर चले गए। इस दौरान तिर्की ने एक बहुत ही लाभदायक सर्वेक्षण किया और यह पता लगाया कि कितने पड़ैया लोग जेलों में पड़े हैं और कितनों की हालत बिल्कुल दरिद्रों वाली हो गई है। मुझे नहीं लगता कि किसी स्थानीय अधिकारी ने कभी इस रिपोर्ट को देखने का कष्ट उठाया हो। अगर कोई समुदाय यह कहता हो कि उसे अपराध करने के लिए मजबूर किया गया तो यह कहने का हक पड़ैया लोगों को पूरी तरह है। जेल जाने वालों का रिकार्ड देखने से साफ पता चलता है कि कितने मामूली किस्म की अपराधों के लिए उन्हें जेल की हवा खानी पड़ी। सबसे बड़ी बात तो यह है कि वे अपराध करें न करें सजा मिलनी ही है। समाज ने बिना यह बताए कि इनका कसूर क्या है इन पर मुकदमा भी चला दिया और इन्हें सजा भी दे दी।

बंधुआ मजदूरी में फंसे बोंडा लोग

मुदुलीपाड़ा, मलकानगिरि (उड़ीसा): एक आदिवासी मजदूर को एक दूसरे आदिवासी ने बंधुआ बना लिया? अनहोनी बात है और खास तौर से प्राचीन जनजाति के लोगों के बीच। तो भी मंगला किस्सानी और उसके जैसे कुछ दूसरे बोंडा जाति के लोग ऐसे ही जिंदगी जी रहे हैं। वे अन्य बोंडा लोगों के खेतों में बंधुआ मजदूरों के रूप में काम कर रहे हैं।

अपनी शादी के समय दुलहन के लिए कीमत जुटाने के सिलसिले में मंगला बुद्धा के यहां बंधुआ मजदूरी करता है। उसके यहां एक निश्चित अवधि तक बेगार करके मंगला अपना कर्ज चुकता कर सकता है। लेकिन बुद्धा इसकी इजाजत नहीं देगा। जब तक वह सारे कर्ज का भुगतान नगद पैसे के रूप में नहीं कर देता, वह बंधुआ बना रहेगा। इसलिए मंगला न केवल बुद्धा के खेत में काम करता है बल्कि उसके घर में भी नौकर की तरह खटता रहता है। उसकी गर्भवती पत्नी भी खेतों में अभी भी काम करने जाती है ताकि खर्च चल सके।

क्या खंड विकास अधिकारी (बीडीओ) ने कानून के तहत मंगला के मामले का निपटारा करा दिया? मंगला ने बताया–मेरे लिए किसी ने कुछ भी नहीं किया। वह बोंडा पहाड़ियों के बीच स्थित बांडीगुडा गांव में अपने घर में हमसे बात कर रहा था। उसने अनुनय विनय के साथ हमसे कहा–हमें किसी तरह आजाद कराइये। जिस अफसर के साथ घंटों तक घिसटते हुए मैं इस गांव में पहुंचा था उसने (बीडीओ) के नाम एक पर्ची लिखी और मंगला को पकड़ा दी।

बोंडा जाति बहुत प्राचीन जनजाति है जो मलकानगिरि के अलावा और कहीं नहीं पायी जाती। सरकारी दस्तावेजों में 1990 में इनकी कुल संख्या 4,431 थी। मलकानगिरि के कलेक्टर जी के ढल बताते हैं कि बोंडा लोगों के नाम उस सूची में है जो दुनिया की सबसे प्राचीन 15 जनजातियों की सूची है।

'आधुनिक समाज' के साथ उनका मेल–जोल बहुत सफल नहीं रहा और ऐसा लगता है कि बंधुआ मजदूरी की जकड़ इस मेल–जोल के नतीजों में से एक है। पुलिस के एक सहायक सब इंस्पेक्टर अनिरुद्ध नायक ने मजाक उड़ाते हुए कहा–वे हमसे ऐसी अनेक बुरी आदतें सीख लेते हैं। अनिरुद्ध नायक मुदुलीपाड़ा बस्ती में तैनात है और बोंडा लोगों के बीच प्रचलित अपराधों के बारे में उसे जबर्दस्त जानकारी है।

हत्या के मामले में इस जनजाति के अद्‌भुद रिकार्ड हैं। कभी–कभी तो साल

में ये लोग पचास हत्याएं कर देते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक एक हजार बोंडा पर लगभग बारह इसी तरीके से मारे जाते हैं। कोरापुट में एक पुलिस अधिकारी ने बताया कि दुनिया के किसी भी हिस्से में हत्या का ऐसा रिकार्ड देखने को नहीं मिलेगा। सचमुच इतनी छोटी आबादी के लिए यह बहुत चिंताजनक बात है। न्यूयार्क शहर में एक लाख की आबादी पर हत्या के फलस्वरूप मरने वालों का अनुपात 13.2 है। इस दृष्टि से देखें तो बोंडा की पहाड़ियों में हत्या की जो दर है वह कई गुना ज्यादा है। फिर भी यहां जो हत्याएं होती हैं वह इन जनजातियों के बीच ही होती है।

अब स्थितियों में कुछ सुधार हो रहा है और बोंडा लोगों के नजरिए में जो तब्दीली आ रही है उससे सुधार की प्रक्रिया को मदद मिल रही है। कुछ परियोजना अधिकारियों और स्थानीय प्रशासन में लगे कुछ लोगों ने भी काफी प्रयास किया है ताकि स्थितियां बेहतर हो सकें। हाल के वर्षों में हत्या के अनुपात में कमी आई है और अब प्रति एक हजार पर मरने वालों की संख्या 6 से 8 तक पहुंच गई है। जो आंकड़े उपलब्ध हैं उनके अनुसार 1993 के शुरू के छह महीनों में हत्या के केवल सात मामले प्रकाश में आए। इससे पता चलता है कि इस अपराध में तेजी से गिरावट आ रही है। बाहरी लोगों के खिलाफ हिंसा की घटनाएं ऐसी नहीं है जो चिंता पैदा करें।

एक स्थानीय एनजीओ कार्यकर्ता ने बताया–यह जानने की कोशिश करिये कि गैर बोंड़ा लोगों के खिलाफ थोड़ी भी हिंसा आखिर क्यों है। दरअसल, अगर कोई बोंडा हाट (बाजार) में जाता है तो शुरू में ही वहां के व्यापारी उस पर टूट पड़ते हैं और उसके पास जो कुछ होता है उसे वे छीन लेते हैं। बदले में वे या तो कुछ रुपए या थोड़ी सी शराब उसे पकड़ा देते हैं। इस प्रकार वे मनमाने ढंग से उस चीज की कीमत तय करते हैं जो बोंडा के पास मिलती है। बाद में वह बोंडा भी ऐसा ही करता है–खासतौर से नशे की हालत में–क्योंकि वह समझता है कि यही तरीका है जिसे सभ्य समाज अपनाता है। प्रायः इसी प्रक्रिया के दौरान हिंसा दिखाई देती है और यह तो तय है कि लड़ने के मामले में बोंडा का कोई जबाव नहीं होता।

नायक ने बताया कि हत्या के अलावा अन्य दूसरे अपराध बहुत कम है। इसके अलावा अगर बोंडा जनजाति का व्यक्ति किसी हत्या में शामिल होता है तो अधिकांश मामलों में वह खुद को थाने में हाजिर कर देता है। प्रायः ऐसा होता है कि वे खुद ही थाने में आकर यह खबर देते हैं कि उन्होंने किसी की हत्या कर दी है। कभी–कभी ऐसा भी हुआ है कि किसी बोंडा ने किसी दूसरे बोंडा की हत्या कर दी और वह उसकी लाश लेकर खुद ही थाने तक पहुंच जाता है।

नायक ने बताया कि यहां ऐसे किसी विशेषज्ञ की जरूरत नहीं पड़ती जो अपराध की गुत्थी सुलझाने में माहिर हो। बोंडा लोग कभी झूठ नहीं बोलते। मैं इतने दिनों

से यहां तैनात हूं लेकिन आज तक मैं ऐसे किसी व्यक्ति से नहीं टकराया जिसने कोई अपराध किया हो और फिर उसे स्वीकार न किया हो। कभी–कभी ऐसा भी होता है कि बहुत दूर–दराज के इलाकों में हत्या की कोई वारदात हो गई हो तो हमें वारदात के एक दो दिन बाद खबर मिलती है। ऐसे मामलों में गांव के बडे–बूढ़े पहले आपस में बैठकर सलाह–मशविरा करते हैं और उसके बाद हमें बुलवाते हैं लेकिन कभी झूठ नहीं बोलते।

जैसी चोरी और डकैती हमारे सभ्य समाज में होती है उसका तो यहां नाम ही नहीं है। बेशक ऐसा हो सकता है कि किसी कबीले का कोई व्यक्ति नशे में आकर और पूर्वजों द्वारा बदला लिए जाने की बात को याद कर दूसरे कबीले के किसी व्यक्ति की गाय को काटकर खा जाए। लेकिन ऐसा करने के बाद वे बड़े गर्व के साथ अपने इस कृत्य की घोषणा भी करते हैं।

नामक ने बताया कि इस इलाके में समस्याएं तब बढ़ीं जब इन्हें जेपुर की जेल में भेजा गया। जेल से लौटने के बाद वही बोंडा जिसके अंदर अपने कबीले के कई सारे गुण थे, बिल्कुल बदल जाता है। जेल में इनकी मुलाकात सभ्य समाज के अपराधियों से होती है जिनका उन पर असर पड़ता है। जेल जाने से पहले आप गौर करेंगे कि आप से कुछ बताते समय भले ही उनके अंदर हिचकिचाहट हो लेकिन वे जो भी बताएंगे सच बताएंगे। लेकिन एक बार जेल जाने के बाद अपराधियों के साथ रहते–रहते वे सीख लेते हैं कि झूठ कैसे बोला जाता है। हां, हत्या के अलावा एक और प्रवृत्ति इनके बीच पैदा हुई है और वह है बंधुआ मजदूर बनाना।

भुवनेश्वर में रघुनाथ साहू ने हमें बताया कि ऐसा लगता है कि बंधुआ मजदूरी वाला सरदर्द पिछली तीन–चार पीढ़ियों के दौरान ही उभरकर आया है। रघुनाथ साहू 1987 तक सरकारी बोंडा विकास एजेंसी के प्रोजेक्ट लीडर थे और उन्होंने इस पद पर 11 वर्ष तक काम किया। बोंडा लोगों के बारे में उन्हें अद्‌भुत विशेषज्ञता प्राप्त है। उन्होंने बताया कि बंधुआ मजदूरी से संबंधित ऐसे 144 मामलों की मैंने शिनाख्त की। इतने बड़े पैमाने पर बंधुआ मजदूरी देखकर हमें बड़ी हैरानी हुई लेकिन हमने उन मजदूरों को मुक्त करा दिया। साहू इन दिनों राजधानी भुवनेश्वर स्थित आदिवासी एवं हरिजन अनुसंधान व प्रशिक्षण संस्थान में वरिष्ठ अनुसंधान अधिकारी है। हालांकि उन्होंने मलकानगिरि छोड़ दिया है लेकिन बोंडा लोगों में उनकी दिलचस्पी अभी भी बनी हुई है। इस जनजाति के बीच बंधुआ मजदूरी की बात सुनकर उन्हें बहुत दुख हुआ।

बोंडा लोगों के बीच प्रचलित अपराधों का जिक्र करते हुए उन्होंने बताया–आश्चर्य की बात यह है कि जेल के पहलू ने ही बोंडा के बीच काम करने के लिए मुझे प्रेरित किया। उन दिनों हमलोग बहुत परिश्रम करते थे ताकि उनका विश्वास जीत सकें। मैं

उनके परिवार वालों को उनसे जेल में मिलाने की व्यवस्था करता था और इसके लिए वे बहुत आभारी थे। साहू ने भी नायक से सहमति जताई कि जेल के अनुभवों ने उन बोंडाओं में से कुछ को ऐसी नई आदतों का शिकार बनाया जिन्हें पसंद नहीं किया जा सकता है।

ऐसा लगता है कि इन लोगों ने कुछ आदतें उन विदेशी नृतत्वशास्त्रियों से भी सीखी है जो इस प्राचीन जनजाति के बारे में 'अध्ययन' करने के लिए यहां आते हैं। इनमें से झटपट बनने वाले विशेषज्ञों में से अधिकांश शायद किसी पत्रिका या अखबार के लिए लिखने का काम लेकर आते हैं। अधिकांश मामलों में यह देखा जाता है कि वे ऐसे गांवों को चुनते हैं जो अपेक्षाकृत 'निरापद हो' मतलब उन्हें गांवों को जो मुदुलीपाड़ा से बिल्कुल सटे हुए हैं।

उनकी छाप अभी भी वहां देखी जा सकती है। इन गांवों में कैमरा देखते ही बोंडा लोग आपके चारो ओर इकट्ठे हो जाएंगे और आपसे पैसों की मांग करेंगे। दुख तो इस बात का है कि आपको खुश करने के लिए वे तरह–तरह से मटकते हुए मुद्राएं बनाते हैं। जरूर पहले किसी ने ऐसा करने के लिए उन्हें पैसे दिये होंगे और उन्हें समझाया होगा कि ऐसा करने से लोग खुश होते हैं। बोंडा पहाड़ियों में तीसरे और चौथे दिन जब हम लोग काफी अंदर बसे गांवों में गये तो ऐसा कोई अनुभव नहीं हुआ। वहां ऐसे बहुत से लोग मिले जिन्होंने कभी कैमरा देखा भी नहीं था।

अतीत में इनके साथ काफी बुरा हुआ है। परंपरागत बोंडा महिलाएं पोशाक के नाम पर कपड़े का एक छोटा सा टुकड़ा पहनती है। यह लंबाई में केवल एक मीटर और चौड़ाई में चालीस सेंटीमीटर होता है जिसे वे कमर पर बांधे रहती है। कुछ पश्चिमी पर्यटकों ने इन औरतों की तस्वीरें लेकर इनका काफी दुरूपयोग किया था। इस काम में उनकी मदद उन लोगों ने की, जो भुवनेश्वर में पर्यटकों को घुमाते है। जाहिर है कि इस कारण उनके यहां आने पर एक तरह की पाबंदी लगी हुई है।

एक अतिउत्साही अधिकारी ने तो बोंडा लोगों से यहां तक कह दिया कि अगर किसी विदेशी को वे कैमरे के साथ देखें तो उसे बंद कर लें। इसके कुछ ही दिनों बाद इसका नतीजा यह देखने में आया कि एक उम्रदराज और घबराए हुए फ्रेंच नृतत्वशास्त्री को उबड़–खाबड़ रास्तों से होते हुए लगभग बीस किलोमीटर तक बोंडा लोगों ने परेड करा दी। सौभाग्य की बात यह है कि उन्होंने उसे खुद सजा नहीं दी बल्कि अधिकारिक तौर पर हिरासत में रखने के लिए वे उसे पैदल काफी दूर तक ले गए। इसलिए रिहा होने से पूर्व उसे थकान और परेशानी के अलावा दूसरा कोई नुकसान नहीं हुआ।

बांडीगुडा वापस आने पर गांव के एक बूढ़े सामाकिट्सानी ने हमें मंगला के बारे में बताया। उन्होंने बताया कि यहां का दस्तूर है कि जरूरत के समय अगर कोई पैसा

उधार लेता है तो या तो वह उसका भुगतान करे या सजा भुगते। वह यह भी मानता है कि यहां कोई प्राचीन परंपरा नहीं है। पुराने जमाने में कर्ज के एवज में एक खास अवधि तक काम ले लिया जाता था। इसके लिए गांव की एक पंचायत बैठती थी और तय करती थी कि कर्जदार से कितना और कितने दिनों तक काम कराया जाए।

आदिवासियों को मुख्यधारा में शामिल करने के सरकारी कार्यक्रमों का सरोकार पुरानी जनजातियों से है। यहां आने पर ऐसा लगता है कि शायद कोई इस काम को नहीं समझ पाया है। हमारे साथ बांडीगुडा गए परियोजना अधिकारी ने कहा कि अगर मुख्यधारा का मतलब यही होता है तो बेहतर होगा कि हमें इस धारा से अलग ही रखा जाए।

दूसरी खामोशी के बाद

जोगीखुड़ा, गढ़वा (बिहार): ऐसा लगता है कि जैसे, दुगुर्णों के बारे में किसी फिल्म की स्क्रिप्ट पढ़ी जा रही हो। लगभग तीस वर्ष पूर्व उन दिनों के एक अज्ञात गांव जोगीखुड़ा में कुछ शक्तिशाली जमींदारों ने खरवाड़ जनजाति के लोगों और हरिजनों की 180 एकड़ से भी अधिक जमीन पर कब्जा कर लिया। कुछ राजनीतिक कार्यकर्ताओं के नेतृत्व में और कुछ ईमानदार अफसरों की मदद से ग्रामवासियों ने अपनी जमीन वापस लेने की लड़ाई शुरू की। लड़ाई शुरू होने के एक दशक से भी अधिक समय बाद अदालत ने आदेश जारी किया। 1976 में जारी इस आदेश में कहा गया था कि जमीन वापस आदिवासियों और हरिजनों को दे दी जाए।

उन दिनों पलामू के गढ़वा डिवीजन का यह गांव जोगीखुड़ा राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा में आ गया। प्रसिद्ध वृत्तचित्र निर्माता सुखदेव ने इस संघर्ष की जीत के उपलक्ष्य में एक फिल्म बनाई–'आफ्टर द साइलेंस' यानी खामोशी के बाद और इस फिल्म को पुरस्कार भी मिला। यह फिल्म आपातकाल समाप्त होने के कुछ ही समय बाद रिलीज हुई। लेकिन पंद्रह वर्षों बाद भी उन लोगों का अपनी जमीन पर नियंत्रण नहीं हो सका था। जमींदारों ने बदले में कुछ ऐसी स्थितियां तैयार की जिनसे इस इलाके में पहली बार सांप्रदायिक दंगा हुआ। (जिन दिनों अयोध्या का पागलपन जबर्दस्त ढंग से छाया हुआ था उस समय भी पलामू में शांति बनी रही थी।)

आदिवासियों को जमीन वापस करने से संबंधित आदेश के जारी होने के बाद जमींदारों ने अपनी अगली चाल चली। उन्होंने विवादित जमीन पर गरीब मुसलमानों को बसा दिया। आज दूसरी खामोशी के बाद वहां एक संघर्ष छिड़ गया है जिसमें एक तरफ तो आदिवासी और हरिजन हैं और दूसरी तरफ मुसलमान है। दोनों के बीच तनाव भयंकर है। यह सभी समूह बहुत गरीब है और लगभग निरक्षर हैं। इस पूरे नाटक के कई अभिनेता अब रंगमंच से जा चुके हैं फिर भी उनका दबदबा बना हुआ है। इनकी छाया आज भी जोगीखुड़ा पर मंडरा रही है। इनमें से एक है जगनारायण पाठक को पुराने कांग्रेसी नेता हैं और किसी जमाने में पलामू की जिला कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष हुआ करते थे। एक स्थानीय साहू जमींदार ने हमें यह कहानी बतायी–

साहू ने बताया कि संभवतः 1960 के दशक के शुरू के वर्षों में पाठकों ने यहां चौदह एकड़ जमीन खरीदी। इसके बाद इन लोगों ने खरवाड़ और हरिजनों से 160 एकड़ जमीन छीन ली। इसका नतीजा यह हुआ कि लगभग 25 खरवाड़ परिवारों को

और इतनी ही संख्या में हरिजन परिवारों को यहां से बेदखल होना पड़ा। इस बीच आदिवासियों और हरिजनों ने कहीं से ढूंढकर पुराने समझौते से संबंधित कागजात और अदालत तथा प्रशासन के आदेशों को हमें दिखाया। इन दस्तावेजों में से कई फट गए थे लेकिन इनसे काफी बातों की जानकारी मिलती थी।

छोटानागपुर समाज विकास संस्थान के शत्रुघ्न कुमार ने कहा कि जरा देखिए कि इनके अंदर कैसा लालच भरा हुआ था जिस पर विश्वास करना भी मुश्किल है। संस्थान ने जमीन हड़पने के खिलाफ जमकर यहां संघर्ष किया है। पुराने कागजातों से पता चलता है कि जिन जमीनों से लोगों को बेदखल किया गया उनमें अधिकांश गरीब किसान थे। कुमार ने यह भी बताया कि जिनके पास 0.12 एकड़ जमीन थी उन्हें भी अपनी जमीन से हाथ धोना पड़ा। एक किसान के पास केवल 0.03 एकड़ जमीन थी और उसका सब कुछ हड़प लिया गया। गोपाल नाम के इस आदिवासी युवक ने हमसे पूछा कि ऐसे व्यक्ति की जमीन चुराने की बात कैसे दिमाग में आ जाती है।

अदालत के एक आदेश (1966 का केस नं. 51/61) में बताया गया है कि 'प्रथम दृष्टया अनियमितताएं पाई गईं।' इन अनियमितताओं में अन्य गैर आदिवासी व्यक्तियों के नाम पर मांगे की जाने की घटनाएं शामिल हैं जबकि दस्तावेजों के अनुसार आदिवासी काश्तकारों की मृत्यु नहीं हुई थी। इसके अलावा लगान के आंकलन की आड़ लेकर उस सरकारी जमीन के बंदोबस्त की भी बात कही गई है जिसे करने का अधिकार सर्किल आफिसर को नहीं है।

पिछले कुछ वर्षों के दौरान अनेक प्रशासकों ने उन लोगों को मदद पहुंचाने की कोशिश की जो इस तरह की साजिशों के शिकार थे। ऐसे अधिकारियों में के.सुरेश सिंह जैसे लोगों के नाम शामिल है जिन्हें पलामू के गरीब लोग एक देवता की तरह याद करते हैं। कुछ राजनीतिक कार्यकर्ताओं जिनमें मुख्य रूप से छात्र युवा संघर्ष वाहिनी के कार्यकर्ता थे (जिनमें से अधिकांश अब जनता दल में शामिल हो गए हैं) इस मुहिम में लगे रहे। कई मामले अदालत में गए, मुकदमें चले और आदेश जारी हुए। (30 अक्टूबर 1976 का केस नं. 16 और 1976–77 का केस नं. 4)।

आपातकाल के दौरान एक बार अधिकारियों ने जगनारायण पाठक के भांजे को उस समय गिरफ्तार किया जब उसने गांव के लोगों को मारकर भगा दिया था और उनके मवेशियों को अपने कब्जे में कर लिया था। पाठक ने बताया कि इसके बाद मैं दिल्ली में इंदिरा जी के पास गया और कोशिश करके जगन्नाथ मिश्र के जरिए उसे रिहा करा दिया। डाल्टनगंज में बीमार पड़े पाठक ने अपने बिस्तर पर लेटे–लेटे मुझे उस समय की गई अपनी लड़ाई के बारे में विस्तार से बताया। उनकी दिल्ली यात्रा के कुछ ही समय बाद उन अफसरों का भी तबादला हो गया जिनकी शिकायत पाठक ने की थी। आज उनकी उम्र 90 वर्ष है। वह शरीर से कमजोर हैं लेकिन मानसिक तौर पर पूरी तरह चुस्त नजर आए।

तो भी एक मामले में पाठक की बातें लगातार परस्पर विरोधी लगती है। उनका यह कहना कि जोगीखुड़ा में उनके पास एक नए पैसे की भी जमीन नहीं है, सच नहीं लगती। वैसे तकनीकी तौर पर इसे सही माना जा सकता है। क्योंकि रिकॉर्ड में इनका कहीं नाम नहीं है–नाम केवल गोविंद पाठक, आनंद मोहन पाठक, आलोक पाठक, अविनाश कुमार पाठक तथा अन्य लोगों के शामिल हैं। यह सभी लोग जगनारायण पाठक के बच्चे हैं या रिश्तेदार हैं। इसी के साथ घटनाओं का वर्णन करते समय पाठक के मुंह से बार–बार इस तरह के वाक्य निकलते हैं कि मैंने जमीन खरीदी...मैंने जमीन बेची. ..मैंने तय किया कि...। इन बातों से साफ पता चलता है कि जमीन से संबंधित जितने भी सौदे हुए उनमें असली नायक यही थे। अभी लड़ाई चल ही रही थी कि गढ़वा को अलग जिले का दर्जा दे दिया गया।

ढेर सारी घटनाएं समय के कुहासे में और अदालती दस्तावेजों के अम्बार में दब गई है। पाठक ने आदेशों को प्रशासन द्वारा कार्यान्वित किए जाने को रोकने के लिए अदालत से स्थगन आदेश जारी करा दिया और सारे मामले को वह एक दीवानी अदालत तक ले गए। गढ़वा के रांका ब्लॉक के सर्किल आफिस के एक अधिकारी ने बताया कि अदालत में अभी मामला लटका ही हुआ था कि उन्होंने इन जमीनों को मुसलमानों के हाथों बेच दिया। इसके लिए उन्होंने रियायती दर की घोषणा कर मुसलमानों को लुभाया। इन रियायती दरों से पाठक को तो कोई नुकसान ही नहीं हुआ। उन्हें अभी भी चुकता की गई कीमत के मुकाबले काफी पैसे इस सौदे में मिल गए थे। पाठक ने अपनी इस जीत को बड़े गर्व के साथ याद किया–"मैंने सुरेश सिंह और दूसरे लोगों को चित कर दिया। इस विजय का प्रभाव क्या पड़ा? हुआ यह कि जमीन के जो असली मालिक थे अर्थात् आदिवासियों और हरिजनों से मुसलमानों का टकराव शुरू हो गया।

उधर जोगीखुड़ा में परेशान ऐगुन हक बताते हैं कि उनके रिश्तेदार को इस बात का तनिक भी आभास नहीं था कि वे ऐसी जमीन लेकर मुसीबत में पड़ जाएंगे। उन्हें ये पता ही नहीं था कि यह जमीन विवादग्रस्त है। इन पीड़ित लोगों का कहना है कि हम 30 गरीब परिवार इस जगह से काफी दूर रहते थे। हमें पता था कि जगनारायण जी एक बड़े नेता है और वह हमारी मदद करना चाहते हैं। नतीजा यह हुआ कि हमारे पास जो थोड़ी बहुत जमीन थी उसे बेचकर हम यहां चले आए। अब यहां से हम कहां जाए।

हक और उनके दोस्त सच बोल रहे हैं लेकिन यहां भी एक दुविधा है जिसे खरवाड़ और हरिजन लोग ही समझ पा रहे हैं। एक हरिजन रामनरेश ने कहा कि हमें अपनी जमीन वापस चाहिए। इन मुसलमानों को यहां नहीं आना चाहिए था। रामनरेश को लगता है कि जो भी हुआ है मुसलमानों के पूरी–पूरी जानकारी में हुआ है। यही वजह है कि मुसलमानों और यहां के हरिजनों तथा आदिवासियों के बीच भारी तनाव है और किसी भी समय जोगीखुड़ा में सांप्रदायिक दंगा एक भीषण रूप ले सकता है।

सी.एस.वी.एस. के एक कार्यकर्ता ने कहा कि सारा काम बिल्कुल चाणक्य की शैली में बेहद राजनीतिक कौशल के साथ किया गया था। जगनारायण जी ने पहले आदिवासियों और हरिजनों को ठिकाने लगाया। उन्होंने ऐसी हालत पैदा कर दी कि बिना खून खराबे के वे अपनी जमीन दुबारा हासिल ही न कर सकें। इसके बाद विवादित जमीन पर मुसलमानों को बसाकर उन्होंने उन तत्वों को ठिकाने लगाया जो उन दिनों जनता दल में थे और उनके खिलाफ संघर्ष का नेतृत्व कर रहे थे। यहां जनता दल का मुसलमानों में अच्छा आधार है। यह सारा करने के बाद उन्होंने खुद को इस लड़ाई से अलग कर लिया। लेकिन इससे पहले जितनी कीमत पर उन्होंने जमीन खरीदी थी उससे कई गुना ज्यादा मूल्य पर जमीन बेचकर उन्होंने मुनाफा कमा लिया। इसके साथ ही उन्होंने वहां एक टाईम बम की तरह इस समस्या को छोड़ दिया जो कभी भी भयंकर विस्फोट का रूप ले सकती है।

और इस प्रकार जोगीखुड़ा अब तीसरी बार एक धमाके के इंतजार में खामोश पड़ा है।

जहां लोगों का नहीं परियोजनाओं का महत्व है - 1

ललमटिया, गोड्डा, (बिहार): उस समय यह एक शानदार विचार महसूस हुआ। प्रस्ताव था कि देश के सबसे पुराने क्षेत्रों में से एक क्षेत्र में लगभग एक हजार करोड़ रुपए की लागत से सार्वजनिक क्षेत्र में उच्च प्रौद्योगिकी का जबर्दस्त उद्यम स्थापित किया जाए। 1980 के दशक के शुरूआती वर्षों में जब यह विचार पहली बार दिमाग में आया तो उम्मीद यह की गई थी कि भारत के एक सबसे पिछड़े जिले गोड्डा के 98 प्रतिशत ग्रामीण आबादी को बहुत राहत मिलेगी।

कहा गया कि ललमटिया की राजमहल कोयला खदान परियोजना (जो इस्टर्न कोल फील्ड्स लि. के अंतर्गत थी) एक ऐसे क्षेत्र में विकास का ढांचा खड़ा करेगी जो रेलमार्ग से भी नहीं जुड़ा हुआ है। यह उन अन्य उद्योगों के लिए भी जो कोई जोखिम नहीं उठाना चाहते रिकार्ड उत्पादन की मिसाल प्रस्तुत कर सकेगा। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इसकी वजह से गोड्डा के बहुत सारे लोगों को नौकरी मिल सकेगी। इस जिले में बेरोजगारी एक बहुत गंभीर बीमारी का रूप ले चुकी है।

इसके साथ ही जाना–माना भूगर्भीय यथार्थ यह भी है कि भले ही आप अलग–अलग तरीकों का इस्तेमाल करें लेकिन जहां कोयले का पता चले वहां खुदाई करनी ही चाहिए। गोड्डा को 1983 में संस्थाल परगना से अलग करके एक नये जिले का रूप दिया गया था। इस प्रयोग का महत्व यह भी था कि इसे गोड्डा से बाहर भी ले जाया गया। इस समूचे देश के लिए यह एक महत्वपूर्ण प्रयोग था। गोड्डा को एक ऐसे प्रयोगशाला के रूप में विकसित किया गया जहां से विकास संबंधी रणनीति के विभिन्न तत्वों को एक साथ मिलाया जा सके। अगर इसमें सफलता मिल गई तो यह ऐसा चमत्कार हो सकता है जिसे अन्य पिछड़े इलाकों पर लागू किया जा सकेगा। किसी ऐसे देश में जहां नौकरी ढूंढने वालों की संख्या तेल निर्यात करने वाले सभी देशों की मिली–जुली जनसंख्या से भी ज्यादा हो और जहां का ढांचा इन देशों में मौजूद ढांचे के दसवें हिस्से के बराबर भी न हो इस तरह के प्रयोग की काफी अहमियत थी।

बहरहाल, यहां जिस टेक्नालॉजी का इस्तेमाल किया गया वह न केवल अपेक्षाकृत विकसित थी बल्कि यह पूरी तरह विदेशी भी थी और इसका श्रेय कनाडा स्थित बहुराष्ट्रीय कंपनी मेटकेम को जाता है। यह बहुराष्ट्रीय कंपनी अमरीकी कंपनी यू.एस.

स्टील से संबद्ध थी।

एशिया के इस सबसे बड़े सिंगिल पिट ओपेन कास्ट कोल माइन के तैयार करने में मेटकेम इस्टर्न कोल फील्ड्स लिमिटेड की सहयोगी और सलाहकार कंपनी के रूप में काम करती थी। राजमहल परियोजना का लक्ष्य 1995 की समाप्ति तक प्रति वर्ष एक करोड़ पचास लाख टन कोयला पैदा करना था।

यह परियोजना कोल इंडिया लिमिटेड (सीआइएल) और कैनेडियन कामर्शियल कारपोरेशन (सीसीएल) के बीच समझौते के फलस्वरूप अस्तित्व में आई थी। इस समझौते के अंतर्गत सीसीएल ने इस योजना के लिए सोलह करोड़ साठ लाख कैनेडियन डॉलर का ऋण प्रदान किया। इसके अलावा कनाडा की अंतर्राष्ट्रीय विकास एजेंसी ने प्रशिक्षण के लिए चालीस लाख डॉलर का अनुदान दिया था।

शुरू में अधिकतम 2441 लोगों को नौकरी मिलने की उम्मीद थी जो कि कोई बड़ी संख्या नहीं थी। इनमें से सात सौ लोग पहले ही पुरानी ललमटिया कोइलियरी में काम कर रहे थे। भूमिगत खदानों में काम करते थे। 1981 के आसपास विश्व बैंक की सक्रियता से ओपेन कास्ट माइन बनाने की एक प्रायोगिक परियोजना शुरू हुई।

स्थानीय लोगों के पास वह कौशल नहीं था जिसके जरिए वे इतनी उच्च प्रौद्योगिकी वाले परिवेश में काम कर सकें। इसलिए इस कमी को पूरा करने को ध्यान में रखते हुए अन्य स्थानों से चार सौ प्रशिक्षित कर्मचारियों की ईसीएल ने भर्ती की। इसका अर्थ यह हुआ कि 1989 में सीआईएल और सीसीएल के बीच समझौता होने के बाद से केवल 1300 नई नौकरियां ही पैदा हो सकीं और वह भी मोटे तौर पर 65 लाख रुपए प्रति नौकरी की औसत लागत पर। अगर प्रस्तावित इसी जिले की हुर्रा–सी खदान भी राजमहल परियोजना के साथ अस्तित्व में आ जाती तो इसका अर्थ यह होता कि लगभग एक करोड़ रुपए प्रति नौकरी की लागत पर तकरीबन 1800 लोगों के लिए नौकरी के अवसर खुल जाते।

एक राजनीतिक कार्यकर्ता एस.पी.तिवारी का कहना–"अगर नौकरी के अवसर पैदा करने का उद्देश्य था तो इसकी संभावनाएं वहां काफी थीं। आप खुद कल्पना करिये कि अगर लगाए गए पैसों को उचित तरीके से व्यय किया गया होता तो कितनी बड़ी संख्या को नौकरी दी जा सकती थी। हम ऐसी नौकरियां पैदा कर सकते थे जो लोगों को जिंदा रखने के लिए काफ़ी हों।

इसीएल के बड़े अधिकारियों का कहना है कि हुर्रा सी माइन के अभी शुरू होने के आसार नहीं है। पर्यावरण संबंधी मुद्दों को लेकर इसके सामने गंभीर रुकावटें पैदा हो गई। इसके समय ऐसी समस्याएं भी आ सकती है जिनसे राजमहल परियोजना पहले से ही जूझ रही है और जिनके कारण कम से कम 18 गांव बुरी तरह प्रभावित हुए हैं। खदान की चौहद्दी के भीतर 12 गांव पड़ते हैं और यहां से हजारों लोगों को विस्थापित किया गया है।

राजमहल परियोजना के कचरे के ढूह से गुजरता एक कोयला बीनने वाला व्यक्ति। अब से पैंतालीस वर्ष से भी कम समय में गोड्डा में एक ऐसी आबादी नजर आयेगी जिनके पास खेती करने के लिए जमीन ही नहीं होगी और राजमहल में कोई काम नहीं होगा।

यह अजीब सी विडंबना है कि विस्थापित होने का खतरा जो लोग झेल रहे हैं उनमें से अनेक राजमहल परियोजना के कर्मचारी भी हैं। उन्होंने नौकरी के एवज में इस परियोजना को अपनी जमीनें दीं। वैसे भी उनके सामने और कोई चारा नहीं था। इस परियोजना को जिसने भी दो एकड़ जमीन दी उसे राजमहल ओपेन कास्ट माइन में नौकरी दी गई। लेकिन इस परियोजना की कुल उम्र महज 48 वर्ष है।

दूसरे शब्दों में कहें तो अब से यह महज 45 वर्ष का है। इसके बाद गोड्डा में एक ऐसी आबादी नजर आएगी जिनके पास खेती करने के लिए जमीन ही नहीं होगी और राजमहल में नौकरी भी खत्म हो चुकी होगी। चूंकि यह जिला राष्ट्रीय स्तर पर काफी पिछड़े इलाकों में से एक है, यहां की समस्याएं दिल्ली से निकलने वाले अखबारों के लिए कोई अर्थ ही नहीं रखती और इन पर किसी का ध्यान नहीं जाता। गोड्डा और बिहार में इसकी वजह से काफी चिंता व्याप्त है।

यह निश्चय ही चिंता का विषय है। राजमहल परियोजना के एक अधिकारी ने

खुद ही इस तथ्य को रेखांकित किया कि यह परियोजना हमारी विकास रणनीति के विफल होने का अद्‌भूत उदाहरण है। इसने उन्हीं लोगों को सबसे ज्यादा चोट पहुंचाई जिनकी मदद के लिए इसकी शुरूआत की गई थी। दिलचस्प तथ्य तो यह है कि इसने वार्षिक उत्पादन का जो अनुमानित लक्ष्य एक करोड़ पचास लाख टन निर्धारित किया था उसे प्राप्त करने में भी काफी विफल रही।

राजमहल परियोजना राष्ट्रीय ताप बिजली निगम के दो ताप ऊर्जा केंद्रों कहलगांव और फरक्का के बीच में पिसकर रह गई। योजना निर्माताओं ने सोचा था कि 1997 तक इन दोनों ताप केंद्रों को प्रति वर्ष एक करोड़ 35 लाख टन कोयले की जरूरत पड़ेगी लेकिन यह दोनों केंद्र अपने निर्धारित कार्यक्रम से काफी पीछे है और यह सारा विचार धरा का धरा रह गया। राजमहल परियोजना के पास लाखों टन कोयले का भंडार इकट्‌ठा हो गया जिसकी बिक्री नहीं की जा सकती थी। यहां के सर्वोच्च अधिकारियों का कहना है कि कोयले का इतना विशाल ढेर इकट्‌ठा होने से आग लगने का खतरा पैदा हो गया।

राजमहल के मुख्य महाप्रबंधक आर.सी.शर्मा ने यह बताने से इंकार किया कि यहां कोयले के उत्पादन में एक टन पर कितनी लागत आई। ऐसा लगता है कि यह गोपनीय मामला हो। लेकिन प्रबंध विभाग के कुछ अन्य वरिष्ठ सूत्रों से जानकारी मिली कि इनके उत्पादन पर प्रति टन 450 रुपए की लागत आई और अगर इसकी बिक्री की जाती तो उससे प्रतिटन 260 रुपए प्राप्त होते। इन आंकड़ों को मैं अलग से पुष्टि नहीं कर सका। फिर भी एक बात साफ है कि उत्पादन लागत की तुलना में बिक्री से प्राप्त होने वाली राशि काफी कम है।

राजमहल के कर्मचारी के साथ एक और विरोधाभास देखने को मिला। वह उत्पादन के मामले में काफी आगे हैं लेकिन यहां अनुपस्थित रहने वालों की दर भी बहुत ज्यादा है। राजमहल में औसतन प्रतिदिन 11000 टन कोयले का उत्पादन होता है। इसीएल की अन्य खानों के मुकाबले यह कई गुना ज्यादा है।

यहां के मजदूर अपेक्षाकृत ज्यादा क्षमता वाली मशीनों को संचालित करते हैं। इन मशीनों पर काम करने वाले ऑपरेटर बिना किसी अंतराल के लगातार आठ घंटे काम करते हैं। एक वरिष्ठ अधिकारी ने बताया कि यहां के कर्मचारियों को अनेक तरह की शारीरिक समस्याओं और तनावों को भी झेलना पड़ता है। अधिकारिक सूत्रों के अनुसार अनुपस्थित रहने की दर लगभग तीस प्रतिशत है और किसी–किसी समय में तो यह इससे भी ज्यादा है। लेकिन यहां मैन पॉवर के मुकाबले 'मशीन ऑवर' ज्यादा महत्वपूर्ण है। इसलिए काम जारी रहता है।

आर.सी.शर्मा 1990 के उत्तरार्द्ध में इस परियोजना में शामिल हुए और उनको विरासत में ऐसी समस्याएं मिलीं जो पिछले दस वर्षों के दौरान पैदा हुई थीं और जिनके पैदा होने में इनकी कोई भूमिका नहीं थी। इन सबके बावजूद राजमहल परियोजना के रूप में किये गये इस दुस्साहसिक प्रयोग के पक्ष में वे जोरदार ढंग से बोलते हैं। समस्याएं अभी भी बढ़ती ही जा रही है और एक बात के बारे में सभी लोग सहमत हैं कि यहां जो समस्याएं पैदा हुई हैं वह एक या दो व्यक्ति के लिए नहीं बल्कि समूची विकास प्रक्रिया के लिए है।

जहां लोगों का नहीं, परियोजनाओं का महत्व है - 2

ललमटिया, गोड्डा, (बिहार): इसीएल की राजमहल कोयला खदान परियोजना में ऐसा नहीं है कि सभी कुछ बुरा हो रहा हो। अब कनाडा की बहुराष्ट्रीय कंपनी मेटकेम को ही देखिए–इसने बहुत अच्छा काम किया है।

परियोजना निदेशक जे.सी.मेनार्ड का कहना है, "मेटकेम का रुतबा बना हुआ है। हम यहां व्यापार करने वाली कंपनी के रूप में है आए हैं और 1975 से भारत में जमे हुए हैं। परियोजना में हमारी महत्वपूर्ण हिस्सेदारी है। हमने एक अनुबंध पर हस्ताक्षर किया है और हम उसे पूरा करेंगे।"

मेनार्ड ठीक कह रहे हैं, लेकिन शायद यह कहने में कि मेटकेम का रुतबा बना हुआ है उन्होंने थोड़ी शालीनता दिखाई। इसकी हिस्सेदारी का मामला भी काफी दिलचस्प है। मैंने एक दस्तावेज हासिल किया है जिससे पता चलता है कि मेटकेम में 966 करोड़ रुपए की इस परियोजना में सलाहकार के रूप में 105 करोड़ रुपए अपने शुल्क के बतौर कमाया है। यह गजब की राशि है और इस तरह की किसी परियोजना में परामर्शदाता को इतनी बड़ी राशि दी गई हो, इसकी कोई मिसाल नहीं है।

सार्वजनिक क्षेत्र के कोल इंडिया लिमिटेड द्वारा कैनेडियन कामर्शियल कारपोरेशन के साथ 1989 में जो समझौता हुआ उसके फलस्वरूप मेटकेम को राजमहल में एक अनूठा स्थान मिल गया। इसने कई कामों का भार संभाल लिया। मिसाल के तौर पर उपकरण हासिल करना, प्रोद्योगिकी का हस्तांतरण करना और खनन कार्य में तकनीकी परामर्श देना–यह सारी जिम्मेदारियां उसने ले लीं। इसके साथ ही उसने खदानों का नियोजन, उनका रख–रखाव और ट्रकों को रवाना करने की प्रणाली पर भी अपना अधिकार जमा लिया।

देखा जाए तो इस तरह से मेटकेम खरीदार, पार्टनर, बिचौलिया और परामर्शदाता सब कुछ हो गया। और वह भी एशिया के सबसे बड़े सिंगिलपिट माइनिंग प्रोजेक्ट में। यह बहुत घातक संयोग था। एक वरिष्ठ अधिकारी ने बताया कि बात केवल यहीं की नहीं है, अगर आप इस तरह के कामों को किसी और जगह भी ऐसे लोगों के हाथ में सौंप देंगे तो इससे मुसीबत ही खड़ी होगी।

परियोजना के लिए सारी मशीने बाहर से आती थीं और वह भी मेटकेम के

मार्फत। मशीनों की लागत 474 करोड़ रुपए थी। इसके अलावा इन मशीनों के फुटकर पुर्जों पर 24 महीनों में 66 करोड़ रुपया व्यय हुआ। संक्षेप में कहें तो 966 करोड़ में से 645 करोड़ रुपया उस कंपनी को या कंपनी के जरिए गया जो एक ही साथ परामर्शदाता, खरीदार और सप्लायर सब कुछ थे।

और भी कुछ बातें गौर करने लायक है। लोगों ने बताया कि जब भी मशीन में किसी तरह की गड़बड़ी होती है तो बाहर से ही पुर्जे मंगाने पड़ते हैं और प्रायः किसी एक पुर्जे पर कई–कई लाख रुपए खर्च हो जाते हैं। अब चूंकि उन पुर्जों के आयात में समय लगता है इसलिए बड़ी मशीनें लगातार महीनों तक ठप्प पड़ी रहती है।

मुझे एक और गुप्त दस्तावेज मिला जिससे पता चलता है कि किसी खास समय में सौ करोड़ रुपए की लागत की मशीनें बिना चले खड़ी रह सकती है। इस दस्जावेज में जिस अवधि का आंकड़ा दिया गया है उस दौरान क्षतिग्रस्त अथवा मरम्मत के लिये लिए गए उपकरणों पर होने वाला खर्च 84 करोड़ रुपए है। एक अधिकारी ने मुझे बताया कि आप जिस हफ्ते की बात कर रहे हैं वह उतना बुरा सप्ताह नहीं था। यहां प्रसंगवश मैं यह भी बता दूं कि पिछले वर्ष कर्मचारियों के कल्याण पर जो पैसा खर्च हुआ वह लगभग 12 लाख रुपए था।

चूंकि यह परियोजना अपने लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर सकी इसलिए मेटकेम के सर पर यह खतरा मंडरा रहा है कि समझौते की शर्तों के अंतर्गत उस पर शायद एक करोड़ 25 लाख डॉलर का जुर्माना कर दिया जाए। लेकिन कनाडा की यह कंपनी इस खतरे से तनिक भी विचलित नहीं है। यह अपना काम जारी रखना चाहती है और जुर्माने को कोई समस्या नहीं मानती। इसको उम्मीद है कि अब से सौ दिन से भी कम समय के अंदर इसके अनुबंध का नवीकरण हो जाएगा। जाहिर है कि जैसा मेनॉर्ड का कहना है, मेटकेम को कोई नुकसान नहीं हुआ।

राजमहल के मुख्य महाप्रबंधक आर.सी.शर्मा का मानना है कि इस कहानी का एक दूसरा पक्ष भी है। यह पक्ष शायद ज्यादा सज्जनतापूर्ण है। यह एक ऐसी टेक्नॉलॉजी है जिसमें किसी मजदूर को अपने हाथों में कोयला नहीं छूना पड़ता। निश्चय ही एक पिछड़े इलाके के लिए बहुत उन्नत विचार है। यह ऐसी उत्पादन क्षमता है जिसका कोई और मुकाबला नहीं कर सकता।

लेकिन गोड्डा की जनता के लिए इसका क्या महत्व है–यह सवाल अनुत्तरित ही रह जाता है।

इसकी टेक्नॉलॉजी को परियोजना की सबसे महत्वपूर्ण बात के रूप में प्रस्तुत किया गया है लेकिन इससे इस जिले को कोई फायदा नहीं हुआ। मेटकेम जो विशाल इलेक्ट्रिक रोप शावेल और 170 टन की क्षमता का डम्पर लाया इसके मुख्य रूप से दो–नतीजे देखने को मिले। पहला तो यह कि लोगों के रोजगार के अवसर कम हो गए और दूसरे, राजमहल परियोजना बोकारो परियोजना की तरह अपने इर्द–गिर्द सहायक

उद्योगों का जाल नहीं तैयार कर सकी।

प्रबंध विभाग के एक अधिकारी का कहना है–"किसी को यहां कोई कारखाना अथवा गैराज खोलने की जरूरत ही नहीं महसूस हुई क्योंकि वे इन मशीनों के लिए एक पुर्जा नहीं तैयार कर सकते। यही वजह है कि स्थानीय उद्योग नहीं के बराबर है।

लेकिन इस नकारात्मक पहलू को अगर भुला दें तो कुछ सकारात्मक बातें भी दिखाई देंगी। भले ही यहां स्थानीय उद्योग धंधे विकसित न हो पाए हों पर दर्जनों अफसर यहां से कनाडा भेजे गए ताकि वे प्रशिक्षण ले सकें और वह भी उन कार्यक्रमों के तहत जो ऑपरेटरों और सुपरवाइजरों के लिए तैयार किए गए थे।

आर.सी.शर्मा और मेनॉर्ड दोनों हमें विश्वास दिलाना चाहते हैं कि कनाडा की जो यात्राएं हुई वे नहीं थीं जो अधिकारियों के लिए निर्धारित थीं। लेकिन मेटकेम की जो अपनी पत्रिका है वह कुछ और ही बताती है। इसका कहना है कि कनाडा के ओपेन पिट माइन्स में सुपरवाइजरों तथा ऑपरेटरों के प्रशिक्षण के लिए अलग से अनुबंध तैयार किया गया। सच्चाई यह है कि कोई भी ऑपरेटर कनाडा नहीं गया और अगर सुपरवाइजरों को भेजा गया तो उनकी भी गिनती बहुत कम है। इसकी वजह से इस श्रेणी के कर्मचारियों में काफी रोष भी है। जिन लोगों को कनाडा भेजा गया उनमें एक ऐसा अधिकारी भी है जो मेटकेम के खरीदे जाने वाले उपकरणों को अपनी स्वीकृति देता है।

यहां काम करने वाले ऐसे बहुत सारे मजदूर जिन्होंने नौकरी के बदले अपनी जमीन दी बेहद रोष में है। उनके गांव उजाड़े जा रहे हैं और उन्हें पुनर्वास के बारे में प्रबंधकों द्वारा किये गये वायदों पर कोई भरोसा नहीं है। परियोजना के पूरा होने के लिए जो समय निर्धारित किया गया था उससे यह बहुत पीछे है और असंख्य समस्याएं इसके इर्द–गिर्द इकट्ठी हो गई है और हर रोज हो रही है।

अब आप ही बताइए कि गोड्डा के इस महान प्रयोग से किसको फायदा हुआ?

यह जिला पहले की पिछड़ा जिला है। यहां आज भी रेल सेवा नहीं है और सबसे निकट का स्टेशन जसीडीह है जहां बस से पहुंचने के लिए दो घंटे का समय लगता है। यहां एक कोयला माफिया ने जन्म तो ले लिया है लेकिन अभी भी रोजगार के अवसर सीमित है। इन गांवों में उल्लेखनीय रूप से वेश्यावृत्ति होने लगी है जबकि पहले इसका नामो–निशान नहीं था। समाज विरोधी तत्व दिनों–दिन शक्तिशाली होते गए हैं। यूनियन के नेताओं का भी आरोप है कि परियोजना में नौकरी देने के लिए अफसरों ने घूस लिए हैं। कुछ को नौकरियां मिलीं लेकिन अनेक ऐसे हैं जिनको अपना घर–बार गंवाना पड़ा। गोड्डा में ऐसा कोई ढांचा नहीं तैयार हो सका जिससे लोगों को कोई राहत मिले। इसीएल को लगातार घाटा हो रहा है हालांकि इसके अफसर प्रायः कनाडा की यात्रा पर जाने का लाभ उठा रहे हैं।

राजमहल प्रबंधन के एक अधिकारी ने मुझसे सवाल किया–आप ही बताइए कि इससे देश को क्या लाभ हुआ? सार्वजनिक क्षेत्र को क्या लाभ हुआ या गोड्डा की जनता
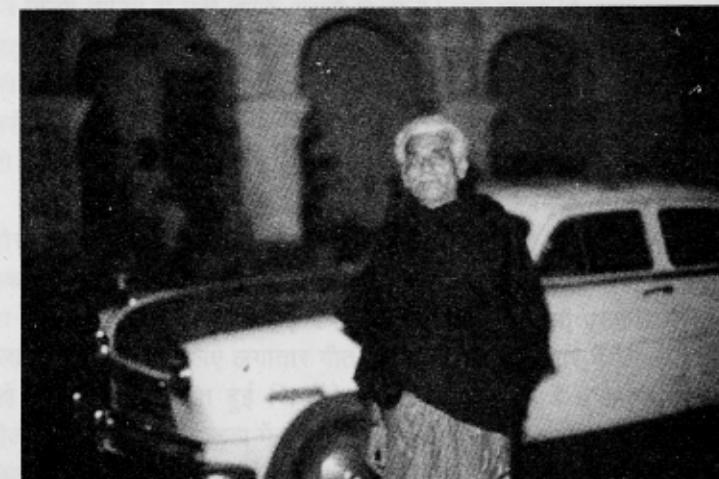
को क्या लाभ हुआ।

हां अगर लाभ किसी को हुआ तो उस बहुराष्ट्रीय कंपनी को जो खुद भी स्वीकार करती है उसका काम अच्छा चल रहा है। अगर एक विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनी हमारे सबसे गरीब जिले से लाभ कमा सकती हैं तो वे लोग क्यों नहीं जो यहां रहते हैं। उनको क्यों नहीं अवसर मिलता इसी तरह का लाभ कमाने का। एक मझे हुए राजनीतिक कार्यकर्ता एस.पी.तिवारी ने कई वर्षों तक गोड्डा में काम किया है। उसका कहना है कि राजमहल परियोजना हमारी उस विकास रणनीति का एक शानदार उदाहरण है जो जनता के लिए नहीं बल्कि परियोजनाओं के लिए तैयार की जाती है। अगर अच्छे इरादों के साथ नर्क के लिए कोई सड़क तैयार की जा रही हो तो शायद गोड्डा इसी सड़क के किनारे पड़ा दिखेगा।

पुनश्च:

इस रिपोर्ट के प्रकाशित होने के बाद जल्दी ही संसद में सवाल उठे। कुछ सांसदों को जब पता चला कि इनकी फीस इतनी ज्यादा है तो वे बहुत गुस्से में आ गए। मेटकेम के अनुबंध का नवीकरण नहीं हुआ और उसने गोड्डा छोड़ दिया। जो परिस्थितियां पैदा हुई थीं उनमें ईसीएल ने जहां तक संभव हुआ मुद्दे पर अच्छा रुख बनाए रखने की कोशिश की। इसका कहना है कि एमएनसी इसीलिए गई क्योंकि इसका काम समाप्त हो गया था। इसके पास इस बात का कोई जबाव नहीं था कि अगर इसका काम समाप्त हो गया था तो अपने अनुबंध के नवीकरण के लिए वह क्यों इतनी बेताब थी। जिस समय मैं वहां था मुख्य कक्ष में मेटकेम का बोर्ड लगा हुआ था और अनुबंध के समाप्त होने के कुछ ही दिन बच रहे थे। उसको पूरा विश्वास था कि इसे जाना नहीं पड़ेगा। इस सारे प्रसंग के अंत में मेनॉर्ड की बात अभी भी सही लगती है। मेटकेम ने कुछ भी नहीं खोया। अगर किसी ने कुछ खोया तो वह गोड्डा ही था।

तानाशाह, शराब निर्माता, कवि और कलाकार

ग्रामीण क्षेत्र के कुछ चरित्र

उसे सूदखोर महाजनों के बारे में गजब की जानकारी थी। उसे यह भी पता था कि उस कस्बे में कुल कितने महाजन रहते हैं। इनमें से कितनों के पास लाइसेंस है और कितने स्वतंत्र रूप से काम करते हैं। लेकिन वह जोर देकर कहता रहा कि वह खुद उनमें से नहीं है। इसके लिए वह तोबा करता है। फिर कैसे उसको इन महाजनों के बारे में इतनी जानकारी थी? ओह, यह तो बहुत आसान है। आप अपनी आंखें और अपने कान खोले रखिए। आप हर चीज को पैनी नजर से देखते रहिए और आप जान जाएंगे।

हमलोग खरियार में कपिल नारायण तिवारी के घर में थे। तिवारी कालाहांडी के एक प्रमुख राजनीतिक व्यक्ति है। यहां की जनता के लिए जितना संघर्ष उन्होंने किया है उतना संघर्ष करने वाले कम ही लोग मिलेंगे। हम चाहते थे कि शहर में बसे किसी सूदखोर महाजन से हमारी बातचीत हो जाती जो शहर के लोगों को सूद पर पैसे देता है। तिवारी ने हमसे मिलने के लिए एक महाजन को बुलाया और वह व्यक्ति बातचीत करने के लिए तैयार हो गया। इसका श्रेय तिवारी की प्रतिष्ठा को जाता है। हममें से सबने अपनी भाव–गरिमाएं ऐसी ही रखी थीं जिससे लगे कि हमारा मेहमान सचमुच सूदखोर नहीं है। वह बस बहुत सारे सूदखोरों के बारे में जानकारी रखता है क्योंकि उसने हमेशा अपनी आंखें और अपने कान खोले रखे और पैने निरीक्षण के जरिए उसने सारी जानकारी हासिल की।

अगर स्वार्थ भाव से कहें तो ग्रामीण भारत किसी पत्रकार के लिए सोने की खान है। यहां जितने विविध चरित्र आपको मिलेंगे वह अन्यत्र दुर्लभ है। चरित्रों से मतलब यहां केवल किसी व्यक्ति से नहीं बल्कि समूहों से भी है। आप पाएंगे कि यहां मनातू मोहवार (मनातू का आदमखोर) जैसे लोग भी मिलेंगे। पलामू के इस अत्याचारी जमींदार ने मुझसे पहली ही मुलाकात में बड़ी विनम्रता के साथ शिकायत की कि मैंने अपनी एक रिपोर्ट में उसे बहुत गालियां दी थीं। उसने कहा कि मैं जानता हूं कि अगर आप गालियां न दें तो आपका संपादक उस खबर को छापेगा ही नहीं।

इसके अलावा रामनाड के वे लोग मिले जो गैर कानूनी ढंग से शराब बनाते हैं और उन्होंने हमें सिखाया कि अरक कैसे बनाया जाता है। या मैं उसी जिले में उस लेखक को याद करता हूं जिसका कहना था कि किसी इंटरव्यू के लिए सबसे आदर्श समय है तड़के तीन बजे। पुडुकोट्टई में हमें दो ऐसे कवि मिले जो पुरुष थे पर जिन्होंने महिलाओं की मुक्ति के लिए लगातार गीत लिखे थे। मलकानगिरि में छोटे किसानों के समूहों से हमारी मुलाकात हुई जिन्होंने मुर्गे की लड़ाई को एक अनुपम सामाजिक आयोजन बना दिया था। गोड्डा में हमने देखा कि आगंतुक मंत्री के स्वागत के लिए बच्चों को अंग्रेजी के गीत तैयार कराये गये थे जबकि मंत्री खुद भी अंग्रेजी नहीं जानता था।

यद्यपि यह सारे चरित्र व्यक्ति के तौर पर बहुत ठोस है लेकिन यह सभी महज खुद का प्रतिनिधित्व नहीं करते। वे एक दर्पण है, समूह है यहां तक कि आंदोलन है। बेशक पोन्नुस्वामी नामक लेखक के अंदर व्यक्तिवाद ज्यादा दिखाई दिया। अभी भी

उनके काम में रामनाड की गंध किसी को भी मिल सकती है। उनके जैसे व्यक्ति को इंटरव्यू करना आनंददायक था। लेकिन कुल मिलाकर यह हमारे लिए एक शिक्षा थी। यहां फायर ब्रिगेड पत्रकारिता नहीं चल सकतीं। यहां पर जो बहुत स्पष्ट है उसी को दुबारा कहना है। इन सबके बावजूद इस इलाके और यहां के लोगों के बारे में सीखने का बहुत मौका मिलता है। अगर आपके पास धैर्य है और यही सवाल है तो आपका काम बहुत आसान हो जाता है।

इसके बाद जैसा कि हमारे सूदखोर मेजबान ने ठीक ही कहा–आप अपनी आंखें और अपने कान खोले रखिए। निगाहें पैनी होनी चाहिए और आप सब कुछ सीख जाएंगे।

मनातू का भूतपूर्व आदमखोर

डालटनगंज, पलामू (बिहार): "जनता ने मेरे चीता को शेर बना दिया। आप जैसे पत्रकारों का शुक्रिया कि आपकी वजह से मेरी इतनी बदनामी हुई। आप मेरा अब इंटरव्यू लेने आए हैं। मुझे उम्मीद है कि आप जानते होंगे कि आपका संपादक इस स्टोरी को तब तक नहीं छापेगा जब तक इसमें आप मुझे गालियां नहीं देंगे।"

मिलिए, मनातू महावर जगदीश्वर जीत सिंह से जो एक जमाने में पलामू के या संभवतः समूचे बिहार के अत्चारी जमींदारों में से एक थे। इन पर कई वृत्तचित्र बने, बीबीसी ने कई स्टोरी जारी कीं और इसके अलावा ढेर सारे अखबारों में इनके बारे में छपता रहा। किसी एक व्यक्ति के अधीन जितनी बड़ी संख्या में बंधुआ मजदूर (एक समय में 96) काम करते रहे हैं उसमें भी इन्होंने विश्व रिकार्ड कायम किया। 1991 के विधानसभा चुनावों में झारखंड पार्टी के उम्मीदवार के रूप में वह मैदान में उतरे और अपनी जमानत जब्त कराई। पलामू क्षेत्र में मनातू के इस आदमखोर आतंक ने अपने परिवार से बाहर के किसी भी व्यक्ति को कई दशकों तक पक्का मकान नहीं बनाने दिया। उसने गांव के लोगों पर जुर्माने और टैक्स लगाए और जबरन छीनी गई हजारों एकड़ जमीन पर अपना साम्राज्य खड़ा किया जिसमें बंधुआ मजदूरों से काम लिया जाता था। इस पूरे इलाके में उसका आतंक था। उसके पास एक पालतू चीता था और गांव वाले डर के मारे उसके नजदीक भी नहीं आते थे।

इंटरव्यू के दौरान इस व्यक्ति ने कहा–"देखिए कुछ लोग बकरी पालते हैं और कुछ लोग बाग लगाते हैं। अब बकरी जो है वह बाग बगीचे को खराब कर देती है, कर देती है न? लेकिन मैं बागबानी भी करना चाहता हूं और बकरी ही क्यों हर जानवर पालना चाहता हूं। मैंने तो बस एक मामूली चीता पाल लिया (जो 1982 में मर गया)। लोग कहते हैं कि इस चीते के आगे मैं किसानों को फेंक देता था। अगर ऐसा होता तो क्या मैं उसे अपने घर के अंदर छुट्टा घूमने देता जिससे मेरे अपने ही परिवार के लिए खतरा पैदा हो जाए? लेकिन आप पत्रकार लोग हैं और आपको हर जगह सनसनी की जरूरत होती है इसलिए आपने मेरे चीता को शेर बना दिया और मुझको आदमखोर।
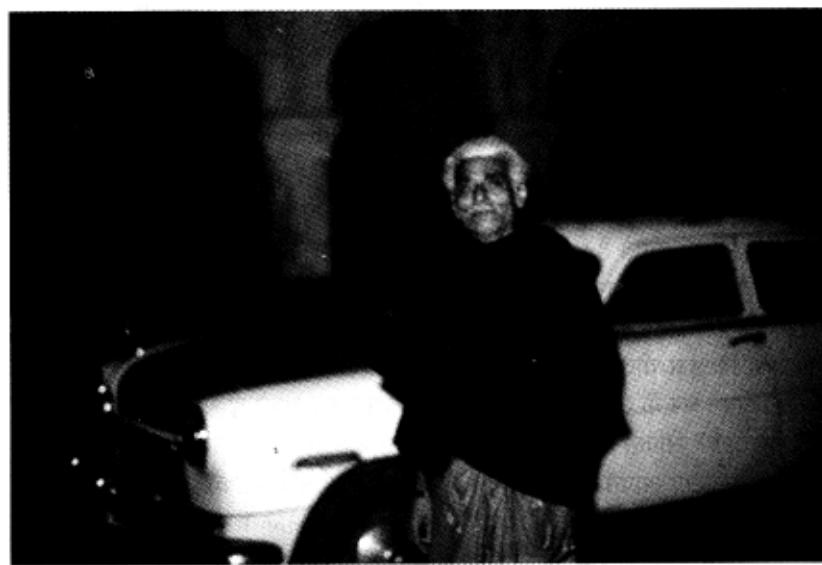
"आप कहते हैं कि मैं बंधुआ मजदूर रखे हूं लेकिन हम एक ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमें कोई बेटा भी अपने बाप से बंधा नहीं रहना चाहता। फिर ऐसी हालत में कोई मजदूर कैसे बंधुआ रहेगा?"

"क्या आप मेरी तस्वीरें खींच रहे हैं? थोड़ा रुक जाइए और ऐंगिल ठीक कर

लीजिए। ऐसे ऐंगिल से लीजिए जिससे मैं काफी खतरनाक लगूं। शायद आपको फोटो खींचने के बाद उस पर कुछ ब्रश वगैरह चलाना पड़े। पिछली बार जिस पत्रिका में मेरी तस्वीर छपी थी उसमें यही किया गया था क्योंकि उसमें छपी स्टोरी के मुकाबले मैं उतना खूंखार नहीं दिखाई दे रहा था और जरा रुकिए मैं अपनी कार के आगे खड़ा हो जाऊं फिर फोटो लीजिए।"

वह कार एक पुरानी डॉज थी जिसे काफी समय से सड़क पर आने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ था। "आप मेरी जायदाद भी देख रहे हैं और सारा ताम–झाम भी। जैसी कार वैसा मालिक। दोनों की हालत एक ही है।

ऊपर से दिखाई देने वाले इतने सरल व्यक्ति के बारे में जो कारनामे सुनाई देते रहे हैं उनके साथ इसका कैसे मेल बैठाया जाए। स्वभाव में गजब की विनोदप्रियता और चेहरे पर एक आकर्षण। नहीं, यह सब गलत है मनातू के आसपास के तमाम गांवों में खून–खराबे और दर्द की दास्तान फैली हुई है। अनेक ऐसे परिवार मिल जाएंगे जिन्होंने इस व्यक्ति से महज पांच रुपया कर्ज के रुप में लिया और जिंदगी भर के लिए बंधुआ बन गए। ऐसे बहुत से लोग मिलेंगे जो इसके आतंक के भुक्तभोगी हैं और अदालतों में इसके खिलाफ अनगिनत मामले इसलिए खारिज हो गए क्योंकि मनातू के इस आतंक के खिलाफ गवाही देने के लिए कोई तैयार नहीं हुआ।

मनातू महावर अपनी पुरानी 'डॉज' कार के सामने। 'आप मेरी जायदाद भी देख रहे हैं और सारा तामझाम भी। जैसी कार वैसा मालिक। दोनों की हालत एक ही है।'

लेकिन 1970 के दशक के उत्तरार्द्ध में इस आदमखोर का पतन शुरू हो गया और 80 के दशक में इस प्रक्रिया में काफी तेजी आई। अन्य कारणों के अलावा इसकी सबसे बड़ी वजह बंधुआ मजदूरों की संख्या में तेजी से आई गिरावट थी। महावर विरोधी अफसरों और सीपीआई द्वारा 70 के दशक में शुरू किये गये आंदोलन ने इसके लिए मजदूरों को अधिक समय तक बंधुआ बनाकर रखना मुश्किल कर दिया। 1980 के उत्तरार्द्ध में इस इलाके में कई नक्सलवादी ग्रुप सक्रिय हो गए और आज माओवादी कम्युनिस्ट सेंटर (एमसीसी) के हथियारबंद दस्ते इसके इलाके में कब्जा जमाए हुए हैं और मजदूरी में यह मनातू की बजाय अब ज्यादा समय डालटेनगंज में बिताता है।

70 के दशक में एक खंड विकास अधिकारी बम बहादुर सिंह के कारण जगदीश्वर जीत सिंह को काफी दिक्कतों का सामना करना पड़ा। इस जमींदार को लगा कि वह बुरी तरह फंस गया है। अचानक उसे ढेर सारे मुकदमें लड़ने पड़े जो उसके खिलाफ दायर किये गये थे। इन मुकदमों में बड़े पैमाने पर लकड़ी की तस्करी से लेकर गांव वालों पर किए गए अत्याचारों से संबंधित मामले शामिल थे। बम बहादुर सिंह ने गांव वालों की सामूहिक संपत्ति के अधिकारों को पैरों तले रौंदने की इस जमींदार की आदत पर भी रोक लगा दी थी।

'बम बहादुर? इसके नाम का केवल पहला हिस्सा ही सही है। चाहे जो हो वह बहादुर तो कहीं से भी नहीं है। मैंने सारे मुकदमों में उसे धूल चटा दिया। यह सारे मुकदमें जाति और व्यक्ति ईर्ष्या के कारण किये गये थे।' (खंड विकास अधिकारी जाति से राजपूत था और महावर की जाति भूमिहार है) चाहे जो हो इन मुकदमों ने उसकी हैसियत को काफी क्षतिं पहुंचाई।

"आपने झारखंड पार्टी की सदस्यता क्यों ली?"

"क्योंकि वे गरीबों के लिए, उत्पीड़ितों और आदिवासियों के लिए काम करते हैं। मैं भी तो एक उत्पीड़ित व्यक्ति हूं। मैं अब 70 साल का बूढ़ा हूं जिसकी इतनी सारी जमीन हाथ से निकल गई और जो अब शांति का जीवन बिताना चाहता है। झारखंड पार्टी चाहती है कि एक पृथक राज्य बने और आदिवासियों का विकास हो और मैं यही चाहता हूं।"

"लेकिन वह तो आदिवासी नहीं है?"

"झारखंड पार्टी से आप इस भ्रम में न पड़िये कि यह झारखंड मुक्ति मोर्चा जैसा कोई झारखंडी आंदोलन है। झारखंड पार्टी इस क्षेत्र में रहने वाले हम सभी लोगों को आदिवासी मानती हैं।"

डालटनगंज के एक प्रमुख व्यापारी से जब इस इंटरव्यू के बाद मैं मिला तो उन्होंने बताया कि 'उसने झारखंड पार्टी की सदस्यता ले ली है क्योंकि वह अपनी जमीन बचाना चाहता था। इसके लिए उसे किसी राजनीतिक असर की जरूरत थी। 70 के दशक के बाद कांग्रेस के पास इतनी ताकत नहीं रह गई थी कि उसकी मदद कर सके।

इसके अलावा उसने जनता पार्टी और इसकी उत्तराधिकारी पार्टियों से खुद को अलग कर लिया था।

आज भी जगदीश्वर जीत सिंह के रोब–दाब में कोई कमी नहीं है। एक आकलन के अनुसार इसके पास 1200 एकड़ जमीन है। जमीन रखने की कानूनी सीमा से यह तीस गुना से भी अधिक है। डालटनगंज में जिस टूटे–फूटे मकान में मैंने उसका इंटरव्यू किया उसके ऊपर लगभग तीस लाख की संपत्ति पड़ी हुई है। फिर भी वह अजीबो–गरीब धंधे करता है। मैंने पिछवाड़े की ओर झांक कर देखा–मनातू का यह आदमखोर भैंस का दूध बेच रहा था ताकि कुछ अतिरिक्त आमदनी हो जाए। संपत्ति और बर्बादी दोनों का मिश्रण देखने को यहां मिला।

उस व्यापारी ने मुझे बताया कि उसके पास पैसा तो है लेकिन उसे अब यह भी पता चल गया है कि उसके दिन लद चुके हैं। इस तरह का जमींदार नई स्थिति में संक्रमण नहीं कर सकता। कुछ अत्याचारी जमींदारों ने बहुत चालाकी के साथ इस तरह का संक्रमण किया है लेकिन यह आदमी तो किसी भी चीज के लिए एक पैसा भी नहीं देना चाहता। इसने जीवनभर आतंक का सहारा लिया। लोगों से बेगार करवाया और लोगों को बंधुआ बनाकर रखा। इन चीजों पर रोक लगते ही वे अचानक दयनीय हो जाते हैं। अभी उसके पास जो जमीन है उसके महज एक हिस्से पर खेती–बारी होती है। अगर वह बंधुआ मजदूरी प्रथा को बनाए रखने के लिए आमादा हैं तो उसे समाजवादियों, कम्युनिस्टों और एमसीसी को संतुष्ट करना पड़ेगा। इसलिए वह नष्ट होता जा रहा है। उसके पंख काट दिये गये हैं।

बीच–बीच में वह अभी भी अपना पुरा रोब–दाब लागू करने की कोशिश करता है। एक स्थानी गैर–सरकारी संगठन छोटानागपुर समाज विकास संस्थान ने सफलतापूर्वक उसकी कुछ अतिरिक्त जमीन को पिछले वर्ष लोगों में बांटा। यह जमीन पाटन ब्लाक के 80 गरीब परिवारों के बीच बांटी गई जिन्हें सरकारी तौर पर इस जमीन का पट्टा मिल चुका था। जिस समय मैं उस व्यक्ति का इंटरव्यू कर रहा था, बाद में मुझे पता चला कि उसी समय उसके एक समर्थक गिरोह ने उन परिवारों पर हमला किया था।

गांव वालों का आरोप है कि स्थानीय पुलिस या तो इस जमींदार का साथ दे रही है या इन लोगों से कुछ पैसे ऐंठने के फिराक में है। लेकिन जैसे ही मैं पलामू से रवाना हुआ उससे कुछ ही देर पहले वहां के उपायुक्त और पुलिस अधीक्षक ने गुस्से में कुछ आदेश जारी किये और महावर की धोखाधड़ी को विफल कर दिया। उन गरीब परिवारों का जमीन पर कब्जा बना रहा।

एक स्थानीय राजनीतिक कार्यकर्त्ता ने कहा कि अगर इस तरह के लोग यहां से हटा दिए जाएं तो पलामू की तरक्की हो जाएगी। जमीन और कृषि के क्षेत्र से इन सामंती अवशेषों का सफाया जरूरी है। अगर ऐसा नहीं हुआ तो हमारा कोई भविष्य नहीं है।' जो भी प्रमाण वहां दिखाई दिये उनसे लगता है कि इस कार्यकर्ता का कथन बिल्कुल सही है।

सबेरे इंटरव्यू की समाप्ति पर जगदीश्वर जीत सिंह ने कहा "तो अब आप जा रहे हैं?" पलामू के इस आदमखोर ने मुझे विदा दी और कहा ––अपने लेख में मुझे गालियां देना मत भूलिएगा। आपकी स्टोरी तब तक पूरी नहीं होगी जब तक आप मुझे दो चार गालियां नहीं देंगे। वैसी हालत में मैं कुछ भी नहीं कर सकता। आखिर पत्रकारों से दुश्मनी मोल लेने का क्या फायदा। अगर मैं किसी से दुश्मनी मोल ले लूं तो बाकी लोग भी मुझे गालियां देने लगेंगे।

हे, हे, हे, इट्स ए ब्यूटीफुल डे

गोड्डा, (बिहार): निश्चय ही खुश होने का कारण था। मंत्री महोदय नियत समय से महज ढाई घंटे देर से आ रहे थे। मंत्रियों के तौर तरीके के लिहाज से देखें तो इसे सही समय से ही अपना कहा जाएगा। किसी को सचमुच यह बात बुरी भी नहीं लग रही थी। मुझे तो नहीं ही लग रही थी। आदिवासियों की दो सांस्कृतिक मंडलियां (एक संथाल और दूसरी पहाड़िया) अपने नृत्य से हमें मंत्रमुग्ध कर रही थीं। भीषण गर्मी थी लेकिन इस सांस्कृतिक कार्यक्रम ने थोड़ी राहत पहुंचा दी थी।

उनकी कला को देखते हुए हममें से कुछ के अंदर यह इच्छा पैदा होने लगी कि मंत्री वीरेन्द्र सिंह न आवें तभी अच्छा है। अगर वह आ गये तो दोनों मंडलियां एक–एक गाना गायेंगी और फिर विदा ले लेंगी। प्रबंधकों ने कुछ ही देर पहले ढोल बजाने वालों को नाश्ता कराया था और वे जितने जोश के साथ ढोल बजा रहे थे उसे देखते हुए लगता था कि इसके पीछे उस नाश्ते का भी कुछ योगदान जरूर है। उन्हें जो कुछ दिया गया था उसे कम से कम प्रबंधकों ने नाश्ता ही कहा था। लगता है ऐसा उन्होंने विनम्रतावश कहा था। जो भी हो यह नृत्य मंडलियां बहुत ही शानदार प्रदर्शन कर रही थीं।

जैसे ही कारों का काफिला दिखाई दिया और यह आभास हुआ कि मंत्री जी आ रहे हैं लोग इधर–उधर भाग दौड़ करने लगे। 'मंत्री जी आ गये' का शोर चारों ओर गूंज गया। लोग दौड़ते हुए आये और शामियाने में इकट्ठे हो गये ताकि मंत्री जी को सुन सकें। खंड विकास अधिकारी ने कम से कम तीन बार माईक पर चिल्लाकर कहा–'मंत्रीजी का समय बहुत कम है'। यह सांस्कृति टोलियों के लिए एक संदेश था कि उन्होंने जितना समय लिया था उससे कुछ ज्यादा समय मंत्री जी को चाहिए।

माला पहनाने की औपचारिकता समाप्त होने के बाद स्थानीय मिशन स्कूल की लड़कियों के एक ग्रुप ने मधुर स्वर में गीत गाना शुरू किया। टुकड़ों–टुकड़ों में उनका गीत बहुत परिचित लग रहा था। उस वे अपने समूह गान को दूसरी बारी गाने लगीं तो मैं चौंका नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। वे गा रही थीं–हे, हे, हे, इट्स ए ब्यूटीफुल डे! से से से हैप्पी वेल्कम टू यू...

एक अजीबो–गरीब लेकिन विभिन्न लोकप्रिय गीतों का मनोरंजक नमूना जिसे शायद किसी शरारती पादरी ने अपनी विनोदप्रियता में इधर–उधर से जोड़कर तैयार कर दिया था। लेकिन चूंकि ये पंक्तियां अंग्रेजी में गायी जा रही थीं, इनका यहां बिहार के गोड्डा नामक स्थान में वह प्रभाव नहीं पड़ रहा था जो पड़ना चाहिए।

जैसे ही लड़कियों ने गाना खत्म किया और लड़कों का गान शुरू होने जा रहा था, बी.डी.ओ. ने फिर अपनी बात दुहराई–मंत्री जी का समय बहुत कम है। उसने अपने ललाट पर से पसीने को पोछ–दिन तो सचमुच शानदार था लेकिन भयंकर उमस भी थी। एक बार फिर उसने कहा कि समय बहुत कम है। ऐसा लगता था जैसे वह इसे बार–बार नहीं दुहराएगा तो भूल जाएगा।

जैसे ही उसने माईक थामा उन लड़कों ने जल्दी–जल्दी गाना खत्म किया और वहां से हट गये। इसके बाद सांस्कृतिक टोलियां आगे बढ़ीं।

अब तक राजनीतिक दलों का मंच सम्हालने वाले प्रबंधकों को अब थोड़ी दिक्कत महसूस होने लगी थी। ढोल बजाने वालों का जोश उबाल मार रहा था। शायद उन लोगों ने बहुत ज्यादा नाश्ता कर लिया था। एक मंडली के ढोल बजाने वाले ने उस समय गलत ताल दे दिया जब दूसरी मंडली वाले गा रहे थे। कुछ के बीच में कानाफूसी हुई, कुछ ने आंखें तरेर कर उसे देखा लेकिन कुल मिलाकर (जैसा कि बी.डी.ओ ने बाद में बताया) स्थिति पर काबू पा लिया गया।

दिन की कार्यवाही का यह सांस्कृतिक पहलू जल्दी ही समाप्त कर दिया गया। मेरा अनुमान है कि इसमें कुल मिलाकर लगभग 25 मिनट लगे होंगे–हो सकता है इससे भी कम ही समय लगा हो। समय बहुत कम है और अभी ढेर सारे काम निपटाने हैं।

बी.डी.ओ. के प्रारंभिक उद्‌गार के बाद विधायक हेमलाल मुर्मू मंत्री का स्वागत करने के लिए मंच पर पधारे। उनके मंच पर चढ़ते ही मैंने पड़ोस में बैठे व्यक्ति से आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा कि यह कैसे हो सकता है। मूर्मू झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के विधायक हैं और इस समय इनकी पार्टी ने झारखण्ड बंद का आवाहन किया है और नाकेबंदी की घोषणा की है। इनसे अपेक्षा की जाती है कि वह बीरेन्द्र सिंह को बोलने से रोकेंगे न कि उनका स्वागत करेंगे। यहां से लगभग 10 किलोमीटर से भी कम दूरी पर मोर्चे के कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी चल रही है। ऐसी हालत में मोर्चे का विधायक मंत्री का स्वागत कैसे कर सकता है।

मेरे पड़ोसी ने बड़े गर्व से कहा–'यह बिहार है न! दूसरे, यहां वही बातें भी होनी हैं जिनका मतलब इस नाकेबंदी से है। श्रोताओं में बैठे एक दूसरे व्यक्ति ने जो कुछ कहा उससे ऐसा लगा कि हमें अभी इन लोगों के बारे में और कुछ पढ़ने की जरूरत है। हेमलाल सीपीआई छोड़कर झारखण्ड मुक्ति मोर्चे में इसीलिए शामिल हुआ था क्योंकि उसे लगा कि मोर्चे में शामिल होने से चुनाव जीतने में आसानी होगी। क्या यह माना जा सकता है कि वह एक बार फिर दल बदलने के चक्कर में पड़ा हुआ है। इस बार वह शायद जनता दल में शामिल हो जाए।

हम इसी विषय पर सोचते हुए हेमलाल के बोलने का इंतजार करने लगे। इसमें थोड़ा समय लगा। शुरू के पांच मिनट तो उसे माईक ही ठीक करने में लग गये जिसकी आवाज में कुछ गड़बड़ी थी। जब वह माईक ठीक न हुआ तो दूसरा लाया गया

और फिर उसने स्वागत भाषण की शुरूआत 'मंत्री महोदय' से की। इसमें भी थोड़ा समय लगा। उसने अपने भाषण में लगभग उतना ही समय लगाया जितना समय नृत्य करने वाली टोलियों ने लगाया था। उसका भाषण समाप्त होने के बाद एक दूसरे अधिकारी ने संक्षेप में कुछ कहा और फिर बीरेन्द्र सिंह की बारी आयी।

अब, जैसा कि हमने देखा, बहुत समय था। उनका भाषण शुरू होने के आधा घंटा बाद मैं वहां से रवाना हुआं लेकिन वह अभी भी बोल रहे थे। झारखण्ड की पूर्ण नाकेबंदी के गोड्डा संस्करण की जानकारी ने मुझे निराश कर दिया था। मैं चला आया।

एक हफ्ते बाद मुझे खुद एक नाकेबंदी का अनुभव झेलना पड़ा। जिस लॉज में मैंने अपना सामान रखा था वहां पुलिस ने रात में छापा मारा। यह अभियान एक युवा, उत्साही और अत्यंत संदिग्ध पुलिस उपअधीक्षक की देख–रेख में चलाया गया था। उसने मेरे पड़ोसियों को हिरासत में लिया। ये लोग 'संदिग्ध चरित्र' के थे जिनके खिलाफ पुलिस को कोई सुराग मिला था।

उनके चरित्र के बारे में संदेह आधरहीन नहीं था। उनके पास कुछ ऐसे औजार थे जो शायद कलात्मक इस्तेमाल के लिए हों लेकिन पुलिस के दिमाग में उन औजारों को लेकर कई तरह के संदेह थे। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि किसी जमाने में वे अपराध में शामिल थे लेकिन यह बड़ी पुरानी बात है। अब वे ईमानदार नागरिक की तरह जिंदगी बिता रहे हैं। कुछ भावनात्मक कारणों से उन्होंने वे औजार अपने पास रख लिये हैं। लेकिन पुलिस वाले और खासतौर से पुलिस उपअधीक्षक भावुक नहीं होते। उसके पास कारण देखने का समय नहीं था।

इस दौरान अधिकांश समय बिजली नहीं थी जैसा कि आम तौर पर गोड्डा में होता है। इसलिए मैं अंधेरे में ही उस छापे की भनक ले रहा था। इस लॉज में चूहों और पुलिस की हरकतों से चहल–पहल हो गयी थी। जैसे ही मैं सीढ़ियों से ऊपर चढ़ा उन्होंने थोड़ी दुविधा के साथ मुझे देखा लेकिन मेरे कमरे में पहुंचते ही वे पक्के इरादे से मेरी ओर बढ़े।

पुलिस उपअधिक्षक जानना चाहता था कि अगर मैं एक पत्रकार हूं, जैसा कि मैं दावा करता हूं, और अगर मैं अपने दावे के अनुसार कुछ दिनों से इस जिले में हूं तो मैंने यहां अधिकारियों के पास अपना नाम क्यों नहीं लिखवाया? मिसाल के तौर पर क्या मैंने गोड्डा में आने के बाद उसके अफसर पुलिस अधीक्षक को अपने आने की जानकारी दी? मैं समझ नहीं पाया कि इसका क्या जबाव दिया जाये। मैं न तो कोई सजायाफ्ता मुजरिम हूं जिसे पेरोल पर छोड़ा गया हो और न पुलिस की सूची में दर्ज कोई अपराधी हूं जो किसी भी शहर में जाने पर थाने में रिपोर्ट लिखावे।

शुक्र है कि मेरे पास मेरा परिचय पत्र था। पुलिस मेरे पड़ोसियों को लेकर चली गयी। उन्हें मैंने फिर कभी नहीं देखा। लॉज के मालिक ने भी फटाफट उन कमरों को किराये पर उठा लिया जिन्हें वे कई दिनों के लिए बुक करा चुके थे। उसे निश्चय ही

पता चल गया था कि पुलिस ने उन लोगों के रहने का खास इंतजाम कर दिया है।

मेरी इच्छा हुई कि मैं खुद थाने जाकर उस नजारे को देखूं। लेकिन काफी देर हो गयी थी और पहाड़ियों पर चार दिनों की चढ़ाई ने मुझे थका दिया था। यही वजह थी कि अंततः मेरी मति नहीं मारी गयी। अब कुछ नये पड़ोसी आ गये थे लेकिन मेरे पास वही कमरा था–थाने की कोठरी नहीं।

हे, हे, हे, इट्स ए ब्यूटीफुल डे।

शराब बनाने की भट्ठी में एक दिन

मुडुकुल्लुथुर, रामनाड (तमिलनाडु): एक बड़े बर्तन में आठ किलो खजूर पिघलाएं। इसमें चार किलो कादुकाई (एक तरह का मेवा), थोड़ा सा न्यूटमेग और एक मुट्ठी पोस्ता के बीज डालें। फिर इसमें करबूर हरसाई नामक आयुर्वेदिक मिश्रण, थोड़ा सिरका और किसमिस मिलाएं। सबसे ऊपर वाली तह में केले की छाल और खजूर के फल रखे। फिर इस बर्तन को एक गड्ढे के अंदर रखें और मिट्टी से ढंक दें। एक हफ्ते बाद इसे निकालकर उबालें और फिर डिस्टिल करें और मालूम है कि इससे आपको क्या मिलेगा?

शायद जेल की सजा और पांच सौ रुपए जुर्माना। तमिलनाडु में अरक बनाना गैर कानूनी है। अगर आपने अरक को और तेज बनाने के लिए बैटरी सेल, मिर्चे और गाय का गोबर मिला दिया तो आपकी सजा और भी कड़ी हो सकती है। अगर अदालत आपको कुछ सौ रुपए का ही जुर्माना करती है तो यह समझिये कि आप पर कृपा की जा रही है।

यह तमिलनाडु का ऐसा गैर कानूनी उद्योग है जिसके सबसे ज्यादा संरक्षक हैं। लेकिन जमीनी तौर पर इस धंधे को चलाने वाले कौन लोग हैं?

इस सवाल का जवाब पाने के लिए आपको गैर कानूनी तौर पर अरक बनाने वालों से बात करनी ही होगी। उनसे मिलने के लिए आपको रामनाड जिले के मुडुकुल्लुथुर के जंगलों में जाना होगा। ऐसा लगेगा कि इन जंगलों में आप भटक गए हैं लेकिन घंटों तक निरुद्देश्य भटकते रहने के बाद हमारी मुलाकात कुछ अरक बनाने वालों से हो ही गई।

यह मुलाकात वैसी नहीं थी जैसा हमने पहले सोचा था। हमें देखते ही अरक बनाने वाले अपना सारा साज–सामान छोड़कर इतनी तेजी से भागे कि ऐसा लगा जैसे दौड़ के सारे कीर्तिमान वे तोड़ देंगे। बाद में मुझे पता चला कि मेरी पैंट का रंग खाकी होने के कारण उन्हें लगा जैसे पुलिस आ गई है। उनके भागने से यह आराम जरूर हुआ कि हम निश्चिंत होकर उनके साज–सामान का फोटोग्राफ ले सकें। लेकिन जाहिर है कि महज तस्वीरों से काम नहीं चलना था। हमें तो उनसे बातचीत करके बहुत सारी जानकारियां लेनी थीं।

एक घंटे बाद कुछ किलोमीटर की दूरी पर हमने उन्हें ढूंढ लिया और फिर सबसे पहले उन्हें इत्मिनान दिलाया कि वे डरें नहीं। मैंने पूछा–हमें देखकर तुम लोग अपना सारा सामान छोड़कर क्यों भाग खड़े हुए। वे जानना चाहते थे कि हमने खाकी

पैंट क्यों पहन रखी है। स्वामी और कानन नाम के दो व्यक्ति, जो अरक बनाने के धंधे में लगे थे बहुत ही सभ्य और मृदु स्वभाव के थे। लेकिन उनके झूठ बोलने का कोई जबाव नहीं था–खासतौर से अपने धंधे का अर्थशास्त्र समझाते समय वे एक रत्ती भी सच नहीं बोलते थे। उन्होंने बताया कि इस धंधे में कोई खास कमाई नहीं है।

लेकिन अगर इस धंधे में कोई कमाई नहीं है तो वे इस करते क्यों हैं। स्वामी ने बताया कि वे महज इसे इसलिए करते हैं ताकि भेड़ियों से सुरक्षित रह सकें।

ऐसा लगता है कि अपने काम में वे काफी सफल हैं। उन्होंने बताया कि वे रोजाना पचास लीटर तक अरक तैयार कर लेते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि वे हर रोज लगभग 1600 रुपए का कारोबार कर रहे हैं। कानन की आंखों पर जो चश्मा था वह काफी महंगा था। उन्होंने यह भी बताया कि यह जानते हुए कि दूसरे लोग यानी उनके प्रतिद्वंदी अरक बनाते समय घोल में बैटरी सेल मिलाते हैं, उन्होंने कभी इसका इस्तेमाल नहीं किया।

स्वामी ने बड़ी शराफत के साथ कहा कि हम लोग भी यही पीते हैं। उसके इस कथन से मुझे बंबई के एक रेस्तरां वाले की याद आ गई जो रद्दी खाना होने पर इसी तरह की बातें करता था।

मैंने उनसे कहा कि मैं तो यह समझता था कि तुम लोगों को पहले से ही पटा रखा होगा फिर हमें देखकर भागे क्यों। इसके जबाव में स्वामी ने सकुचाते हुए कहा–'आमतौर पर पुलिस मदद कर देती है लेकिन यह जो नया डीएसपी कनप्पन आया है, बहुत बदमाश है...स्साला। वह घूस नहीं लेता।' इस डीएसपी के प्रति उनके दिल में थोड़े सम्मान की भी झलक मिल रही थी और वे उस सब इंस्पेक्टर के बारे में गाली की ही भाषा में बात कर रहे थे जो 'घूस भी लेता है और ऊपर से आदेश आने पर हमें पकड़कर पीटता भी है।'

ऐसा लगता था कि अरक बनाने वाले और पुलिस की टोह लेने के लिए तैनात उनके आदमियों ने ऐसी व्यवस्था कर रखी थी कि जब भी जरूरत पड़े वे घने जंगल में छिपने के स्थान तक पहुंच जाएं। हमारी मुलाकात अभी केवल इसके थोक विक्रेता से ही हुई थी। बाद में इसके ग्राहक से भी हम मिले। उसने पहले तो हमें यह समझाना शुरू किया कि उसका बाप एक जमींदार था। स्वामी और कानन भी बताते हैं कि वे तो खेतिहर मजदूर परिवार से आए हैं। अब वे बेहतर हालत में हैं और दूसरे खेतिहर मजदूरों को वे अपना शिकार बनाते हैं।

तो भी एक दूसरे स्तर पर दोनों उस जंजीर की छोटी कड़ियां हैं जो इस राज्य में मंत्रियों के स्तर तक पहुंचती है। यह जंजीर घूस और समय–समय पर की जाने वाली मांगों की है जो कुछ मिलाकर करोड़ों रुपए की होती है। लेकिन यह दोनों व्यक्ति अपेक्षाकृत बहुत छोटे स्तर पर हैं। इन्हें कोई खास राजनीतिक संरक्षण नहीं प्राप्त है। जो लोग बड़े पैमाने पर अरक बनाने वाले हैं उन्हें अच्छा खासा राजनीतिक संरक्षण प्राप्त है।

अरक बनाने की प्रक्रिया की एक झलक। यह तमिलनाडु का ऐसा उद्योग है जिसके सबसे ज्यादा संरक्षक है। इस काम में लगे स्वामी और कानन के उदारतापूर्वक मुझे तस्वीर लेने की इजाजत दे दी। वैसे, साथ में खुद की तस्वीर खिचवाने में वे शरमा गये।

उनके इस धंधे के नैतिक आयाम क्या हैं। जहां तक उनकी बात है, कुछ भी नहीं है। स्वामी ने सवाल किया कि हमारे लिए और दूसरे कौन सा रोजगार है।

दोनों का कहना है कि अरक हर उस आदमी के लिए बहुत जरूरी है जो कड़ी मेहनत करता है। लेकिन बिना यह आदत डाले औरतें भी तो बहुत कड़ी मेहनत करती हैं? हां, आप ठीक कहते हैं, लेकिन कुछ भी हो औरतें औरतें ही होती हैं। अब इस मामले में तो कुछ भी नहीं किया जा सकता। यह बताने के बाद वे अरक के वितरण और व्यापार के बारे में बताने लगे।

इस दौरान उस बड़े बर्तन में जो मिश्रण डाला गया था वह खौलने लगा। इसके ऊपर मिट्टी का अपेक्षाकृत छोटा बर्तन रखा हुआ था जिसके पेंदें में सुराख बना था। बर्तन के एक किनारे से जुड़ी एक ट्यूब लगी थी। ट्यूब का भीतरी सिरा एक झूलती हुई प्लेट से जुड़ा हुआ था। मिट्टी के बर्तन के ऊपर तांबे का एक और छोटा सा बर्तन रखा था जो सादे पानी से भरा हुआ था।

बड़े वाले बर्तन में जब मिश्रण उबलने लगता था तो वह भाप बनकर मिट्टी के बर्तन में बने सुराख से होते हुए ऊपर तक पहुंचता था। ऊपर पहुंचने के बाद यह भाप तांबे के बर्तन से टकराता था जिसमें पानी भरा हुआ था। वहां से टकराते के बाद यह डिस्टिल्ड होकर ट्यूब से होता हुआ बाहर ट्यूब के दूसरे सिरे से जुड़ी बोतल में पहुंचता था। शुरू की तीन बोतलें बहुत तेज अरक वाली होती थीं। इस बर्तन से वे दस बोतलें अरक की तैयार करते थे। इसके बाद इन दसों बोतलों को चार बोतल पानी के साथ मिलाया जाता था और इस प्रकार उनके पास दस लीटर अरक का भंडार इकट्ठा हो जाता था।

रामनाड भारत के सर्वाधिक पिछड़े जिलों में से एक है और यहां अरक बनाने के जुर्म में सजा काटने वालों की लम्बी सूची है। सरकारी आंकड़ों के अनुसार हर दो घंटे में एक आदमी पकड़ा जाता है। इसका मुकाबला पुडुकोट्टई के रेकार्ड से ही हो सकता है। जुर्माना के रूप में भी अच्छी खासी रकम वसूली जाती है। पिछले 150 दिनों में दस लाख रुपए से भी ज्यादा रकम जुर्माने के रूप से वसूली गई।

यह धंधा काफी बड़ा और फैला हुआ है। जैसा कि पुडुकोट्टई में हुआ। अरक के व्यसन से बहुत सारे खेतिहर मजदूर ग्रस्त हैं और इनकी आय का बहुत बड़ा हिस्सा अरक बनाने वालों की जेब में जाता है। यहां महिलाएं भी अरक से बहुत नफरत करती हैं और उनका कहना है कि घर की सुख–शांति इसी ने बरबाद कर रखी है।

तटवर्ती अनेक गांवों में कई मछुआरे भी अरक के आदी हैं। कभी–कभी तो ऐसा होता है कि वे अपनी दिनभर की आय का तीन चौथाई अरक में ही डुबो देते हैं। अरक बेचने वाले इन्हें दिल खोलकर उधार भी देते हैं क्योंकि उन्हें पता है कि इस पैसे को वे जब चाहें किसी न किसी रूप में वसूल लेंगे।

स्वामी और कानन ने इस पूरी प्रक्रिया की तस्वीरें लेने की हमें इज़ाजत दे दी लेकिन वे खुद इस तस्वीर में,आने में झिझक महसूस कर रहे थे। जैसे ही मैं वहां से चलने को हुआ उन्हें बताया कि मैं शराब बिल्कुल नहीं पीता हूं। उन्होंने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि दुनिया में ऐसे मूर्ख भी होते हैं। जो भी हो, जब हम विदा हो रहे थे उनकी दार्शनिक निगाहें मानों कह रही हों कि इस दुनिया को बनाने के लिए शायद बहुत तरह के लोगों की जरूरत पड़ती है।

मलकानगिरि में मुर्गों का खेल

मलकानगिरि, (उड़ीसा): धनुर्जय हंथाल खुश है कि वह मुझसे तेलगू में बातचीत कर सकता है। वह एक गरीब किसान है जिसे दोनों भाषाएं आती है और साथ ही वह देसी उड़िया भी बोल लेता है। हमारी उससे मुलाकात मलकानगिरि के सर्वाधिक लोकप्रिय सामाजिक महोत्सव में हुई जिसे यहां कुकुड़ा लड़ाई यानी मुर्गों की लड़ाई कहते हैं।

एक ऐसे क्षेत्र में जहां लोगों को प्रतिदिन दस रुपए से भी कम मजदूरी कमाने में चौदह घंटों तक की मेहनत करनी पड़ती है, मुर्गे की लड़ाई एक ऐसा अवसर है जहां मिनटों में हजार रुपए इधर से उधर हो जाते हैं। अनेक लड़ाकू मुर्गे इस युद्ध के मैदान में छोटे किसानों द्वारा लाए जाते हैं और उनके यहां लाते ही दलालों और एजेंटों की भीड़ जमा हो जाती है जो इन मुर्गों पर अपनी बोली लगाने लगते हैं। कुछ मुर्गे 600 से 800 रुपए तक में बिकते हैं। यहां सक्रिय एजेंटों को पता है कि कौन सा मुर्गा कितना लड़ पाएगा और उनकी कोशिश यही होती है कि उसे किसी तरह किसान से खरीद लिया जाए और इस पर पैसा कमाया जाए। ऐसा करते समय वे अपने विरोधी का ध्यान रखते हैं कि वह क्या खरीद रहा है। कुछ एजेंट एक से अधिक मुर्गे खरीद लेते हैं।

इसका अर्थ यह हुआ कि कभी–कभी एजेंट दोनों तरह के मुर्गे खरीदते हैं–विजेता और उसका प्रतिद्वंद्वी ताकि हर हाल में नतीजा उन्हीं के पक्ष में हो। फिर वे लोगों से दांव लगवाते हैं और दोनों में से कोई न कोई मुर्गा जीतता ही है तो भी आज के दिन कोई भी एजेंट धनुर्जय को मुर्गा बेचने के लिए तैयार नहीं कर सकता।

अपनी गोद में सफेद रंग का शानदार मुर्गा दबाए धनुर्जय गर्व के साथ बताता है कि यह तो हमेशा चैंपियन रहा है। यह लड़ाई में अपने दुश्मन को देखते–देखते खत्म कर देगा। आप लोग इस पर पैसा लगाइए। धनुर्जय चिल्ला–चिल्लाकर बोल रहा है ताकि लोग ज्यादा से ज्यादा पैसे लगाएं। यह स्थान मलकानगिरि से कुछ किलोमीटर की दूरी पर है और आज के दिन यहां समोसा, जलेबी, चाय बेचने वाले अपना खोमचा लगा चुके हैं और तेज आवाज में लोगों को आकर्षित कर रहे थे।

और फिर शुरू हुई मुर्गों की लड़ाई।

हम लोगों को यह कोलाहल लगभग एक किलोमीटर की दूरी तक सुनाई पड़ रहा था। अभी लड़ने की तैयारी चल रही थी और ललकारने जैसी चीख पुकार आने लगी थी। मैदान देखने से ऐसा लगता था कि जैसे तरह–तरह के रंगों का कोई समुद्र हो।

सफेद मुर्गे लाल मुर्गों को देखकर भड़क उठते थे। काफी दूर से भी ऐसा लगता

था कि जैसे मुर्गों का कोई अखिल भारतीय सम्मेलन हो रहा हो और उसमें तेज बहस चलते–चलते हिंसा भड़क गई हो। अभी भी अपनी बाहों में मुर्गों को दबाए लोग चारों ओर से चले आ रहे थे। यह लोग खुद भी किसान थे इसलिए खेतों की मेड़ पर से बड़े अनुशासित ढंग से वे एक कतार में चल रहे थे ताकि फसलों को कोई नुकसान न हो। कुछ लोग तो पड़ोस के राज्य आंध्र प्रदेश से भी आ गए थे। यह भीड़ जहां इकट्ठी हो रही थी उसके एकदम बीचो–बीच में हम पहुंच गए थे। यहां से हम देख सकते थे कि पहाड़ियों से लोग एक कतार में नीचे उतरते आ रहे हैं।

हमने मलकानगिरि में ही देखा था कि इन मुर्गों को प्रशिक्षण देने वाले बहुत तड़के से अपना काम शुरू कर देते थे। उस छोटे से कस्बे में यह सब देखना बहुत अजीबो–गरीब था। मुर्गों के एक प्रशिक्षक आनंद ने हमें बताया कि इन्हें सीखना पड़ता है कि किस तरह ताकत और गुस्सा दोनों का इस्तेमाल करते हुए हमला किया जाए। हमारी भेंट कृष्णा रेड्डी से भी हुई जो इस लड़ाई में भाग लेने के लिए अभी पहुंचा ही था। उसके पास भी एक मुर्गा था जिसकी आंखों पर पट्टी बंधी थी जो सवेरे पांच बजे भी किसी अदृश्य दुश्मन के ऊपर हमला करने के इरादे से उछल रहा था। इन्हीं लोगों से हमें इस समारोह के बारे में काफी जानकारी मिली। जिस समय हम युद्धस्थल के लिए यहां से रवाना हुए, मुर्गों को प्रशिक्षण देने का काम अभी चल ही रहा था।

मैदान में पहुंचने पर हमने देखा कि कार्यक्रम शुरू होने में अच्छा–खासा समय लगता है। देर होने का कारण एजेंटों और दलालों की दुविधा होती है कि किस मुर्गे को किस मुर्गे के मुकाबले मैदान में उतारा जाए। अंत में बड़ी तेज आवाज में कुछ जोड़ों की घोषणा की जाती है। बोली लगनी शुरू हो जाती है–दस रुपए रेंगदा, बीस रुपया धबला (लाल वाले पर 10 रुपया, सफेद वाले पर 20 रुपया)। इस तरह यह बाजी आगे बढ़ती जाती है। जो लोग दांव लगा रहे थे वे देखने में काफी सम्मानित लग रहे थे। धनुर्जय ने ऐसे ही एक व्यक्ति के बारे में बताया कि वह पास के स्कूल में हेडमास्टर है।

कुकुड़ा लड़ोई के मलकानगिरि में सदियों पुरानी परंपरा है। हालांकि अनेक गरीब किसान इस लड़ाई में मजा लेने के लिए भाग लेते हैं लेकिन जुआ इस लड़ाई का एक अनिवार्य अंग रहा है। पिछले कुछ दशकों में इस समारोह में व्यापार ने प्रवेश कर लिया। अब मुर्गों के मालिक अत्यंत बारीक और तेज धार वाले ब्लेड मुर्गों के पैर में बांध देते हैं ताकि लड़ते समय वे घातक हमला कर सकें।

इस बर्बरता ने परंपरागत खेल का रूपांतरण कर दिया है। पहले होता यह था कि कोई भी लड़ाई लगभग एक घंटे तक चलती थी और इस दौरान मुर्गों के मालिक मैदान के चारों ओर चक्कर लगाते रहते थे। अब ब्लेड अथवा चाकू की मदद से यह लड़ाई कुछ मिनटों में ही खत्म हो जाती है। धनुर्जय ने हमें चाकूओं के पांच जोड़े दिखाए और बताया कि हर बार अपने अलग–अलग प्रतिद्वंद्वियों से लड़ते समय उसका चैंपियन

मुर्गा अपने पैरों में अलग–अलग चाकूओं का इस्तेमाल करेगा। यह इस बात पर निर्भर होगा कि उसके मुकाबले जो मुर्गा मैदान में उतरा है उसकी क्षमता क्या है। आखिरकार इसे पूरे दिन लड़ना ही तो है।

जिस घेरे में यह लड़ाई होनी है उसका व्यास लगभग 25 फीट है और उसे चारो ओर से बांस की खपच्चियों और खर–पतवार से घेर दिया गया है। प्रत्येक मुर्गे के मालिक से आयोजक लोग प्रवेश शुल्क लेते हैं। इसके अलावा हर कदम पर कुछ–न–कुछ प्रतिशत बंधा हुआ है। जो दांव लगाए जाते हैं उन पर भी आयोजकों का हिस्सा है। यही वजह थी कि कुछ पैसे देकर मुझे यह सुविधा मिल गई कि मैं घेरे के अंदर जा सकूं और तस्वीर खींच सकूं।

सबसे पहले हल्के वजन वाले मुर्गों की लड़ाई शुरू हुई। इन्हें आप फ्लाई वेट कह सकते हैं। हैवी वेट मुर्गे बाद में लड़ेंगे जब बाजी लगाने वालों में खूब जोश आ जाएगा और वे ऊंची बाजी लगाने लगेंगे। पहली लड़ाई जल्दी खत्म हो गई। इसमें एक लाल मुर्गे के मुकाबले सफेद मुर्गा मैदान में उतरा था और उतरते ही सफेद मुर्गा गांव की ओर भाग खड़ा हुआ। इसके मालिक ने निराशा में आहें भरीं। कुकुड़ा लड़ाई में जो मुर्गा हार जाता है उसे जीतने वाला पक्ष हासिल कर लेता है और फिर उसे सब मिलकर खाते हैं। इस प्रकार पराजित मुर्गे का मालिक अपने पैसे से हाथ धोता ही है साथ ही उसे अपना मुर्गा भी खोना पड़ता है।

फ्लाई वेट वालों की लड़ाई खत्म होते ही घेरे में वे मुर्गे आ गए जो न बहुत हल्के थे और न बहुत वजनी। इसमें दोनों मुर्गों के मालिक अपने–अपने मुर्गों को छोड़ देते थे। ऐसा करने का मकसद यह होता था कि दोनों पक्ष के मुर्गे अपने प्रतिद्वंदियों को एक हद तक समझ लें। ऐसा तीन बार किया जाता था और चौथी बार उन्हें ऊपर उठाकर हवा में छोड़ दिया जाता था और फिर लड़ाई शुरू हो जाती थी।

मुर्गों के प्रशिक्षण को देखते समय हमें यह पता चल गया था कि मुर्गे एक दूसरे की मानसिक अवस्था के बारे में बहुत संवेदनशील होते हैं। कोई–कोई क्षण ऐसा आता था कि उनकी लड़ाई भयंकर रूप ले लेती थी और वे एक दूसरे की जान लेने के लिए आमादा हो जाते थे। फिर अगले क्षण वे अपने मालिक की तरफ लौट आते थे। सवेरे हमने चाय की दुकान के बाहर दो मुर्गों को देखा था। उस समय वे दोनों बड़ी शांत मुद्रा में कुछ दाने चुग रहे थे। अचानक वे एक दूसरे की ओर गुस्से से देखते थे और फिर उत्तेजित होकर हमलावर मुद्रा में आ जाते थे। कुछ क्षणों तक इनके पंखों की फड़फड़ाहट इतनी तेज हो जाती थी कि हम सांस रोककर देखते रहते। फिर अचानक ही किसी अदृश्य संकेत के मिलते ही वे एक दूसरे को छोड़ देते थे और फिर शांत होकर पहले की तरह दाने चुगने लगते। दाने–चुगते अचानक बिना किसी चेतावनी के अद्भुत रूप से एक ही समय में दोनों एक दूसरे पर झपटते थे और गुंथ जाते थे। इस इतमिनान के साथ युद्ध और शांति का यह दृश्य लगभग आधा घंटा तक चलता रहा।

'कुकुड़ा लड़ाई' मलकानगिरी का सबसे लोकप्रिय सामाजिक उत्सव है। ऐसे क्षेत्र में जहां लोगों को प्रतिदिन दस रुपये से भी कम मजदूरी कमाने में चौदह घंटे लगाने पड़ते हैं, इस अवसर पर हजारों रुपये इधर से उधर हो जाते हैं।

लेकिन यहां उन्हें इस तरह की किसी भी इतमिनान की इजाजत नहीं थी। एक बार जब मुर्गों को छोड़ दिया जाता था तो उनके मालिक उनके चारों ओर उन्हें ललकारते हुए घूमने लगते थे और एक दूसरे पर लगातार हमले करते जाते थे।

लड़ाई के कुछ दौर समाप्त हो जाने के बाद धनुर्जय के लिए परीक्षा की घड़ी तब आई जब उसके सफेद चैंपियन का मुकाबला एक भारी–भरकम लाल मुर्गे से हुआ। अभी दोनों मुर्गों के मालिक एक दूसरे की चोंच में चोंच लड़ा ही रहे थे और उन्हें जोश दिला रहे थे कि तभी लाल मुर्गे ने धनुर्जय के मुर्गे की गरदन पर घातक प्रहार किया। ऐसा होते ही निष्पक्ष निर्णायक ने लड़ाई रोकने का इशारा किया।

पहला राउंडः दोनों मुर्गे बड़ी तेज रफ्तार से दौड़ते हुए एक दूसरे पर झपटते हैं। लेकिन हमारा चैंपियन घबड़ाता नहीं है। लाल मुर्गा अपनी नुकीली चोंच से और पैरों में बांधे गए धारदार चाकू से हमला करता है और धनुर्जय के सफेद मुर्गे को घायल कर देता है। धनुर्जय का मुर्गा भी जवाब में लाल मुर्गे के सीने पर और उसके पंखों पर हमला करता है। दर्शक जोश से पागल हो उठते हैं। इस बीच मुर्गे के पैर में बंधा चाकू ढीला होने लगता है और यह देखकर मालिकों को निर्णायक से यह कहना पड़ता है कि थोड़ी

देर के लिए मोहलत दे दें।

दूसरा राउंड : दोनों मुर्गे हवा में उछले हुए हैं और एक दूसरे पर बिजली की तरह हमला कर रहे हैं। धनुर्जय का चैंपियन चोट खा चुका है और यही वजह है कि लाल मुर्गे के मुकाबले उसकी रफ्तार में कुछ सेकेंडों की कमी है। यही कुछ सेकेंड जानलेवा साबित होते हैं और लाल मुर्गा उसके गले पर हमला कर देता है। अब लाल मुर्गा चैंपियन पर पूरी तरह हावी है और उसके पैर में बंधे चाकू सफेद मुर्गे के सीने को चीर देते हैं।

इस मुकाम तक पहुंचते-पहुंचते सफेद मुर्गे की मुद्रा बहुत दार्शनिक हो जाती है। ऐसा लगता है कि वह लड़ाई में अपनाए गए इस तरीके से क्षुब्ध होकर एक कोने में जा बैठता है और अपने मालिक के पराजय बोध के प्रति उदासीनता दिखाते हुए वह शांत बैठा रहता है। भीड़ शोर मचा रही होती है और उसे मालूम है कि उसके प्रति लोगों की हमदर्दी नहीं है। उसका दिमाग कुछ और बातों में लगा हुआ है मसलन इस घेरे से जीते जी कैसे बाहर निकला जाए।

अभी उसका मुर्गा कोने में बैठा ही था कि धनुर्जय ने बेशुमार गालियां देनी शुरू कीं-वह ऐसी भाषा का इस्तेमाल कर रहा था जिसे राज्य विधानसभाओं में शायद न बर्दाश्त किया जाए। मैंने बाद में देखा कि वह घायल चैंपियन उसके हाथों में है। यह बताना मुश्किल है कि किसकी पराजय हुई-किसान की या उस पक्षी की। इसके बाद जो लड़ाई हुई उसमें भी ज्यादा विजेता सफेद और काले मुर्गे ही थे। लग रहा है कि गोराशाही के लिए यह एक बुरा दिन था।

कृष्णा रेड्डी का लाल मुर्गा विजेता बन गया था। रेड्डी ने हमें बताया कि जिले के किसी न किसी भाग में लगभग हर रोज मुर्गों की लड़ाई होती रहती है। इनमें से कुछ लड़ाइयों में तो जबर्दस्त भीड़ जुटती है। लड़ाई का सीजन हर साल अक्टूबर के आसपास शुरू होता है और फरवरी तक जारी रहता है।

अब अंधेरा घिरने लगा है और मेरे कैमरे का फ्लैश ठीक से काम नहीं कर रहा है। हमलोग अब वहां से रवाना हुए तो बहुत बड़ी-बड़ी बाजी लग रही थी और शोरगुल इतना ज्यादा हो रहा था कि यकीन करना मुश्किल है। जिन लोगों से हमने बातचीत की जैसे माधव गोंडा, वसंत पिंकी अथवा कृष्णा रेड्डी से, वे लोग पिछले दस वर्षों से भी अधिक समय से मुर्गों की लड़ाई में लगे हुए हैं।

रास्ते में हमारी मुलाकात धनुर्जय से हुई। उसका हाथ खाली था और उसके कंधे से वे धारदार चाकू लटक रहे थे जिनके इस्तेमाल का अवसर ही नहीं आया था। वह पराजित भाव से गांव लौट रहा था। बेशक यह पराजित था लेकिन अभी उसने हार नहीं मानी थी। उसे उम्मीद है कि अभी तो और भी दिन बाकी हैं, तब और भी मुर्गे होंगे और नई बाजी होगी।

गायक - एक उद्देश्य के साथ

पुडुकोट्टई, (तमिलनाडु): एक है अध्यापक और दूसरा जीवन बीमा निगम का अधिकारी। दोनों पुरुष हैं और दोनों की उम्र सैंतीस वर्ष है। अब इसमें कोई खास बात तो है नहीं। लेकिन जयचंदन और मुथु भास्करन में कुछ खास है। शहर हो या गांव-इस तरह की जोड़ी को असाधारण ही कहेंगे।

दोनों स्वतंत्र गीतकार हैं। दोनों तमिल में बेहद लोकप्रिय गीत लिखते हैं। प्रायः वे अपने गीत खासतौर से महिलाओं को लक्ष्य कर लिखते हैं-जिन्हें महिलाओं से एक अपील होती है कि वे अपने अधिकारों के लिए उठ खड़ी हों, विद्रोह करें। इन गीतों में औरतों से कहा जाता है कि वे अपनी क्षमताओं को समझें और साबित कर दें कि वे क्षमता की दृष्टि से पुरुषों के मुकाबले अगर अधिक नहीं तो एक इंच भी कम नहीं है। बेशक उन्होंने अन्य विषयों पर भी गीत लिखे हैं पर तमिलनाडु के इस अपेक्षाकृत कम शहरी बने जिले की महिलाओं ने इनके गीतों के प्रति जो उत्साह दिखाया है, वह आश्चर्यजनक है।

और सचमुच उनके गीतों में बहुत दम है। 'कभी उनकी बातों के जाल में न फंसा जो कहते हैं कि यह महिलाओं के लिए असंभव है।' जयचंदन की एक पंक्ति के भाव देखिए-'इन भ्रमों को तोड़ दो...तुम्हें जिन अत्याचारों से वे धमकाते हैं, उन्हें आग में झोंक दो। पंख काट कर कैद की गई किसी चिड़ियां की तरह, समाज ने तुम्हें घर की चारदीवारी में गुलाम बना रहता है। अब उमड़ते तूफान की तरह बाहर आ जाओ।'

मुथु भास्करन के गीत, 'ओ बहना, सीख चलाना साइकिल घूम समय के पहिए के संग' की लोकप्रियता का तो कोई जबाव ही नहीं। ऐसी कोई भी नव साक्षर या नई-नई साइकिल चलाना सीखने वाली महिला नहीं होगी जिसने इस गीत को न गाया हो या इस गीत के बारे में न सुना हो। नमूने के तौर पर एक पंक्ति का भावार्थ देखिए-'पुरुष चलाते हैं साइकिल पीछे बैठाकर औरतों को? अब यह गए जमाने की बात हुई। बहना, आओ हम नई कहानी लिखें और आप बैठो साइकिल की गद्दी पर। एक ऐसे जिले में जहां महिलाओं ने साक्षरता अभियान के अंग के रूप में बहुत बड़ी तादाद में साइकिल चलाना भी सीखा, इस गाने की लोकप्रियता और इसके प्रभाव का अनुमान लगाया जा सकता है। लेकिन यह गीत पुडुकोट्टई तक ही सीमित नहीं रह गया है-हिंदी, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम में भी इस गीत का अनुवाद हुआ है।"

जयचंदन के भी गीत एक से अधिक भाषाओं में गाए जाते हैं। इन दोनों कवियों

की ख्याति इस अनजान और पिछड़े जिले की सीमा से बाहर फैल चुकी है। जयचंदन का एक अजीब छद्मनाम है–'वेत्री निलंवन' जिसका अर्थ है 'विजय का चांद'। मैं अंतिम बार जब उससे मिला तो वह तुरंत कोयंबटूर से लौटा था जहां वह अपने एक गाने की रेकार्डिंग के लिए गया था। यह गाना उस शहर के कपड़ा मजदूरों को ध्यान में रखते हुए साक्षरता के समर्थन में लिखा गया था। अन्य विषयों पर भी उनके गीत हैं। उनके शराब विरोधी गीतों का शीर्षक है–'एक बार फिर मानव समुदाय'। इसका नामक एक ऐसा शराबी है जो अब सुधर गया है।

साक्षरता संबंधी गानों में कहीं भी क ख ग नहीं है: 'चीजें हमारे कहने भर से नहीं बदलती जाएंगे...हमें अनेक पढ़ना...'। एक दूसरे गीत के भाव हैं–'वे शक्तिशाली हाथ, जो जोतते हैं खेत और उखाड़ते हैं जंगली झाड़–पात, अब उठाते हैं प्रकाश–ज्ञान का प्रकाश... और दूर कर देते हैं निरक्षरता का अधिकार... बदलो अपनी जिंदगी...अगर हमें आता हो लिखना पढ़ना, कोई हमें नहीं अब ठग पाएगा।

मादा भ्रूण हत्या की खबरों से विचलित होकर जयचंदन ने लिखा...'अगर पैदा होती है लड़की तो क्या हुआ क्या कोई दुनिया है औरतें के बगैर? मुझ जबाव दो।'

बेशक इनके गीत तमिल में बहुत ही लोकप्रिय हैं और वजनदार भी। दोनों ने मिलकर पचास से भी अधिक गीत लिखे हैं। ये गीत साक्षरता पर, अरक के विरूद्ध, महिलाओं के अधिकारों को बढ़ावा देने के लिए तथा विज्ञान और वैज्ञानिक चिंतन के पक्ष में लिखे गए हैं और लोग इन्हें सुन रहे हैं। काफी बड़ी तादाद में।

मुथु भास्करन ने मदुरै विश्वविद्यालय से तमिल में एम.ए. किया और वह गवर्नमेंट मॉडल हायर सेकेंडरी स्कूल में अध्यापक है। जयचंदन एक किसान परिवार के हैं। उन्होंने गणित के साथ बीएससी किया और वह जीवन बीमा निगम में काम करते हैं। उनकी सोच में बदलाव कैसे आया? इस सिलसिले में दोनों ने 'ईस्ट कोस्ट जत्था' में अपने शामिल होने की बात बताई। यह 1980 के दशक के उत्तरार्द्ध में पांडिचेरी में कन्याकुमारी तक की एक यात्रा थी। जयचंदन ने बताया कि वैज्ञानिक साक्षरता अभियान के संपर्क में आने का यह मेरा पहला अवसर था।

इन दोनों गीतकारों को तमिलनाडु साइंस फोरम और प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन के अपने संपर्क से काफी लाभ मिला। यह दोनों लोग इन संस्थानों के कार्यों से तथा साक्षरता आंदोलन के इनके प्रयासों से बहुत ज्यादा प्रभावित हुए। मुथु भास्करन ने बताया कि हमारे अपने जिले अरीबोली इयक्कम् में मैंने खुद अपने अंदर आए परिवर्तनों पर और समाज द्वारा किए गए मेरे परिवर्तन पर गौर किया। मैंने सोचा कि मुझे समाज को बदलने की कोशिश करनी चाहिए। अरीबोली के अपने अनुभव से पूर्व उन्होंने बताया–पहले मैं औरतों के बारे में वही पुराना दृष्टिकोण अपनाता था कि वे कभी बाहर नहीं आ सकतीं और वे कुछ नहीं कर सकतीं। लेकिन अरीबोली में मुझे कुछ अलग ही अनुभव हुआ। मुझे लगा कि अगर इन्हें अक्सर दिया जाए तो कोई भी लक्ष्य ऐसा नहीं

है जिसे वे हासिल न कर सकें।

पुरुषों पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है। जब महिलाओं से कहा जाता है कि वे पुरुषों की धूर्तता को समझें। 'पुरुष ही क्यों?' मुथु भास्करन हंस पड़े उन्होंने कहा कि एक हद तक पुरुषों की ओर से असयोग तो रहता ही है लेकिन कुछ बूढ़ी औरतें भी पूरे मामले को घोटाला बना देती हैं। फिर भी 15–25 आयु वर्ग की लड़कियों के समूह इन गीतों को बड़ी तेजी से अपना लेते हैं।

क्या कभी किसी ने पीछे मुड़कर यह देखने की कोशिश की कि घटनाओं ने उनके गीतों में से एक गीत को सच कर दिया है। मुथु भास्करन ने जबाव में कहा–हां, मैंने उस समय महसूस किया जब मैंने देखा कि अम्बेडकर नगर के एक गांव में रात के अंधेरे में आठ–नौ साल की एक हरिजन लड़की साइकिल पर बैठकर गोल–गोल चक्कर काट रही है। फिर मैंने अपने एक पुराने गीत के दूसरे भाग के रूप में उसी समय दूसरा गीत लिखा जिसका भावार्थ है–'हां, मैंने भी सीख ली साइकिल। मैंने अब चल रही हूं समय के साथ...'

एक ईमानदार चौकीदार वालिया

पेटलावार्ड, झाबुआ (म.प्र.): "मेरी नीति तो बड़ी साफ है। मुझे हीरो बनने के लिए पैसा नहीं दिया जाता। हमें जिस चीज के लिए पैसा दिया जाता है उसके लिए कुछ करने की जरूरत ही नहीं। फिर भी मैं अपनी तरफ से कोशिश जारी रखता हूं और इस बात का ध्यान रखता हूं कि गांव में लोगों के बीच कोई मुठभेड़ हो तो उसे रोक सकूं। मैं पूरी कोशिश करता हूं। क्या हम अपनी गरदन उन कामों में फंसा दें जिन्हें करने के लिए पुलिस को पैसे दिये जाते हैं लेकिन वह करती नहीं है। रात का झगड़ा, सुबह जाएंगे। इसके बाद हम शुरू हो जाते हैं।

वालिया देवाकटारा राज्य के शक्तिशाली तंत्र का सबसे छोटा पुर्जा है। उसे वेतन राजस्व विभाग से मिलता है लेकिन नौकरी पुलिस की बजानी पड़ती है। पटवारी उसका बोस होता है। वालिया गांव का चौकीदार है जिसे कोतवार भी कहते हैं। अधिकारियों का कहना है कि भारत में पुलिस विभाग की वह सबसे छोटी इकाई है। लेकिन इस वर्णन को वह पसंद नहीं करता। वह खुद को पुलिस विभाग से अलग दिखाना चाहता है और निश्चय ही वालिया एक भला आदमी है। भील जनजाति के इस व्यक्ति का रेकार्ड बहुत अच्छा है खासतौर से गांव के अंदर होने वाले झगड़ों को रोकने में और वह भी ऐसी जगह जहां अपराध की दर काफी ऊंची है और बात-बात में जहां लोग हिंसा का सहारा ले लेते हैं।

गांव का चौकीदार एक ऐसा प्राणी है जिसकी तनख्वाह सबसे कम है और जिसके बारे में राज्य के कर्णधार बहुत कम सोचते हैं। हो सकता है कि उसके वेतन का भुगतान भी नकद राशि के रूप में न होती हो। हो सकता है सरकार उसे कुछ एकड़ जमीन दे दे और कहे कि इसी पर खेती करो और अपना परिवार चलाओ। लेकिन यह जमीन भी उसके पास उसी समय तक रह सकती है जब तक उसकी नौकरी है। रिटायर होने के बाद वह जमीन सरकार के पास वापस चली जाएगी। उसे न तो कोई पेंशन मिलती है और न भविष्यनिधि में उसका कोई पैसा जमा होता है। उसे बस दर्दी मिलती है-एक कमीज और एक टोपी। अगर सरकार थोड़ी उदार हुई तो हो सकता है कि उसे एक जोड़ी जूते भी मिल जाएं। तब तक वालिया ने अपने साथ के कोतवारों के विद्रोह का नेतृत्व नहीं किया, जिन कोतवारों को सरकार ने जमीन दी थी उन्हें वेतन के रूप में महज 18 रुपए प्रतिमाह मिलते थे जबकि अन्य लोगों को 40 रुपए के करीब मिलते थे।

काम की ऐसी स्थितियों और लगातार किये जा रहे दुर्व्यवहार से तंग आकर उसने अबसे बारह वर्ष पूर्व जिला कोतवार यूनियन का गठन किया। यह संभवतः अपने किस्म का पहला संगठन था। सभी कोतवारों ने इसकी सदस्यता नहीं ली लेकिन अनेक इसमें शामिल हुए। तमाम विषम परिस्थितियों के बीच उनहें संघर्ष करना पड़ा और संघर्ष की एक प्रवृत्ति शुरू हुई। अन्य जिलों में भी चौकीदारों ने अपनी-अपनी यूनियनें बनाईं। इसके बाद संयुक्त कार्रवाई का दौर शुरू हुआ। इन सब का नतीजा यह हुआ कि अब अगर कोई कोतवार जमीन नहीं लेता है तो उसे वेतन के रूप में प्रतिमाह पांच सौ रुपए मिलते हैं। यह कामयाबी पांच वर्ष पूर्व मिली।

इतनी सफलता पाने के लिए भी लड़ाई के कई दौर चले। वालिया ने बताया कि पहले इन लोगों ने 40 रुपए से तनख्वाह बढ़ाकर 50 रुपए की, फिर 100 रुपए और अंत में पांच सौ रुपए। यहां तक पहुंचने के लिए कई साल लग गए। काम की अन्य स्थितियों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ अगर मध्य प्रदेश में लागू दैनिक न्यूनतम मजदूरी भी इन्हें दी जाए तो कोतवारों की तनख्वाह प्रति माह कम से कम नौ सौ रुपए होगी। पढ़े-लिखे कोतवारों में अधिक से अधिक कक्षा आठ तक की पढ़ाई पूरी करने वाले ही मिले। वालिया ने कोई स्कूली शिक्षा नहीं हासिल की है।

चौकीदारों को संगठित करना आसान काम नहीं था। आज भी यह आसान काम नहीं है। एक कोतवार ने बताया कि हमारे काम की प्रकृति ऐसी है जिसमें हममें से प्रत्येक व्यक्ति उस गांव में ही फंसा रह जाता है जहां चौकीदारी करता है। फिर आपका जो सबसे नजदीकी दोस्त है वह किसी दूसरे गांव में है। इसलिए जब कोई कोतवार अपने गांव वापस जाता है तो वह बहुत कटा-कटा सा होता है और अपने मालिकों की दया पर उसे निर्भर रहना पड़ता है। लेकिन इस काम में लगातार जुटे रहने का नतीजा सामने आया। कोतवारों ने अफसरों के उन प्रयासों का मुकाबला किया जिनमें इनके आंदोलन को कमजोर करने की साजिश थी। कोतवारों ने इंदौर में रैली की और दो बार भोपाल में जुलूस निंकाला। वालिया ने बताया कि इंदौर में हमारी मुलाकात सीटू के नेताओं से हुई जिन्होंने पहले हमारी यूनियनों को संगठित करने में मदद पहुंचाई और बाद में हमारे आंदोलन को भी उनसे मदद मिली। इतना सब होने के बाद हम प्रतिमाह पांच सौ तक पहुंच सके।

मेरी मुलाकात वालिया से पेटलावार्ड ब्लॉक के मुख्यालय में पहली बार हुई थी। यह मुख्यालय बामनिया से थोड़ी दूरी पर है। झाबुआ जिले के अन्य हिस्सों के कोतवारों से भी मेरी मुलाकात हुई। झोवाट में एक गांव के कोतवार ने मुझसे कहा-वालिया? वह तो बेहद ईमानदार आदमी है। मैं समझता हूं कि बेहतर ढंग से सौदेबाजी करने के लिए कुछ और मजबूत होने की जरूरत है।" लेकिन वह वालिया की इज्जत करता था। उसने बताया कि वालिया ने सबसे पहले सरकार को बताया कि इन लोगों की मदद से वह क्या कर सकता है।

वालिया को जब मैंने इन सारी बातों के बारे में बताया तो उसे बहुत आश्चर्य हुआ। उसने हंसते हुए कहा कि यह सब जानने के लिए आपको बस यह देखना होगा कि हमें किस तरह की जमीनें दी गई हैं। उसके नौ सदस्यों वाले परिवार के पास अपनी पांच एकड़ जमीन है। ठांडला ब्लॉक में गिरिधर देव नाम के एक दूसरे चौकीदार ने मुझसे कहा–वालिया कम से कम इस बात की कोशिश तो करता ही है कि अलग–अलग समूहों के बीच लड़ाई–झगड़े न हों। हममें से अधिकांश इस तरह की मूर्खता नहीं करना चाहते। खासतौर से ऐसे समय जब कोई संघर्ष होने वाला हो। ऐसी हालत में क्या जरूरत है कि कोई गांव जाए और दोनों पक्षों का निशाना बने। जब तक आपको भरोसा न हो कि आप अच्छी तरह इस्तेमाल कर पाएंगे तब तक लाठी भांजने की जरूरत नहीं है। पेटला वार्ड गांव के चौकीदार बाबूलाल इस बात से सहमत थे–"एक बार मैंने उन लोगों को (यानी गांव के कबीलों को) लड़ाई की तैयारी करते हुए देखा यह तब की बात है जब मैं पास के गांव में अपने रिश्तेदारों से मिलने गया था।

हो सकता है वालिया के काम करने का तरीका यह न हो। लेकिन दूसरों की बातों में भी काफी दम है। खुद वालिया भी इसे मानता है। कोतवार का काम जन्म और मृत्यु के रजिस्टार में प्रविष्टियां भरना ही नहीं है। उसका काम और भी कुछ है–आधा पुलिस जैसा काम है। उसका यह भी काम है कि अगर गांव में कोई नया अथवा संदिग्ध चेहरा दिखाई देता है तो वह थाने को इसकी इत्तला करे। वालिया ने बताया कि गांव के लोग चौकीदार को पुलिस के एजेंट की तरह देखते हैं। दूसरी तरफ पुलिस की निगाह में उसकी वफादारी गांव के कबीलों के साथ है। यही वजह है कि उस पर दोनों ओर से मार पड़ सकती है और कभी–कभी ऐसा होता भी है।

लड़ाई का माहौल अगर बन रहा हो तो क्या करना चाहिए–इस बारे में वालिया का तरीका बहुत साफ है। उसने एक घटना का जिक्र किया और बताया कि इसी सप्ताह उसके गांव में दो गुटों के बीच झगड़ा हो गया। मैं दोनों गुटों के लोगों से एक साथ मिला। (हालांकि कुछ देर बाद यह असंभव हो जाता।) मैंने बहुत कोशिश की कि दोनों पक्षों के बीच कोई समझौता हो जाए लेकिन मुझे इसमें सफलता नहीं मिली। जब यह संभव नहीं हुआ तो मैं पुलिस थाना गया। लेकिन अपने साथ दोनों गुटों के लोगों को भी ले गया। थाने में उन लोगों ने अपने झगड़े के मुद्दे को रखा। मैंने उस सारे विवाद से बाहर था। यहां एक चीज महत्वपूर्ण है कि जब भी आप इस तरह का कोई प्रयास करें तो दोनों पक्षों की मौजूदगी में करें। वालिया के इस तरीके के पीछे एक खास बात है जिसे हो सकता है कि वह खुद न समझता हो। वह जो भी प्रयास कर रहा होता है उसमें एक खास तरह की पारदर्शिता होती है जिसे राज्य के सर्वोच्च अधिकारी सिद्धांत रूप में तो चाहते हैं पर व्यवहार में कर नहीं पाते।

जब मैंने यह बात वालिया को बताई तो उसने कहा कि हमारे स्तर पर ईमानदार होना मजबूरी है। इस बात की आशंका बहुत ज्यादा रहती है कि अगर लोगों को यह महसूस हुआ कि उनके साथ धोखा किया जा रहा है तो वे आपको पीट दें। या आपके खिलाफ जबर्दस्त हिंसा का सहारा लें। (अलीराजपुर नगर के जेल अधिकारियों का कहना है कि झाबुआ में हत्या की दर पूरे देश में सबसे ज्यादा है।) अब होता क्या है कि कोई न कोई एक पक्ष मेरे ऊपर नाराज हो जाएगा। इसलिए मैं अपनी तरफ से पूरी कोशिश करता हूं कि मेरी भूमिका के बारे में लोगों के दिमाग में कोई संदेह न रहे।

उसने बताया कि चौकीदारों के बीच भ्रष्टाचार है। जिस तरह का काम वे करते हैं उसमें क्या यह संभव नहीं है? कुछ कोतवार पुलिस के साथ खड़े होकर अपनी सुरक्षा का इंतजाम कर लेते हैं और गांव वालों को डराते धमकाते हैं। उसने कहा कि तो भी इस बात को याद रखिए कि यह भीलों का इलाका है। अगर आप पैसे ले लें और उसके एवज में काम न करें तो आप अपने को बहुत बड़ी मुसीबत में डाल रहे हैं। क्या थोड़ा अतिरिक्त पैसा आपकी जान से भी ज्यादा कीमती है?

यही एकमात्र समस्या नहीं है। गिरिधर देव ने इस 'सबसे छोटे जानवर' की अन्य मुसीबतों का भी जिक्र किया। उन्होंने कहा कि पटवारी हमारे साथ बहुत दुर्व्यवहार करता है। तहसीलदार और उसके कर्मचारियों का भी व्यवहार बहुत बुरा है। एसडीओ हमें लगातार डराता–धमकाता है।

बाबूलाल ने बताया कि पिछले सप्ताह यहां नया तहसीलदार आया। मुझे आदेश दिया कि मैं जाकर कहीं से एक मुर्गा लाऊं और उसके लिए उसे पकाऊं। मैंने ऐसा ही किया। मैं हर तरह से उसकी खातिरदारी करता रहा। हमारे लिए काम के कोई घंटे तय नहीं है। कोई भी छोटा से छोटा अफसर अगर आ जाता है तो चौबीसों घंटे के लिए हम वहां तैनात कर दिए जाते हैं। बाद में वे मुर्गे के लिए 15 रुपए फेंक देते हैं जबकी उसकी कीमत कम से कम 50 रुपए होती है। जिस आदमी से मैंने मुर्गा लिया था वह बहुत गुस्सैल है। मैं उससे यह सारा किस्सा कैसे बताता। अब वह मुझसे नफरत करता है और किसी दिन मुझसे वह इसका बदला लेगा।

जिन अनेक कोतवारों से मैं मिला उन सबकी शिकायत इसी तरह की थी। उनका अधिकांश समय इन छोटे अफसरों की सनक पूरी करने में बीत जाता है। कोतवारों की गुलामी से अगर यह छोटे अफसर खुश नहीं हुए तो आप जानते हैं कि क्या होगा? इसके बाद पटवारी हमें मुअत्तल कर देगा। जो भी हो पटवारी लोग हमें अकसर मुअत्तल करते रहते हैं। वालिया के साथ भी ऐसा हो चुका है और यह एक से अधिक बार हुआ है। इससे ज्यादा वे कर भी नहीं सकते। सारी खामियों के अंत में हमें ही बलि का बकरा बनाया जाता है।

एक कोतवार ने बताया कि जब हालात बुरे होते हैं तो हमसे यह अपेक्षा की जाती है कि जिस समय रात में पुलिस गश्त लगा रही हो, हम उनकी मदद करें। वैसे वे आते कभी नहीं लेकिन आपको गश्त लगानी पड़ती है। अगर वे कभी आ भी गए तो ऐसे समय आते हैं जब कोई खतरा न हो और आने के साथ ही हमारे ऊपर हुक्म चलाना शुरू कर देते हैं। सारा जोखिम हमारे मत्थे होता है।

वालिया ने कहा कि अब वह बूढ़ा हो रहा है (उसकी उम्र 50 से ऊपर है) उसका कहना है कि किसी युवा व्यक्ति को अब यह जिम्मेदारी ले लेनी चाहिए। हम बहुत परेशान हैं। उसकी थकान और काम करने के तरीके से पैदा सिरदर्द ने हाल के वर्षों में यूनियनों के लिए अनेक समस्याएं खड़ी कर दी हैं। दरअसल वालिया ने कोतवार के पद से इस्तीफा दे दिया है। इसके जबाव में पटवारी ने उसके नाम एक बहुत कड़ा पत्र लिखा जिसमें कहा गया था कि या तो कुछ घंटों के अंदर वह खुद को पेश करे अथवा नौकरी से हटाए जाने की स्थिति को झेलने के लिए तैयार रहे। ऐसा उससे कह तो दिया गया लेकिन जब उसने इस्तीफा दिया तो पटवारी ने इस्तीफे को स्वीकार नहीं किया। वालिया का कहना है कि उन्होंने मजाक बना लिया है। साल में वे तीन बार मुझे नौकरी से निकालते हैं लेकिन अंततः जाने नहीं देते। आखिर इतने खतरनाक कामों के लिए उन्हें इतने सस्ते मजदूर मिलेंगे कहां?

टिप्पणी : इस रिपोर्ट में वालिया के अलावा दिए गए अन्य कोतवारों के सही नाम नहीं है। उनके गांवों के नामों को भी छुपा दिया गया है। जैसा कि उन्होंने कहा था–'अफसरों के पास यह तरीका है वे *सबसे छोटे जानवर* तक कैसे पहुंचें और उन्हें नुकसान पहुंचाएं।'

लेखक का गांव

मेलनमराईनाडु, कामराजार (तमिलनाडु): जब वह पांचवीं कक्षा में था तभी उसने पढ़ाई छोड़ दी। अब उसकी लिखी कुछ कहानियां विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में शामिल है। मेलनमाई पुन्नुस्वामी की कहानियों में विडंबना का प्रमुख स्थान है और उसके जीवन में भी इसे विडंबना ही कहेंगे कि उसकी कहानियां अन्य जिलों में विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाती है। उसका नाम प्रिय जिला रामनाड एक ऐसा जिला है जहां कोई विश्वविद्यालय है ही नहीं।

मैंने सबसे पहले उसे पुडुकोट्टई में देखा जहां एक शाम खचाखच भरे हॉल में वह भाषण दे रहा था। उसके सामने एक मेज थी और उस पर थोड़ा झुकते हुए उसने श्रोताओं को बताया कि खाड़ी युद्ध का नाटकीय प्रभाव किस तरह उसके छोटे से गांव रामनाड पर पड़ रहा है। वहां के कुछ किसानों ने सोचा था कि उन्होंने ट्रैक्टर लेकर अब आधुनिकीकरण का कार्य संपन्न कर लिया है। इसके बाद युद्ध शुरू हुआ। युद्ध के कारण पेट्रोल, डीजल और ट्रैक्टर के आयात किए जाने वाले हिस्से–पुर्जों की कीमतों में जो बढ़ोत्तरी हुई उसने इनकी योजनाओं को ध्वस्त कर दिया।

इसी दौरान हाल की बिजली चली गई। पुन्नुस्वामी एक क्षण के लिए भी नहीं रुका। वह मेज पर चढ़ गया और भाषण देता रहा। शुरू में थोड़ा शोरगुल हुआ लेकिन भाषण जारी रहा और फिर उस अंधेरे में लोग चुपचाप बैठे भाषण सुनते रहे।

यह एक महीने पहले की बात है। अब उम्मीद है कि एक बार फिर हम लोगों की अंधेरे में ही मुलाकात होगी। हमने उसके सुनसान गांव की तलाश में घंटों गुजार दिये और जब उस गांव को ढूंढ पाए उस समय रात के लगभग दो बजे थे। रास्ते में मेरे पैर में चोट भी लग गई और बहुत तेज दर्द मैं महसूस कर रहा हूं। उस अंधेरी रात में कुत्तों के भोंकने की आवाज मीलों दूर से सुनाई पड़ रही है और इतनी रात में उसे जगाने के लिए हम उससे माफी मांग रहे हैं।

हमें देखकर उसे बहुत आश्चर्य हुआ। उसने सवाल किया कि क्या यही समय बातचीत के लिए आप लोगों को सबसे सुहाना लगा? कुछ क्षणों के बाद हम बहुत गहरे दोस्त हो चुके थे।

अत्यंत सम्मानित लेखक होने के अलावा पुन्नुस्वामी एक मायने में इस जिले के पिछड़ेपन के कारणों के भी विशेषज्ञ है। उनका छोटा गांव मिलनमराईनाडु रामनाड जिले के विभाजन के बाद अब कमराजार जिले में है। यहां से एक अपनी अंर्तदृष्टि की

मदद से समझते रहते हैं कि आखिर क्यों रामनाड में कोई बदलाव नहीं आया। पिछली 21 वर्षों के दौरान उन्होंने जो भी कहानी लिखी वह या तो रामनाड के बारे में है या उसकी कथाभूमि रामनाड है।

उन्हें कल्कि पुरस्कार मिल चुका है और वह प्रगतिशील लेखक संघ के एक महत्वपूर्ण सदस्य है फिर भी शहर से दूर इस गांव में ही रहना वह पसंद करते हैं। आप क्यों नहीं किसी बड़े शहर में जाकर रहते हैं। इस सवाल के जवाब में उन्होंने कहा कि इससे मेरे लेखन की निष्ठा पर आंच आएगी। इसीलिए वह मिलनमराईनाडु में रहना पसंद करते हैं। यहां पहुंचना इतना कठिन है कि मैं मिलने के नियत समय से छह घंटे देर से पहुंचा। पुन्नुस्वामी ने कहा–ऐसा लगता है कि आप रामनाड की गरीबी के विशेषज्ञ के रूप में मुझे इंटरव्यू करना चाहते हैं, न कि एक लेखन के रूप में।

उन्होंने आगे बताया–रामनाडपुरम् जिले की स्थापना 1910 में हुई। आज तक इसके पास अपना कोई विश्वविद्यालय नहीं है। इसने अब तक तक तीन जिलों और दो मंत्रियों को जन्म दिया है लेकिन एक भी मेडिकल कॉलेज नहीं पैदा कर सका। इसके अलावा यहां कोई भी सरकारी इंजीनियरिंग कॉलेज नहीं है जो प्राइवेट इंजीनियरिंग इंस्टीट्यूट है भी वह शायद इस वर्ष बंद कर दिया जाए। नये जिले में महज तीन कॉलेज है और इनमें से केवल दो विषयों में स्नातकोत्तर की पढ़ाई होती है।

पुन्नुस्वामी ने कहा कि पिछड़ापन अपने ढंग की एक खास मानसिकता भी तैयार करता है। रामनाड में शायद ही कभी किसी ने विश्वविद्यालय की मांग की हो। अभी हाल में कुछ राजनीतिक पार्टियां इस बारे में बोलना शुरू किया है। बुनियादी शिक्षा तक ही सीमित रखने का सिलसिला लगता है अभी कुछ पीढ़ियों तक चलता रहेगा।

रामनाड के लोगों के लिए मांगों और प्रतिवेदनों का सहारा लेना आसान काम नहीं है। 83 वर्षों तक इसका जिला मुख्यालय एक दूसरे जिले मदुरै में स्थित था। यहां तक कि हमारी अदालतें भी अभी छह महीने पहले तक वहीं थीं। 1985 में रामनाड का बंटवारा किया गया और अब तीन जिले बना दिये गए लेकिन इनसे हालात में कोई तब्दीली नहीं आयी।

पुन्नुस्वामी खुद को वामपंथी विचारों का मानते हैं उनका कहना है कि ऐसी स्थिति इसलिए है क्योंकि प्रशासन ने हमेशा जनता से एक दूरी बनाकर रखी। अफसर लोग यहां से इतनी दूर है कि उनको स्थानीय मुद्दों की कोई जानकारी ही नहीं है। वे इस इलाके की जटिलता को नहीं समझ सकते। अब हमारे पास अदालतें हैं, कलक्ट्रेट है और अन्य ढांचा है। तो भी पुराना ढांचा बना हुआ है। क्योंकि बुनियादी मुद्दों पर अभी ध्यान नहीं दिया गया।

आय के मामले में यह जिला राज्य में निचले स्तर पर है। देखा जाए तो तमिलनाडु के शेष हिस्सों के मुकाबले यह इस क्षेत्र में बीस प्रतिशत पीछे है। पुन्नुस्वामी ने बताया कि यह पुराने जमींदारों वाला इलाका है। यहां अनेक छोटी–छोटी रिसायतें थीं

जो जाति के आधार पर अपना काम चलाती थीं। इस इलाके को देखने से यह पता चलेगा कि किसी क्षेत्र के पिछड़े होने के पीछे जाति का कितना बड़ा हाथ होता है।

ब्रिटिश शासनकाल ने भी उस तरह की जीवन पद्धति का कोई समाधान नहीं ढूंढा। इसने रोजगार और आय के उन रास्तों को बंद ही कर दिया जो छोटे पैमाने पर ही सही यहां मौजूद थे। इसका नतीजा यह हुआ कि काफी लोग गैरकानूनी गतिविधियों में लग गए। उनके पास आजीविका का कोई साधन बचा ही नहीं। आज भी रामनाड में जाति आधारित हिंसा और अपराध बहुत ज्यादा है।

यहां भूमि सुधार के जो कार्यक्रम लिए गए वे भी बेनामी थे। आमधारणा के विपरीत इस जिले में खेती की संभावनाएं अपार हैं। लेकिन किसी ने इस दिशा में प्रयास नहीं किया। 80 प्रतिशत से ज्यादा जोत यहां ऐसी है जो आकार में दो एकड़ से भी कम है और अनेक कारणों से वह आर्थिक दृष्टि से लाभदायक नहीं है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यहां सिंचाई की कोई सुविधा नहीं है।

रोजगार और रोजगार की प्रकृति मनुष्य के चरित्र को ढालने में बहुत बड़ी भूमिका निभाती है। अगर आपके यहां सीमेंट का कारखाना है तो आप महज सीमेंट नहीं पाते बल्कि नौकरी भी पाते है–एक खास तरह की। लेकिन इसके लिए पहली जरूरत यह है कि आप इस तरह का कारखाना स्थापित करने के लिए कोई स्थान ढूंढे और संसाधनों की व्यवस्था करें। रामनाड के संसाधनों की वास्तविक पैमाइश कभी हुई ही नहीं। इस बात की भी कभी कोशिश नहीं की गई कि ऐसे रोजगार के अवसर पैदा किये जाएं जो टिकाऊ हों।

पुन्नुस्वामी का कहना सही है। रामनाड में संभवतः समूचे साल में आर्थिक तौर पर सक्रिय आबादी का अनुपात सबसे कम है–40 प्रतिशत से भी कम। इसका अर्थ यह हुआ कि यहां की आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा अधिकांश महीनों में तरह–तरह के काम करके किसी तरह अपनी जीविका चलाता है। एक तरफ तो जल संसाधनों के न होने से खेती नष्ट हो चुकी है और दूसरी तरफ किसी भी तरह का औद्योगिक विकास नहीं है। संक्षेप में कहें तो कहीं भी सचेत ढंग से पैदा किया गया रोजगार नहीं है। प्रति मजदूर उत्पादकता की दर राज्य की औसत दर से लगभग बीस प्रतिशत कम है।

रामनाड में हमेशा से ऐसे लोग की संख्या ज्यादा रही है जो आर्थिक तौर से कमजोर वर्गों से आते हैं। यहां की आबादी में अनुसूचित जातियों और जनजातियों की संख्या लगभग बीस प्रतिशत है। इसके अलावा पिछड़ी जातियां भी इस जिले में काफी अनुपात में है। वैसे तो बेरोजगारी का स्तर समूचे राज्य में बहुत बुरा है लेकिन इन वर्गों में तो यह सबसे ज्यादा है। 'हमारे जिले में कुछ अत्यंत शोषणकारी संबंध भी देखे जा सकते हैं।'

पुन्नुस्वामी ने जो वृतांत तैयार किया है वह बहुत विविध है। इसमें यहां के अनोखे सूदखोर महाजनों की तिकड़मों से लेकर मिर्च की खेती करने वाले किसानों का

दर्द मिल जाएगा। आप देखेंगे कि यह इलाका बार–बार सूखे की चपेट में आता है, आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा लम्बे समय तक एक दूसरे इलाकों में काम करने चला जाता है और बेरोजगारी के कारण लोगों के जीवन को बुरी तरह प्रभावित होते भी आप देखेंगे। अपने उस छोटे से गांव में बैठकर अपनी अंतर्दृष्टि की मदद से उन्होंने जो विवरण तैयार किया है वह चौंका देने वाला है। उसे देखकर ऐसा लगता है कि सर्वोत्तम शोध करने के बाद कोई रिपोर्ट तैयार की गई है।

पुन्नुस्वामी ने बताया कि मिर्च की खेती करने वाले किसान बीजों की नई किस्मों का इस्तेमाल कर रहे हैं। मुझे यह नहीं पता कि यह बीज कहां से आए हैं लेकिन इनके कारण किसानों की अर्थव्यवस्था में विकृति आ रही है। हो सकता है कि इन बीजों से अस्थाई तौर पर काफी फसल पैदा हो जाए। लेकिन वे किसानों को इस बात के लिए भी मजबूर करते हैं कि वे उर्वरकों तथा कृषि रसायनों पर ज्यादा से ज्यादा पैसा खर्च करें। इन चीजों से खेतों की उत्पादन क्षमता मारी जा रही है। कुछ समय बाद पैदावार में गिरावट आने लगती है। जिन लोगों ने इन बीजों का इस्तेमाल शुरू किया था उनकी उत्पादन लागत अब पहले से बहुत ज्यादा हो गई है।

बावजूद इसके कहानियों के उनके छह संकलनों और उनके एकमात्र उपन्यास में जबर्दस्त आशावाद दिखाई देता है। (उनके एक संकलन का नाम है 'मानवता की जीत होगी') उनका कहना है कि यहां के लोगों के अंदर एक जुझारू चेतना है और वे खुद ही रामनाड की तस्वीर बदल देंगे। लेकिन इससे हमें आत्ममुग्ध होने की जरूरत नहीं है। हमें इसके लिए काम करना होगा। मैं सोचता हूं कि क्या इस बीच वह रामनाड पर ही अपना लेखन जारी रखेंगे?

मुझे अपने लेखन में ईमानदार होना चाहिए। बड़ी सीधी बात है कि अगर मैं अपने गांव के प्रति ईमानदार रहूंगा तो संभव है कि मैं उत्तर प्रदेश के किसी गांव की यथार्थ के लिए कोई प्रासंगिक चीज दे सकूं। सारा कुछ इस पर निर्भर करता है कि किनकी समस्याओं से आपका सरोकार है। ऐसा है न!

पेमा फतिया की कला

भाबड़ा, झाबुआ (म.प्र.): "साहब, हवलदार यहां बैठ जाता था और मेरे कंधे के ऊपर से झांकता रहता था। अब आप ही बताइए कि इस तरह के हालात में कोई चित्रकारी की जा सकती है? वह लगातार बोलता रहता था–'पेमा, अच्छा काम करना नहीं तो बड़ा साहब नाराज हो जाएगा।' क्या पुलिस की निगरानी में कोई काम हो सकता है। उसकी आवाज सुनते ही मेरा हाथ रुक जाता था और डर से कांप उठता था। कई बार मेरे साथ ऐसा ही हुआ।"

उसकी चित्रों की प्रदर्शनी लंदन, रोम तथा विश्व के अन्य शहरों में लगाई जा चुकी है। भोपाल के भारत भवन में उसके चित्र देखने के लिए लोगों को प्रवेश शुल्क देना पड़ता है। उसे दो बार कला के लिए मध्य प्रदेश के राजकीय पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं। उसकी अनेक कलाकृतियां वरिष्ठ सरकारी अधिकारियों की दीवारों की शोभा बढ़ाती है। बावजूद इसके पिथौरा की भील कला का जबर्दस्त चितेरा पेमा फतिया इन दिनों दरिद्रता की जिंदगी गुजार रहा है। इस कलाकार को कुछ ही दिनों पहले लकवा का प्रहार झेलना पड़ा था और भाबड़ा ब्लॉक के भाबरा गांव में अपने घर में पड़ा यह कलाकार अपनी पुरानी ऊर्जा फिर पाने के लिए संघर्ष कर रहा है। लकवे का असर उसी बांह पर पड़ा जिससे वह चित्रकारी करता था।

पिथौरा चित्रकारी अलग–अलग आकारों में हो सकती है लेकिन आमतौर से इनका आकार सामान्य से बड़ा होता है। इसमें कलाकार अधिकांशतः सीधे दीवार पर चित्रकारी करते हैं। पेमा की कुछ कृतियां अत्यंत शानदार भित्त चित्रों का उदाहरण है। पिथौरा चित्रकारी आदिवासी जगत के चित्रों को अंकित करने की कला है। भील जो कुछ भी देखता है अथवा महसूस करता है उसे वह अपने चित्रों में उतार देता है। भीलों की लोककथाओं घोड़ों का महत्वपूर्ण स्थान है। लेकिन ऐसे चित्र भी देखने को मिलते हैं जिनका इनकी लोककथाओं से कोई संबंध नहीं है अथवा बहुत कम संबंध है। मिसाल के तौर पर इनके चित्रों में सूदखोर महाजन अथवा पुलिस थानेदार को आप देख सकते हैं। भील आदिवासियों की जिंदगी के लिए ये दोनों बहुत बड़ी सच्चाइयां हैं। इनके चित्रों में अचानक आपको कोई मोटरसाइकिल अथवा हवाई जहाज भी देखने को मिल सकते हैं। पेमा को अब सर्वश्रेष्ठ कलाकार कह सकते हैं लेकिन किसी भी अर्थ में यह इन कलाकृतियों का एकमात्र प्रतिनिधि नहीं है। इस पूरे इलाके में अनेक ऐसे कलाकार आपको दिखाई पड़ जाएंगे जिनके काम को देखकर आप चमत्कृत रह जाते हैं।

दिल्ली स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स की डॉ. अमिता बाविस्कर का कहना है कि पिथौरा कला पारंपरिक चित्रकला के एक रूप से बढ़कर बहुत कुछ है। डॉ. बाविस्कर एक ऐसी विदूषी है जिन्होंने इस क्षेत्र के विभिन्न समुदायों के बीच काफी काम किया है। उनका कहना है कि पिथौरा कला में एक अनुष्ठान संबंधी संदर्भ दिखाई देता है और यह बेहद धार्मिक है। आमतौर से यह चित्रकारी किसी धार्मिक समारोह अथवा पूजा के एक अंग के रूप में सामने आती है। कहा जाता है कि चित्र बनाते समय संबद्ध कलाकार किसी दैवी शक्ति के वश में होता है। उसी के माध्यम से देवता अपनी बातें कहते हैं। जब यह चित्रकारी पूरी कर ली जाती है तो पूरे काम की जांच पुजारी करता है यह देखने के लिए कि देवताओं ने जो कुछ कहा है उसके सार को चित्र में ग्रहण किया गया है या नहीं। पिथौरा चित्रकारी का आधिकारिक होना इसके पवित्र पात्रों में निहित है।

पेमा का प्रशिक्षण उसके पिता द्वारा किया गया है जिसके बारे में वह एक पंक्ति में बताता है कि यह उसका वंशानुगत पेशा है। जिन चीजों से वह अपने चित्रों की रचना करता है उनका निर्माण भी वह खुद ही करता है। कुछ रंग और खड़िया मिट्टी यह आक्साइडों, खनिजों, फलों अथवा स्थानीय तौर पर उपलब्ध अन्य पदार्थों से तैयार करता है। फिर भी उसे कुछ चीजें खरीदनी पड़ती है।

पेमा के कुछ भित्त चित्रों को देखकर सचमुच बहुत हैरानी होती है। इस सिलसिले में खासतौर से उस कलाकृति का उल्लेख किया जा सकता है जो कपड़े पर बनाई गई है और झाबुआ के कलेक्ट्रेट में लगी हुई है। इसके अलावा अपने क्षेत्र में उसने सीधे दीवारों पर जो परंपरागत चित्रकारी की है वह और भी आकर्षक है। इनमें से एक चित्रकारी आकार में लगभग **80** वर्ग फीट की है। इसके रंग बेहद चमकीले हैं। इसमें उसने मिथकों और दैनंदिन जीवन के तत्वों को पकड़ने की कोशिश की है। इसमें घोड़ों के साथ-साथ कुएं, एक पम्प, सांपों से घिरी एक मोटरबाइक और एक सिपाही है। इसके हरे, लाल, भूरे और सफेद टुकड़ों का जो इस्तेमाल किया है वह सूर्य की किरणों के कोण बदलने के साथ-साथ अलग रूप ग्रहण करती जाती है। इस चित्र में कम से कम ऐसा लगता है कि चित्रकला के देवतागण कुछ बोल रहे हैं।

पेमा ने बताया कि वह काम मैंने तब किया था जब मैं स्वस्थ था और उन दिनों मुझे इस तरह के काम करने में बहुत मजा आता था। यह समझ में नहीं आता कि ऐसा क्यों हो गया कि उसने अपने काम में मजा लेना बंद कर दिया।

अपने समाज से बाहर पेमा की सबसे पहले पहचान बनाने में आर.गोपालकृष्णन की बहुत बड़ी भूमिका है जो **1980** के दशक के मध्य में झाबुआ के कलक्टर थे। उसके चित्रों की खूबियों से आश्चर्य चकित होकर इस अधिकारी ने पेमा को कलक्ट्रेट में एक चित्र बनाने के लिए कहा इसके पारिश्रमिक के रूप में उन्होंने पांच हजार रुपए का भुगतान किया। उन दिनों यह बहुत बड़ी राशि हुआ करती थी और पेमा को भी अपनी जिंदगी में पहली इतनी बड़ी राशि मिली थी। इससे पहले स्थानीय तौर पर अपने चित्रों के लिए उसे कभी-कभी मामूली सी रकम मिल जाती थी अथवा जो पारिश्रमिक मिलता था वह किसी और रूप में होता था। शायद पहली बार के साथ-साथ झबुआ में इतना अच्छा पारिश्रमिक उसे अंतिम बार मिला भी था।

गोपालकृष्णन ने भोपाल में पेमा के चित्रों के प्रदर्शनी की व्यवस्था की। यहां इस कलाकार को दो राजकीय पुरस्कार मिले। इस घटना ने जे. स्वामीनाथन सहित अनेक प्रमुख कलाकारों का ध्यान आकृष्ट किया। अब पेमा की कृतियां अनेक स्थानों पर प्रदर्शित की जाने लगी हैं। उन दिनों के अपने अनुभव के बारे में पेमा काफी आनंदित होकर बताता है। अपनी दुनिया से बाहर के लोगों में वह बस गोपाल कृष्णन और स्वामीनाथन को बड़े प्यार से याद करता है। हमसे यह जानकार उसे सचमुच बहुत अफसोस हुआ कि स्वामीनाथन अब जीवित नहीं है। शायद स्वामीनाथन के साथ पेमा ने वही संबंध बना लिया था जो किसी कलाकार का किसी दूसरे कलाकार के साथ होता है। अफसरों के बारे में वह बताता है कि गोपाल साहब उसके प्रति बहुत नेक थे।

गोपाल साहब खुद अपने बारे में इतने निश्चय के साथ नहीं कह सकते। वह इन दिनों मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री के सचिव है। उन्होंने बहुत दुख के साथ कहा कि काश उन्हें पता होता कि बाद के दिनों में उसके ऊपर क्या गुजरी। मुझे नहीं पता कि मैं तब क्या करता ? उनका कहना है कि वह व्यक्ति सचमुच एक जीनियस था। मुझे यह उम्मीद नहीं थी कि उसके साथ इस तरह का हादसा हो जाएगा। उनका मुख्य सरोकार इस बात से था कि एक महान कलाकार को वह मान्यता मिले जिसका वह सचमुच हकदार है।

पेमा की समस्याएं तब शुरू हुई जब गोपालकृष्णन ने वह जिला छोड़ दिया अब उसे चारों तरफ से मान्यता तो मिल गई थी लेकिन किसी तरह का संरक्षण नहीं मिला था। काफी बड़ी संख्या में छोटे बड़े अधिकारी उससे जबरन चित्र बनवाने लगे। पेमा ने बताया कि कभी कोई हवलदार उसके पास चला आता था और कहता था कि जल्दी चलो साहब ने बुलाया है। इसके बाद मैं वहां पहुंचता था। वहां कई साहबों के दर्शन होते थे जिनमें एस.पी., डी.एस.पी., एस.डी.एम. और यहां तक कि तहसीलदार भी होते थे और इस प्रकार पेमा फतिया चित्र बनाता था-कभी किसी हवलदार के साथ बैठकर अथवा किसी ऐसे सनकी के सानिध्य में जो लगातार उस पर निगरानी रख रहा हो। उसने यह भी बताया कि कभी-कभी तो उसे कुछ पैसे वे दिए जाते थे और कभी मुझे अपनी जेब से ही पैसे खर्च करके उनके लिए चित्र बनाने पड़ते थे। अब पैमा कुछ ऐसे देवताओं की तस्वीरें बनाने लगा था जिनका स्वरूप खुद उसके देवताओं से भिन्न था।

शीघ्र ही उस पर जरूरत से ज्यादा दबाव पड़ने लगा जिसे बर्दाश्त करना उसके लिए संभव नहीं था। जैसे-जेसे उसकी ख्याति बढ़ती जा रही थी, उसकी मुसीबतें भी उसी अनुपात में बढ़ रही थीं। भोपाल की उसकी मात्रा कुछ इस तरह की होती थी गोया उसे जेल से रिहा किया गया हो। साथ ही उसे कुछ ऐसे चित्र भी बनाने पड़े जिनका

कभी भुगतान ही नहीं हुआ। इसकी वजह यह थी कि गोपालकृष्णन ने हमेशा उसे इस निगाह से देखा जैसे वह भी कोई खास व्यक्ति हो। पैमा एक महान कलाकार था। अन्य अनेक लोगों के लिए वह एक मामूली किसान से बढ़कर कुछ भी नहीं था। बस इतना लोग समझते थे कि वह जो चित्र बना रहा है उसकी अच्छी खासी कीमत है। उन चित्रों को भविष्य में काफी मुनाफे में बेचा जा सकता है। जहां तक पुलिस वालों की बात है वे झाबुआ में उसकी कृतियों को इस तरह देखते थे जैसे वह कोई दीन–हीन आदिवासी हो जो अपने मालिकों की इच्छा के अनुसार चित्र बना रहा हो। गोपालकृष्णन का कहना है कि पेमा की कहानी इस बात का सटीक उदाहरण है कि कैसे एक शहरी अभिजात वर्ग आदिवासी कला से लाभ उठा सकता है। उसकी कृतियां अब अपनी जड़ों से दूर जा चुकी थीं और अपने संदर्भों से अलग–थलग पड़ी थी। उस पर इतना दबाव पड़ा कि धीरे–धीरे उसने शराब का सहारा ले लिया।

अंततः वह पूरी तरह टूट गया। एक बार किसी यात्रा के दौरान वह गिर पड़ा और काफी चोट आई। यह दुर्घटना रात में उस समय हुई जब उसने काफी पी रखी थी। वह याद करते हुए बताता है कि नवंबर 1993 में दिवाली के आस–पास यह दुर्घटना घटी थी। "अगली सुबह जब मैं जगा तो मैंने देखा कि मेरे दाहिने हाथ को लकवा मार गया है। मैं सचमुच दहल गया।" लकवे से उसकी जुबान भी प्रभावित हुई थी। वह तुरंत अपने गांव लौट आया। फिर उसे महसूस हुआ कि अब वह चित्रकारी नहीं कर सकता।

इस दुखद घटना का समाचार सुनने के बाद गोपालकृष्णन ने यह व्यवस्था की कि सरकार उसकी चिकित्सा का खर्च वहन करे। चिकित्सा में 20 हजार रुपए से अधिक का खर्च आया। इस अफसर ने उसके लिए भारत भवन में एक नौकरी की भी व्यवस्था कर दी, लेकिन पेमा ने बताया कि इस हालत में वह कोई नौकरी नहीं कर सकता था।

जिस समय भाबड़ा में मेरी मुलाकात पेमा फतिया से हुई मेरे साथ मिर्जा इस्माइल बेग भी थे। श्री बेग खुद एक कलाकार हैं और वह पहले इंदौर में अध्यापक थे। उन्होंने पेमा की विद्वता के बारे में जो जानकारी दी और जितने सहज ढंग से उसकी कला की उन्होंने व्याख्या की उससे हम सभी हतप्रभ रह गए। जब हमने पेमा का फोटोग्राफ लेना चाहा तो उनकी पत्नी भी बड़े गर्व के साथ पति के बगल में खड़ी हो गई हालांकि उन्होंने अपना घूंघट तब तक ऊपर नहीं उठाया जब तक वेग के बड़े भाई वहां से चले नहीं गए। उन्हें अच्छी तरह पता था कि उनके पति महान कलाकार थे जिनकी ख्याति भाबड़ा से बाहर दूर–दूर तक फैली थी।

एक महीने बाद मैं जब पेमा से मिला तो वह अपने दाहिने हाथ को स्वस्थ बनाने के लिए व्यायाम कर रहा था। उसने बताया कि शायद थोड़े समय बाद यह हाथ काम करने लगे। उसने मेरा हाथ पकड़ लिया और मुझे पास के एक मकान तक ले गया ताकि मैं उस काम को देख सकूं जिसे पूरा करने का वह आजकल प्रयास कर रहा था। उसने

पिथौरा की भील कला का संभवतः सबसे जबर्दस्त चितेरा पेमा फतिया इन दिनों कंगाली की जिंदगी गुजार रहा है। ऊपर पेमा द्वारा एक झोपड़ी के अंदर बनाया भित्ति चित्र है। इसे उसने दाहिने हाथ से बनाया था जिसे कुछ ही दिनों पहले लकवा का प्रहार झेलना पड़ा था।

बताया कि व्यायाम करने से मैं थोड़ी बहुत चित्रकारी भी करने लगा हूं। मैंने गौर किया कि यह पेमा का सर्वोत्तम काम नहीं है लेकिन कम से कम उसने एक नई शुरूआत तो कर ही दी थी। शायद एक दिन ऐसा भी आए जब पेमा फतिया की कला फिर उन्हीं ऊंचाइयों तक पहुंच जाए जहां किसी जमाने में वह पहुंची हुई थी।

तीसरी फसल

पानी की समस्या-वास्तविक और कृत्रिम

इसमें कोई शक नहीं कि देश के सामने आज जो तमाम गंभीर समस्याएं हैं उनमें से एक है सूखा और इसमें भी कोई शक नहीं कि ग्रामीण भारत का जो सबसे ज्यादा विकसित उद्योग है उसका नाम है सूखा राहत। प्रायः दोनों के बीच कोई संबंध नहीं होता। यह राहत उन क्षेत्रों में भी जा सकती है जहां जमकर पानी बरस रहा हो। अगर यह उन इलाकों में जाती भी है जहां सचमुच सूखा पड़ा है तो उन लोगों को शायद ही कोई फायदा होता हो जिन्हें इसकी सबसे ज्यादा जरूरत रहती है। इन क्षेत्रों के गरीब लोग इस बात को अच्छी तरह जानते हैं। इसीलिए कुछ लोग सूखा राहत को तीसरी फसल कहते हैं। बस इस फसल को काटने वाले वे नहीं होते–दूसरे लोग होते हैं।

सूखा राहत का एक बहुत बड़ा हिस्सा उन ठेकों में चला जाता है जिनका संचालन प्राइवेट कंपनियां करती है। इनका काम होता है सड़के बिछाना, कुएं खोदना, पानी के टैंकर भेजना, पुल बनाना, जलाशयों की मरम्मत करना आदि। अब आप सोचिए कि इन सब पर कितना खर्च आएगा। एक बार फिर सोचिए। इस उद्योग के लिए अकेले एक वर्ष में जो पैसा खर्च किया जाता है कि वह इतना अधिक है कि बिहार का चारा घोटाला उसके सामने बौना हो जाए। इसके अलावा बिहार के इस घोटाले की राशि को इतना बड़ा रूप लेने में लगभग डेढ़ दशक लगे। सूखा राहत के घोटाले का सबसे आकर्षक पहलू यह है कि यह आमतौर पर एकदम "कानूनी" होता है। और इसकी एक आत्मा भी है। यह एक नेक काम के लिए खर्च किया जाता है। बस इसके साथ एक ही दुखद पहलू जुड़ा है कि इसका शायद ही सूखा और जल की कमी से संबंधित वास्तविक समस्याओं से कोई सरोकार हो।

अकेले **1994–95** में महाराष्ट्र नामक समृद्ध राज्य ने सूखा तथा पानी से संबंधित अन्य समस्याओं का आपात स्थिति में मुकाबला करने के मद में **1170** करोड़ रुपए खर्च किए। यह राशि देश भर में चाय और काफी, सीमेंट और ऑटोमोबाइल जैसे संगठित क्षेत्र के उद्योगों द्वारा **1993–94** में अर्जित किए गए सम्मिलित मुनाफे से भी ज्यादा है। सेंटर फॉर मॉनिटरिंग द इंडियन इकोनॉमी की एक रिपोर्ट के अनुसार इन उद्योगों को टैक्स काटने के बाद कुल जो मुनाफा हुआ था वह **1149** करोड़ रुपए था। (कॉरपोरेट फाइनेंसेज इंडस्ट्री एग्रीगेट्स, सीएमआईई, नवंबर, **1994**, बंबई)।

अगस्त, **1995** में प्रधानमंत्री नरसिंह राव ने उड़ीसा में एक सूखा विरोधी परियोजना का उद्घाटन किया। इस परियोजना के अंतर्गत कालाहांडी, बोलांगिर और कोरापुट सहित महज कुछ जिलों के लिए **6** वर्ष में **4557** करोड़ रुपए खर्च किये जाएंगे। इसका मतलब यह हुआ कि प्रति वर्ष **750** करोड़ रुपए से ज्यादा की राशि खर्च की जाएगी। इस भारी राशि का एक–एक पैसा बेकार नहीं जाएगा बशर्ते इससे सचमुच अकाल का मुकाबला किया जाए और बेहतर व्यवस्था का निर्माण किया जाए। लेकिन ऐसा होना संभव नहीं है। आंशिक तौर पर इसकी वजह यह है कि इन इलाकों में जो समस्याएं हैं उनके मुख्य कारणों पर कभी ध्यान भी दिया जाना नहीं शुरू हुआ।

सिद्धांत रूप में सूखे की चपेट में आने वाले क्षेत्रों को एक केंद्रीय योजना के अधीन रखा जाता है जिसका नाम है ड्राट प्रोन एरियाज प्रोग्राम (डीपीएपी)। लेकिन इन क्षेत्रों को डीपीएपी के अंतर्गत लाना अब विशुद्ध रूप से एक राजनीतिक निर्णय हो गया है। डीपीएपी के लिए केंद्रीय तौर पर धनराशि निर्धारित किया जाना हो सकता है बहुत कम हो। लेकिन अगर कोई ब्लॉक डीपीएपी के अंतर्गत आ जाता है तो बेशुमार योजनाएं उस ब्लॉक के लिए एक के बाद एक तैयार होती हैं जिनके जरिये बहुत बड़े पैमाने पर वहां पैसा पहुंचता है। उन्हीं ब्लॉकों को तब रोजगार सुनिश्चित करने से संबंधित योजना, बंजर भूमि के उपजाऊ बनाने से संबंधित परियोजना, पेयजल से संबंधित कार्यक्रम तथा इस तरह की अनेक योजनाओं के तहत पैसा मिलने लगता हैं। जाहिर है कि ऐसी हालत में कुछ लोगों के लिए छप्पर फाड़कर पैसे की बारिश होने लगती है।

अनेक राज्यों में डीपीएपी से संबंधित सरकारी आंकड़े को देखने से हमें कुछ दिलचस्प तथ्यों का पता चलता है। महाराष्ट्र में छह वर्ष पूर्व डीपीएपी ब्लॉकों की संख्या लगभग 96 थी। 1996 में अब इसके अंतर्गत 147 ब्लॉक हैं। मध्य प्रदेश में इसी अवधि में डीपीएपी ब्लॉकों की संख्या में दुगुने से भी ज्यादा की वृद्धि हुई और 60 से बढ़कर 135 हो गए। बिहार में 1980 में दशक में 54 डीपीएपी ब्लॉक थे। 1990 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में रामेश्वर ठाकुर के केंद्रीय मंत्रिमंडल में आने के बाद इनकी संख्या 55 हो गई। बिहार का यह ब्लॉक भी इस योजना के अंतर्गत आ गया जिसमें उनका अपना गांव पड़ता है। आज बिहार में 122 डीपीएपी ब्लॉक हैं।

यह सारा कुछ उस अवधि के दौरान हुआ जबकि लगातार अच्छी बारिश रही है। इसके बावजूद कुछ लोगों के लिए निश्चय ही पानी का संकट रहा लेकिन वह एक अलग कहानी है।

जैसा कि इस खंड में प्रस्तुत रिपोर्टों से आपको पता चलेगा कि कालाहांडी की प्रमुख समस्या कम बारिश होने के कारण नहीं है। जल स्रोतों के विशेषज्ञ और प्रशासक आमतौर पर इस बात से सहमत होंगे कि असमय और अलग–अलग इलाकों में हुई बारिश की समस्या को छोड़ दें तो भारत के अधिकांश जिले आमतौर पर साल भर में 800 मिमी. के आसपास पानी वर्षा से पा जाते हैं। पिछले बीस वर्षों में कालाहांडी में जिस साल सबसे कम बारिश हुई उस साल भी इसे 978 मिमी. पानी प्राप्त हुआ। कुछ जिले सामान्य वर्षों में इससे भी ज्यादा पानी पाते हैं। इसके अलावा कालाहांडी में औसतन प्रति वर्ष 1250 मिमी. बारिश होती है। यह निश्चय ही बहुत अच्छी स्थिति है। 1990–91 में इस जिले को वर्षा से 2247 मिमी. पानी मिला। इसके अलावा उड़ीसा और भारत दोनों समग्र रूप से मिलाकर प्रति व्यक्ति खाद्यान्न का जो उत्पादन करते हैं उससे ज्यादा कालाहांडी अकेले करता है। पुराने कालाहांडी का सबसे ज्यादा दुर्दशाग्रस्त हिस्सा नवापाड़ा जो कि अब एक अलग जिला बन गया है उसे 1994 में वर्षा से 2366 मिमी. पानी प्राप्त हुआ।

पलामू में भी औसत जलवृष्टि बुरी नहीं है। सामान्यतया इस जिले में वर्ष में

1200 से लेकर 1230 मिमी. बारिश होती है। हाल के इतिहास को देखें तो इसका जो सबसे बुरा वर्ष था उसमें भी इसे वर्षा से 630 मिमी. पानी प्राप्त हुआ। भारत के कुछ जिले तो इससे भी कम पानी पाते हैं लेकिन उन्हें इस तरह का नुकसान नहीं उठाना पड़ता।

सरगुजा में जलवृष्टि शायद ही कभी 1200 मिमी. से कम हुई हो। किसी–किसी साल तो यहां 1500–1600 मिमी. बारिश होती है। यह कैलिफोर्निया के मुकाबले लगभग चार गुना अधिक है। और आप जानते ही हैं कि कैलिफोर्निया में अंगूर की पैदावार कितनी शानदार होती है।

इस सबके बावजूद इन सारे जिलों में जो समस्याएं हैं उनका संबंध पानी की कमी से है और अत्यंत भयावह है। इसका मतलब यह समस्या उन समस्याओं से बहुत भिन्न है जिन समस्याओं के समाधन के लिए सरकारी स्तर पर धनराशि निर्धारित की जाती है। साधारण शब्दों में कहें तो भारत में ऐसे अनेक जिले हैं जहां भारी वर्षा होती है लेकिन जहां आबादी का एक हिस्सा–जो गरीब तबका है–भीषण सूखे की मार झेलता है। ऐसा तब होता है जब पानी की उपलब्ध स्रोतों पर शक्तिशाली लोग अपना कब्जा जमा लेते हैं। इसके अलावा एक बात और है सूखा विरोधी कार्यक्रमों को तैयार करने के लिए जो राशि निर्धारित की जाती है उन कार्यक्रमों को तैयार करते समय उस गरीब तबके की न तो कोई राय ली जाती है और न उसमे कहा जाता है कि वह इससे भागीदारी करे।

एक बार यह स्पष्ट हो जाने के बाद की सूखा और डीपीएपी के बीच जो संबंध है उससे बड़े पैमाने पर धन राशि आने लगती है। सबकी यह कोशिश हो गयी कि उनका ब्लाक इस योजना के अंतर्गत किसी न किसी तरह शामिल कर लिया जाए। अनेक मामलों में यह देखा गया कि शक्तिशाली लोगों ने न केवल अपने ब्लाकों को इस योजना के अंतर्गत शामिल करा लिया बल्कि इस बात का भी जुगाड़ कर लिया कि ज्यादा से ज्यादा लाभ उनके खाते में आ जाए।

महाराष्ट्र का उदाहरण देखिए। राज्य में गन्ने का जो भी उत्पादन होता है उसका लगभग 73 प्रतिशत उन्हीं ब्लाकों में होता है जो डीपीएपी के अंतर्गत है और यह तो सभी लोग जानते हैं कि गन्ना उत्पादन के लिए काफी पानी की जरूरत पड़ती है। दूसरी बात यह है कि महाराष्ट्र में सिंचित क्षेत्र में पड़ने वाली जमीन की दशा बहुत दयनीय है। यह बमुश्किल 15 प्रतिशत है। लेकिन डीपीएपी के अंतर्गत जो ब्लाक हैं वह अनुमानतः 22 प्रतिशत है। अर्थात् राज्य के औसत से 50 प्रतिशत ज्यादा। पुणे के नजदीक लोनावाला में वार्षिक जलवृष्टि शायद ही कभी 1650 मिलीमीटर से कम होती हो जो बढ़कर 2000 मिलीमीटर तक पहुंच जाती है। बावजूद इसके लोनावाला एक डीपीएपी ब्लॉक है।

महाराष्ट्र में राहत और सिंचाई के नाम पर पिछले अनेक वर्षों के दौरान जो करोड़ों रुपए खर्च किए गए हैं उनसे सिंचित क्षेत्र के अंतर्गत आने वाली भूमि में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई। डीपीएपी ब्लाकों में छोटे किसान हैं जो सचमुच दबाव महसूस

करते हैं पानी का लाभ उन्हीं लोगों को मिल पाता है जिनके पास पैसा और ताकत है। सरकारें यह सोचती हैं कि इन क्षेत्रों में पैसा फेंकने से उन छोटी मछलियों को संतुष्ट किया जा सकता है जिनके पास काफी वोट हैं। सच्चाई यह है कि वहां जो भी धनराशि भेजी जाती है उसका बहुत बड़ा हिस्सा शक्तिशाली लोगों की जेब में जाता है। जहां तक सिंचाई के काम आने वाले पानी की बात है राज्य के लगभग दो प्रतिशत किसान इस पानी का लगभग **70** प्रतिशत इस्तेमाल करते हैं।

सूखा एक बहुत जटिल घटना है मिसाल के तौर पर कृषि के क्षेत्र में आपके यहां सूखा पड़ सकता है। उस समय भी जब मौसम विभाग की निगाह में सूखे की स्थिति बिल्कुल न हो। कहने का तात्पर्य यह है कि आपके यहां पर्याप्त वर्षा भी होगी और इसी के साथ फसल भी नहीं होगी। अथवा यह भी हो सकता है कि जल से संबंधित सूखे की स्थिति हो क्योंकि नदियों, नालों, झरनों और भूगर्भीय जलस्रोतों के स्तर में उल्लेखनीय गिरावट आ गयी हो। इनके कारणों को सभी लोग जानते हैं लेकिन इनके समाधान पर शायद ही कभी प्रयास किया जाता हो। समूचे मामले को बस प्राकृतिक आपदा कहकर छोड़ देना ही सबसे अच्छा तरीका है। यह उपाय काम भी करता है क्योंकि विभिन्न स्तरों पर सक्रिय अनेक शक्तियों को इस सूखे के उद्योग में या तो शामिल कर लिया जाता है या वे समाहित कर ली जाती है। सूखे के घोटाले से जो काम शुरू होता है वह अपने प्रस्ताव तक वापस आते-आते अंतर्राष्ट्रीय स्तर का स्वरूप ग्रहण कर लेता है।

अब देखिए कि यह कैसे होता है: किसी एक जिले का उदाहरण ले लीजिए। मान लीजिए यह सरगुजा जिला है। यहां किसान पानी से संबंधित अनेक समस्याओं का सामना कर रहे हैं यहां ब्लॉक स्तर पर सक्रिय यानी ठेकेदार और राजनीतिज्ञ इस मामले को उठाते हैं। जाहिर है कि यहां के लोगों की वही शिकायत है जो आमतौर पर होती है-'हमारे ब्लॉक को अन्य ब्लॉकों के मुकाबले काफी कम पैसा मिला। कलक्टर हमारे ऊपर ध्यान नहीं दे रहा है और यही वजह है कि ऐसा हो रहा है।

यहां सचमुच दो तरह के मामले हैं। पहला तो यह है कि सरगुजा के किसान गंभीर समस्याओं को झेल रहे हैं और ये समस्याएं बढ़ती ही जा रही है। दूसरे कुछ खास तबकों का नेतृत्व करने वाली शक्तियां जिला मुख्यालय पर इस बात के लिए दबाव डाल रही है कि उनके ब्लॉक के लिए और भी ज्यादा धन राशि की व्यवस्था की जाए।

किसी अखबार का स्थानीय संवाददाता (जो मान लीजिए कि बिलासपुर में रह रहा है) इस मामले को उठाता है: कलक्टर हमारे ब्लॉक की उपेक्षा कर रहा है। अधिकांश अखबार अपने इस तरह के अल्पकालिक संवाददाताओं को पारिश्रमिक के नाम पर मामूली रकम देते हैं। कुछ संवाददाताओं को तो हर महीने पचास रुपए से कम की राशि मिलती है। इसलिए इस काम को वैसे ही लोग कर सकते हैं जिनके पास पैसे के अन्य स्रोत उपलब्ध हैं। इन जिलों के अनेक हिस्सों में आप पाएंगे कि यहां अल्पकालिक संवाददाता के तौर पर जो लोग काम कर रहे हैं वे प्रायः या तो छोटे दुकानदार हैं अथवा छोटे व्यापारी।

अगर इस ब्लॉक अथवा जिले के लिए अनेक सार्वजनिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए ठेका दिया जाता है तो शायद इस संवाददाता के हाथ भी कुछ पैसे लग जाएं। यह बात सबके लिए सही नहीं है लेकिन कुछ संवाददाताओं पर तो यह लागू तो होती ही है। मेरी मुलाकात उनमें से कई तेज-तर्रार और साधन सम्पन्न संवाददाताओं से हुई। काफी प्रतिभाशाली हैं, उनका ध्यान यथार्थ पर जाता है और वे स्थितियों पर तेजी से प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। इनमें से कुछ छोटे ठेकेदार भी हैं इसी तरह कुछ ब्लॉक स्तर के राजनीतिज्ञ भी है। (यही स्थिति तो अनेक राष्ट्रीय राजनीतिज्ञों और अखबार मालिकों की है लेकिन यह एक अलग कहानी है।)

बढ़ते हुए सूखे की खबरें जिला प्रशासन पर दबाव डालती है जो संसाधनों के लिए बुरी तरह लालायित है। (इनमें से कुछ समाचारों में सच्चाई का भी काफी अंश होता है हालांकि सूखे से मरने वालों की संख्या को प्रायः बढ़ा-चढ़ा कर बताया जाता है।) इसके बाद कलक्टर अपने मित्रों को बुलाता है जो जिला स्तर के संवाददाता होते हैं वह उन्हें बताता है कि औरों के मुकाबले उसके जिले को सरकार से बहुत कम धनराशि मिल रही है। यह बात सही भी हो सकती है कलक्टर भी सरकार पर दबाव डालता है कि जो संसाधन मुहैया किये जा रहे हैं उसका एक बेहतर टुकड़ा उसके हिस्से में आ जाए। इसके बाद कुछ इस तरह खबरें आने लगती हैं-सरगुजा अथवा इसके स्थान पर जो भी जिला हो-के साथ 'सौतेला व्यवहार'।

इससे राज्य सरकार कि स्थिति खराब होती है। वह सोचती है कि इसका मुकाबला कैसे किया जाए। स्थानीय स्तर पर अपने ढंग से मामले को सुलझाने के साथ-साथ यह केंद्र पर भी इस बात के लिए दबाव डालती है की सूखे से निपटने के लिए और भी ज्यादा धनराशि आवंटित की जाए। राज्य सरकारें प्रायः मुख्य पत्र-पत्रिकाओं से अपने संवाददाताओं को राज्य की राजधानी में बुलाती है। इसके बाद इन संवाददाताओं को 'प्रभावी क्षेत्रों' की प्रायोजित यात्राओं पर ले जाया जाता है। सरकारों के पास प्रायः इस काम के लिए गाड़ियां होती हैं कि वे पत्रकारों की यात्राओं का प्रबंध कर सकें और अक्सर ऐसा होता है कि इन पत्रकारों के साथ संकटग्रस्त इलाके तक कोई वरिष्ठ अधिकारी भी जाता है।

शहरी अखबार का आधुनिक पत्रकार अपने हृदय विदारक विवरण के मामले में स्थानीय पत्रकार के मुकाबले श्रेष्ठ होता है। अब इसके बाद सूखा एक राष्ट्रीय समस्या का रूप ले लेता है। 'सूखे से चिटखी धरती का अंतहीन सिलसिला' जैसे वाक्यांशों और दिल को दहला देने वाली तस्वीरों से भरपूर बड़ी-बड़ी रिपोर्टें शहरी पाठकों तक पहुंचती है। (अब आप देखें चिटखी धरती अनिवार्य रूप से सूखे का प्रतीक नहीं है। धरती का यह रूप गीले स्थानों में भी मिल सकता है। इतना ही नहीं बाहर से हरा-भरा दिखाई देने वाले क्षेत्रों में भी पानी की जबर्दस्त कमी हो सकती है। लेकिन चिटखी धरती और

तस्वीरों से एक आकर्षक कहानी तैयार होती है।) यह बात अंग्रेजी अखबारों पर और भी ज्यादा लागू होती है। भाषायी अखबारों के सामने गंभीर समस्याएं है लेकिन ये काफी हद तक जमीनी सच्चाई से जुड़े हुए हैं।

मान लीजिए की इन संवादाताओं को मई के मध्य में उन प्रभावी क्षेत्रों में जाना पड़ा तो चिलचिलाती धूप का उनपर जबरदस्त असर पड़ता है। जब आपकी चमड़ी और आपका सर धूप से जल रहा हो तो यह यकीन करना बहुत आसान हो जाता है कि इस क्षेत्र में आदिकाल से ही सूखा पड़ रहा होगा। भले ही दो महीने तक बाढ़ का पानी इकट्ठा रहा हो लेकिन फिलहाल उससे कोई मतलब नहीं। स्थानीय संवाददाताओं में यह प्रवृति होती है कि उन्हें जो बताया गया उसे वे तुरंत ग्रहण कर लेते हैं और सच मान लेते हैं लेकिन राष्ट्रीय अखबार तो हमेशा जमीनी यथार्थ से ही अपनी खबरें लेते हैं। बेशक ऐसे अनेक संवाददाता भी होंगे जो अपनी जगह बैठे–बैठे ही घटना की वास्तविक रिपोर्ट तैयार कर दे। वे प्रायः इस तरह की यात्राओं में जाते भी नहीं है। हर संपादक जानता है कि सूखे का मतलब है कि धूप से चिटखे खेत और त्रस्त चेहरों वाली तस्वीरें। इसी को कहते हैं 'मानवीय संवेदना' से युक्त रिपोर्टिंग!

अब राज्य ने केंद्र पर अपना दबाव बढ़ा दिया है। केंद्र की समझ में नहीं आ रहा है कि वह क्या करे। वह अपने हित में उन रिपोर्टों का इस्तेमाल करता है जिसे वह जिम्मेदार रिपोर्टिंग का उदाहरण मानता है। (अर्थात् ऐसी रिपोर्टें जिनमें सरकार की निंदा न हो)। इसके बाद केंद्र संसाधनों के लिए कुछ अन्य स्रोतों पर दबाव डालता है। अंतर्राष्ट्रीय फंडींग एजेंसियों, विदेशी दानदाताओं के बीच सक्रियता आती है। यूएनडीपी, यूनीसेफ या अन्य कोई एजेंसी जो कुछ भी पैसे देने को तैयार हो। नतीजा यह होता है कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मदद पहुंचाने वाली एजेंसियों को एक ऐसे जिले में सूखे से लड़ने के लिए प्रेरित किया जाता है जहां साल में 1500 मिलीमीटर वर्षा होती है।

अब एक उल्टी प्रक्रिया भी शुरू होती है।

दानदाता सरकारें आपातकालीन सहायता को पसंद करती है। इस तरह की सहायता के मद में जो पैसा खर्च होता है वह बहुत मालूमी होता है लेकिन इस सहायता का विज्ञापन खूब किया जाता है। (ऐसी आपात स्थितियों का संबंध केवल सूखे से ही नहीं है। आप टेलीविजन खोल लीजिए और देखेंगे कि किस तरह रोमानिया में भूख से तड़प रहे बच्चों को सैनिक गोद में उठाए हैं और चूम रहे हैं)। धनी और गरीब राष्ट्रों के बीच और भी कई गंभीर मामले हैं। मिसाल के तौर पर असमान व्यापार। अगर इन समस्याओं को हल कर लिया जाए तो शायद गरीब देशों का ज्यादा भला हो। लेकिन ऐसा करने के लिए दानदाता देशों को सचमुच किसी ठोस राशि से वंचित होना पड़ेगा। नहीं, वे ऐसा नहीं करेंगे। उनका विश्वास आपातकालीन सहायता में है।

इस प्रकार विभिन्न स्रोतों से दिल्ली के खाते में पैसा पहुंच जाता है। अब केंद्रीय विभागों के बीच आपसी मारकाट शुरू होती है। इतना पैसा देखकर सबकी अंतरआत्मा

जाग उठती है। किसी विभाग अथवा किसी मंत्रालय को अचानक याद आता है कि कुछ पीड़ित जिलों में जंगलों को बर्बाद होने से बचाने का पवित्र कार्य उसे करना है। दूसरे मंत्रालय को लगता है कि वह जल संसाधनों को व्यवस्थित करने के लिए प्रतिबद्ध है।

फिर इसके बाद भूखे लोगों की बारी आती है। एक सलाहकार रखा जाएगा जिसका पारिश्रमिक तीस हजार रुपए महीने होगा। जिले में सूखे का मुकाबला करने के लिए या जल संसाधन की व्यवस्था दुरुस्त बनाने के लिए उसके सहयोग से परियोजनाएं तैयार की जाएंगी। इसी तरह की और भी कई समस्याएं होंगी। जल समस्याओं का अध्ययन अत्यंत महत्वपूर्ण है। लेकिन इनके अध्ययन की बात महज इसलिए विभाग में आती है क्योंकि इसके लिए धनराशि निर्धारित की गई है। (जिले के कलक्टर और अनेक किसान पानी से संबंधित समस्याओं के बारे में ढेर सारी जानकारी आपको दे सकते हैं लेकिन उन्हें 'विशेषज्ञ' नहीं माना जाएगा।)

यह सारा पैसा राज्य की राजधानी में जाता है जहां इसमें हिस्सा बंटाने का संघर्ष जारी रहता है। जिला स्तर पर अलग–अलग ब्लॉकों के बीच लड़ाई चलती रहती है कि किसको कितना धन मिलना चाहिए। अनेक आपात कार्यों के लिए ठेके दिए जाते हैं। हो सकता है कि इसमें से कुछ पैसा उन लोगों पर भी खर्च कर दिया जाए जो पानी की कमी से पीड़ित है लेकिन इससे उनकी समस्याएं नहीं हल की जा सकतीं।

अगले वर्ष यही समस्याएं फिर पैदा हो जाती है क्योंकि वास्तविक मुद्दों को कभी देखा ही नहीं गया।

अंत में होता यह है कि प्रेस के उन लोगों को भी जिनकी नीयत सही होती है और उनके साथ अनेक शक्तियों को प्राकृतिक आपदा की तस्वीर प्रस्तुत करने के काम में भागीदार बना लिया जाता है। प्रायः ऐसा होता है कि किसी घटना के पीछे की समूची प्रक्रिया को देखे बगैर उसको अत्यंत नाटकीय रूप देकर प्रस्तुत कर दिया जाता है। यह सिलसिला अलग–अलग राज्यों में अलग–अलग तरीके से जारी रहता है।

और फिर भी पानी से संबंधित समस्याओं से ढेर सारे लोग प्रभावित बने रहते हैं। भारत के अपेक्षाकृत ज्यादा तकलीफदेह संघर्षों में से अधिकांश संघर्षों का संबंध पानी के साथ जुड़ा हुआ है। आज भले ही यह मामला थोड़ा दबा हुआ हो लेकिन पंजाब समस्या के पीछे नदी जल का बंटवारा एक प्रमुख कारण था। तमिलनाडु और कर्नाटक के बीच कावेरी जल विवाद के बारे में हम लोग जानते ही हैं। (बांग्लादेश के साथ भारत के तनावपूर्ण संबंधों के पीछे अनेक कारणों में से एक कारण नदी जल के बंटवारे से संबंधित है)। अनेक तरीकों से जल संसाधनों से संबंधित संघर्ष बहुत छोटे स्तर पर और गांव के स्तर पर यहां भी मौजूद रहता है। यह अलग–अलग गांव के बीच, किसी गांव में अलग–अलग बस्तियों के बीच अथवा अलग–अलग जातियों और वर्गों के बीच चलता रहता है। (सूखे से संबंधित मुद्दों पर और जानकारी के लिए विस्थापन, अस्तित्व, सूदखोरी और प्रतिरोध वाले खंडों को भी देखें।)

मनुष्य द्वारा पैदा किये गये सूखे से उत्पन्न संघर्षों में लगातार वृद्धि हो रही है। जंगलों की कटाई से जबर्दस्त नुकसान हुआ है। गांव में रहने वालों का उन जल संसाधनों पर से नियंत्रण तेजी से समाप्त होता जा रहा है जिन्हें आमतौर पर सबका माना जाता था। परंपरागत सिंचाई व्यवस्था बड़ी तेजी से नष्ट होती जा रही है। जहां सचमुच सूखा पड़ा है उन इलाकों में जल संसाधनों के निजीकरण की प्रक्रिया को बहुत साफतौर पर देखा जा सकता है। (मिसाल के तौर पर रामनाड में जल संसाधनों के मालिकों को देखा जा सकता है)। आज इस सूखे के दो रूप हमें दिखाई देते हैं–वास्तविक और गढ़ा हुआ। यह दोनों रूप एक ही स्थान में और एक ही समय में साथ–साथ चल सकते हैं। आगे की रिपोर्टों में यह दिखाने का प्रयास किया जाएगा प्रायः वे साथ–साथ चलते भी हैं।

एक लड़की की बिक्री - 1

अमलापाली, नवापाडा (उड़ीसा): यह 1980 के दशक की ऐसी रिपोर्ट थी जिसमें मानव समुदाय की दिलचस्पी हो सकती थी। इस गांव में एक लड़की की बिक्री की कहानी। एक ऐसी कहानी जिसने राष्ट्र की अंतरात्मा को झकझोर दिया और लोगों का ध्यान कालाहांडी पर पूरी तरह केंद्रित कर दिया। एक तरह से कहें तो उस काल की पत्रकारिता को देखने से प्रेस के बेहतर प्रयासों का पता चलता है। साथ ही उसकी सीमाएं भी उजागर होती है।

जुलाई 1985 में फनास पुनजी, जिसकी उम्र तीस से पैंतीस के बीच थी। चर्चा में आई। कहानी के अनुसार उसने अपनी चौदह वर्षीय एक संबंधी बनिता पूंजी को विद्या पोर्ट के हाथों बेच दिया जो लगभग अंधी थी। उसने बनिता को चालीस रुपए में खरीदा और घरेलू नौकरानी बनाकर रख लिया। फनास के पति ने उसे दो वर्ष पहले छोड़ दिया था। प्रेस ने लगातार उसके इस कथन को उद्धृत किया कि 'मेरे अपने दो बच्चे भूखों मर रहे हैं ऐसी हालत में मैं क्या करती।'

हर व्यक्ति ने गौर किया कि इस महिला ने कभी इस बात से इनकार नहीं किया कि उसने लड़की की बिक्री न की हो। इस घटना ने सारे देश को हिला दिया। तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी को जब यह समाचार मिला तो वह स्तब्ध रह गए। इससे भी बुरी बात यह थी कि उनके आफिस को इस लड़की बिक्री की पुष्टि भी हो गई। उन्होंने तय किया कि वह खुद कालाहांडी जाएंगे और उस लड़की को देखेंगे।

अफसरों का एक विशाल अमला कालाहांडी के इस हिस्से में पहुंच गया। (आजकल यह हिस्सा नवापाडा नाम से अलग जिले के रूप में हैं।) प्रधानमंत्री की यात्रा के लिए यहां तैयारी के मामले में कुछ खास नहीं करना था। सैकड़ों संवाददाता नवापाडा पहुंच गए जो आज भी भारत के सर्वाधिक गरीब जिलों में से एक है; बात भी कोई साधारण नहीं थी। आखिर खुद प्रधानमंत्री वहां जा रहे थे। और इस तरह की घटना को कौन पत्रकार छोड़ना चाहेगा।

इस घटना ने 1980 के दशक की एक तूफानी पत्रकारिता को जन्म दिया। कुछ प्रतिभाशाली रिपोर्टरों ने तत्कालीन मुख्यमंत्री जे.बी.पटनायक के उन प्रयासों को ध्वस्त कर दिया जिसका मकसद इस घटना पर लीपा–पोती करना था। कालाहांडी की व्यथा अपने नंगे रूप में सामने खड़ी थी। इन पत्रकारों की मुलाकात जब इस क्षेत्र के उन चेहरों से हुई जो गरीबी में झुलस चुके थे तो और भी खबरें और रिपोर्टें अखबारों

में आई। बहुत बड़े पैमाने पर सूखे और अकाल की स्थितियों से संबंधित दिलदहलाने वाली कहानियां प्रकाशित हुई। उस समय सचमुच लोगों के अंदर ऐसा उत्साह था जो किसी उद्देश्य को हासिल करने के संघर्ष में दिखाई देता है।

टेलीविजन ने वह कर दिखाया जो अखबार नहीं कर पा रहे थे। इसने जे.बी. पटनायक सहित इस नाटक के अनेक अदाकारों को जनता की आंखों के सामने पेश कर दिया। पटनायक के साथ एम.जे.अकबर के टीवी इंटरव्यू ने मुख्यमंत्री को उत्तेजित कर दिया। उन्होंने बाद में सार्वजनिक तौर पर यह कहकर भर्त्सना की कि सारी बातें मनगढ़ंत है। पटनायक ने बाद में राज्य विधानसभा में जो कुछ कहा उससे भी उनका काफी नुकसान हुआ। उस इंटरव्यू में उन्होंने प्रकारांतर में यह कहा था कि पश्चिमी उड़ीसा के अनेक भागों में बच्चों को बेचने की 'परंपरा' है।

प्रेस के जेहाद का असर पड़ा। इसने बाद के वर्षों में दो प्रधानमंत्रियों, दो मुख्यमंत्रियों और अनेक मंत्रियों को मजबूर किया कि वे नवापाडा–कालाहांउी की यात्रा करें। इससे यह फायदा हुआ कि कुछ अच्छी सड़कें बन गई, संचार व्यवस्था में सुधार हुआ और कुछ पुलों की मरम्मत हो गई। इन पर तभी ध्यान दिया जाता है जब किसी अतिविशिष्ट व्यक्ति के आने की संभावना हो।

अखबारों के इस अभियान के फलस्वरूप विकास के लिए काफी धनराशि भी आई। असंख्य परियोजनाओं की घोषणा की गई। इनमें से अधिकांश काहालांडी के लिए थे। हालांकि कालाहांडी ही एकमात्र ऐसा क्षेत्र नहीं था जहां लोग गरीबी झेल रहे थे। विदेशी पैसे पर तैरने वाली अनेक स्वयंसेवी संस्थाएं अपनी गाड़ियों से इस जिले में पहुंच गईं ताकि वे विकास को बढ़ावा दे सकें।

मीडिया के लिए वे बहुत गौरवपूर्ण क्षण थे। लेकिन नौ वर्ष बाद उस नाटक के सभी प्रमुख अदाकार अपनी पुरानी अवस्था में पहुंच गए। शायद पहले से ही बदतर अवस्था में।

करोड़ों रुपयों और ढेर सारी परियोजनाओं के बावजूद कालाहांडी और नवापाडा की स्थिति वही बनी रही जो पहले थी। जे.बी.पटनायक की भी हालत खराब ही हो गई। अब वह यहां मुख्यमंत्री नहीं थे।

पिछले सप्ताह अमला पाली में मेरी मुलाकात फनास पुंजी से हुई। मैंने बनिता और विद्या पोट के बारे में भी पूछा? मेरे साथ एक भूतपूर्व विधायक कपिल नारायण तिवारी थे। उन्होंने ही सबसे पहले लड़की के बेचे जाने वाली कहानी को उजागर किया था। कालाहांडी के लोगों की व्यथा को सामने लाने में उन्होंने किसी भी राजनीतिज्ञ के मुकाबले काफी काम किया है।

फनास अब एक आंगनबाड़ी कार्यकर्ता है और उसके पति के परिवार के पास एक जमाने में जो थोड़ी बहुत जमीन थी उससे भी वह हाथ धो चुकी है। सारी जमीन सूदखोर महाजनों के पास पहुंच गई। बेशक उसका पति अब वापस आ गया है। उसने

बताया कि वह वापस तो आ गया है लेकिन पहले ही की तरह साल के अधिकांश महीनों में वह बेरोजगार ही रहता है। बनिता की उम्र अब भी उसी अंधे बूढ़े आदमी के साथ है। उन्हें तीन बच्चे हैं जिनसे उनका काफी लगाव है।

- बनिता और विद्या पोर्ट फनास के मुकाबले कोई बेहतर स्थिति में नहीं है। बनिता भी एक आंगनबाड़ी कार्यकर्ता है। (मैं वहां खाना पकाने का काम करती हूं') आंगनबाड़ी योजना कितनी कारगर है इसका पता उसके तीनों बच्चों की हालत देखकर लगाया जा सकता है। ये तीनों बच्चे कुपोषण के शिकार हैं और इनमें जो सबसे छोटा है उसकी हालत तो बहुत बुरी है। अब से कुछ दिनों पहले तक फनास और बनिता दोनों को अपने–अपने काम के एवज में सौ रुपए महीने मिलते थे। अब वे प्रतिमाह दो सौ दस रुपए कमाती है। यह राशि उड़ीसा सरकार द्वारा निर्धारित न्यूनतम मजदूरी (जो पच्चीस रुपए प्रतिदिन है) की लगभग एक तिहाई है। दोनों में से कोई अपने परिवार को ठीक से खाना भी नहीं खिला पाता है। दोनों के जिम्मे अपने उन पतियों को देखभाल भी करनी है जो लगातार बेरोजगार हैं।

- जहां तक विद्या पोर्ट की बात है किसी ने उससे कभी कुछ नहीं पूछा। उस समय भी नहीं जिन दिनों लड़की की बिक्री से संबंधित खबरें में आ रही थी। शायद उससे पूछने से खबर का मजा किरकिरा हो जाता। प्रत्यक्षतः किसी खबर को मानवीय पुट देने के लिए किसी न किसी को अमानवीय दिखाना ही पड़ता है इस मामले में पोर्ट एक ऐसा निशाना था जिसपर आसानी से प्रहार किया जा सकता था। उसकी वह क्षमता तो नहीं थी कि वह उन खबरों को पढ़ता कुछ रिपोर्टों में उसे 'बूढ़ा अंधा व्यक्ति' बताया गया था जिसने बनिता को 'खरीदा' था और उसका निर्दयतापूर्वक शोषण किया था। एक रिपोर्ट में तो उसे बूढ़ा और अंधा 'जमींदार' बताया गया था। एक अन्य रिपोर्ट में कहा गया था कि उसने चालीस रुपए में उस लड़की को खरीदा था और अपनी भूख शांत करने के बाद उसे छोड़ दिया था।

- जमींदार होने की तो बात ही दूर, जिस पोर्ट को बनिता बेची गयी थी वह एक भूमिहीन किसान था। उसके पास इतनी भी जमीन नहीं थी जिस पर वह घर बना सके। जिस घर में वह रहते थे वह उसके एक चाचा का था। इसमें कोई शक नहीं कि उसकी आंखों की रोशनी काफी खराब हो गयी थी। निश्चय ही कुछ लोग उसे अंधा भी कहते थे लेकिन आगन्तुकों को देखकर वह अच्छी तरह पहचान लेता था। जब मैं दूसरी बार उसकी झोपड़ी पर गया तो उसने अच्छी तरह मुझे पहचान लिया।
- उसे बूढ़ा बताया गया लेकिन यह 'अंधा बूढ़ा जमींदार' 1985 में जिस समय यह घटना घटी 20–22 वर्ष का एक नवयुवक था।

बायें से: फनास पुंजी, पूर्व विधायक कपिल नारायन तिवारी और बनिता तथा विद्या पोर्ट अपने तीनो बच्चों के साथ। पूरे देश को हिला देने वाले इस नाटक के सभी मुख्य पात्र लगभग पहले जैसी ही स्थिति में हैं – शायद पहले से भी बुरी स्थिति में।

- कपिल तिवारी के अंदर कोई तब्दीली दिखाई नहीं देती है। अगर कोई तब्दीली होती तो इसे दर्दनाक ही माना जाता। अपने को 'गरीबी की रेखा से नीचे का एक भूतपूर्व विधायक' कहने वाला यह व्यक्ति हमेशा की तरह कालाहांडी की घटनाओं को देखकर बहुत गुस्से में था। एक स्वतंत्र राजनीतिक कार्यकर्त्ता के रूप में वह अभी भी अन्याय के खिलाफ धुंआधार संघर्ष में लगे हुए हैं।

मैं उनसे मिला और उन सबकी तस्वीरें एक साथ खींची। उन लोगों को केंद्र में रखकर राष्ट्रीय पैमाने पर जिस तरह के जोरदार बहस चल रही थी उससे वे बिल्कुल अप्रभावित थे।

- जिस समय में मैं यह लिख रहा हूं नवापाडा–बोलांगिर सीमा से, जो अत्यंत गरीब इलाका है, 1985 की ही तरह लोगों का प्रवास जारी था। इस बार जाने वालों की संख्या ज्यादा थी। उनका गन्तव्य रायपुर से लेकर, जहां वे रिक्शा चलाएंगे, बम्बई

तक था जहां वे भवन निर्माण के काम में मजदूरी करेंगे। रोजगार के अवसरों की जिस तेजी से कमी होती जा रही है उसी तेजी से इनका बाहर जाने का सिलसिला भी बढ़ता जा रहा है।

- रायपुर के वेश्यालयों में वेश्यावृत्ति के लिए यहां से जाने वाले औरतों की संख्या भी लगातार बढ़ रही है। पुराने कालाहांडी में भू–स्वामित्व का जो ढांचा है और उसमें जो असमानता है वह पहले जैसी ही बनी हुई है। इसमें कोई सुधार नहीं हुआ। हो सकता है कि ऐसे सूदखोर महाजनों की संख्या कम हो जिनके चंगुल में पड़कर फनास पुंजियों को अपनी जमीन से हाथ धोना पड़ता है। लेकिन वे हैं बहुत ताकतवर यहां की सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली बुरी तरह चरमरा चुकी है। सबसे दुःखद बात तो यह है कि यहां मलेरिया का जबर्दस्त प्रकोप है।

- कालाहांडी को मदद पहुंचाने के उद्देश्य से तैयार की गयी विकास परियोजनाएं बदल चुकी हैं। लेकिन यह बदलाव केवल उनके नाम और उनकी संख्या में है। सच्चाई यह है कि सभी परियोजनाएं पहले जैसी ही है। चूंकि इनकी जड़े जनता के अंदर नहीं है इसलिए इनका असफल होना स्वाभाविक है। कुछ जिला प्रशासकों ने सकारात्मक हस्तक्षेप की कोशिश की है। फिर भी परेशान होकर जमीन, श्रम और अपनी उपज को बेच देना यहां आम बात है। संक्षेप में कहें तो नवापाडा और समूचा कालाहांडी एक ही समान है।

लड़की की बिक्री से संबंधित रिपोर्ट का एक सार्थक प्रभाव है। पड़ा–इसने लोगों का ध्यान कालाहांडी की ओर आकृष्ठ किया। लेकिन सवाल यह है कि कालाहांडी में वह कौन सी चीज थी जिसने लोगों को आकर्षित किया।

एक लड़की की बिक्री - 2

अमलापाली, नवापाडा (उड़ीसा): फनास पुंजी द्वारा अपनी चौदह वर्षीया निकट संबंधी बनिता को लगभग नेत्रहीन विद्या पोर्ट के हाथों चालीस रुपए में 'बेचने' के नौ वर्ष बाद उस नाटक के सभी चरित्रों के जीवन में आम तौर पर कोई बदलाव नहीं आया। बेशक इसने राष्ट्रीय पैमाने पर एक उग्र बहस को जन्म दे दिया जिससे कालाहांडी निर्धनता का पर्याय बन गया।

फनास ने मुझे बताया–'प्रधानमंत्री राजीव गांधी की यात्रा से भी कोई फर्क नहीं पड़ा। (वह यहां 1985 के मध्य में आए थे) हो सकता है कि दूसरों को कर्ज के रूप में कुछ पैसे मिले हों लेकिन मुझे तो कुछ भी नहीं मिला। बस ढेर सारे लोग आते गए और मेरी तस्वीरें खींचते रहें।'

1985 में विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में फनास और बनिता के बारे में जो आवरण कथा छपीं उनमें 'एक लड़की की बिक्री' पर खासा जोर दिया गया था। इन आवरण कथाओं ने राष्ट्र की चेतना को झकझोर दिया और इसके फलस्वरूप कालाहांडी को कुछ राहत मिली। अब इसके ब्यौरे में मत जाइये कि किन लोगों ने इस राहत को हड़प लिया। फिर भी 'लड़की की बिक्री' एक दुधारी तलवार साबित हुई।

सही अर्थों में इसका एक सकारात्मक नतीजा दिखाई दिया। अगर अखबारों ने इस पहलू को इतने सशक्त ढंग से नहीं उठाया होता तो इस घटना के प्रति लोगों का भावनात्मक झुकाव नहीं हो पाता। निश्चय ही यदि ऐसा नहीं होता तो शायद काहालांडी के प्रति न तो लोगों की सहानुभूति पैदा होती और न कालाहांडी पर लोगों का ध्यान जाता। जाहिर है कि तब इसे कोई राहत भी नहीं मिलती। इसके साथ ही इस घटना पर जो विवाद पैदा हुआ कि क्या सचमुच यहां किसी लड़की की बिक्री की गई थी, इसने इससे संबद्ध महत्वपूर्ण प्रक्रियाओं को धूमिल कर दिया।

इसमें कोई शक नहीं कि बिक्री की यह कहानी सूखा और गरीबी की रिपोर्टों के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई थी। लेकिन सूखा और गरीबी से संबंधित रिपोर्टें उतनी धारदार नहीं थी। यह अनेक गलतियों और घिसे–पिटे विवरणों से भरी हुई थी। जो भी हो इन रिपोर्टों का उद्देश्य चाहे जो रहा हो, सारा ध्यान उस 'बिक्री' वाली कहानी पर ही गया। राजनीतिक तौर से देखें तो यह घटना पूरी तरह केंद्र मे आ गयी।

बनिता की उम्र इस समय 22 वर्ष है और वह समूचे मसले को बिक्री से अलग करके देखती है। वह अभी भी विद्या पोर्ट के साथ है और उनके तीन बच्चे हैं। फनास

की तरह ही यह परिवार भी बहुत गरीब है। बनिता ने बताया कि 'फनास ने मेरी जमीन का कुछ हिस्सा बेच दिया। वह चाहती थी कि मैं रास्ते से हट जाऊं ताकि वे मेरी सारी जमीन बेच दें।' जब फनास के पति ने उसे दो साल के लिए छोड़ दिया तो वह गांव छोड़कर भी चला गया। किसे पता था कि वह फिर वापस आएगा? इस पारिवारिक जमीन का दूसरा स्वामित्व बनिता के पास था। क्या फनास ने बनिता को सचमुच बेचा था (या उसे इस बात के लिए मजबूर किया था कि वह सीधे–सादे विद्या पोर्ट के साथ शादी कर ले) ताकि बनिता को उस जमीन से बेदखल किया जा सके। उस समय बनिता की उम्र 14 वर्ष थी और वह इस हालत में कतई नहीं थी कि किसी तरह का विरोध कर सके।

इससे पता चलता है कि बनिता की मुख्य चिंता क्या थी। इस चिंता के पीछे जो कारण थे वे कितने सही थे। जमीन का एक बहुत बड़ा हिस्सा पहले से ही सूदखोर महाजनों के पास पड़ा हुआ था। एक गैर सरकारी संगठन विकल्प के डा.एस.के.पटनायक का कहना है कि 'अमला पाली इस बात का शानदार उदाहरण है कि किस तरह कर्ज का सहारा लेकर लोगों को जमीन से वंचित किया जाता है।' फनास और उसका परिवार इस जाल में पूरी तरह फंस चुके हैं।

जैसा कि 1986 की रिपोर्टों में बताया गया था, बनिता को खरीदे जाने के कुछ ही दिनों बाद विद्या पोर्ट ने उसे छोड़ा नहीं। अपनी सास के व्यवहार से दुखी होकर बनिता वापस फनास के पास लौट आयी–अर्थात् उसी औरत के पास जिसके बारे में बताया जाता था कि उसने उसे बेच दिया था। पोर्ट ने उसे वापस लाने के लिए बड़ी मिन्नतें की और वादा किया कि उसकी मां का व्यवहार ठीक हो जाएगा और वह खुद भी काम करेगा ताकि बनिता को सहारा मिल सके। अंततः वह लौट आयी और वर्षों तक उसके साथ रही। विद्या पोर्ट का दूसरा वादा बेकार साबित हुआ क्योंकि उसे कोई काम नहीं मिला। हां बनिता की सास का व्यवहार अब पहले से ठीक हो गया था। दरअसल पोर्ट का समूचा परिवार इस शादी के पक्ष में था। वे इस शादी को बिक्री अथवा खरीद के रूप में नहीं देखते थे। इलाका चाहे शहरी हो या ग्रामीण, शारीरिक तौर से अक्षम व्यक्ति के लिए कोई लड़की ढूंढ पाना बहुत कठिन है। इसलिए पोर्ट के चाचा ने इस घरविहीन दंपति को रहने के लिए एक झोपड़ी दे दी।

मजे की बात यह है कि बनिता भी इस सारे मामले को बिक्री अथवा खरीद के रूप में नहीं देखती है। जहां तक फनास की बात है अगर उसने बिक्री से संबंधित कहानी को चुपचाप स्वीकार कर लिया तो इसका भी ठोस कारण है। इससे उसे मदद मिली। उसने देखा कि अगर इस कहानी से उसे मदद मिलती है और लोगों का ध्यान उसकी तरफ जाता है तो इसमें कोई हर्ज नहीं है। वह इस मामले में बेहद सतर्क महिला है कि उसके बारे में अखबारों में क्या छप रहा है और उसे इसका फायदा कैसे उठाना चाहिए। उसने बताया–'हां, मैंने बनिता को चालीस रुपए में बेचा।' फिर भी जब बनिता कुछ दिनों बाद पोर्ट का घर छोड़कर बाहर आ गयी तो अपने मकान में रखने में फनास

को तनिक भी हिचकिचाहट नहीं हुई। इनमें से सभी एक दूसरे को परिवार के सदस्य के रूप में मान देते हैं। फनास ही मुझे लेकर बनिता से मिलाने गयी।

बनिता पूरी तरह इस घटना की शिकार थी। यही स्थिति फनास से साथ थी और वह भी उन्हीं शक्तियों का शिकार बनी थी जो शक्तियां बनिता के मामले में सक्रिय थीं। उसने हमेशा अपने प्रति लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। लोग यही कहते कि बेचारी गरीब औरत ने मजबूरी में अपने रिश्तेदार को बेच दिया। प्रत्येक व्यक्ति ने फनास से बातचीत की और फनास ने भी बार–बार यही कहानी दुहरायी। प्रधानमंत्री से लेकर रिपोर्टरों तक अनेक लोगों ने अमला पाली की तीर्थ यात्रा की और चलते समय फनास के हाथों में कुछ पैसे रख दिए। फनास की कहानी जबर्दस्त गरीबी की कहानी है, इसमें कोई शक नहीं है। यही हालत बनिता और पोर्ट की भी है लेकिन किसी ने भी बनिता और पोर्ट से न तो मुलाकात की और न उनके बयानों को कहीं दर्ज किया। नतीजा यह हुआ कि बाद में राहत के रूप में जो पैसा वहां पहुंचा उसमें से इन दोनों को कुछ भी नहीं मिला।

सवाल यह है कि सामाजिक दबावों की छूट देने के बावजूद बनिता ने विद्या पोर्ट के साथ रहना क्यों मुनासिब समझा जबकि वह उसे छोड़ सकती थी। जो भी हो राज्य की सारी शक्ति बनिता के पीछे होती है। बच्चों की बिक्री के मामले आज भी प्रकाश में आते हैं। लेकिन बनिता उस समय कोई बच्ची नहीं थी। फनास पुंजी भी यह स्वीकार करती है कि उसके परिवार के कब्जे से जमीन निकल गयी। क्या उनमें से सभी अपनी समस्याओं को उसी तरह समझ पाए जिस तरह हमने समझा था?

बनिता आर्थिक जरूरतों और सामाजिक दबावों के चंगुल में पड़ गयी लेकिन उसने पोर्ट के प्रति किसी भी तरह का असंतोष नहीं दिखाया। उसने बताया–'हमारी बाकायदा शादी नहीं हुई थी। हमारे पास इतना पैसा ही नहीं था कि हम शादी की रस्म अदा कर सकें। सबसे बड़ी बात यह है कि बच्चों की देखभाल कैसे हो। अगर विद्या को कोई काम मिल जाता है तो यह ज्यादा अच्छा होगा। क्या आप इस काम में मदद कर सकते हैं? उसकी इन चिंताओं से कालाहांडी और नवापाडा की उन समस्याओं पर ध्यान गया जो विकराल रूप से वहां मौजूद थीं–बेरोजगारी। फनास का बेटा जगबंधु के पास भी कोई काम नहीं है बनिता के साथ बातचीत में हमें एक बात बार–बार कचोटती रही कि कैसे इस युवा महिला को वह सबकुछ साफ–साफ दिखाई पड़ रहा था जिस पर विशेषज्ञों और अखबार नवीसों का ध्यान कभी नहीं गया।

यहां से हजारों लोग प्रति वर्ष आजीविका की तलाश में बाहर जाते हैं दुर्योधन सबर का कहना है कि यहां हालत इतनी खराब है कि वे छोटे जमींदार भी जो किसी जमाने में बंधुआ मजदूर रखते थे, अब यहां से दूसरी जगह जा रहे हैं। खबर एक आदिवासी है और वह जागृत रमिक संगठन का सक्रिय कार्यकर्ता है। वह खुद भी बंधुआ मजदूर रह चुका है और उसने एक बार इस क्षेत्र में बंधुआ प्रथा के खिलाफ संघर्ष का

नेतृत्व किया।

अगर फनास और उसकी संबंधी अभी–भी उसी हालत में हैं तो एक सवाल पैदा होता है। अगर करोड़ों रुपयों की ढेर सारी विकास परियोजनाएं, अखबारों में छपी लम्बी चौड़ी खबरें और विदेशी धन से काम कर रहे तमाम गैर सरकारी संगठनों ने इस एक परिवार के जीवन में बदलाव नहीं ला सके तो वस्तुतः कालाहांडी में क्या हासिल किया गया होगा? आप जरा उन लोगों की कल्पना करिए जिनको किसी तरह का प्रचार नहीं मिला।

1980 के दशक के मध्य में अखबारों को मिली उपलब्धियां काफी यथार्थपूर्ण रहीं। एक स्तर पर इन अखबारों ने एक ऐसी प्रवृति की शुरुआत की जिसमें गरीबी के प्रति अपेक्षाकृत ज्यादा सहानुभूतिपूर्वक खबरें प्रकाशित हुई। कालाहांडी की व्यथा के प्रति अगर इस देश के अंदर किसी तरह की संवेदना पैदा हुई तो इसका श्रेय उन अखबारों को जाता है जिन्होंने जे.बी.पटनायक की सरकार के पाखंड पर लगातार हमले किए। इन सबके बावजूद नवापाडा–कालाहांडी की समस्याएं पटनायक की अक्षमता के परिणाम से उपजी समस्याओं से भी आगे की बात है। इसे यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह महज सूखे और अकाल के कारण उपजी समस्या है।

बेशक इस सारी प्रक्रिया के दौरान जो बात बहुत उजागर नहीं हो सकी उसका सरोकार कालाहांडी की स्थितियों और राज्य तथा केंद्र के स्तर पर सरकारी नीतियों के प्रति जनता की समझ को ठोस रूप देने में यह एक बहुत बड़ी भूमिका निभा सकता है। ऐसा करने के लिए भी विश्लेषण संबंधी कठिन परिश्रम की जरूरत है।

यहां तक कि 1985–91 में कालाहांडी के बारे में जो सबसे अच्छी रिपोर्टे प्रकाशित हुईं उनमें 'निरंतर सूखे और अकाल की स्थितियों का जिक्र था। कुछ अखबारों ने तो 'सूखे के 20 वर्ष' जैसी बातें भी की। लेकिन सच्चाई क्या है जैसा कि पश्चिम उड़ीसा कृषि जीवी संघ के जगदीश प्रधान ने बताया, पिछले 20 वर्षों के दौरान कालाहांडी में जब सबसे कम वर्षा हुई तो वह भी 78 मिमी. थी। भारत के अनेक जिले सामान्य वर्षों में वर्षा से जितना पानी पाते हैं उससे यह मात्रा ज्यादा ही थी। वैसे, कालाहांडी में वार्षिक जलवृष्टि औसतन 1250 मिमी. रही है। इसे अच्छी बारिश कहा जाएगा। हालांकि पूरे जिले में यह सामान्य रूप से नहीं थी।

1990–91 में इस जिले में 2247 मिमी. बारिश रिकार्ड की गई। जहां तक इसके व्यापक होने का सवाल है वह भी संतोषजनक रहा। लेकिन इससे भी लोगों की तकलीफों में कुछ खास कमी नहीं आयी। इसलिए भले ही किसी वर्ष अच्छी बारिश न हुई हो लेकिन यहां समस्या का संबंध वर्षा से नहीं है।

इसके अलावा जैसा कि प्रधान ने बताया कालाहांडी बराबर ऐसा जिला रहा जो खाद्यान्न के मामले में अतिरिक्त पैदावार देता था। वह भी उन हालात में जब देशभर में फसल बर्बाद हुई हो। उड़ीसा और भारत दोनों मिलकर समग्र रूप से जितना

प्रतिव्यक्ति अनाज पैदा करते हैं उससे ज्यादा अकेले कालाहांडी करता है। लेकिन खुद यहां के निवासी इस अनाज के महज 25 प्रतिशत अंश का उपभोग कर पाते हैं। शेष अनाज व्यापारियों और सूदखोरों की कुशल व्यवस्था के जरिए इस क्षेत्र से बाहर चला जाता है।

1989–90 में समूचे भारत के लिए प्रतिव्यक्ति अनाज का उत्पादन 203 किलोग्राम प्रति नागरिक रहा। उड़ीसा में, जहां सबसे ज्यादा लोग गरीबी रेखा के नीचे बसते हैं, यह 253 किलोग्राम रिकार्ड किया गया। उसी वर्ष कालाहांडी में प्रति व्यक्ति अनाज का उत्पादन 331 किलोग्राम था। इसने राज्य और राष्ट्र के औसत के पीछे छोड़ दिया। इतना होने पर भी यहां के लोग भूखमरी के जबर्दस्त शिकार हैं और यहां के मां–बाप अपने बच्चों को इसलिए छोड़ने को मजबूर हो जाते हैं क्योंकि बच्चों को जिंदा रखने का पर्याप्त साधन उनके पास नहीं होता।

ज्यादातर मौकों पर अखबारों ने सूखा और अकाल को महज एक घटना के रूप में देखा है और यह धारणा कि प्रक्रियाएं नहीं बल्कि घटनाएं खबरों को जन्म देती हैं हमारी समझदारी को भ्रमित करती है। गरीबी के बारे में जो सर्वोत्तम रिपोर्टें हैं उनमें से कुछ ने घटनाओं को नाटकीय रूप देने की कोशिश की है। असली नाटक तो उस प्रक्रिया में है। उन कारणों में है।

जंगलों की अंधाधुंध कटाई का सूखे के साथ काफी संबंध है। लेकिन चूंकि यह एक प्रक्रिया है इसलिए इसे फीचर के रूप में स्थान मिलता है और इसके बाद अखबार में तरह–तरह की खबरों की भीड़ में यह 'पर्यावरण' नाम से बने एक टापू में समा जाती है और यह मान लिया जाता है कि इसमें बस पर्यावरणवादियों की ही दिलचस्पी होगी।

सच्चाई क्या है? आजादी के बाद से उड़ीसा में सभी विकास परियोजनाओं पर जो भी पैसा खर्च किया गया उस पर हर साल तैयार होने वाली लकड़ी का व्यापारिक मूल्य हावी हो गया और इसे अंजाम देने के लिए जंगलों की जम कर कटाई हुई।

अन्य अनेक करकों पर, जिन पर ध्यान दिया जाना चाहिए था, बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया। मिसाल के तौर पर कालाहांडी की परंपरागत सिंचाई व्यवस्था की बर्बादी, दोषपूर्ण विकास–रणनीति जिसकी चोट हजारों लोगों को झेलनी पड़ी। इनमें से कुछ योजनाएं लोगों के पलायन को रोकने के लिए बनी थीं लेकिन इनका असर उल्टा ही हुआ। इसके अलावा यहां के लोग जिस दुष्चक्र में फंस गए थे उसमें मुसीबत में पड़ा कोई भी व्यक्ति सरकारी समर्थन मूल्य से आधी कीमत पर अपना धान बेचने को मजबूर था। साथ में भू–स्वामित्व का बेढंगा रूप जिसने लोगों को और भी अलगाव में डाला इन सारी बातों को एक दूसरे से जोड़कर देखने की जरूरत है और तब इसके परिणाम के रूप में बच्चों की बिक्री की बात लायी जानी चाहिए।

जिस दिन इस तरह की प्रक्रियाएं खबरों का रूप लेने लगेंगी, कालाहांडी की मुसीबत का समाधान ढूंढने में मदद मिलेगी।

पुनश्चः

जब मैं पिछली बार मई–जून 1995 में नवापाडा गया तो मेरे दिमाग में यह बात साफ थी कि अधिकांश बुनियादी समस्याएं पहले जैसी ही होंगी। प्रसंगवश यह बता दूं कि फनास का मकान अभी भी पत्रकारों के लिए एक तीर्थ स्थान की तरह है। अमलापाली गांव के अन्य लोगों को यह बात अच्छी नहीं लगती। वे कहते हैं कि यहां सभी लोग आते हैं और पैसे दे जाते हैं। क्या हम लोगों की कोई समस्या नहीं है? इससे भी पहले जब मैं गांव में लोगों की जमीनें हड़पे जाने के तरीकों का अध्ययन कर रहा था लोगों ने खासतौर पर इस ओर मेरा ध्यान दिलाया। कालाहांडी में हर वयक्ति के पास एक कहानी है।

क्या बनिता का मामला किसी बच्चे की बिक्री का मामला था? जिस प्रकार यहां दहेज का चलन है उसी तरह लड़की की कीमत चुकाने की भी परंपरा है। बनिता का मामला किस परंपरा के अंतर्गत आता है? यह कौन तय करेगा? बनिता ने फैसला किया कि वह पोर्ट के साथ रहेंगी।

1985–86 में जो खबरें प्रकाशित हुई उनका मेरे ऊपर वैसा ही गहरा असर पड़ा जैसा 1980 के दशक में अखबार पढ़ने वाले किसी भी व्यक्ति पर पड़ता रहा होगा। 1994 में अपनी दो यात्राएं पूरी करने के बाद उस अवधि की कहानियों का पर्याप्त ब्यौरा मेरे पास उपलब्ध हो चुका था। उपलब्धियों के साथ–साथ पीड़ादायक प्रवृत्तियां भी मौजूद थीं। जो सकारातम्क प्रभाव थे उनसे घिसे–पिटे तरीकों को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

उन्हीं दिनों कि एक रिपोर्ट का मैं जिक्र करना चाहूंगा जिसे काफी लोगों ने पढ़ा था। इसकी शुरूआत इस प्रकार थी। 'यह है एक नर्क की तस्वीर।' इसमें यह बताया गया था कि जो लोग कालाहांडी छोड़कर कहीं और नहीं जा सके वे या तो मर गए या मर रहे हैं।

जो यहां बचे रहे वे समूहों में इकट्ठे होकर कुत्तों की तरह पानी चाटते हुए डोलते रहते हैं। अब इस रिपोर्ट को देखने से आपको साफ पता चल जाता है कि गरीबों के प्रति उच्च्य मध्य वर्ग का दृष्टिकोण क्या रहा है। वे उन्हें बस जानवर समझते थे। शायद ऐसा जानवर जिसको दया की जरूरत है। कुत्तों की तरह। लेकिन बात इतनी से ही नहीं खत्म होती।

रिपोर्ट में आगे कहा गया था कि 'खाने के नाम पर ये लोग जहरीली जड़ें और पत्तियां चुनते थे। क्योंकि वहां बस इन्हीं बीजों की पैदावार होती है। 'यह पहला मौका था जब मुझे इस बात की जानकारी मिली की लोग जहरीली जड़ें इकट्ठा करने के लिए निकलते हैं। मैंने यह सोचा कि यह सब दुर्घटना बस हुआ लेकिन वहां पैदा होने वाली यह एक मात्र चीज है तो लोग इसे लेंगे ही। रिपोर्ट में 1995 के सूखे को एक बहुत बड़ी घटना बताया गया था और यह बात सही भी थी। लेकिन इसके बाद 20 वर्ष के

सूखे का वर्णन था। (जबकि वर्षा के आंकड़ों को देखने से यह बात सही साबित नहीं होती।)

संकट के ब्यौरे और 1985 के सूखे का जितने विस्तार के साथ वर्णन था वह प्रशंसनीय है। इसने सरकार की असफलताओं का पर्दाफाश किया और इसके लिए इसे श्रेय दिया जाना चाहिए। इसने आर्थिक कारकों का भी जिक्र किया लेकिन सारा ध्यान 'बिक्री पर और प्राकृतिक विपदा पर लगा रहा' वही पुरानी प्रवृत्ति और घिसे–पिटे तौर–तरीके। 'प्रकृति ने अपना क्रूर चेहरा दिखाया।' यहां 'बहुत दिनों से' अकाल पड़ता रहा है। अब इस क्षेत्र के बारे में 'कोई उम्मीद नहीं की जा सकती है'। इन सारी रिपोर्टों से उन बुनियादी मसले की ओर लोगों का ध्यान जाने में रुकावट आयी जिसका सरोकार इस प्रश्न से था कि लोग आखिर गरीब क्यों है।

कुछ मामलों में देखें तो स्थितियों में कोई परिवर्तन नहीं दिखायी देता। कुछ अखबार और पत्र–पत्रिकाएं अभी–भी अदल–बदल कर सूखा और अकाल शब्दों का इस्तेमाल करती रहतीं हैं। इन दोनों शब्दों के अलग–अलग अर्थ हैं। लेकिन अगर अकाल शब्द का इस्तेमाल कर दिया जाता है तो लोगों को खतरे का एहसास होता है और फिर एक बेहतर रिपोर्ट बन जाती है। 1986 में एक संपादक ने बहस के दौरान मुझसे कहा कि इन दोनों शब्दों के बीच 'नाम मात्र' का फर्क है। आज भी गरीबी के बारे में समाचार तैयार करने की जो कोशिशें होती हैं उनमें घटना वाला दृष्टिकोण ही काम करता है। गरीबी का वर्णन दर्दनाक घटना के रूप में इस प्रकार किया जाता है जिससे लोगों को सदमा लगे और कुछ ऐसा महसूस हो की कोई नई बात हो गयी है।

ऊपरी तौर पर देखें तो किसी भी संकट पर ध्यान तभी जाता है जब इसके फलस्वरूप कोई बहुत बड़ी बर्बादी हो चुकी हो। खाद्यान्न के मामले में अतिरिक्त उत्पादन करने वाले कालाहांडी जिले को आज की हालत तक पहुंचने में कई वर्ष लगे होंगे। लेकिन यह सवाल सीधे–सीधे प्रक्रिया से जुड़ा है। इसलिए यह कभी खबर नहीं बन सका। हो सकता है कि आज इस पर लिखने से कुछ काम बने।

रामनाड के जल सम्राट - 1

रामनाथपुरम (तमिलनाडु): रामू इन दिनों खेती–बाड़ी पर बहुत ज्यादा समय नहीं लगाता है। इसमें कोई शक नहीं कि यहां के किलाथुवल गांव के बड़े जमींदारों में से वह एक है। लेकिन आजकल वह एक ऐसे धंधे में लगा है जिसमें ज्यादा फायदा है। रामू के पास इन दिनों एक ट्यूबवेल और एक बिजली का पंपसेट है।

इसकी बदौलत यह युवा उद्यमी रामनाड का जल सम्राट (तन्नीर अधिपति) बन गया है। यह इलाका भीषण रूप से सूखाग्रस्त इलाका है और पिछले 10 वर्षों से यहां प्रतिवर्ष औसतन लगभग 112 मिमी. वर्षा में कमी आती रही है। इस वर्ष शुरू के पांच महीनों में जितनी वर्षा हुई उससे तो वे पुराने दिन भी कुछ बेहतर ही दिखायी देने लगे हैं। 1980 के दशक में किसी भी वर्ष में इस अवधि में जितनी वर्षा होती रही है उससे इस वर्ष 10 प्रतिशत कम ही बारिश हुई।

यहां के सिंचित क्षेत्र का लगभग 90 प्रतिशत हिस्सा 1841 तालाबों पर निर्भर है जो वर्षा के पानी से भरे होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि रामनाड की जनता मानसून की कृपा पर जिंदा रहती है। इस जिले में एक भी ऐसी नदी नहीं है जिसमें हमेशा पानी भरा रहता हो। यहां तक कि इस इलाके में कुंओं की जो संख्या है वह भी तमिलनाडु के अन्य इलाकों की औसत संख्या से 20 प्रतिशत कम ही है। जिन किसानों के पास पानी का कोई साधन नहीं है और पंप सेट नहीं है उन्हें उन लोगों से पानी खरीदना पड़ता है जिनके पास यह साधन उपलब्ध है। किलाथुवल और मुदुकुल्लूथूर ताल्लुक के कुछ अन्य गांवों के लोगों को पानी के लिए रामू की सेवाएं किराए पर लेनी पड़ती है। उसके पंप सेट की मदद से वे कुंओं और तालाबों की तलहटी में इकट्ठे जल को खींचते हैं।

रामू खेती के मौसम में अपने तीन हॉर्स पावर के पंपसेट के इस्तेमाल के लिए प्रति घंटे बारह रुपए लेता है। इस आधार पर देखें तो अपने पड़ोसी करूपन्न जैसे एक छोटे किसान से भी उसने 45 दिनों में 2000 रुपए ले लिए। उसके पास ऐसे ग्राहकों की बड़ी लम्बी सूची है।

इस तरह के सौदों में रामू के पक्ष में और भी दो बातें हैं। पहली बात तो यह है कि लागत के मद में उसका बहुत मामूली पैसा खर्च होता है। चूंकि वह भी एक किसान है इसलिए उसे बिजली मुफ्त में मिलती है। दूसरी बात यह है कि यहां आम तौर पर वोल्टेज बहुत कम होता है। इसका नतीजा यह है कि किसी पंप सेट को जितने घंटे चलने चाहिए उससे दुगने घंटे उसे चलाना पड़ता है जिससे करूपन्न पर तो अच्छा

निजी व्यवसाय करने वालों ने सायलगुडी, रामनाड में एक सार्वजनिक जलाशय पर कब्जा कर लिया है और यहां से पानी ढोने के लिए वे बैलगाड़ियों के एक छोटे–मोटे काफिले का इस्तेमाल करते हैं। वे अपने कुछ आदमी भी वहां तैनात कर देते हैं ताकि जलाशय से कोई पानी न ले जा सके।

खासा बोझ पड़ जाता है। लेकिन रामू के लिए मुनाफा ही मुनाफा है। करूपन्न के पास एक एकड़ से भी कम जमीन है और उसके लिए 2000 रुपए की रकम एक बड़ी रकम है। नागार्जुन नाम का एक दूसरा किसान भी फसल के मौसम के दौरान रामू को पानी के लिए 2000 रुपए देता है। उसने बताया कि 'यह पैसा भी मैं मिर्च जैसी फसल के लिए देता हूं। धान के लिए तो और भी ज्यादा पानी की जरूरत है।'

नल्लनगुडी में राजू प्रति घंटे 30 रुपए वसूलता है। इसकी वजह यह है कि उसके पास पांच हॉर्स पावर का पंप सेट है। उसका कारोबार बड़े पैमाने पर चलता और वह ऐतिवायल, थियानूर तथा अन्य पांच–छह गांवों के किसानों को अपनी सेवाएं देता है। सार्वजनिक कानमोई (रामनाड के विशाल सिंचाई तालाब) से पानी खींचने में भी वह काफी रुचि लेता है। क्या तुम्हारे कानमोई में पानी का स्तर नीचे चला गया है? राजू सवाल करता है। लेकिन यह निश्चित मानिए की जबतक किसी गांव में उसे 40–50 ग्राहक नहीं मिल जाते वह इस काम को करना लाभप्रद नहीं मानता।

गोविंद राजन के पास दो आयल पंप सेट और एक बिजली से चलने वाला भी सेट है। अगर कोई बिजली से चलने वाले पंप सेट को किराए पर लेता है तो इसका किराया रामू के पंप सेट के बराबर ही है। लेकिन वह तेल से चलने वाले पंप सेट के

लिए प्रति घंटा तीस रुपए वसूलता है। बिजली तो मुफ्त में मिल जाती है लेकिन तेल के साथ ऐसी बात नहीं है। वह अपने कुंओं से पानी भी बेच लेता है। इस सूखे ने इस मौसम में उसे काफी समृद्ध बना दिया है– 70 हजार रुपए की आय हुई।

इन तीनों जल सम्राटों के बीच समानता के कुछ अन्य महत्वपूर्ण पहलू भी हैं। इन सबके पास काफी जमीनें हैं और सिंचाई के लिए पानी की इन्हें कोई कमी नहीं होती। रामनाड में पानी का बाजार जितनी तेजी से विकसित हो रहा है वह आश्चर्यजनक है।

सिंचाई के लिए ही नहीं बल्कि पीने के पानी का बाजार भी इस मामले में पीछे नहीं है। इस जिले में ऐसा हो ही नहीं सकता। यहां औसतन अधिकांश गांवों में प्रत्येक व्यक्ति को रोजाना शून्य से छह लीटर तक पानी मिलता है। यह मात्रा एक व्यक्ति के लिए आधी बाल्टी से भी कम पानी की हुई और इसी में उसे अपने सारे काम निपटाने हैं। खुद रामनाड शहर में एक स्थानीय बेकरी का मालिक साइड बिजनेस के रूप में जो लाभकारी धंधा करता है उसका ताल्लुक वहां के विभिन्न होटलों और लॉजों में पानी बेचना है।

सायलगुडी में 'जल बाजार' का अनोखा ही दृश्य है। आप किसी भी समय देख सकते हैं कि 10 से 12 बैलगाड़ियां बड़े–बड़े पीपों के साथ खड़ी मिलेंगी और इन पीपों में सार्वजनिक कानमोई से पानी लाकर निजी तौर पर बेचा जाता है। यह धंधा करने वालों ने या तो नए कुएं खोद लिए हैं या सार्वजनिक कानमोई की तलहटी में बने कुंओं को और गहरा करा लिया है। यहां से वे जो पानी लाते हैं उसके लिए 30 पैसा प्रति घड़ा वसूलते हैं।

कुछ और लोगों ने कानमोई क्षेत्र में नहाने के घाट स्थापित कर लिए हैं। यहां नहाने के बदले में 50 पैसे देने पड़ते हैं। सायलगुडी के स्थानीय लोगों ने मुझे बताया कि लोगों की शिकायत सुनकर रामनाड के नए कलक्टर एल.कृष्णन यहां मुआयना करने आए। पानी के मामले में यहां चल रही धांधली और धोखाधड़ी से त्रस्त होकर उन्होंने स्थानीय पंचायत यूनियन को कहा कि वह नहाने के घाटों को अपने कब्जे में ले ले। इससे लाभ भी हुआ।

इसके एक सप्ताह बाद यहां के जल सम्राटों ने दावा किया कि सायलगुडी में जो सार्वजनिक तालाब हैं उनमें बने कुंओं के वे 'मालिक' हैं। उनका कहना है कि तालाब की तलहटी में बने तेरह निज़ी कुंओं पर मुथचेलन, अरूणाचलम और शिवलिंगम का 'स्वामित्व' है। इस धांधली के खिलाफ संघर्ष कर रहे तमिलनाडु किसान सभा के एक नेता आर. करुणानिधि ने मुझे बताया कि पानी बेचने का धंधा यहां बहुत बड़े पैमाने पर चल रहा है। एक घड़ा पानी का ये लोग 30 पैसे लेते हैं और प्रतिदिन एक कुएं का औसतन 500 घड़ा पानी बिकता है। इस प्रकार ये तीनों प्रतिमाह 60 हजार रुपए के आसपास की कमाई कर रहे हैं। पानी के धंधे में लगे लोग प्रायः ऐसे लोग हैं जिनके कुछ राजनीतिक संबंध भी हैं। आगे चलकर इनका महत्वपूर्ण बाजार वे गांव होने वाले हैं जो

अभी दिखाई नहीं दे रहे हैं लेकिन आने वाले दिनों में जिनके सामने पानी का भीषण संकट पैदा होगा। यही वह बाजार होगा जहां रामू और गोविंदराजन जैसे लोग सक्रिय हैं।

ऐतिवायल की हरिजन बस्ती में न तो पानी की कोई टोंटी हैं और न वहां पाइपों के जरिए पानी पहुंचाने की कोई व्यवस्था है। वहां के कुंओं में केवल खारा पानी भरा है। इन सबके बावजूद वाटर बोर्ड का एक छोटा अधिकारी यहां के रहने वालों को 20 पैसा प्रति घड़ा के हिसाब से पानी बेचता है। आखिर उसे पानी कहां से मिलता है? होता यह है कि रामनाड शहर के लिए पानी की जो निर्धारित मात्रा है उसकी सप्लाई में वह थोड़ी सी गड़बड़ी कर देता है। जब मैं एटवायल पहुंचा तो वह अधिकारी दूर के मंदिर में पूजा करने गया हुआ था। उस दिन गांव वालों को बिना पानी के ही काम चलाना पड़ा।

किलाथूवल के वी. नागराजन ने बताया कि 'हमलोगों को पीने का पानी लेने के लिए सवेरियर पटिनम और माहिदी जाना पड़ता है और इतनी दूर जाने पर आप एक बाल्टी अथवा एक घड़ा से ज्यादा ढो नहीं सकते।' गर्मियों के महीने में पानी की तलाश में हर रोज यहां औरतों को लगभग चार घंटे बर्बाद करने पड़ते हैं। फिर भी जल संकट के निहितार्थों का यहीं अंत नहीं है।

उड़ीसा के कालाहांडी जिले को प्रायः सूखे के प्रतीक के रूप में पेश किया जाता है। कालाहांडी में औसतन प्रतिवर्ष 1250 मिमी. वर्षा होती है। पिछले 20 वर्षों के दौरान जिस वर्ष यहां सबसे कम वर्षा हुई उस वर्ष यह 978 मिमी. थी। रामनाड में इस मात्रा को दुर्लभ माना जाएगा। यहां 'सामान्य' वृष्टि दर लगभग 827 मिमी. होती है। 1980 के समूचे दशक में इस जिले में औसतन प्रतिवर्ष 720 मिमी. से भी कम वर्षा हुई। कई साल ऐसे भी गुजरे जब यह मात्रा 650 मिमी. अथवा इससे भी कम रही।

रामनाड ऐसा जिला है जहां से रोजगार की तलाश में बाहर जाने वालों की संख्या सबसे अधिक रही है। पुडुकोट्टई की ही तरह यहां महिलाओं की संख्या पुरुषों के मुकाबले ज्यादा है जो राज्य और राष्ट्रीय प्रवृत्ति के विपरीत है। ऐसा इसलिए नहीं है कि यहां महिलाओं को कुछ ज्यादा सम्मान प्राप्त है—दरअसल सूखे के कारण लोगों का जो पलायन होता है उसी की वजह से ऐसी स्थिति है। खेती—बाड़ी की विफलता के कारण कामकाजी पुरुषों की बहुत बड़ी संख्या जिले से बाहर ही रहती है।

यहां पड़ोस के छोटे किसानों को पानी बेचने वाले ऐसे लोग मिल जाएंगे जो जमींदार होने के साथ—साथ पानी के भी सम्राट हैं। वे जब चाहें तो पानी की सप्लाई रोक देने का फैसला ले सकते हैं और ऐसा वे प्रायः लेते भी हैं जिससे उन लोगों का सारा गणित गड़बड़ हो जाता है जो इस पानी के आधार पर ही अच्छी फसल की योजना बनाए रहते हैं। इस कारण वे कर्ज की चपेट में फंस जाते हैं और समय बीतने के साथ इसकी परिणति यह होती है कि उनकी जमीन जमींदारों के हाथ में चली जाती है।

जल स्रोतों के निरंतर निजीकरण का दुष्परिणाम यही होगा कि यहां के ज्यादा से ज्यादा किसान अपनी ही जमीन से बेदखल होते जाएंगे।

जैसा कि यहां के कलक्टर अच्छी तरह जानते हैं इन सारी समस्याओं का एक जबाव यह हो सकता है कि प्राइवेट कुंओं के स्थान पर सामुदायिक ट्यूबवेल लगाए जाएं। लेकिन कृष्णन को यह भी पता है कि समस्या का समाधान इतने से ही नहीं हो जाएगा। उसका कहना है कि प्रत्येक प्रशासन सामुदायिक ट्यूबवेल जैसे साधनों को समाज के सबसे कमजोर वर्ग तक पहुंचाना चाहेगा। जैसे ही हम किसी ऐसी बस्ती में, मान लीजिए हरिजनों की बस्ती में, सामुदायिक ट्यूबवेल लगाएंगे तो इसका नतीजा क्या होगा? इस गांव में आधा दर्जन ऐसे निहित स्वार्थी तत्व हैं जो तुरंत उस ट्यूबवेल को नष्ट करने की कोशिश करेंगे। अगर ट्यूबवेल काम करने लगा तो उनकी मुनाफाखोरी और दादागिरी पर असर पड़ेगा। हमें इस संपत्ति के महत्व के बारे में लोगों को सही अर्थों में शिक्षित करना होगा ताकि वे इसकी अच्छी तरह हिफाजत कर सकें और देखभाल कर सकें।

रामनाड के जल सम्राट - 2

रामनाड (तमिलनाडु): 'तालाबों के शहर' के रूप में रामनाडपुरम की छवि अब इतिहास के गर्भ में समा गई है। यहां के प्राचीन लोगों की यह स्पष्ट धारणा थी कि अगर इस क्षेत्र के अस्तित्व को बनाए रखना है तो यहां के जल स्रोतों का प्रबंधन बहुत ही जरूरी है।

पुराने रामनाड में जिसके अंतर्गत पसोमपोन और कमराजाल के मौजूदा जिले शामिल हैं, छह हजार से अधिक प्राचीन तालाबों का अस्तित्व था। आज रामनाड में 1841 तालाब हैं और इनमें से कुछ हजार साल से भी अधिक पुराने हैं।

रामनाड का जो विशाल तालाब है उसकी क्षमता 61 करोड़ 80 लाख क्यूबिक फीट है और इसमें 8.24 वर्ग मील के क्षेत्र से पानी आता है। किसी को यह ठीक-ठीक नहीं पता है कि यह तालाब यह कितना पुराना है-- यहां तक की सरकारी गजट में भी इसका उल्लेख नहीं मिलता। वैगाई नदी इसी तालाब में आकर गिरती है।

तिरूवदनाई ताल्लुक में स्थित राजसिंहमंगलम तालाब भी काफी विशाल है। इसके किनारे बने बांध की लंबाई 13 मील है और इससे 4.5 हजार एकड़ भूमि की सिंचाई होती है।

दिलचस्प बात यह है कि रामनाड के इन विशाल तालाबों का निर्माण एक साथ नहीं बल्कि क्रमिक रूप से हुआ था। इसका अर्थ यह हुआ कि एक तालाब से निकला हुआ अतिरिक्त जल नहर के रास्ते होता हुआ उससे नीचे बने दूसरे तालाब में पहुंचता है और यह क्रम आगे तक चलता रहता है। इस प्रकार एक सीमा के अंदर जल की कम मात्रा वाले तालाबों की आपूर्ति उनसे होती थी जिनमें पानी की मात्रा अतिरिक्त थी।

ऐसा नहीं है कि प्राचीन तमिल राजे-महाराजे परोपकारिता के किसी भाव से भरे थे। जैसा कि तमिलनाडु के दो हजार वर्षों की सिंचाई व्यवस्था का अध्ययन करने वाले एक विद्वान डेविड लुडन का कहना है-'धनी किसानों ने कुंए खुदवाए, प्रधान लोगों ने तालाब बनवाए और राजाओं ने बांध बनवाए।' लेकिन कम से कम उस समय पानी के तर्कसंगत इस्तेमाल की अवधारणा थी, जल से की जाने वाली सिंचाई के बारे में एक स्पष्टता थी।

आज स्थिति यह है कि यहां के सिंचित क्षेत्र का लगभग 90 प्रतिशत हिस्सा 1841 प्राचीन तालाबों पर निर्भर करता है। तमिलनाडु के शेष हिस्सों के लिए जो क्षेत्र वर्षा से होने वाली सिंचाई पर निर्भर है वे औसतन महज 38 प्रतिशत है। रामनाड की

परंपरागत सिंचाई व्यवस्था यहां की जीवन रेखा है। लेकिन संकट के समय भी यही जीवन रेखा है।

अधिकांश तालाबों की हालत इतनी खस्ता है की उनकी मरम्मत होनी चाहिए। लेकिन जैसा कि एक वरिष्ठ अधिकारी ने बताया-'इन तालाबों के रख-रखाव के लिए जो धनराशि निर्धारित की गयी है वह जरूरत की धनराशि से 40 प्रतिशत कम है। इसलिए मरम्मत के वही काम हो पाते हैं जिनका किया जाना बहुत जरूरी हो। जो धनराशि उपलब्ध है उससे यह संभव ही नहीं है कि तालाबों को पानी पहुंचाने वाली नहरों की मरम्मत की जा सके।' पैसे की कमी के बावजूद यहां के सार्वजनिक निर्माण विभाग ने तालाबों को सही सलामत रखने की भरपूर कोशिश की है।

जहां तक पेयजल का सवाल है समुद्री जल के खारापन को समाप्त करना प्रौद्योगिकी के स्तर पर संभव साबित हुआ है। यहां के कलक्टर एल.कृष्णन अगर इस संदर्भ में आशावादी हैं तो यह ठीक ही है। हालांकि इस पर जो लागत आएगी वह अभी भी बहुत अनुकूल नहीं है। इसके अलावा इसके लिए आज के युग में जब सरकारें पैसा कम से कम खर्च करना चाहती हों एक बड़ी पूंजी लगानी पड़ेगी। अगर इस पर आने वाली लागत को जनता पर थोप दिया गया तो उसके लिए और भी समस्या पैदा हो जाएगी जो पहले से ही मनमाने दामों पर निजी व्यापारियों द्वारा पानी खरीदकर पी रही है।

विशुद्ध रूप से राजनीतिक तौर पर उदासीनता और वैगायी बांध जैसी परियोजनाओं से रामनाड को फायदा पहुंचाने में असफलता ने इस जिले की पीड़ा को अधिक बड़ा दिया है। मदुरै के क्षेत्र में बैगाई बांध के तैयार होने से (1950 के दशक से) वस्तुतः इस नदी का रामनाड की ओर प्रवाह कम कर दिया है।

एक राजनीतिक कार्यकर्ता ने मुझसे कहा-'यहां तमिलनाडु में हमारा एक अलग किस्म का कावेरी जैसा विवाद है ऊपर के स्तर पर इच्छाशक्ति की कमी से ही रामनाड में पानी से संबंधित समस्याएं पैदा हुई हैं।'

इस बीच 265 किलोमीटर के विशाल तटीय क्षेत्र होने के कारण रामनाड में भू-जल की संभावनाएं अपार है। लेकिन यहां जो कुंए हैं वे पहले ही 150 मीटर या और भी गहरे तक जा चुके हैं। अधिकारियों का कहना है कि तमिलनाडु के बाकी हिस्सों के विपरीत रामनाड ने अभी भू-जल स्रोतों का जरूरत से ज्यादा शोषण नहीं किया है।

वस्तुतः इसने अपने सुरक्षित जलाशयों के एक तिहाई से कम हिस्से का भी इस्तेमाल किया है। फिर भी यह एक सच्चाई है कि कुंओं के गहराई बढ़ती जा रही है, इन पर खर्च ज्यादा होता जा रहा है और गांव वाले लगातार यह शिकायत कर रहे हैं कि उन्हें *उपु थानिद* (खारा पानी) मिल रहा है।

रामनाड में एक अध्ययन किया गया जिसमें 49 कुंओं को ध्यान में रखा गया। इस अध्ययन में यह पता किया गया कि जून 1990 में और फिर जून 1992 में पानी

के स्तर में क्या फर्क पड़ा। इस अध्ययन से पता चला कि इनमें से मात्र दस कुंओं में जलस्तर में 0.23 प्रतिशत की मामूली वृद्धि हुई। शेष 39 में या तो कोई वृद्धि नहीं हुई या इनका जलस्तर नीचे चला गया।

तमिलनाडु के स्तर पर 1793 कुंओं के सर्वेक्षण से पता चला कि केवल 1.65 प्रतिशत ने मामूली वृद्धि दिखाया। इसका निहितार्थ यह है कि आगे चलकर भू–जल की स्थिति बहुत उत्साहवर्द्धक नहीं है।

सदियों से चली आ रही सरकारी उपेक्षा का ही यह नतीजा है कि कृषि क्षेत्र में सबसे जबर्दस्त समस्याएं पैदा हो गई हैं। 1973 में रामनाड में किये गए एक तकनीकी आर्थिक सर्वेक्षण का निष्कर्ष है कि जिले के लिए इसके प्राचीन तालाब अनिवार्य हैं। इसमें सलाह दी गयी थी कि इन तालाबों की मरम्मत का काम तुरत शुरू किया जाना चाहिए। 20 वर्ष बाद भी इनकी मरम्मत का काम अभी शुरू होना है और इस मद में निर्धारित पैसों में कमी आती जा रही है।

रामनाड के विशाल तालाब को देखने के बाद 'पानी के बाजारों' के आखिरी पहलू पर निगाह जाती है। एक निजी व्यापारी ने दो लाख से भी कम लागत के एक सरकारी टेंडर के जरिये यह अधिकार हासिल कर लिया है कि वह इस विशाल तालाब से मछलियां पकड़ सके। मछली पकड़ने का काम वह महज सीजन में करता है जो तीन दिन का होता है और इस दौरान उसे 12 लाख से 20 लाख रुपए तक की आमदनी हो जाती है। कुल मिलाकर देखें तो पंडया और चोला लोगों ने तालाबों और जल का बेहतर इस्तेमाल किया था।

पुडुकोट्टई में पानी की तलाश - 1

पुडुकोट्टई (तमिलनाडु): रात में ढाई बजे जैसे ही पुडुकोट्टई रेलवे स्टेशन पर ट्रेन ने रेंगते हुए प्रवेश किया अंधेरे का लाभ उठाते हुए बड़ी तेजी और खामोशी के साथ इस पर हमला हुआ। यात्रीगण सोए हुए थे। मैं बरामदे में अपने सामान के साथ बैठा हुआ था। अपनी राइफल लिए ऊंघते हुए चौकीदार ने उस समय असहाय होकर चारो तरफ देखा जब लोग ट्रेन में चढ़ रहे थे। लोगों के हाथों में घड़े–बाल्टियां और प्लास्टिक के बड़े–बड़े डिब्बे थे।

इन्हें पानी की जरूरत थी।

इसके लिए उन्होंने अपने सधे हाथों से ट्रेन के ट्वायलेट में पहुंचने वाले जल की टंकियों को खाली कर दिया। यह सब कुछ चंद मिनटों में हुआ। वे लोग चले गए थे और मैं अकेला प्लेटफार्म पर रह गया था। अधिकांश ट्रेनों के आने पर ऐसा ही दृश्य देखने को मिलता था।

पानी की कमी ने 13 लाख की आबादी वाले इस जिले में पानी का एक अच्छा खासा बाजार तैयार कर दिया है। यह धंधा सिंचाई और पीने के काम आने वाले जल के लिए किया जाता है। पुडुकोट्टई नाम के इस शहर में आप जगह–जगह लोगों को सारी रात पानी की तलाश में भटकते हुए देख सकते हैं। गांव में किसी भी व्यक्ति को रोजाना 10 लीटर से ज्यादा पानी नहीं मिलता। यह औसत उन दिनों का है जिन्हें हम बेहतर मानते हैं। 10 लीटर पानी से एक बाल्टी भी नहीं भरी जा सकती। कभी–कभी तो ऐसा भी होता है कि लोगों को छह लीटर से ज्यादा पानी नहीं मिलता और कुछ दिन तो ऐसे भी होते हैं जब बिल्कुल ही पानी नहीं मिलता। जरा इसकी तुलना दिल्ली से करिये जहां प्रत्येक नागरिक को प्रतिदिन औसतन 220 लीटर पानी मिल जाता है। कलकत्ता में यह मात्रा 190, बंबई में 155 और मद्रास में 70 लीटर है।

पुडुकोट्टई के रेलवे स्टेशन की अजीबो–गरीब घटना के कुछ दिनों बाद मैं गंदर्भकोट्टई पहुंचा। सूखे से पीड़ित इस प्रखंड में हाल ही में पुलिस ने प्रवेश किया था। इन लोगों ने बातचीत के लिए पंचायत यूनियन के आफिस में सैकड़ों क्रुद्ध ग्रामीणों को इकट्ठा किया था। गांव के लोग अपने इलाकों में बसों और लारियों को रोक रहे थे। आंदोलनकारियों ने बताया कि पानी के जिस संकट को हमलोग झेल रहे हैं उस पर

सरकार का ध्यान दिलाने के लिए और कौन सा तरीका हम अख्तियार करते।

सूखे का अर्थ यहां पेयजल के अभाव से आगे भी बहुत कुछ है। इसके कारण लोगों की आय और आजीविका के साधन नष्ट हो गए हैं। वह भी ऐसे इलाके में जहां सिंचाई वर्षा से भरने वाले उन हजारों तालाबों पर बुरी तरह निर्भर है। जिनमें से कुछ सदियों पुराने हैं। नहरों और कुंओं से सिंचाई किया जाने वाला क्षेत्र (लगभग 22,000 हेक्टेयर) वर्षा के जल से भरे जाने वाले तालाबों से सिंचाई किये जाने वाले क्षेत्र (82,000 हेक्टेयर से अधिक) का एक चौथाई है। वर्षा से भरे जाने वाले' का अर्थ यह हुआ कि मानसून की दया पर निर्भर रहना जिसने पिछले 10 वर्षों में से नौ में धोखा ही दिया है।

पानी की कमी के कारण तमिलनाडु के अपेक्षाकृत शहरीकरण के कम प्रभाव में आए इन जिलों में से प्रतिवर्ष बहुत बड़े पैमाने पर लोग बाहर जाते हैं। गंदर्भकोट्टई के ग्रामीण क्षेत्र में मैंने ऐसी कई बस्तियां देखीं जिनमें मकान सूने पड़े हुए हैं। मिसाल के तौर पर तुलुकमपट्टई नामक बस्ती में 200 में से 160 से भी अधिक परिवार घर छोड़कर जा चुके हैं। इनमें से अधिकांश पड़ोस के तंजोर जिले में गए हैं जो राज्य के सबसे धनी इलाकों में से एक है। इनमें से कई परिवार महीनों बाद लौटेंगे।

मकानों की एक के बाद एक कतारें दिखाई दे रही हैं लेकिन इनमें रहने वाला कोई नहीं है। निर्जन गलियों में मुझे केवल एक औरत दिखाई देती है। इसका नाम विजया है और 24 वर्षीया यह युवती एक खेतिहर मजदूर है। तंजोर से वह बस एक दिन के लिए यह देखने आयी है कि उसकी झोपड़ी सही सलामत है या नहीं। विजया इस बस्ती में रहने वाले अनेक गरीब कुरावुर (एक ऐसी जनजाति जिसका नाम अनुसूची में नहीं है।) लोगों में से एक है और उसका कहना है कि उनके सामने जिंदा रहने का और कोई चारा नहीं है। मुथुराज (एक अत्यंत पिछड़ी जाति) समुदाय के अनेक लोग भी तुलकमपट्टी छोड़कर जा चुके हैं।

ब्लाक स्तर के एक अधिकारी ने अपने कंधे उचकाते हुए बताया कि यह तो हर सीजन में होता है। उसने यह इतने सहज ढंग से कहा जैसे यह कोई पर्यटन का मामला हो। लेकिन कुरावुर जाति के 46 वर्षीय कलियामूर्ति ने, जो बस्ती में रुका हुआ है, इस संकट के लिए बस एक ही चीज को जिम्मेदार ठहराया और वह है—पानी।

इसी ब्लाक के जिन अन्य तीन गांवों—पेरियाकोट्टई, उलवेगल और कोविलपट्टी में मैं गया वहां मैंने देखा कि 18–45 आयु वर्ग के लोग गायब हैं। अनेक मामलों में इनके परिवारजनों को यह भी पता नहीं है कि वे कहां गए हैं। उन्हें बस इतना ही पता है कि वे काम की तलाश में गए हैं क्योंकि 'यहां बिल्कुल पानी नहीं है और जब पानी न हो तो हम खेती–बाड़ी कैसे करें।' ऐसा लगता है कि इन स्थानों में से किसी में किसी विधायक या सांसद ने जाने की जरूरत नहीं महसूस की।

पुडुकोट्टई में पूर्ण साक्षरता अभियान का भी काम तेजी से चलता रहा था। यहां 9 से 45 आयु वर्ग के लोगों के बीच अत्यंत सफल अभियान चला—ऐसा अभियान केरल से बाहर दक्षिण के और किसी जिले में नहीं चलाया गया। इस अभियान का नेतृत्व अरिवोली अयक्कम (ज्ञान का प्रकाश आंदोलन) ने शानदार ढंग से किया। यह सरकार द्वारा प्रायोजित एक संस्था है जिसके अध्यक्ष पद पर कलक्टर को नियुक्त किया जाता है। इसके बावजूद अरिवोली में बहुत बड़ी संख्या में निष्ठावान कार्यकर्ता हैं जो समाज के विभिन्न वर्गों से आए हैं।

एक ब्लाक में अरिकेली की एक मीटिंग में हमें यह जानकारी मिली कि पानी की कमी से किस तरह साक्षरता अभियान भी प्रभावित हो सकता है। अनेक कार्यकर्ताओं ने बताया कि उनके गांवों में उत्तर साक्षरता अभियान के सिलसिले में किये गए सर्वेक्षण में कितनी गड़बड़ी हुई। बड़े पैमाने पर लोगों के पलायन से इस पर बहुत बुरा असर पड़ा। संगमविदुधी और पलाया गंधर्वकोट्टई जैसे स्थान सबसे बुरी तरह प्रभावित थे। इनकी वजह से उत्तर साक्षरता अभियान में काफी विलंब होगा। इससे भी ज्यादा चिंता की बात यह है कि ज्यादा लंबा खिंचने से नव साक्षरों पर बुरा असर पड़ेगा—इसके कारण अनेक फिर निरक्षर बन जाएंगे।

तुलकमपट्टी में जो रुझान देखने में आ रहा है उससे अरिवोली कार्यकर्ता काफी चिंतित हैं। वहां, इलाके से बाहर जाने वाले मजदूर अपने साथ बच्चों को भी लेकर तंजौर जा रहे हैं। पहले ऐसा नहीं होता था—वे बच्चों को बड़े—बुजुर्गों के पास गांव में ही छोड़ जाते थे। एक कार्यकर्ता ने बताया कि 'इसका अर्थ यह हुआ कि ये बच्चे न केवल साक्षरता अभियान से तो वंचित रह ही जाएंगे, हो सकता है कि अपने जीवन में इन्हें कभी स्कूल जाने का भी अवसर न मिले।' अगर यह सिलसिला जारी रहा तो तुलकमपट्टी में समूची अगली पीढ़ी ऐसे लोगों की रह जाएगी जो पूरी तरह निरक्षर होंगे।

पानी के निरंतर अभाव का एक और दूरगामी असर देखने को मिला। किसानों द्वारा अपनी जमीन से वंचित होने में इसकी एक भूमिका है। अनेक इलाकों में विकास प्रक्रिया ने गरीबों का नुकसान किया है। मिसाल के तौर पर कुछ वर्ष पूर्व ट्यूबवेलों के आने का यह नतीजा हुआ कि कोविलपट्टी की मुथुराजा बस्ती के छोटे किसानों के हाथ से उनकी अधिकांश जमीन निकल गयी। इन ट्यूबवेलों के मालिक बगल की बस्ती के धनी और सवर्ण किसान थे। इन्होंने अपना मकसद पूरा करने के लिए इस नये हथियार का इस्तेमाल किया।

मद्रास इंस्टीट्यूट ऑफ डेवलपमेंट स्टडीज के डॉ. के. नागराज ने बताया—'भूजल पर नियंत्रण रखने वाला व्यक्ति अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है। वह ट्यूबवेल लगाता है। उसके पास बैंकों के संपर्क और तमाम संसाधन हैं।'

कोविलपट्टी में ट्यूबवेलों के लगते ही अनेक बातें देखने को मिलीं। इसका पहला असर यह हुआ कि छोटे किसानों द्वारा परंपरागत ढंग से खोद कर बनाए गए कुंए सूख गए। दूसरा असर यह दिखायी दिया कि ट्यूबवेल के मालिकों ने इन किसानों को पानी बेचना शुरू किया या नाजुक मौकों पर पानी देने से ही मना कर दिया जिसका नतीजा यह हुआ कि उनकी फसलें सूख गयीं और प्रायः इस कारण वे कर्ज के भंवर में फंस गए। तीसरा असर यह देखने में आया कि इन मालिकों ने किसानों से उनकी फसल के एक हिस्से की मांग की। चौथे असर के रूप में उन्होंने किसानों को निर्देश देना शुरू किया कि वे कौन सी फसल बोएं। पांचवां असर यह हुआ कि पानी पर उनकी निर्भरता का लाभ उठाते हुए इनकी जमीन पर कब्जा कर लिया।

कोविलपट्टी के 56 वर्षीय कोविंदराजन उन दिनों को याद करते हैं जब मुथुराजा परिवारों के अनेक लोगों के पास तीस एकड़ या इससे भी अधिक जमीन थी। अब अगर किसी के पास जमीन है भी तो वह एक तिहाई एकड़ या इससे भी कम है। गांववालों की चालीस एकड़ से भी ज्यादा जमीन बड़े किसानों के कब्जे में चली गयी। गोविंदराजन ने बताया 'अब हमारे पास न ट्यूबवेल है और न पानी। इसने सारे हालात बदल दिए।'

यह अतिसरलीकरण का मामूली सा उदाहरण है। छद्म किस्म का भूमि सुधार और अनुपयोगी जमीनें भी इसके बड़े कारण हैं। फिर भी इस जिले में लाखों लोगों के जीवन को प्रभावित करने में पानी अथवा पानी के अभाव की बहुत बड़ी भूमिका है। अगर आप जल संसाधनों पर नियंत्रण और गरीबी के बीच किसी संबंध की तलाश में हैं तो पुडुकोट्टई और पड़ोस का जिला रामनाड इसके सबसे बड़े उदाहरण है।

जाति तथा अन्य विवादों में भी पानी की बहुत बड़ी भूमिका है। इस मौसम में हरिजन बस्तियों की तकलीफें काफी बढ़ जाती है। ऊंची जाति के लोगों का पानी पर नियंत्रण हैं, वे हरिजनों को अपने जल स्रोतों तक बड़ी मुश्किल से पहुंचने देते हैं और जब सूखा पड़ता है तो इन स्रोतों को भी उनके लिए बिल्कुल बंद कर दिया जाता है। यही वजह है कि गंधर्वकोट्टई में विरोध करने वालों में से अच्छी खासी संख्या हरिजनों की है।

सवेरीपट्टी गांव के एक हरिजन 50 वर्षीय महामायी ने कहा—'अब हमलोग पश्चिमी तंजोर की ओर जा रहे हैं। हमारे पास न पानी है, न चलने के लिए सड़क है और ऊंची जाति के लोग हमें पीने का पानी भी देने को तैयार नहीं हैं। वे कहते हैं कि जाओ और जाकर अफसरों से लो। कभी—कभी पानी की तलाश में हमारा पूरा दिन गुजर जाता है और हमें एक टोंटी से दूसरे कुंए तक भागना पड़ता है। जहां तक पंपों की बात है वे हमेशा मरम्मत के लिए बंद रहते हैं।'

यहां तक कि जिन प्रखण्डों में ब्लाक डेवलपमेंट ऑफिसर के पद पर कोई भला व्यक्ति है, जैसा कि गंधर्वकोट्टई में है, वह भी बहुत लाचार है। उसके बस में गिने—चुने संसाधन है। छोटी—मोटी मरम्मत के लिए भी उसे 'ठेकेदारों की स्वीकृत सूची' का सहारा लेना पड़ता है। इन 'स्वीकृत' ठेकेदारों में से कुछ ऐसे भी हैं जो मामूली से काम को पूरा करने के लिए महीनों लगा देते हैं।

पुडुकोट्टई में पानी की कमी जीवन के लगभग सभी पहलुओं को प्रभावित करती है। स्वास्थ्य और शिक्षा से लेकर उद्योग धंधों तक, साक्षरता अभियान से लेकर कर्ज के भुगतान और जमीन से संबंधित समस्याओं तक सब पर इसका प्रभाव पड़ता है। आज जब सूखे की स्थिति उत्पन्न हो गयी है, इसी का प्रभाव है कि लोग बड़े पैमाने पर इस जिले से पलायन कर रहे हैं।

पुडुकोट्टई में पानी की तलाश - 2

पुडुकोट्टई (तमिलनाडु): थाचलकुरूचि नामक गांव में एक कार लगातार चक्कर लगा रही है। हमें पता नहीं है कि यह किसकी कार है लेकिन गांव वालों को मालूम है। कार के नजदीक आने तक वे हमें बताते हैं कि किस तरह सूखे ने उनकी जर्जर अर्थव्यवस्था को बर्बाद कर दिया है। कार के अंदर पुडुकोट्टई सेंट्रल को–आपरेटिव बैंक का एक प्रतिनिधि बैठा है। हमलोग इस बस्ती के एक अपेक्षाकृत सम्पन्न मकान के सामने खड़े हैं और यह देखकर उसकी दिलचस्पी बढ़ जाती है। मुझे मेरे एक मित्र ने एक जीप दी थी। वह कार हमारे आस–पास से तीन–चार बार गुजरती है और कार में बैठे व्यक्ति की निगाह जीप पर टिक जाती है। शायद वह सोच रहा है कि अपनी कर्ज वसूली अभियान में उसे यह जीप मिल सकती है।

मई का आधा महीना बीत चुका है और सूखे का असर पूरे जोर पर है। एक के बाद एक अनेक खण्डों में लोग अपने तरह–तरह के कर्जदारों का कर्ज चुकता करने में असमर्थ दिखाई दे रहे हैं।

पुडुकोट्टई जिला समग्र रूप से केंद्र सरकार द्वारा संचालित सूखा पीड़ित क्षेत्रीय कार्यक्रम (डी.पी.ए.पी.) के अंतर्गत नहीं आता है। यह ऐसा जिला है जहां प्रायः हर साल **800** मिमी. से कम बारिश होती है। इस साल यहां **600** मिमी. से भी कम बारिश हुई है। इसलिए इस बार यहां के लोगों के लिए यह बुरा साल साबित होगा। उत्तर और पूर्व के कुछ जिलों में ज्यादा बारिश हुई लेकिन ये सभी इलाके डी.पी.ए.पी. के अंतर्गत आते हैं। इसके लिए जो तर्क दिया जाता है वह भी बहुत आश्चर्यजनक है। बेशक ऐसा लगता है कि डी.पी.ए.पी. के अंतर्गत किसी ब्लाक को रखने का फैसला पूरी तरह से राजनीतिक फैसला होता है।

केंद्र ने पुडुकोट्टई के **13** प्रखंडों में से केवल चार को डी.पी.ए.पी. के अंतर्गत रखा है। इस तरह की योजनाओं पर जो पैसा व्यय होता है उसके कारण ऐसा फैसला लिया गया है। यह स्थिति उस जिले की है जहां आबादी का **40** प्रतिशत से भी ज्यादा हिस्सा सरकारी तौर पर घोषित गरीबी रेखा से नीचे की जिंदगी बसर कर रहा है। जैसा कि एक वरिष्ठ अधिकारी ने बताया कि–'यह सोचना कितना हास्यास्पद है कि सूखा प्रशासनिक सीमाओं का सम्मान करेगा और केवल चार प्रखण्डों तक अपने को सीमित रखेगा।'

तमिलनाडु सरकार ने भी इस जिले को सूखा प्रभावित जिला नहीं घोषित किया

है। अगर ऐसा किया जाता तो लोगों को लगान तथा अन्य शुल्कों से मुक्ति मिल जाती। सरकार का सोचना है कि यह एक 'बुरी मिसाल' होगी जो राज्य के लिए महंगी साबित हो सकती है। विभिन्न राजनीतिक क्षेत्रों से इस आशय की मांगे आयी लेकिन केंद्र और राज्य सरकार दोनों पर इनका कुछ भी असर नहीं पड़ा।

जाहिर है कि इस पर जरूरत से ज्यादा लागत आएगी।

यहां मौत और बीमारी की कोई कमी नहीं है। चूंकि पुडुकोट्टई की पीड़ा काफी हद तक खामोश और छिपी हुई है इसलिए न तो इस पर सरकार का ध्यान गया और न अखबारों का। राज्य विधान मंडल में इस जिले का प्रतिनिधित्व एक मंत्री करता है लेकिन राजधानी में उसका कोई खास दबदबा नहीं है और जाहिर है कि अदृश्य पीड़ाएं कभी–भी अखबारों की सुर्खियां नहीं बनतीं। एक अधिकारी ने पूछा कि क्या यहां जो संकट है वह जब तक एक विपदा का रूप नहीं लेगा तब तक लोगों का ध्यान इसकी ओर नहीं जाएगा? अगर ऐसा हुआ तो क्या यह एक बहुत बड़ी त्रासदी नहीं होगी?

यहां के प्राइमरी स्कूल टीचर्स एसोसिएशन के अध्यक्ष चोका राधाकृष्ण का कहना है कि वे राज्य सरकार के घाटे को लेकर चिंतित हैं। उन्हें इस बात की कोई चिंता नहीं है कि पुडुकोट्टई की जनता को कितना नुकसान हो रहा है। यह जो घाटा हो रहा है यह असली घाटा है और सूखे ने हजारों किसानों को इस हालत में पहुंचा दिया है कि वे कभी भी अपना कर्ज चुकता नहीं कर सकते हैं। इतना ही नहीं इसने लोगों को सूदखोर महाजनों के चंगुल में और भी ज्यादा पहुंचा दिया है। हरिजन बस्तियों में तो हालत पहले से भी बदतर है।

पानी के संकट ने भी गरीबों के अंदर एक खास तरह का विवाद पैदा कर दिया है। अन्नावसल प्रखण्ड के मनवैल्लनपट्टी में पत्थर खदानों में काम करने वाले मजदूरों का गांववालों के साथ संघर्ष चल रहा है। खदानों में पानी इकट्ठा रहता है। पिछले वर्ष दिसंबर में हुई वर्षा ने अन्नावसल खदान को पानी से भर दिया जो अभी एक छोटी–मोटी झील का रूप ले चुका है। यहां काम करने के लिए खदान मजदूरों को पानी बाहर निकालना पड़ता है। गांव वाले महसूस करते हैं कि अगर ऐसा हुआ तो वे पीने के पानी से वंचित हो जाएंगे। मजे की बात यह है कि खदान मजदूर और यहां के गांव वाले दोनों गरीब वर्ग के ही हैं।

वरिष्ठ अधिकारियों ने राज्य सरकार को फरवरी में ही आगाह कर दिया था कि यहां पानी का संकट पैदा होने वाला है। इस जिले की कलक्टर अनुराधा खाटी रजिवान बहुत सक्रिय और उत्साही महिला है। इन अत्यंत विषम परिस्थितियों में भी वह अपने भरसक भरपूर प्रयास कर रही हैं। इस अर्थ में देखें तो यह जिला काफी सौभाग्यशाली है। यहां के गरीब अभी भी बड़े सम्मान के साथ पिछली कलक्टर शीला रानी चुंकत को याद करते हैं।

इस जिले में कई वर्षों से तैनात एक वरिष्ठ अधिकारी ने बताया कि यहां जो

समस्याएं हैं उनका ताल्लुक कुल मिलाकर विकास प्रक्रिया और इस प्रक्रिया को प्रभावित करने वाली राजनीति से है। यह सिलसिला कई दशकों से चल रहा है और पुडुकोट्टई के लोग निरंतर गरीबी तथा पिछड़ेपन के शिकार होते जा रहे हैं।

खाटी रजिवन यह नहीं मानती कि पानी की समस्या का कोई समाधान नहीं है। वह पूरे विश्वास के साथ बताती हैं कि हमलोग जहां बैठे हैं उसके ठीक नीचे भू–गर्भीय जलस्रोत है जिसका दोहन किया जा सकता है। उन्होंने बताया कि हमलोगों ने भू–गर्भीय जलस्रोतों का नक्शा तैयार किया है और यहां इसकी अच्छी संभावना है। उन्होंने निजी तौर पर लगाए गए ट्यूबवेलों के नकारात्मक प्रभावों को महसूस किया है और उनका कहना है कि सरकार अब 'सामुदायिक ट्यूबवेलों' को बढ़ावा देगी। इन्हें कारगर बनाने के लिए 150 फीट नीचे तक खुदाई करनी पड़ेगी। हो सकता है कहीं–कहीं 300 फीट नीचे तक जाना पड़े। इस काम में पैसे की जरूरत होगी। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं है कि सामुदायिक जल संसाधनों का विकास अत्यंत आवश्यक है।

खाटी रजिवन को इस बात की भी आशा है कि विश्व बैंक के सहयोग से शुरू होने वाली परियोजना इस जिले तक कावेरी नदी के जल को पहुंचा देगी। अगर ऐसा हो गया तो पुडुकोट्टई शहर के निवासियों की कम से कम पेयजल की समस्या हल हो जाएगी। वह इस संदर्भ में बहुत निष्ठा के साथ सोचती हैं लेकिन इस तरह की योजनाओं को लागू करने के मामले में सरकारों का बहुत बुरा रिकार्ड है।

इस सिलसिले में 1969 की विरानम परियोजना को याद किया जाता है जहां परियोजना के लिए लायी गयी पाइपों का आज तक इस्तेमाल नहीं हुआ और अब इसका इस्तेमाल मद्रास के कंगालों द्वारा अपने रहने के लिए किया जाता है। इसी प्रकार 1983 की तेलुगु गंगा परियोजना का कहीं अता–पता नहीं है। जिले के सरकारी गजट के अनुसार कावेरी जल को पुडुकोट्टई लाने का प्रस्ताव पहली बार 1837 में तैयार हुआ था। आज 156 वर्ष बीतने के बाद भी इसका स्वरूप अभी प्रस्ताव का ही है। दूसरी तरफ सूखा एक यथार्थ बन चुका है।

सरगुजा में सूखे और मौत की राजनीति - 1

रामेश्वरनगर, सरगुजा (मध्य प्रदेश): क्या फरवरी से अप्रैल के बीच यहां सरगुजा में सचमुच 60 से अधिक व्यक्तियों की मौत हुई? और वह भी भूख, हैजा और गरीबी से संबंधित बीमारियों के कारण? क्या इसका संबंध 'सूखे' से है? अगर यह सच है तो इस सिलसिले में क्या किया जा रहा है? अगर यह सच नहीं है तो इस तरह की खबरें कैसे और क्यों तैयार की गयीं?

अखबार इन खबरों से भरे हैं। ऐसा लगता है कि हैजे को ही मुख्य खलनायक बनाया गया है। इसने आतंक की सही तस्वीर को धुंधला बना दिया है। अन्य कारणों पर किसी की निगाह नहीं जा रही है तो भी अखबारों में जो नाटक चल रहा है क्या यथार्थ में भी ऐसी ही स्थिति है?

अधिकांश खबरें विलासपुर और रायपुर से पैदा हो रही हैं। कुछ खबरें भोपाल के अखबारों में भी छपी हैं। जहां तक पत्रकारों द्वारा इस जिले की यात्रा का सवाल है ऐसा लगता है कि इनमें से अधिकांश अम्बिकापुर स्थित मुख्यालय और शायद कुछ गांवों तक ही गए हैं। (फिर भी हिन्दी के अखबारों में एक दो प्रमुख अपवाद जरूर हैं। इन्होंने कम से कम खबरों के संदर्भ में विकास प्रक्रिया का उल्लेख तो किया है।)

संक्षेप में कहें तो इन खबरों में बताया गया है कि इस अवधि में प्रेम नगर प्रखंड के कांतारोली गांव में 13 और रामेश्वरनगर गांव में 10 लोग भूख के कारण मौत के शिकार हुए हैं। ये मुख्य रूप से गरीब बिझवार आदिवासी थे। अखबारों में यह भी खबर आयी कि उदयपुर प्रखंड के पतरिंगा गांव में मझवार जनजाति के 13 लोगों की मौत हैजे के कारण हुई।

अखबारों ने यह भी बताया है कि इस अवधि के दौरान बतौली प्रखंड के बंसाजाल गांव में पहाड़ी कोर्वा जनजाति के 25 लोगों की भूख से मौत हुई। वहां के सरपंच ने इस संख्या की पुष्टि की। इससे पहले सागर विश्वविद्यालय के एक शोधकर्त्ता के अध्ययन से पता चला है कि बंसाजाल के आदिवासियों में होमोग्लोबिन की मात्रा बहुत कम है। (8 ग्राम प्रतिशत)। फिर भी सरगुजा में हुई मौतों के अधिकांश मामलों में हैजे को ही दोषी ठहराया गया है। भोपाल यहां से सड़क अथवा रेलमार्ग के जरिए लगभग 24 घंटे में पहुंचा जा सकता है और भोपाल के अखबार भी इसी तरह की खबरों से भरे हैं। अगर इस तरह की घटनाएं नहीं हुई होती तो सरगुजा का कोई जिक्र नहीं आता और काफी समय तक अखबारों से इसका नाम गायब रहता। इसलिए हैजे ने कम से कम

यह मदद तो कि सरगुजा की ओर लोगों का ध्यान गया।

आश्चर्य की बात है कि अनाम नौकरशाहों और उनकी उपेक्षा को धिक्कारने वाली इन रिपोर्टों में से अधिकांश में ऐसा लगता है जैसे सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली पर बहस चलाने से कतराया जा रहा हो। उस प्रणाली की कोई तस्वीर नहीं दिखायी देती जो सरगुजा में कार्यरत है। आखिर ऐसा क्यों हैं? यहां इसे क्यों नाकामयाबी मिली? इसे किस तरह की धनराशि चाहिए? क्या वजह है कि इतने सारे सरकारी चिकित्सालय हैं पर उनमें डाक्टर नदारद हैं? क्यों हर साल सरगुजा में ऐसी स्थिति पैदा होती है? यहां पानी का 'संकट' किस तरह का है?

वार्डरोफनगर के बिजकुरागांव में, जो 1992 में भूख से होने वाली मौतों के लिए कुख्यात है, संकट एकदम सिर पर मंडरा रहा है। रामेश्वरनगर गांव तबाही के कगार पर पहुंचा लगता है। सूखे के कारण मौतों के लिए कुख्यात सरगुजा गर्मियों के शुरू होते ही तेजी से उसी दिशा में बढ़ने लगता है। इनमें से कुछ मौतों पर राज्य विधानसभा में काफी जोरदार बहसें भी हो चुकी हैं।

मैंने प्रभावित जिलों में बीस दिन बिताए और मृत्यु के शिकार लोगों के परिजनों, उनके पड़ोसियों, अधिकारियों और चिकित्साकर्मियों से मुलाकात की। उनसे बातचीत के बाद निम्न बातें सामने आयीं।

- इन गांवों में से प्रत्येक में कुपोषण एक आम बात है। यहां के हालात भयंकर हैं और लोग बहुत कष्ट में हैं। जो मौतें हुई हैं उनमें से अनेक के पीछे गरीबी से जुड़े कारण हैं तथा किसी व्यवस्था का अभाव है। लेकिन मरने वालों की संख्या और मृत्यु के कारण—दोनों को काफी बढ़ा–चढ़ा कर बताया गया है। यह लगभग तीन गुना बढ़ाया गया है। तथ्यों को बड़े आराम से राजनीतिक चाशनी में मिलाया गया है। इससे भले ही फौरी तौर पर कुछ राहत की गारंटी हो गयी हो, इसने बड़े दुःखद ढंग से मूल समस्या पर से ध्यान हटा दिया है।

- बंसाजाल में (आबादी 1,441) फरवरी–अप्रैल के दौरान स्वाभाविक मृत्यु से मरने वालों सहित कुल आठ लोग मौत की गोद में गए जबकि अखबारों में यह संख्या 24 बतायी गयी थी।

- गांव के कोतवार के कागजात की संयुक्त रूप से छानबीन करने के बाद सरपंच ने भी यही बात मानी। उसने मरने वालों की संख्या में सुधार किया और उसे 25 से घटा कर 18 कर दिया। उसने स्पष्टीकरण दिया कि यह फरवरी 1993 से शुरू हो कर पंद्रह माह की अवधि का आंकड़ा है। अंत में यह तय हुआ कि उस अवधि में गांव के अंदर *सभी कारणों* से मरने वालों की कुल संख्या 18 थी।

- गांव के कुछ लोगों ने अपने रिश्तेदारों की मौत के बारे में सरपंच के बयान को सरपंच के सामने ही चुनौती दी। मजे की बात है कि 22 मई से मध्य प्रदेश में होने वाले पंचायत चुनावों में वह फिर इस पद के लिए खड़ा होने वाला है। मृतकों की सूची ठीक उसी समय आयी थी जब उसके चुनाव अभियान का शुरूआती चरण था।

- इन गांवों में सचमुच मौते हुई थीं। कंटारोली में छः, रामेश्वरनगर में छ', मटारिंगा में सात और बंसाजाल में आठ मौते हुईं। ऐसा लगता है कि खसरा और गैस्ट्रो का जबर्दस्त प्रकोप हुआ था। मटरिंगा में हुई मौतों के बाद सूरजपुर के डा. अखंड उदयपुर जन स्वास्थ्य केंद्र में आए। उन्होंने कहा—'जरूरी नहीं कि गैस्ट्रो से मौत हो ही जाए। लेकिन ये लोग कुपोषण के शिकार थे। इनके शरीर में प्रतिरोध क्षमता नहीं थी। इसलिए बीमारी की चपेट में आसानी से आ गए।'

- इसके अलावा चूंकि गांव में उस समय कोई कुंआ अथवा हैण्डपंप नहीं था, उन्हें गंदे नाले का ही पानी पीना पड़ता था। 'जब तक कुपोषण और पानी की समस्या का कोई उपाय नहीं ढूंढ लिया जाता, आप इसे हल नहीं कर सकते।' हैजे से हुई मौत की बात को यह एकदम बकवास मानते हैं।

- इन सभी गांवों में स्वास्थ्य सेवाएं नहीं के बराबर हैं। इन मौतों के बाद गांवों में काम करने वाले कुछ ऐसे स्वास्थ्यकर्मियों को अधिकारियों ने बर्खास्त किया जो काम नहीं करते थे। यहां के सरकारी स्वास्थ्य केंद्रों में कोई सुविधाएं नहीं है और इन्हीं के जिम्मे इस लम्बे–चौड़े इलाके की देखभाल है। इनमें से कई केंद्रों में तो महीनों तक कोई डाक्टर नहीं रहता। अकेले प्रेमनगर के स्वास्थ्य केंद्र के अंतर्गत 47 गांव आते हैं जिनमें से 37 गांव तो ऐसे हैं जहां बरसात के मौसम में पहुंचा ही नहीं जा सकता। अन्य मौसमों में भी उन तक पहुंचने के लिए पांच किलोमीटर का अत्यंत दुर्गम रास्ता पैदल तय करना पड़ता है। सिंचाई के लिए पानी के न होने से किसानों की अर्थव्यवस्था पंगु हो गई है। पीने के लिए जिस तरह का पानी मिलता है उसने इन्हें शारीरिक तौर पर नुकसान पहुंचाया है।

- लेकिन इन बुनियादी मुद्दों पर रोशनी नहीं डाली जा रही है। हैजा या जैसा कि एक मामले में देखा गया, पानी में आर्सेनिक की मिलावट जैसे अपेक्षाकृत ज्यादा प्रकट कारणों पर जोर देने का रुझान है। इसके अलावा सूखे का निरंतर और वास्तविक भय बना हुआ है।

पेयजल के स्रोत यहां बुरी तरह सड़ रहे हैं। इसलिए सरगुजा में हैजा निश्चय

ही फिर फैल सकता है। लेकिन ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जो बता सके कि मटरिंगा में भी हैजे के कारण मौतें हुईं। वहां बैक्टीरिया संबंधी कोई जांच नहीं की गयी। इस तरह की जांच की सुविधाएं इस क्षेत्र में हैं ही नहीं। जो लक्षण दिखायी दे रहे थे उनमें से अनेक का हैजा के लक्षणों से कोई मेल नहीं था। जिन रिपोर्टों में हैजा बताया गया है कि उनमें किसी चिकित्सा संबंधी, सरकारी अथवा स्वतंत्र स्रोत का उल्लेख नहीं है, जिससे यह बताया जा सके कि इस निष्कर्ष तक वे कैसे पहुंचे।

मध्य प्रदेश में अंतिम बार 1992 में हैजे की अधिसूचना जारी की गयी और वह भी राज्य की राजधानी भोपाल में। लेकिन मटरिंगा में कहानी एकदम भिन्न थी। इस क्षेत्र के अधिकांश बच्चों को खसरे से बचाव के लिए टीका नहीं लगाया गया था। स्वास्थ्य सेवाओं के निदेशालय का ख्याल है कि कुपोषण और पेचिश से पहले ही ग्रस्त लोगों का खसरे की चपेट में आना जानलेवा साबित हुआ।

मटरिंगा में जिनकी मौतें हुई उनमें से अधिकांश को पांच से दस दिनों तक बुखार रहा। उदयपुर स्वास्थ्य केंद्र के डा. मंगेश्वर का कहना है कि 'हैजा होता तो और तेजी से जाने जातीं।' मरने वालों के निकट संबंधियों का भी कहना है कि मृतकों को ऐसी उल्टियां भी नहीं आयीं जैसी हैजे में आती हैं। लगभग सभी मृतकों की आयु छह वर्ष से कम थी। डा. अखंड का कहना है कि 'हैजा होता तो महज बच्चों तक ही सीमित नहीं रहता– बड़े भी इसकी चपेट में आते।' खसरे से ज्यादा बच्चों के मरने की बात समझ में आती है।

लेकिन इस भीषण समस्या को बढ़ा–चढ़ा कर बताने की जरूरत क्यों पड़ी? इसके जबाव में एक सरपंच ने दो टूक शब्दों में कहा, 'जब तक कीड़ों–मकोड़ों की तरह लोगों के मरने की खबरें नहीं आतीं, हमें एक भी हैंडपंप नहीं मिलता।' उसके गांव में लगा चमचमाता नया हैण्ड पंप इस बात का सबूत है। भोपाल के एक बड़े अधिकारी ने इसे इन शब्दों में कहा–'गरीबों के हाथ में यही हथियार है'। बात सच लगती है। लेकिन जिला स्तर पर कुछ और भी कारण इसके पीछे हैं।

वास्तविक समस्याएं भी जल्दी ही विध्वंसकारी साबित हो सकती हैं। लेकिन इन पर बहस ने और नाटकीय व्याख्याओं और घटनाओं को जन्म दिया है। यह सनसनीखेज मौतों का मौसम है। सरगुजा में आम तौर पर ऐसा ही होता है।

सरगुजा में सूखे और मौत की राजनीति - 2

रामेश्वरनगर, सरगुजा (मध्य प्रदेश): मध्य प्रदेश का सरगुजा जिला 23,000 वर्ग किलोमीटर में फैला हुआ है और यह विशाल जिला अपने क्षेत्रफल में दिल्ली, गोवा और नागालैंड राज्यों से भी बड़ा है। फिर भी विकास के इसके सामाजिक सूचक दक्षिणी राज्यों के मुकाबले सैकड़ों साल पुराने लगते हैं। फिलहाल सरगुजा फरवरी से अप्रैल 1994 के बीच गरीबी के कारण हुई मौतों के लिए खबरों में है।

जिन प्रक्रियाओं के कारण ये मौतें हुई वे बहुत महत्वपूर्ण हैं। लेकिन तात्कालिक राजनीतिक कारणों ने उन सभी प्रक्रियाओं को धूमिल कर दिया है। एक वरिष्ठ अधिकारी ने कहा कि यहां सभी मौतें राजनीतिक हैं। कांटारोली, रामेश्वरनगर, मटरिंगा और बंसाजाल में 20 से ज्यादा मौतें हुईं। ऐसा लगता है कि इन मौतों को भी उसी खाने में डाल दिया गया है।

1992 में जब मध्य प्रदेश पर भाजपा का शासन था वाडरोफनगर ने राज्य को हिलाकर रख दिया। वहां एक अत्यंत गरीब आदिवासी रेवाई पांडो के परिवार के कुछ सदस्य बिजाकुरा गांव में भूख के कारण मौत की चपेट में आ गए। कांग्रेस ने इस मुद्दे पर आंदोलन छेड़ दिया। तीन भूतपूर्व मुख्यमंत्रियों ने उस गांव का दौरा किया। मौजूदा मुख्यमंत्री दिग्विजय सिंह, जो उन दिनों प्रदेश कांग्रेस समिति के अध्यक्ष थे बिजपुरा के पास विरोध स्वरूप भूख हड़ताल पर बैठ गए।

प्रधानमंत्री नरसिंह राव भी उस क्षेत्र में गए हालांकि वह उस गांव तक नहीं गए। उनकी इस यात्रा पर, जिसमें उनके साथ अनेक मंत्री भी थे आज भी प्रतिकूल टिप्पणियां सुनने को मिलती हैं। एक अधिकारी ने अपनी टिप्पणी में कहा, 'उनके राज्य आंध्र प्रदेश में पोचमपल्ली में भूख के कारण अथवा आत्महत्या की वजह से 80 बुनकरों की मौत के बाद भी नरसिंह राव ने कभी वहां की यात्रा नहीं की। उनकी इस यात्रा पर लाखों रुपए खर्च किये गए और यात्रा के लिए नयी सड़कें बनायी गयीं। यह सब कुछ गांव वालों के लिए नहीं बल्कि कुछ विशिष्ट जनों के लिए किया गया।' यद्यपि इस यात्रा के बाद भी वहां कोई बदलाव नहीं आया। अगले वर्ष जब रेवाई पांडो की भी मृत्यु हो गयी उस समय राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू था। अब इस मृत्यु के बाद भाजपा ने 'बदले की कार्रवाई' शुरू की। सहमी हुई कांग्रेस ने खामोश रहना बेहतर समझा। आज 1994 में कांग्रेस के शासनकाल में मौते हुई हैं और भाजपा इस मुद्दे को उछालने में लगी है। इन मौतों के बाद कुछ मंत्रियों की यात्राएं हुई हैं। मिसाल के तौर पर इनमें से कुछ मंत्री मटरिंगा गए।

इसके बाद कुछ घोषणाएं की गयीं। कुछ अफसरों को बर्खास्त किया गया और जांच के आदेश जारी कर दिये गए। लेकिन इन सबके बावजूद किसी प्रधानमंत्री की यात्रा नहीं हुई हालांकि 1992 के मुकाबले इस बार मरने वालों की संख्या ज्यादा थी।

गांव में स्थिति कमोबेश पहले जैसी हीं है। अगर कोई फर्क दिखाई देता है तो यही कि मंत्रियों की यात्रा के समय कुछ हैंडपंप लगा दिए गए। अब यह साफ पता चल रहा है कि क्यों गांव वाले मृतकों की संख्या और मरने के कारणों को बढ़ा–चढ़ा कर बताते रहे हैं। ऐसा लगता है कि उन्होंने यह महसूस कर लिया है कि राहत पाने का सबसे अच्छा तरीका मामले को विवादास्पद बना देना है।

यही वजह है कि 20 मौतों को बढ़ाकर 60 कर दिया जाता है और इसके लिए हैजा तथा अन्य नाटकीय कारणों को जिम्मेदार बताया जाता है। गांव वाले इसके लिए तैयार भी होते हैं। इससे कुछ लाभ मिलता है। लेकिन इसके बुरे प्रभाव भी हैं। सबसे बुरा प्रभाव तो यह है कि पीड़ित क्षेत्र में कोई ढांचा खड़ा करने अथवा कोई नीति तैयार करने की बजाय राहत पर ध्यान केंद्रित हो जाता है। अनेक सरपंच, पटवारी और पटेल लोग राहत के तरीके को ज्यादा पसंद करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि पैसा उनके पास पहुंचेगा। मंत्रियों के लिए बनायी गई कुछ सड़कें अभी अधूरी हैं। पानी की समस्या पहले जैसी ही विकट बनी हुई है।

तो भी सूखे की इतनी बातचीत के बावजूद सरगुजा में वर्षा की कोई समस्या नहीं है। इसकी सबसे बड़ी समस्या है पानी की। इसकी वजह यह है कि यहां जल से सिंचाई करने की व्यवस्था है ही नहीं। राज्य का महज लगभग 4 प्रतिशत हिस्सा सिंचाई के अंतर्गत आता है। पिछले अनेक दशकों के दौरान सरगुजा में औसतन वर्षा की वार्षिक दर 1500 मिमी. के आस–पास रही है और यह एक शानदार स्थिति है।

यथार्थ में देखें तो इस जिले में 'सूखे' से निपटने में करोड़ों रुपए खर्च किये जा चुके हैं। इसे सूखा राहत कहा जाता है और इस सूखा राहत का मतलब है जबर्दस्त घोटाला। वर्षों से सार्वजनिक निर्माण विभाग, वन विभाग तथा अन्य विभागों ने सूखे के नाम पर कहर ढा रखा है। दरअसल, सरगुजा में आज यह सबसे बड़ा 'उद्योग' बन गया है। 'सूखे' ने जिले के ठेकेदारों के लिए एक नया स्वप्नलोक पैदा कर दिया है।

पिछले पांच वर्ष वर्षा की दृष्टि से बहुत बुरे थे लेकिन जंगलों की जबर्दस्त कटाई और पानी के स्तर में गिरावट के बावजूद किसी वर्ष में 1200 मिमी. से कम वर्षा नहीं हुई। वर्षा की इस मात्रा ने देश के सूखा पीड़ित जिलों के मुकाबले सरगुजा को अभी भी बेहतर स्थिति में डाल रखा है। 1991–92 में यहां 1500 मिमी. वर्षा हुई। तमिलनाडु के पुडुकोट्टई अथवा रामनाड में पिछले अनेक वर्षों से यहां के मुकाबले आधी मात्रा में बारिश हुई। फर्क यही है कि ये दोनों जिले अपने अल्प संसाधनों का बेहतर ढंग से इस्तेमाल कर रहे हैं। तमाम खामियों के बावजूद सरगुजा में प्रति व्यक्ति अनाज का उत्पादन 173 किलोग्राम के औसत राष्ट्रीय उत्पादन के बराबर है। इसका अर्थ यह हुआ कि अगर यहां की व्यवस्था ठीक कर दी जाए तो इस जिले का कायाकल्प हो सकता है।

यह भारत के निर्धनतम नागरिकों का निवास स्थल है। लेकिन जहां तक राजस्व भंडार को भरने का मामला है सरगुजा कभी पीछे नहीं रहा–यह 240 करोड़ रुपए से अधिक पैसे राजस्व भंडार में देता है। (अकेले लगभग 100 करोड़ रुपए तो कोयले की रॉयल्टी के रूप में आते हैं।) केंद्र और राज्य सरकार दोनों द्वारा संयुक्त रूप से यहां जो पूंजी निवेश किया जाता है वह बमुश्किल सरगुजा द्वारा राजस्व भंडार में दी जाने वाली धनराशि के बराबर है। एक के बाद एक जो मंत्रिमंडल बने उसमें भी राज्य का कोई प्रतिनिधित्व नहीं रहा। इसके जो गिने–चुने प्रतिनिधि हैं वे भी यहां की वास्तविक जरूरतों को अभिव्यक्ति नहीं दे सके। जिले और राज्य की राजधानी के बीच कोई भी रेल संपर्क नहीं है। राजधानी भोपाल से इसकी दूरी एक हजार किलोमीटर से ज्यादा है और इस दूरी के कारण आम तौर पर सरगुजा को भुला दिया जाता है।

महत्वपूर्ण होने के बावजूद ये मुद्दे हाशिये पर चले गये। यही हाल अन्य महत्वपूर्ण मुद्दों का भी हुआ। मिसाल के तौर पर खामोश या अदृश्य भूख जिसने बीमारी के प्रति लोगों की प्रतिरोध क्षमता कम कर दी है। या सामाजिक क्षेत्र में कम पूंजीनिवेश का मुद्दा, इतना कम कि प्रेमनगर में साक्षरता दर महज चार प्रतिशत है जो मध्य प्रदेश के किसी भी प्रखंड के मुकाबले सबसे कम है। महिलाओं की साक्षरता दर तो बस 1.04 प्रतिशत है। यही वह प्रखंड है जिसमें कांटारोली और रामेश्वरनगर पड़ते हैं जहां मौतें हुई।

एक डाक्टर ने कहा, 'यहां की सबसे घातक और जानलेवा बीमारी है अशिक्षा। इन गांवों में अगर किसी तरह दवाएं पहुंच भी जाती हैं तो इनके लिए खुराक ही एक रहस्य बनी रहती है। गांव के जो स्वास्थ्यकर्मी हैं वे भी बमुश्किल लिख–पढ़ पाते हैं। कभी–कभी तो ऐसा होता है कि मटकों में डालने के लिए दी गयी क्लोरीन की टिकिया वे खुद निगल गए हैं। अनेक मामलों में मरीजों के रिश्तेदारों ने जरूरी दवाएं खाने के लिए उन पर दबाव नहीं डाला।'

लेकिन बात इतनी ही नहीं है। इलाज का अवसर पाये बिना मरना संभव है। खेंडा के उप चिकित्सा केंद्र के अंतर्गत मटरिंगा है जहां कुछ मौतें हुई थीं। खेंडा में स्थायी तौर पर कोई डाक्टर नहीं है। इन मौतों के बाद भी यहां न तो कोई कंपाउंडर है, न महिला स्वास्थ्यकर्मी है और न प्रसव का काम देखने के लिए कोई मिडवाइफ है। मौतों से तीन महीने पहले तक यहां कोई डाक्टर भी नहीं था। जिस डाक्टर की आपातस्थिति के तौर पर नियुक्ति की गयी है उसे दस और बीस दिनों तक यहां रहना है। कुछ डाक्टर चिकित्सा केंद्र में आते हैं और कुछ अपने काम की उपेक्षा करते हुए प्राइवेट प्रेक्टिस में लगे रहते हैं।

किसी भी मामले में मृत्यु से पूर्व रोगी डाक्टर तक नहीं पहुंच पाते। इसकी वजह

रामेश्वरनगर गांव की इस युवती को पीने का पानी लाने के लिए कई किलोमीटर चलना पड़ता है। मजे की बात यह है कि इस इलाके में पानी की कमी नहीं है। गांव वालों के खेत बांगो बांध से निकले पानी में डूबे पड़े हैं।

यह है कि प्रायः गांव के स्वास्थ्यकर्मी के दर्शन ही नहीं होते और इस दुर्गम इलाके में किसी मरीज के लिए स्वास्थ्य केंद्र तक पहुंचना असंभव है। 80,000 की आबादी वाले समूचे बटौली ब्लाक के लिए सेस्ट्रान की महज 1,250 गोलियां है और स्वास्थ्य केंद्र महसूस करता है कि इस दवा की काफी जरूरत है।

इसके अलावा इस विशाल जिले में मकानों की स्थिति भी असाधारण है। कोई

एक गांव 20 से 30 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में फैला हो सकता है। और कभी–कभी अलग–अलग पहाड़ियों पर अलग–अलग मकान स्थित होते हैं। इससे न केवल व्यवस्था का काम दुष्कर हो जाता है बल्कि मध्य प्रदेश में प्रति इकाई पर आने वाली लागत देश के किसी अन्य राज्य के मुकाबले बहुत अधिक हो जाती है।

एक प्रखंड अधिकारी ने सवाल किया, 'कोई हैंडपंप लगाए भी तो कहां लगाए?' एक वरिष्ठ सरकारी अधिकारी ने बताया, 'एक खास आबादी के लिए हैंडपंप की सुविधा देने में हमें महाराष्ट्र के मुकाबले चार गुना पैसा खर्च करना पड़ता है।'

रामेश्वरनगर में बांगों बांध ने गरीब किसानों की खेतिहर जमीन को नष्ट कर दिया है। इसकी सेवाएं पड़ोस के समृद्ध जिले बिलासपुर के जमींदारों को मिलती हैं। पिछले चार वर्षों से रामेश्वरनगर के लोग बांध द्वारा की गयी बर्बादी के मुआवजे के रूप में मिली मामूली रकम पर गुजर बसर करते रहे हैं। अब उन्हें पूरी बर्बादी दिखायी दे रही है जब अगली वर्षा में यह इलाका पूरी तरह डूब जाएगा।

जिले की सिंचाई और पेयजल समस्याओं के समाधान की दिशा में कोई प्रयास नहीं दिखायी दे रहा है। अनेक जल स्रोत दूषित हो चुके हैं और इनसे और भी ज्यादा मौतें हो सकती हैं और जो मौतें हुई हैं उनके पीछे एक बहुत बड़ा कारण कुपोषण का होना है जिसने लोगों की रोग प्रतिरोध क्षमता समाप्त कर दी है।

लेकिन सारा ध्यान आडम्बर और दिखावे पर केन्द्रित है। मुसीबत को न्यौता देने वाली दीर्घकालीन प्रवृत्तियों के ब्यौरे से अच्छी कहानी नहीं बनती। एक अधिकारी का कहना है कि 'नाटकीयता से बेहतर लाभ मिलता है और इसके लिए जरूरी नहीं कि आप बुनियादी समस्याओं से मुखातिब हों। सूखा, मौत और विकास वाली सरगुजा की राजनीति में आपका स्वागत है।'

पुनश्च :

जिन दिनों ये दोनों रिपोर्ट 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में प्रकाशित हुई, मैं झाबुआ जिले में था। अचानक पुलिस मुझे ढूंढने लगी। पहले तो मुझे ऐसा लगा कि अधिकारी लोग नर्मदा डूब क्षेत्र के लिए पत्रकारों को जुटा रहे हैं। भोपाल फोन करने पर लगा कि ऐसी बात नहीं है। मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री दिग्विजय सिंह ने इन रिपोर्टों को देखा था। वह सरगुजा जा रहे थे और उन स्थानों को देखना चाहते थे जिनका उल्लेख इन रिपोर्टों में हुआ था। उन रिपोर्टों का लेखक होने के नाते क्या मैं उनके साथ जाना चाहूंगा? मैं साथ हो लिया।

हमलोग मटरिंगा गये जहां कुछ मौतें हुई थीं। लेकिन रास्ते में बिना किसी पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के हम ऐसे स्थानों पर भी रुके जिनके बारे में प्रशासन ने सोचा भी नहीं था कि मुख्यमंत्री वहां जाएंगे। श्री सिंह ने वहां जो कुछ देखा उससे वह हैरान रह

गये। बरकेला गांव में एक उम्रदराज महिला ने उनसे कहा: 'पिछले तीन सालों से हमने सरकारी राशन की दुकान पर चावल के दर्शन नहीं किए।' श्री सिंह ने खुद इस बात की जांच की।

उसी शाम अत्यंत क्रुद्ध दिग्विजय सिंह ने कार्रवाई की।

उन्होंने 24 और वरिष्ठ अधिकारियों का सरगुजा से तबादला किया। इस सूची में पहला नाम कलक्टर का था। मध्य प्रदेश में एक साथ किया गया यह सबसे बड़ा तबादला था। इसके बाद राज्य सरकार ने वहां के लिए एक युवा आई.ए.एस. अधिकारी की नियुक्ति नये कलक्टर के रूप में की। प्रवीर कृष्ण नामक इस अधिकारी की प्रशासनिक क्षेत्र में अच्छी ख्याति थी। उन्हें तीन आई.ए.एस. अधिकारियों की उस टीम में शामिल किया गया था जिन्हें इस विशाल जिले की देखभाल करनी थी।

सरकार ने कुछ चिकित्सा और वन अधिकारियों को भी मुअत्तल किया। इसने कुछ ठेकेदारों के नाम काली सूची में डाल दिया। राज्य के मुख्य तकनीकी परीक्षक के नेतृत्व में मुख्यमंत्री ने एक टीम का गठन किया। इस समिति से कहा गया कि वह सरगुजा में सुव्यवस्थित ढांचा तैयार करने के सिलसिले में किए गए कार्यों का अध्ययन करे और सौ दिनों के अंदर अपनी रिपोर्ट दे। तेजी से घटित इन घटनाओं ने भोपाल की अखबारी दुनिया को भी प्रेरित किया। अगले दस दिनों तक यहां के अखबारों में सरगुजा के बारे में जितनी खबरें छपीं उतनी पिछले दो वर्ष में नहीं छपीं' थीं। बहरहाल, इस दौरान जितने संपादकीय लिखे गये उनमें आम तौर पर मुख्यमंत्री के कदमों का समर्थन किया गया था।

पलामू - सूखे के बाद

डाल्टनगंज, पलामू (बिहार): क्या पलामू को यह हक है कि वह सूखे का अनुभव करे? किसी ऐसे जिले से जिसने देश के भीषणतम सूखों को झेला हो, इस तरह का सवाल करना बहुत अजीब लगता है। लेकिन यह ऐसा सवाल है जो पलामू का प्रशासन संचालित करने वाले वरिष्ठतम अधिकारियों सहित अनेक लोगों के लिए मायने रखता है।

पलामू में किसी भी सामान्य वर्ष में 1200–1230 मिमी. तक बारिश होती है जो काफी अच्छी कही जाएगी। हाल के वर्षों के दौरान जिस साल यहां सबसे बुरी स्थिति रही, उस साल भी 630 मिमी. वर्षा हुई। तमिलनाडु के रामनाड जैसे जिले में 'सामान्य' वर्षों में जितनी बारिश होती है उससे यह मात्रा अधिक ही थी। फिर भी सूखे से जितना विध्वंस पलामू में होता है उतना रामनाड में कभी नहीं हुआ।

जैसा कि यहां के एक वरिष्ठ अधिकारी ने मुझसे कहा, 'दुनिया में ऐसी अनेक जगहें हैं जहां साल में 200 मिमी. के आसपास वर्षा होती है फिर भी ऐसा संकट नहीं पैदा होता जो काबू से बाहर हो।' आंध्र प्रदेश के अनंतपुर जिले में पलामू के मुकाबले बहुत कम बारिश होती है। ऐसे कई वर्ष देखने को मिले हैं जब अनंतपुर में 500 मिमी. से भी कम बारिश हुई। फिर भी पिछले तीन दशकों से प्रायः पलामू के बारे में जैसी रिपोर्टें देखने को मिलती हैं वैसी शायद ही कभी अनंतपुर के बारे में देखने को मिली हों–शायद ही कभी सूखे से हुए विनाश की खबरें अखबारों की सुर्खियां बनी हों जैसी 1992 के उत्तरार्द्ध से लेकर 1993 के मध्य तक पलामू के संदर्भ में देखने में आयीं।

भारत के अनेक क्षेत्रों को ऐसे सूखे का सामना करना पड़ता है जो अकाल अथवा अकाल जैसी स्थिति का रूप नहीं लेते। एक अनुमान के अनुसार भारत में जितनी जमीन है उसके आठवें हिस्से में किसी न किसी समय सूखेपन की स्थिति बनी ही रहती है। लेकिन ऐसा लगता है कि पलामू में सूखे और अकाल अथवा अकाल जैसी स्थिति के बीच फासला काफी कम है। इसका अर्थ यह हुआ कि गलत फैसलों की भारी कीमत चुकानी पड़ सकती है। एक गलती जो किसी और जगह छोटी–मोटी समस्या पैदा कर सकती है, यहां के लिए विध्वंसकारी साबित हो सकती है।

कुछ अन्य जिलों के मुकाबले ज्यादा वर्षा का लाभ पाने के अलावा पलामू कुछ अन्य मामलों में भी खुशकिस्मत है। यहां वर्षों से एक के बाद एक प्रतिबद्ध वरिष्ठ प्रशासकों की नियुक्तियां होती रहीं। यह सिलसिला 1960 के दशक में नियुक्त अधिकारी

के के.एस.सिंह से ले कर मौजूदा उत्साही युवा उपायुक्त संतोष मैथ्यू तक जारी है।

तीसरा और काफी सकारात्मक पहलू यह है कि वनों की बेतहाशा कटाई के बावजूद इस जिले में अभी भी काफी सुंदर वन प्रदेश है। सरकारी तौर पर यह 40 प्रतिशत और गैर सरकारी तौर पर 25 प्रतिशत है। जरा इसकी तुलना रामनाड के 1.06 प्रतिशत वन प्रदेश से करें। फिर कौन सी बात है जो संकट के समय पलामू को तबाह कर देती है?

पलामू की कुछ समस्याएं बेहद जटिल और विशाल हैं। इसलिए कितने भी प्रतिभाशाली प्रशासक क्यों न हों, वे प्रायः खुद को संकट के समय प्रबंधन की भूमिका में ही पाते हैं। ब्लॉक स्तर के एक अधिकारी ने मुझे बताया 'हम समस्याओं से निबटने में इस कदर व्यस्त हो जाते हैं कि हमें शायद ही समय मिले जब हम किसी दूरगामी परिप्रेक्ष्य में समस्याओं को देख सकें अथवा सही अर्थों में कोई योजना तैयार कर सकें। अगर हमें ऐसा करने में कामयाबी मिल भी गयी तो पटना में सुनने वाला कोई नहीं है।'

इन सारी बातों के कारण पलामू अपार संभावनाओं से भरा क्षेत्र है और यह केवल अपनी खनिज संपदा के कारण नहीं जैसा कि अनेक लोग सोचते हैं।

उपायुक्त मैथ्यू जिले के भविष्य के प्रति काफी आशावादी हैं। उनके अनुसार इस आशावाद के आधार का संबंध यहां की खेती से है। उनका कहना है कि 'हमने इसका पता लगाया। किसी एक समय में यहां की खेती योग्य भूमि के महज 48 प्रतिशत हिस्से पर वस्तुतः खेती होती है। बाकी हिस्सा बंजर पड़ा रहता है।' मैथ्यू का कहना है कि अगर संसाधन उपलब्ध हुए तो उनकी प्राथमिकता 'पानी की सिंचाई' की व्यवस्था करनी होगी। अभी पलामू के पास ऐसे साधन या उपाय नहीं हैं जिनसे वह वर्षा के पानी को इकट्ठा कर सके।

मैथ्यू इस दिशा में काफी कुछ करना चाहते हैं। 'इसके अलावा हम जंगलों को बनाये रखना चाहते हैं ताकि जल सोखने की धरती की क्षमता बनी रहे। इससे नदी–नालों में पानी सूखेगा नहीं। हम यह भी चाहते हैं कि पानी से सिंचाई के अनेक ढांचे तैयार हों। सही ढंग से वन विकसित करने के अलावा हमें बागवानी पर भी ध्यान देना होगा–अमरूद, बेर, आंवला, पपीता आदि के पेड़ बड़े पैमाने पर लगाने होंगे। इनसे हमें मदद मिलेगी।'

उनके अनेक अनुमान सही लगते हैं। लेकिन कुछ और सच्चाइयां हैं जो दखल देती रहती हैं। बिहार का सिंचाई का बजट लगातार कम होता जा रहा है जो आज लगभग 120 करोड़ रुपए है–अबसे पांच वर्ष पूर्व के मुकाबले यह एक तिहाई से भी कम है। इस राशि में से 80 करोड़ रुपए व्यवस्था पर खर्च होते हैं। इसका अर्थ हुआ कि 8 करोड़ की आबादी वाला राज्य सिंचाई पर महज 40 करोड़ रुपए यानी प्रति व्यक्ति पांच रुपए खर्च करता है।

पिछले अनेक दशकों से जमीन हड़पने की घटनाओं ने गरीबों को उनके

एकमात्र सहारा जमीन से वंचित कर दिया है। जो भूमिहीन है उनके लिए यह स्थिति और भी बदतर हो गयी है। प्रतिवर्ष पलामू से खेती के मौसम में बड़े पैमाने पर खेतिहर मजदूर उत्तर प्रदेश से लेकर पंजाब तक पलायन कर जाते हैं। लेकिन जो सबसे गरीब हैं उनके पास तो इसका भी अवसर नहीं है। वे बंधुआ, अर्द्धबंधुआ अथवा कर्ज की चपेट में पड़े रहते हैं और वहीं फंसे रह जाते हैं।

आदिम जनजातियों पर जंगलों की कटाई का बहुत घातक असर पड़ा है। जो लोग खनन अथवा 'विकास' परियोजनाओं के कारण विस्थापित हुए हैं उनके पास न तो जमीन है और न रोजगार। हर संकट के बाद राहत के जो प्रयास शुरू किये जाते हैं उनमें अनेक स्तरों पर भ्रष्टाचार का बोलबाला है। एक वरिष्ठ अधिकारी ने बताया, 'प्रायः विकास के मुकाबले राहत के मद में ज्यादा पैसे होते हैं। बहुत सारे लोगों के लिए यह स्थिति काफी अनुकूल पड़ती है।' यही वजह है कि यहां के लोग सूखा राहत को 'तीसरी फसल' कहते हैं। इस फसल से स्थानीय अभिजात्य वर्ग को खूब फायदा होता है।

तमिलनाडु का पुडुकोट्टई जिला भी सूखा क्षेत्र है। इस जिले से बाहर जाने वाले किसान या किसी भी तरह का काम तलाशने वाले मजदूर पलामू के लोगों के मुकाबले ज्यादा पैसा नहीं कमाते। लेकिन जब संकट आता है तो उनके बचे रहने का अवसर पलामू के लोगों के मुकाबले ज्यादा है। तमिलनाडु के पास एक शानदार ढांचा, संचार और परिवहन व्यवस्था है। यहां साक्षरता का स्तर भी बेहतर है, स्कूल हैं, सुरक्षा के ज्यादा उपाय हैं तथा बेहतर प्रशासन है। पलामू में जब संकट गहराता है तो यहां के गरीब लोग खासतौर से यहां के आदिवासी अपनी अनोखी समस्याओं के साथ और भी टूट जाते हैं।

इस वर्ष जिला प्रशासन द्वारा किये गए उल्लेखनीय प्रयास के फलस्वरूप मक्के की फसल अच्छी हुई है जो गरीबों को जिंदा रखने के लिए काफी महत्वपूर्ण है। लेकिन इसके बाद चावल की फसल अच्छी नहीं हुई। जिले में मैं जिस गांव में गया वहां सबने मक्के की फसल अच्छी होने की बात को स्वीकार किया और कहा–'काश! ऐसा ही संकट (1992 के उत्तरार्द्ध जैसा) फिर पैदा हो।'

एक वरिष्ठ अधिकारी ने मुझे बताया कि समूचा घटनाक्रम अत्यंत दयनीय है। मक्के की फसल से तीन महीने तक काम चल जाता है, और धान की फसल से दो महीने तक। इसके बाद अधिक से अधिक और दो महिने ये आदिवासी लोग लाह, महुआ और तेंदू की पत्तियों से काम चला लेते हैं। इसके बाद पांच महिनों तक उन्हें सचमुच काफी संघर्ष करना पड़ता है। वे फिर इस इलाके को छोड़कर बाहर जाते हैं अथवा कंदमूल, बेर आदि जुटाते रहते हैं। इसलिए अगर उस दौरान संकट का प्रहार होता है तो हम बड़ी तेजी से अकाल वाली स्थिति में पहुंच जाते हैं।

पलामू में सूखे और अकाल की खबरें अखबारों की सुर्खियां बन जाती हैं क्योंकि इनमें सनसनी का पुट मिला रहता है। लेकिन, जैसा कि राजनीतिक कार्यकर्त्ता नरेन्द्र चौबे बताते हैं, ये अभी–भी ऐसी घटनाएं हैं जो अपेक्षाकृत कम सनसनीखेज प्रक्रियाओं

से उपजती हैं। इन प्रक्रियाओं में उल्लेखनीय है कि जंगलों की निरंतर कटाई, जमीन पर कब्जा किया जाना और पानी से सिंचाई की व्यवस्था का न होना। सुव्यवस्थित ढांचे का क्रमशः समाप्त होते जाना, निर्धारित धनराशि का कम होते जाना और कृषि में आए ठहराव ने स्थिति को और बदतर कर दिया है। लगातार बढ़ती बेरोजगारी, राहत और वितरण व्यवस्था में खामी तथा बढ़ते भ्रष्टाचार ने लोगों के लिए मुसीबतें पैदा की हैं। ऐसा लगता है कि भूमि सुधार का न होना वह विशाल कैनवास है जिसपर अन्य कारण सटीक बैठते हैं।

चौबे का कहना है कि 'सही अर्थों में परिवर्तन के लिए जबर्दस्त भूमि सुधार की जरूरत है। इसके अंतर्गत अतिरिक्त जोतों का वितरण और गरीबों के लिए जमीन का स्वामित्व हासिल करना शामिल है। जरूरत है कि हम कृषि के क्षेत्र में से सामंतवाद को निकाल बाहर करें। इसके अलावा सिंचाई और पेयजल तथा रोजगार के लिए गंभीरता के साथ योजना बनाने की भी जरूरत है। अगर ऐसा हो गया तो पलामू में सचमुच समृद्धि आ जाएगी।'

खुद अपने हथियारों से

जब गरीब जवाबी हमला करता है

अगर अवसर मिले तो लोग उन शक्तियों पर जबावी प्रहार करते हैं जो उन्हें दबाकर रखे हुए हैं। हो सकता है कि ऐसा करने के उनके तरीके अलग--अलग हों। हो सकता है कि कुछ लोगों के तरीके दूसरों के मुकाबले कम असरदार हों। लेकिन वे प्रहार जरूर करेंगे। जहां भी महिलाओं के अंदर साक्षरता आंदोलन ने अपना प्रभाव दिखाया है, महिलाओं ने शराब की दुकानों पर धरना दिया है। फिर भी आमतौर पर अखबारों के लिए गरीबों को अपना विषय बनाने वाले पत्रकार, इनके बीच काम करने वाले व्यक्तियों की सात्विक भूमिका को रोमांटिक बनाकर पेश करते हैं। प्रायः इन नायकों का वही वर्ग और उनकी वही शहरी पृष्ठभूमि होती है जो इन पर लिखने वाले पत्रकारों की है। यह नश्वर प्राणियों के बीच काम करने वाली पवित्र मिशनरियों का एक आधुनिक संस्करण है। शायद पहले के मुकाबले इनका स्वरूप ज्यादा परिष्कृत है लेकिन उनसे कुछ खास भिन्न नहीं है।

यह सही है कि स्थानीय प्रतिरोधों, बाहरी हस्तक्षेप और जनचेतना के बीच संबंध का मामला काफी जटिल है। मिसाल के तौर पर जिले में एक भले कलक्टर के कार्यों का काफी प्रभाव पड़ सकता है। यही स्थिति किसी सरकार की यांत्रिक गतिविधियों के साथ भी हो सकती है। परंपरागत अर्थों में कहें तो इसके बाद जो कहानी बनती है वह व्यक्ति विशेष के रूप में किसी नायक की अथवा सरकार की ही होती है। अगर इस कहानी का नायक अथवा कहानी की नायिका किसी एन.जी.ओ. से संबद्ध है तो कहानी और भी अच्छी हो जाती है। इससे पत्रकार की 'स्वतंत्र' छवि स्थापित होने में मदद मिलती है।

इस समूची प्रक्रिया में जनता की खुद की भूमिका धुंधली दिखाई देने लगती है और इसी के साथ वह राजनीतिक प्रवृत्तियां भी कहीं पृष्ठभूमि में चली जाती हैं जो उनके अंदर आकार ले रही होती हैं। इसकी वजह यह है कि उनका संघर्ष वहीं सबसे ज्यादा प्रभावकारी है, जहां वे संगठित है। आज जो सबसे गरीब जिले हैं उनकी हालत इतनी बदतर इसलिए है क्योंकि उनके अंदर संगठित राजनीतिक आंदोलनों की स्थिति भी काफी बुरी है। अगर वे अच्छी तरह संगठित होते तो अनेक समस्याओं का मुकाबला ज्यादा दृढ़ता के साथ कर सकते थे। फिर गरीब वर्ग काफी पहले कोई बेहतर सौदा कर सकता था।

इनकी सीमाओं को ध्यान में रखने के बावजूद गरीबों की भूमिका पर नजर डालना उपयोगी होगा। यही स्थिति उन राजनीतिक प्रवृत्तियों और इनके बीच सक्रिय कार्यकर्त्ताओं की भूमिका के संदर्भ में भी सही है। साक्षरता आंदोलन सबसे ज्यादा सफल वहीं हो सका है जहां इस तरह के कार्यकर्त्ता उस क्षेत्र की जनता के बीच से सीधे-सीधे आए थे अथवा उस क्षेत्र के आंदोलनों से पैदा हुए थे। ऐसे लोग जो राजनीतिक सांस्कृतिक और वर्ग की दृष्टि से गरीबों के साथ घनिष्ठता से जुड़े थे और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है जिन्होंने गरीबों से ही कुछ सीखा था। यहां तक की गांव में आधारित उन गैर सरकारी

संगठनों (एन.जी.ओ) को भी सफलता मिली जो विदेशी फंडिंग एजेंसियों की सनक पर नहीं बल्कि स्थानीय लोगों की इच्छा के अनुसार काम कर रहे थे।

कुछ जिलों में जंगलों को बचाने के आंदोलन प्रायः सीधे–सीधे गरीबों के बीच से पैदा हुए। यहां यह फिर बताने की जरूरत है कि उनके बीच जो लोग राजनीतिक चेतना से लैस थे उन्होंने ही प्रायः नेतृत्व की बागडोर संभाली। इसी प्रकार शराब विरोधी आंदोलन भी उनके बीच से ही पैदा हुआ। पुडुकोट्टई की पत्थर खद्यानों में सबसे गरीब वर्गों की महिलाओं ने बहादुराना संघर्षों का संचालन किया। एक सीमा तक राजनीतिक दृष्टि के साथ संगठित कार्रवाई ने उन्हें ऐसी स्थिति का लाभ उठाने का अवसर दिया जहां दूसरे लोग विफल हो चुके थे। कभी–कभी 'बाहरी' कारक विशंभर दुबे की तरह विनम्र हो सकते हैं जो अपने खुद के भूदान आंदोलन के प्रति जबर्दस्त आलोचनात्मक रुख रखते हैं। (देखें–भूदान, अपराध और दंड नहीं शीर्षक अध्याय के अंतर्गत) लेकिन दुबे जी शहरी मध्य वर्ग से पैदा नायक नहीं हैं, वह पलामू की जनता के बीच से आए हैं।

इन रिपोर्टों में जिन संघर्षों का विवरण दिया गया है, हो सकता है उनमें से कुछ की समाप्ति एक विफलता के साथ हो। ऐसा मुख्य रूप से इसलिए क्योंकि उन इलाकों में कोई टिकाऊ और संगठित जनतांत्रिक राजनीति नहीं है। तो भी वे उम्मीद लगाए हुए हैं। जनता इतनी निष्क्रिय नहीं होती। वह अनेक तरीकों से विद्रोह करती है और जब तक विद्रोह की यह मानसिकता बनी रहेगी तब तक एक उम्मीद भी है।

पत्थरों में तराशी गयी सफलता

पुडुकोट्टई (तमिलनाडु): साये में भी तापमान तैंतालिस डिग्री सेल्सियस है। पुडुकोट्टई जिले में तापमान चालीस डिग्री है। लेकिन यहां नीचे कुदिमिअनमलाई की पत्थर खदानों में यह कम से कम तीन डिग्री ज्यादा है। पत्थरों से निकलती हुई गर्मी, चारो ओर चट्टानों से टकरा कर आंखों मे चुभती रोशनी और सर पर दहकते सूरज के ताप से चिलचिलाती धूप में ऐसा लगता है जैसे धूप से बचाव के लिए शरीर पर जो कुछ भी है वह भाप बन कर उड़ जायगा।
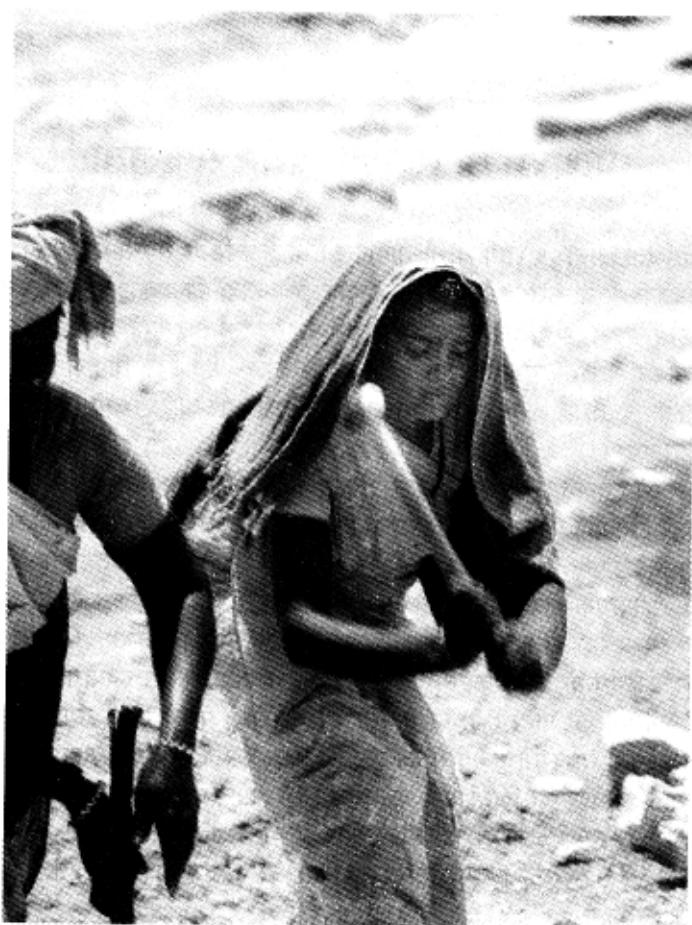
आप देखते हैं कि इस खदान में काम करने वाली अधिकांश औरतें ऐसी हालत के बावजूद नंगे पांव घूम रही हैं और उनके हाव भाव ऐसे हैं गोया वे ही यहां की मालकिन हों।

और एक बार के लिए तो वे सचमुच ही यहां की मालकिन हैं।

पुडुकोट्टई में **350** ऐसी पत्थर खदानें हैं जिनमें काम जारी है। **1991** में एक क्रांतिकारी कदम के जरिये लगभग **170** खदानों को अनुसूचित जातियों और अत्यंत पिछड़ी जातियों की महिलाओं को मामूली दर पर लीज पर दे दिया गया। इन्हें लीज पर देने का अर्थ था पुराने ठेकेदारों को निकाल बाहर करना उन दिनों यहां की कलक्टर शीला रानी चुनकथ थीं जिन्हें यहां के गरीब लोग अपने मसीहा के रूप में याद करते हैं। उन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं और बच्चों के विकास के लिए बनी योजना (ड्वाकरा) के तहत यह कदम उठाया था। यह सरकार द्वारा प्रायोजित एक गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम है।

इन खदानों को पट्टे पर लेने वाली औरतों के ग्रुपों में आम तौर पर **20** महिलाएं सदस्य के रूप में होती हैं। कुछ में इससे भी ज्यादा होती हैं। (लगभग सभी ने अपने ग्रुप को 'सोसायटी' के रूप में, न कि 'कोआपरेटिव' के तौर पर रजिस्टर्ड कराया है)। इस प्रकार आज लगभग **4000** महिलाएं, जो पहले यहां बंधुआ मजदूर या मामूली–सा पैसा पाने वाली मजदूर के रूप में काम कर रही थीं, अब इन खदानों का संचालन करती हैं। इनके पति भी इन्हीं खदानों में दिहाड़ी मजदूर के रूप में काम करते हैं। मजदूरी निर्भर करती है उत्पादकता पर लेकिन सोसायटी के सदस्यों की मुनाफे में बराबर की हिस्सेदारी होती है।

इसके नतीजे आश्चर्यजनक रहे। महिलाओं और उनके परिवारजनों के जीवन स्तर में बड़ी तेजी से सुधार हुआ। इससे पहले इनकी आबादी का आधे से अधिक हिस्सा

इन खदानों में औरतों के काम करने का अंदाज ऐसा है गोया वे ही यहां की मालकिन हों। और एक बार के लिए तो वे सचमुच ही यहां की मालकिन हैं। उनके पति भी इन्हीं खदानों में दिहाड़ी मजदूर के रूप में काम करते हैं।

हरिजनों के अत्यंत गरीब परिवार में शुमार था।

पुडुकोट्टई में ड्वाकरा की महिलाओं द्वारा नियंत्रित जिन पांच खदानों का मैंने दौरा किया उनमें से एक खदान कुदिमिअनमलाई में महिलाओं के तीन ग्रुप है जिनका नेतृत्व पलनिअम्मा, चिंतामनि और वसंता करती हैं। वे अपना हिसाब किताब और बैंक का खाता खुद संभालती हैं। सबने पढ़ना और लिखना सीख लिया है जिसका श्रेय पुडुकोट्टई के कल्पनाशील साक्षरता आंदोलन 'अरिवोली अयक्कम' को जाता है। अरिवोली

ने तो महिलाओं के लिए नेतृत्व प्रशिक्षण के सत्र भी चलाये। पलनिअम्मा और चिंतामनि दोनों को अपने नये हुनर पर गर्व है और अरक से ले कर सोमालिया तक की खबरों को जोर–जोर से पढ़ती हैं। ये सारी खबरें वे अरिओली द्वारा नवसाक्षरों के लिए प्रस्तुत हस्तलिखित अखबार से पढ़ती हैं।

महिलाएं आगंतुकों के साथ छाता लेकर चलने को आतुर रहती हैं। उन्हें लगता है कि ये शहरी लोग खदान की गर्मी शायद ही कुछ घंटे तक झेल पायें। मुझे उन्हें समझाना पड़ता है कि ऐसा करने से कैमरा पर हम रोशनी की मात्रा पढ़ नहीं पायेंगे।

पलनिअम्मा ने बताया, 'यहां काम करना हमेशा बहुत कठिन होता है।' (गर्मी से मेरी त्वचा जल रही थी और पलनिअम्मा की बात पर यकीन करना मुश्किल नहीं था)। उसने आगे बताया– 'पहले हम लोग ठेकेदार के गुलाम होते थे। सवेरे 6 बजे से दोपहर 2 बजे तक काम करते थे और महज 6 रुपये पाते थे।' अभी अगर काम ठीक ठाक चलता रहा तो वे रोजना 35 से 40 रुपये कमा लेती हैं।

चिंतामनि बताती हैं 'अब हमारे बच्चे पूरा खाना खाते हैं। अब वे स्कूल जाते हैं और हम उन्हें अच्छे कपड़े पहना सकती हैं। अगर वे बीमार पड़ते हैं तो हम उनके लिए दवाएं ले सकती हैं।' चिंतामनि अपने लिए एक मकान खरीदने वाली है। पलनिअम्मा और वसंता ने पहले ही अपने मकान खरीद लिए हैं।

अरिवोली के एक प्रमुख कार्यकर्ता एन. कन्नम्मल का कहना है कि चूंकि अब पुरुषों की बजाय महिलाओं के हाथ में सारा नियंत्रण है, पारिवारिक व्यय का स्वरूप भी बदल गया है। वह बताते हैं कि 'अब पैसे का अधिकांश भाग परिवार पर खर्च होता है न कि अरक पर। गरीबी का मुकाबला करने में महिलाएं कहीं ज्यादा बेहतर साबित हुई हैं।' उनके पति भी इस स्थिति से काफी संतुष्ट लगते हैं।

इन खदानों से आय बढ़ती जा रही है। सभी खदानों को एक 'जागीरदारी' शुल्क – अर्थात निकाले गये पत्थरों की मात्रा पर सरकार को दी जाने वाली राशि – देना होता है। यह एक ट्रक गिट्टी के लिए लगभग 110 रुपये है। पुराने ठेकेदारों के समय सरकार को बहुत कम पैसे मिलते थे। अधिकांश खदानें गैरकानूनी थीं पर अधिकारियों की साठगांठ से वे बेरोकटोक चलती थीं। 1980 के दशक में सरकार समूचे साल में महज 525 रुपये 'जागीरदारी शुल्क' के रूप में पाती थी।

महिलाओं के हाथ में बागडोर आने के साल भर के अंदर ही 1992 में स्थितियां बदल गयीं। सरकार को शुल्क के रूप में 25 लाख रुपये मिले। 1993 के लिए खदानों के सहायक निदेशक एन. शनमुगवेल का अनुमान है कि 48 लाख रुपये जमा होंगे जिनमें से 38 लाख रुपये ड्वाकरा महिलाओं के ग्रुप से ही आयेंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि ठेकेदारों द्वारा संचालित अन्य 106 खदानों से महज 10 लाख रुपये मिलेंगे। शनमुगवेल का कहना है कि 'महिलाओं के समूह निश्चित तौर पर ज्यादा उत्पादक कानून का पालन करने वाला और पैसों के भुगतान में हमेशा नियमित साबित हुआ है।'

मैने महिलाओं से पूछा कि उन्होंने क्यों अपने समूहों का पंजीकरण सोसायटी के रूप में कराया है। सहकारी समितियों के रूप में क्यों नही? उनमें से एक ने बताया– 'अगर हम ऐसा करती' तो हमें सहकारिता विभाग के प्रतिनिधियों को स्वीकार करना पड़ता। इससे भी बुरी बात यह होती कि हमें उनकी तनख्वाहें भी देनी पड़ती।' एक ग्रुप ने कोआपरेटिव बनाया और उसके ऊपर विभाग के सात कर्मचारी थोप दिये गये। हालत यह है कि इस ग्रुप की कमाई का लगभग आधा हिस्सा उन कर्मचारियों के वेतन में ही निकल जाता है।

सफलता के कीर्तिमान के बावजूद महिलाओं के समूह अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहे हैं। उनके खिलाफ एक शक्तिशाली गठजोड़ तैयार हो चुका है। इनमें पुराने ठेकेदार उनके राजनीतिक संरक्षक और भ्रष्ट अधिकारी जिन्हें अब कमीशन मिलना बंद हो गया है शामिल हैं और इन्होंने महिलाओं के ग्रुप पर पलट कर वार किया है। जब पहले पहल इन समूहों का गठन हुआ तो ठेकेदारों ने इलाके में ट्रक के प्रवेश को मना किया। यहां तक कि उन्होंने खदानों तक जाने वाली सड़कों को नुकसान पहुंचाया।

महिलाओं को भी एक स्वतंत्र विपणन प्रणाली की जरूरत होती है। उनका अस्तित्व इस बात पर ही निर्भर करेगा कि वे पत्थरों की बिक्री और वितरण पर से ठेकेदारों का शिकांजा किस हद तक दूर करती हैं। राष्ट्रीय प्रौढ़ साक्षरता संस्थान, नयी दिल्ली की डा. नित्या राव ने पिछले वर्ष इसके लिए एक शानदार प्रस्ताव तैयार किया था। इसे अभी लागू होना है। अगर यह लागू हो सका तो निश्चय ही व्यवस्था पर महिलाओं का नियंत्रण महत्वपूर्ण होगा। यहां छोटे अधिकारियों का मनमानापन चिंताजनक है। कुछ महज इसलिए ड्वाकरा योजना के साथ हैं क्योंकि लगातार दो कलक्टरों ने इसे चाहा था। पुराने कलक्टरों के कार्यकाल में इन्हें जो 'हिस्सा' मिलता था इससे वे वंचित हो गए थे। अब नयी व्यवस्था में इनमें से कई अफसर विरोधी रुख अख्तियार कर सकते हैं

कुछ दिनों पूर्व कुछ ठेकेदारों के अंदर परिवेश और अपनी पुरातात्विक संपदा के प्रति अचानक प्यार उमड़ पड़ा। उन्होंने आरोप लगाया कि कुदिमिअनमलाई में पत्थर निकालने से इलाके के एक पुराने मंदिर को नुकसान पहुंच रहा है। जियोलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया को बुलाया गया। हालत यहां तक पहुंची कि विशेषज्ञों ने पतले शीशे के तीन बर्तनों में पानी भर कर मंदिर के अंदर रखा। इसके बाद उन्होंने खदान में एक साथ बीस विस्फोट किये और हर विस्फोट में 150 ग्राम विस्फोटक का इस्तेमाल किया गया। इससे मंदिर पर किसी भी तरह के नुकसान अथवा दबाव का संकेत नहीं मिला। बर्तनों में रखे पानी पर धूल का कोई कण भी नहीं दिखायी दिया। इसके तुरत बाद इसी मुद्दे पर दायर एक शिकायत को भी अदालत ने खारिज कर दिया।

अब, आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया ने अपनी ओर से एक शिकायत दर्ज की है! इससे कोई इनकार नहीं करता कि प्राचीन स्मारकों की देखभाल की जिम्मेदारी इस संस्था पर है। लेकिन यह अजीब लगता है कि इतने वर्षों से जब निजी ठेकेदारों

द्वारा खदानों से गैरकानूनी तौर पर पत्थर निकाला जा रहा था तो आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया खामोश बैठा रहा। पुराने ठेकेदार तो और भी ज्यादा विस्फोटकों का इस्तेमाल करते थे। महिलाएं तो इतने विस्फोटक का खर्च भी नहीं उठा सकतीं।

इसके बाद ठेकेदारों ने एक और खतरनाक खेल शुरु किया। महिलाओं के समूहों को चोट पहुंचाने के लिए वे अब फर्जी ड्वाकरा संगठन बना रहे हैं। ऐसे जिले में जहां गरीबों की संख्या काफी है, यह काम उतना कठिन नहीं है जितना दिखायी देता है। इन समूहों में ऐसा आभास मिलता है जैसे महिलाओं के पास स्वामित्व है लेकिन यह महज धोखा है– इनकी आड़ में पुराने ठेकेदारों के इशारे पर गठित ऐसे ही एक फर्जी समूह ने महिलाओं के वास्तविक समूह को निकाल बाहर किया हालांकि महिलाएं अपने पक्ष को बहुत जोर दे कर नहीं रख पा रही हैं। दरअसल ये महिलाएं जिस गांव में रहती हैं, उसमें ठेकेदारों के कई गुण्डे भी रहते हैं।

पुराने ठेकेदारों ने अपने राजनीतिक मित्रों के जरिये भी प्रयास शुरु किया है। सरकार के ऊपर इस बात के लिए जबर्दस्त दबाव है कि इन पट्टों के नवीकरण का समय आने पर इस योजना को पूरी तरह समाप्त कर दिया जाय। लेकिन यहां के काम को अगर देखें तो इसी नतीजे पर पहुंचेंगे कि यहां जो प्रयोग किया गया वह ऐसा है जिसका देश भर में अनुकरण किया जाना चाहिए। खदानों से सरकार को मिलने वाले राजस्व में कई गुना वृद्धि हुई। साथ ही इन महिलाओं के परिवारजनों के जीवन स्तर में उल्लेखनीय सुधार हुआ है। मैंने पलनिअम्मा से पूछा– 'अगर पट्टों का नवीकरण नहीं हुआ तो क्या होगा?'

उन्होंने जवाब दिया, 'हमारा काम अच्छा चल रहा है और अपनी विपणन प्रणाली से हम और भी बेहतर कर सकती हैं। सरकार को चाहिए कि वह भविष्य में बिचोलियों को समाप्त करे और पत्थर के लिए अथवा सरकारी निर्माण परियोजनाओं के लिए वह सीधे हमारे पास आए। इन वर्षों में आजादी का अनुभव करने के बाद हम अब कैसे उन ठेकेदारों के पास जा सकती हैं? हम लोग अपने पट्टो के नवीकरण के लिए संघर्ष करेंगे।'

पुनश्चः

अपनी पहली यात्रा के लगभग दो वर्ष बाद अप्रैल 1995 में मैं वापस पुडुकोट्टई आया। महिलाओं के नेतृत्व वाली खदानों पर काफी दबाव था पर उनका अस्तित्व बना हुआ था। अपने अस्तित्व की लड़ाई में उन्हें महत्वपूर्ण सफलताएं भी मिली थीं। उन्होंने चार मोर्चो पर जबर्दस्त प्रहार भी किया था। पहला तो यह कि पुराने ठेकेदारों द्वारा महिलाओं के

फर्जी ड्वाकरा ग्रुप बनाने का काम जारी रहा। आगे चल कर इनसे सारे मामले में बदनामी ही मिलती। एक बार फिर महिलाओं की मदद के लिए अरिओली सामने आया। अधिकारियों के साथ मिल कर इसने एक तरह की 'जनगणना' शुरु की –यह जानने के लिए कि फर्जी ग्रुप कौन से हैं। साथ ही यह भी जानना था कि ठेकेदारों के दबाव से किन असली ग्रुपों को समाप्त किया गया।

इसे काफी बारीकी के साथ किया गया। ऐसा करने के पीछे फर्जी ग्रुप की महिलाओं को दंडित करना नहीं था। जैसा कि अरिओजी के एक सदस्य ने बताया: 'गरीबों से गरीबों को क्यों लड़ायें?' उल्टे, इसका मकसद यह था कि वे अपने ग्रुप में अपनी स्थिति को जोरदार ढंग से रखें ताकि इसे भी वास्तविक ग्रुप बनाया जा सके। अन्य ग्रपों की तरह इस योजना का लाभ उठा कर वे भी ठेकेदारों से खुद को आजाद कर सकती हैं।

दूसरे मोर्चे पर छोटे अधिकारी कहर ढा रहे थे। सरकार की सर्वोत्तम योजनाएं इस प्रकार असुरक्षित होती हैं: जब सर्वोच्च अधिकारियों का तबादला हो जाता है तो अच्छी परियोजनाओं को प्रायः नुकसान उठाना पड़ता है। गांव के स्तर पर इसका अर्थ यह हुआ कि महिलाओं को धमकियों और यहां तक कि बल प्रयोग का सामना करना पड़ा है। पत्थर खदानों की महिलाओं के विरुद्ध निर्मित गठजोड़ बाकायदा बरकरार है।

तीसरी बात यह है कि साक्षरता अभियान के नतीजों ने भी ताकतवर लोगों को उकसाया है। मिसाल के तौर पर पुदुकोट्टई का महिलाओं के अरक विरोधी आंदोलन को देखा जा सकता है। इस जिले तथा अन्य जिलों में अनेक अधिकारी अरिवोली के प्रति बेहद कटु हैं।

चौथी लड़ाई सचमुच बहुत जटिल है। डिस्ट्रिक्ट सप्लाई ऐण्ड मार्केटिंग सोसायटी (डी एस एम एस) नामक एक सरकारी विपणन योजना सामने तो आयी पर इसने भी काफी नुकसान पहुंचाया। विचार तो यह था कि इस तरह का संगठन महिलाओं के काम को आसान बनाएगा। समय बीतने के साथ साथ इसने

औरतें बनाम अरक - 1

पुडुकोट्टई (तमिलनाडु): अरक और गरीबी के बीच संबंध तलाशने के लिए कोई रिपोर्ट तैयार करना इतना सहज काम नहीं था। पुडुकोट्टई में अरक विरोधी सही अफसरों को ढूंढने में कई दिन लग गए–वे ब्रांडी की दुकानों की निलामी में व्यस्त थे। आश्चर्य की बात यह है कि जिस राज्य में अरक निकालने पर प्रतिबंध लगा दिया गया हो वहां यह पूरी तरह वैधानिक काम था।

गैर कानूनी अरक की बिक्री को लेकर तमिलनाडु सरकार की चिंता पूरी तरह निःस्वार्थ किस्म की नहीं है। अरक से आबकारी राजस्व की वसूली पर प्रभाव पड़ता है जो कानूनी तौर से बेचे जाने वाले अल्कोहल से प्राप्त होता है। मिसाल के तौर पर इससे इंडियन मैन्यूफैक्चर्ड फारेन लिकर (आई.एम.एफ.एल) से होने वाली आय पर प्रभाव पड़ता है। आई.एम.एफ.एल. की बिक्री सरकारी विपणन एजेंसियों के जरिए निजी व्यापारियों को की जाती है। (लोग यहां आई.एम.एफ.एल. की दुकानों को ब्रांडी की दुकान कहते हैं।)

इसलिए जिन अधिकारियों के जिम्मे अरक बनाने वालों पर छापा डालने और इसकी बुराइयों को जनता को समझाने का काम सौंपा गया है वही शराब की अन्य किस्मों की बिक्री को बढ़ावा देने के लिए अपनी ड्यूटी से बंधे हैं। निश्चय ही उन्हें प्रतिवर्ष आबकारी से होने वाली आय के ऊंचे से ऊंचे लक्ष्य को प्राप्त करना होता है।

ऐसा नहीं कि इन विडंबनाओं पर ध्यान न जाता हो। नशाबंदी को बढ़ावा देने के लिए आयोजित यहां की एक सार्वजनिक सभा में डी.एम.के. एक कार्यकर्त्ता ने सबको परेशानी में डाल दिया है। वह मंच पर चढ़ा और उसने एक प्रमुख राजस्व अधिकारी को पांच रुपए का नोट भेंट किया। उसने कहा कि 'ब्रांडी की दुकानों को बढ़ावा देते हुए शराब की बुराइयों के खिलाफ आपके संघर्ष का यह पुरस्कार है'। केवल पुडुकोट्टई में ही नहीं बल्कि समूचे राज्य में ऐसा लगता है कि अरक का गरीबी के साथ घनिष्ठ संबंध है। प्रतिवर्ष तमिलनाडु के गरीबों को गैर कानूनी अरक निर्माताओं की कृपा से करोड़ों रुपयों से वंचित होना पड़ता है। असंख्य खेतिहर मजदूर अपनी दिहाड़ी का एक बहुत बड़ा हिस्सा इस पर खर्च करते हैं। इसका नतीजा यह है कि इस उद्योग का आकार और इसकी संभावनाएं जबर्दस्त ढंग से बढ़ती जा रही हैं।

पुडुकोट्टई में, जो तमिलनाडु का मामूली सा शहरी जिला है, सरकारी आंकड़े बताते हैं कि हर **45** मिनट पर अरक बनाने वाला एक व्यक्ति गिरफ्तार किया जाता है। इसी प्रकार हर दो घंटे पर एक व्यक्ति को सजा होती है।

150 दिनों की अवधि में जिसके आंकड़े उपलब्ध हैं औसतन प्रतिदिन 31 छापे पड़े और 19 मामले दर्ज हुए। हर 24 घंटे में लगभग 420 लीटर अरक पकड़ा गया और इसका आधा बर्बाद किया गया। इन 150 दिनों में लोगों पर जो जुर्माने किए गए वह कुल 130000 रुपए थे। छापों में अरक की जो मात्रा पकड़ी गयी वह लगभग 65000 लीटर थी।

एक स्थानीय अनुभवी एडवोकेट ने मुझसे कहा–अगर आप यह समझते हैं कि इन सारे आंकड़े से आप सच्चाई का पता लगा लेंगे तो आपको आपने दिमाग की जांच करानी चाहिए। इतने ज्यादा लोगों को सजा मिलने की वजह यह है कि अरक निकालने वाले शायद ही कभी अपना मुकदमा लड़ते हों। क्या फायदा आदालत में समय बर्बाद करने से जबकि इस समय का इस्तेमाल अरक तैयार करने और पैसे कमाने में हो सकता है? चूंकि सजा मिलने पर केवल जुर्माना होता है न कि कैद इसलिए वे आसानी से जुर्माने की रकम अदा कर देते हैं।

उस एडवोकेट ने बताया कि जैसे ही कोई मामला अदालत में आता है बचाव पक्ष का वकील कहता है, 'हां हुजूर मेरा मुवक्किल अपना अपराध स्वीकार करता है।' इसके बाद जुर्माने की रकम अदा कर दी जाती है। आप जो भी रुपया अरक बनाने में लगाते हैं उसका नौ गुणा वापस मिलता है। इसलिए अगर कुछ हजार रुपए का जुर्माना हो भी जाता है तो इससे आपके जिस्म पर मामूली से खरोंच भी नहीं पड़ती।

हालांकि यह गैरकानूनी है। फिर भी ग्राम पंचायतें स्थानीय तौर पर अरक बनाने की अधिकार की निलामी करतीं हैं क्योंकि यह काफी मुनाफे वाला धंधा है। इस संदर्भ में उनकी दलीलें बड़ी दिलचस्प हैं। एक से अधिक गांवों में सत्तारूढ़ समूह ने मुझे आश्वासन दिया कि कानून तोड़ने से मिला पैसा एक मंदिर बनाने के लिए इस्तेमाल होगा।

क्या यह संभव है कि उद्योग की कमाई का कोई धुंधला अनुमान भी लगाया जा सके? और वह भी यहां जैसे गरीब जिले में? मिसाल के तौर पर नेंदू वासल गांव को लें। अधिकारियों ने इस बात की पुष्टि की यहां पंचायत ने अरक बनाने के अधिकार को लगभग तीन लाख रुपए में निलाम किया।

पुडुकोट्टई में लगभग 500 ग्राम पंचायतें हैं। अगर इनमें से आधी पंचायतें भी इस तरह की निलामी में लगी हों तो इससे प्राप्त राशि 7.5 करोड़ सालाना होगी। 13 लाख की आबादी वाले छोटे से जिले के लिए यह कोई कम राशि नहीं है।

विशेषज्ञों का मानना है कि इस तरह के घोटाले में लिप्त पंचायतों की संख्या काफी अधिक है। वे एक दूसरे पहलू पर भी ध्यान दिलाते हैं। अगर हम निलामी में मिली राशि को कुल लाभ का एक तिहाई भी मानें (हालांकि यह और भी कम होगी) तो अकेले गांवों के लिए यह 22.5 करोड़ रुपए हुआ। शहरों पर ध्यान दें तो यहां कम से कम 30 करोड़ रुपए का सालाना व्यापार होता है। उस स्थानीय एडवोकेट ने बताया कि इसमें

उन पैसों को नहीं जोड़ा गया है जो पुलिस और अफसरों को घूस के रूप में जाता है।

चूंकि पुडुकोट्टई के कलक्टर अरक विरोधी अभियान को सख्ती से लागू करने में लगे हैं इसलिए फिलहाल अरक बनाने वालों में कुछ कमी है। हो सकता है कि जब्तियों और गिरफ्तारियों के कुछ शानदार आंकड़ें दिखाई दे जाएं। फिर भी यह समस्या महज प्रशासनिक नहीं हैं और इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है।

मैंने अनेक प्रखंडों के कई गांवों में इस विषय पर पुरुष खेतिहर मजदूरों से बातचीत की। (महिलाएं बहुत कम अरक का सेवन करती हैं) यहां लगभग प्रत्येक मजदूर ने यह स्वीकार किया कि वह अरक पीता है। अगर उसे मिल जाए तो वह जरूर इसका सेवन करे। एक मजदूर ने कहा कि, 'अगर मुझे काम तलाशने में 4 घंटे बिताने पड़ते हैं तो उसके बाद मुझे काम मिलता है तो 12 से 15 रुपए कमाने के लिए मुझे 10–12 घंटे काम करने पड़ेंगे। क्या इतना काम करने के बाद मैं दो गिलास अरक नहीं ले सकता है?' अगर आप उससे यह सवाल कर दें कि तुम जितना काम करते हो उससे ज्यादा घंटे औरतें काम में लगाती हैं फिर वह क्यों न अरक का सेवन करें तो वह निरुत्तर हो जाता है।

अरक की कीमत अलग–अलग गांव में अलग–अलग है। तुलकमपट्टी की बस्ती में एक गिलास दो रुपए में उपलब्ध हैं जबकि किलकुरूचि गांव में एक गिलास की कीमत पांच रुपए है। फिर भी यहां आप केवल एक रुपए की भी खरीद सकते हैं और बदले में आपको एक गिलास का पाचवां हिस्सा अरक मिल जाएगा। अनेक खेतिहर मजदूर दो से तीन गिलास पीने को ज्यादा पीना नहीं मानते। जब मैंने कहा कि यह तो बहुत ज्यादा है तो आश्चर्यचकित हो गए।

राजस्व विभाग के एक वरिष्ठ अधिकारी ने मुझे बताया कि, 'यहां जरूरी नहीं कि उस व्यक्ति को आप बहुत पीने वाला कह दें जो शाम को दो गिलास अरक पीता है। हो सकता है कि वह एक बार में बहुत कम ले लेकिन दिन भर उसके ऊपर उसका असर बना रहे। समूचे दिन में वह इस प्रकार पांच से छह गिलास अरक पी सकता है।'

किसानों की पारिवारिक अर्थव्यवस्था पर अरक का प्रभाव अत्यंत विध्वंसकारी है। जिन खेतिहर मजदूरों से मैंने बातचीत की उनमें से कुछ ऐसे थे जो अपनी दिन भर की कमाई से भी ज्यादा पैसा अरक पर खर्च करते थे। (खासतौर से उन दिनों में जब काम ज्यादा न हो) यही वजह है कि अरक और कर्ज के बीच एक संबंध है। कईयों ने मुझे बताया कि स्थानीय तौर पर अरक का व्यापार करने वाला व्यक्ति उसे उधार दे देता है। मजदूरों में अधिकांश रोजाना मजदूरी के रूप में 12 से 15 रुपए अथवा बहुत अच्छी मजदूरी मिली तो 20 रुपए कमा लेते हैं।

थिरूवलंकरम में वेलीअम्मा ने कहा, 'अगर मेरा पति अरक पर इतने पैसे खर्च करता है तो हमें चावल खरीदने के लिए खर्च लेना ही पड़ेगा। अदियप्पन नाम के एक भूतपूर्व शराबी ने बताया कि कलियाकुरूचि में अगर कोई व्यक्ति दिन भर में तीन गिलास

अरक पीता है तो यह तय है कि वह जितना कमा रहा है उससे ज्यादा पैसे खर्च कर रहा है। लेकिन आप इस धंधे को बंद नहीं कर सकते। यहां हर स्तर पर सबके लिए पैसे का जुगाड़ बना हुआ है।

इसको लेकर यहां कई तरह की स्वास्थ्य समस्याएं भी हैं। आबकारी विभाग के सहायक आयुक्त स्वामी शिवगनम ने बड़ी कड़वाहट के साथ बताया कि किस तरह अरक बनाने वाले दुनिया भर की अंठ–संठ चीजें इसमें मिलाते रहते हैं। उन्होंने बताया कि अरक में बैट्री सेलों से निकाली गयी सल्फेट, मिर्चे और यहां तक कि गोबर को भी मिला दिया जाता है। इससे फरमेंटेशन की प्रक्रिया तेजी से होती है। उसने कहा कि 'अरक बनाने वाले इंतजार नहीं कर सकते सर वे एक हफ्ता भी इंतजार नहीं कर सकते उन्हें तो फटाफट पैसे बनाने हैं।' पुडुकोट्टई के सरकारी अस्पताल में काम करने वाले डाक्टर अरक से संबंधित अनेक समस्याओं से निबटने की अनुभव के आधार पर बताते हैं कि 'जो माल तैयार होता है उसमें तरह–तरह के रसायन पड़े होते हैं। मैंने ऐसे अनेक मामले देखें हैं जिसमें लोगों को लीवर का सिराशिस हो गया है। इसके अलावा इस आदत से जुड़े लोगों में अल्सर, हृदय रोग तथा तंत्रिका शोथ के कई लक्षण दिखाई देते हैं। मुझे पता है कि अरक एक खामोश हत्यारा है।

फिर इस खामोश हत्यारे के खिलाफ कौन सा कदम उठाया जाए? ऐसा लगता है कि ग्रामीण पुडुकोट्टई की महिलाएं इस सवाल का जबाव देने के लिए तैयार हो रही हैं।

औरतें बनाम अरक - 2

पुडुकोट्टई (तमिलनाडु): घर में वह अकेले अपने बच्चों के साथ थी जिस समय वे उसका दरवाजा तोड़कर घुसे और उसे घसीटते हुए बाहर लाए। पुडुकोट्टई जिले के नेदुआसल गांव के 'बुजुर्गों' द्वारा भेजी गयीं इन औरतों ने उसे बुरी तरह पीटा, उसका मंगलसूत्र छीन लिया और पंचायत तक उसे घसीटते हुए लायीं। वहां वह कई घंटों तक खड़ी रही, लगभग आधी रात तक जबकि वे 'बुजुर्ग' उसे गालियां सुनाते रहे और कोसते रहे। उन्हें उम्मीद थी कि अरक के खिलाफ अब वह भाषण नहीं करेगी और उसे इस घटना से अच्छी सबक मिल जाएगी।

मलारमनी से मिलिए। 26 वर्षीय यह महिला इस जिले में उस अरक विरोधी आंदोलन की अगुआ है जो अभी शुरूआती दौर में है लेकिन जिसमें जबर्दस्त संभावनाएं हैं। यह एक ऐसा आंदोलन है जो निश्चय ही राज्य के दूसरे जिलों को प्रभावित करेगा। यहां चलाए गए पूर्ण साक्षरता अभियान की सफलता ने एक ऐसी फिजां तैयार कर दी है जिसने उन शक्तियों को आंदोलित कर दिया है। जिन्हें खरीदा नहीं जा सकता। अभियान की अगली पंक्ति में उल्लेखनीय अरिबोली अयक्कम (ज्ञान का प्रकाश आंदोलन) है जिसकी प्रतिबद्ध वालंटियर है मलारमनी। उजाड़ गंडरकोट्टटई ब्लाक के थाचमकुरूचि गांव के स्थानीय महिलाओं ने, जिनमें से अनेक अरिबोली अयक्कम में सक्रिय रह चुकी हैं, तय किया की अब पानी सर के ऊपर से गुजर चुका है। यहां लोग इतनी ज्यादा शराब पीने लगे थे कि समूचा गांव अब असुरक्षित महसूस कर रहा था। सबसे बुरी बात तो यह है कि स्थानीय तौर पर यहां गैर कानूनी अरक तैयार किया जाता था और इसका सेवन करने के लिए 40 किलोमीटर दूर त्रिची से भी लोग आते रहते थे।

यह तब की बात है जब 21 वर्षीया मातिलदा ने अरक के खिलाफ अभियान की शुरुआत की। उसकी इस अभियान में अन्य महिलाएं भी शामिल हुई जिसका नतीजा यह हुआ कि थाचन कुरूचि में अरक बनाने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। मातिलदा बताती है कि अब गांव साफ–सुथरा हो गया है। इस पर विश्वास करना मुश्किल होगा लेकिन यह विजय बहुत उल्लेखनीय है।

मालरमनी और मातिलदा अरक को पिछड़ेपन का प्रतीक मानती है। दोनों की यह सोच है कि इससे गरीबी बढ़ती है और लोग पतित होते हैं। यहां की अधिकांश ग्रामीण

महिलाएं उन दोनों की बातों से सहमत हैं। यहां अनेक पुरुष खेतिहर मजदूर अपनी दैनिक आय का एक बहुत बड़ा हिस्सा शराब पर खर्च करते रहे हैं और इसीलिए यहां के लिए यह अत्यंत विस्फोटक मुद्दा है। खासतौर से ऐसे समय जब यह अकेले इस छोटे जिले में करोड़ों के उद्योग को प्रभावित कर रहा हो।

मालरमनी को अपने इस अभियान की कीमत चुकानी पड़ रही है। चूंकि पिटाई वाली घटना के बाद इस जिले के कलक्टर ने मालरमनी का साथ दिया इसलिए पंचायत सीधे–सीधे उसे कोई नुकसान नहीं पहुंचा सकी। इस स्थिति को देखकर उसके गांव के अरक माफिया ने कुछ पुलिसवालों की मदद से उसके परिवार के खिलाफ सामाजिक बहिष्कार लागू कर दिया।

जिस दिन मैं मालरमनी से मिला नेदूवासल के नाई ने उसके दो छोटे बेटों का बाल काटने से इनकार कर दिया था और उन्हें वापस भेज दिया था। उसके एक बेटे ने किसी तरह अपनी मां के लिए एक दुकान से एक कप चाय तो खरीद लिया लेकिन वह जैसे ही उसे लेकर वहां से चला कि एक ग्रामीण ने धक्का देकर उसके हाथ से चाय गिरा दी। मालरमनी के खिलाफ कई आरोप लगाए गए। इनमें एक आरोप का संबंध फरवरी के महिने में 'शराबबंदी सप्ताह मनाते समय एक जनसभा में उसके व्यवहार को लेकर था।' उसके आलोचकों का कहना है कि वहां मालरमनी ने जानबूझ कर उसी मंच से और उसी माइक का इस्तेमाल करते हुए हरिजनों को भाषण करने की इजाजत दें।

यह राज्य द्वारा संचालित शराबबंदी सप्ताह था। इसलिए कहा जा सकता है कि एक सरकारी कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए मालरमनी को दंडित किया जा रहा है। अब घरेलू सामान खरीदने के लिए उसे बस से 4 किलोमीटर दूर अवनम नामक गांव में जाना पड़ता है। पानी के लिए वह 2 किलोमीटर दूर कुरूवड़ी नामक गांव तक जाती है। उसके पति को भी लोगों ने काफी पीटा था और अब वह गांव छोड़कर चला गया है और नागपट्टनम में काम कर रहा है।

मालरमनी का कहना है कि, 'मैंने वर्षों तक देखा है कि यह अरक लोगों पर कितनी मुसीबतें डाल रहा है। इसी के कारण औरतें पीटी जाती हैं। लोग गरीब और अज्ञानी बने रहते हैं और मैंने देखा है कि यह किस तरह लोगों की जानें ले रहा हैं।' फिर क्यों उसने इसी वर्ष इसके खिलाफ कदम उठाया? 'क्योंकि अरिवली ने मेरे अंदर आत्मविश्वास पैदा किया। इससे पहले मैं कभी ऐसा कदम उठाने का साहस नहीं कर सकती थी।'

थाचल कुरूचि में मातिलदा इस बात से सहमति व्यक्त करती है। अरक विरोधी भावनाएं साक्षरता अभियान शुरू किए जाने से भी पुरानी है। लेकिन साक्षरता आंदोलन ने उस गुस्से को एक ठोस अभिव्यक्ति दी। सबसे बड़ी बात यह है कि इसमें ग्रामीण

महिलाओं को अपने पैरों पर खड़े होने और विरोध करने की ताकत दी। (यहां चलाए जा रहे साक्षरता आंदोलन में प्रत्येक प्रखंड और पंचायत में एक पुरुष के साथ एक महिला संयोजक भी है।) शराबबंदी सप्ताह के दौरान अरिबोली ने अपने नव साक्षर समुदाय के बीच अरक के खतरों के खिलाफ भी अभियान चलाया। इसकी वजह से इस मुद्दे को काफी बल मिला।

जल्दी ही दूसरे गांवों के लोग अपने यहां अरक बनाने पर प्रतिबंध लगाने लगे। यहां चलाए गए आंदोलन और आंध्र प्रदेश के अरक विरोधी आंदोलन के बीच तुलना करने का लोभ संवरण करना कठिन है लेकिन दोनों राज्यों के आंदोलनों में एक बड़ा अंतर है। आंध्र प्रदेश में आंदोलनकारी यह चाहते थे कि सरकार अरक पर प्रतिबंध लगाए इसके विपरीत तमिलनाडु में पहले से ही प्रतिबंध लगा हुआ है लेकिन यह प्रतिबंध इतना कमजोर है कि अब गांव के लोग ही अपने ढंग से इस पर रोक लगा रहे हैं। मातिलदा के थाचनकुर्ची में सबसे पहले इस पर प्रतिबंध लगा। यह बात पिछले वर्ष की क्रिसमस की है। गांव में अरक बनाने वालों को एक सप्ताह का समय दिया कि वे अपना बोरिया–बिस्तर बांधे और यहां से रवाना हो जाएं। मातिलदा का कहना है कि उन्हें चेतावनी दी गयी कि अगर ऐसा नहीं हुआ तो अरक बनाने के उनके सारे साज–सामान जब्त कर लिए जाएंगे और नष्ट कर दिए जाएंगे। बेशक आंध्र प्रदेश से इस अर्थ में तुलना की जा सकती है कि यहां भी साक्षरता ने एक उत्प्रेरक का काम किया।

क्या गांव के स्तर पर स्थानीय प्रतिबंध कारगर होंगे? अरिबोली के एक वरिष्ठ कार्यकर्त्ता विवेकानंदन का कहना है कि हां निश्चय ही ये कारगर होंगे। दूरी और उपलब्धता एक महत्वपूर्ण कारण हैं। अगर स्थानीय तौर पर अरक का निर्माण नहीं होता है तो इससे बहुत फर्क पड़ेगा। विवेकानंदन को यह बातें मालूम है। वह भी उसी गांव के रहने वाले हैं जहां मालरमनी रहती हैं और उन्हें भी इस मुद्दे पर दृढ़तापूर्वक कदम उठाने के लिए सजा मिल चुकी है।

मातिलदा के गांव के मुखिया लुर्दास्वामी का कहना है कि 'अगर आप अरक पीने के लिए कहीं दूर जाते हैं तो जब तक आप अपने गांव लौटेंगे उसका नशा उतर जाएगा। ऐसी हालत में ये लोग अपनी बीवीयों को कम पीटेंगे और गांव में शोरगुल कम मचाएंगे।' गांव वाले जो भी उत्साह दिखा रहे हैं और अंतिम तौर पर सरकार जैसे भी कदम उठाएगी वह यहां के लिए बहुत महत्वपूर्ण होगा।

ग्रामीण पुडुकोट्टई में आप चाहे जिस भी गांव में चले जाइये एक बात स्पष्ट है। जिस घर में पुरुष मजदूर बहुत ज्यादा अरक पीते हैं वहां घर का सारा खर्च आम तौर पर महिलाएं अपनी आय से चलाती हैं। औरतों के साथ अलग–अलग बात करने पर आप यह जानकर हैरान हो जाएंगे कि अरक पर यहां के पुरुष कितना पैसा खर्च करते हैं। महिलाएं जो आंकड़े देती हैं वे बहुत सही आंकड़े होते हैं।

पुलिस के प्रति भी यहां बेहद नफरत है। महिलाओं का कहना है कि इस सारे धंधे के पीछे पुलिस की मुख्य भूमिका है। कुछ महिलाओं ने मुझे बताया कि एक बार एक अरक बनाने वाले ने तय कर लिया कि अब वह इस धंधे को छोड़ देगा लेकिन पुलिस ने उसे बहुत परेशान किया ताकि वह अपना धंधा फिर शुरू करे। धंधा बंद होने से पुलिस का कमीशन भी बंद हो जाता था।

महिलाओं का कहना है कि अब वे चुपचाप यह सब बर्दाश्त नहीं करेंगे। लेकिन अरक लावी इन पर पूरी ताकत के साथ प्रहार कर रही है। कुछ गांवों में इस हमले को झेल पाना महिलाओं के लिए बहुत कठिन होगा। मालरमनी का सामाजिक बहिष्कार एक बड़ा मुद्दा बन गया है यह समस्या किसी प्रशासनिक अथवा कानून और व्यवस्था की समस्या से कहीं बड़ी है। अरक लाबी ने राजनीतिज्ञों और नौकरशाहों का जो जाल तैयार किया है वह बहुत बड़ा है और लगभग हर जगह मौजूद है। मैंने अरक पीने वाले एक व्यक्ति से कहा कि, 'क्या आप मुझे किसी ऐसे व्यापारी से मिलाएंगे जिसका अरक बनाने का बहुत बड़ा धंधा हो?'

उसने जबाव दिया, 'जरूर मिलाएंगे। चलिए अभी यहां के एम.एल.ए. और मीनिस्टर से मिलते हैं।'

फिर भी अरिबली ने बहुत बड़ा बदलाव ला दिया है इसने यहां की महिलाओं को जो आत्मविश्वास दिया है उससे आने वाले दिनों में बड़ी–बड़ी लड़ाईयां लड़ी जानी है। मालरमनी और मातिलदा ने एक मिसाल कायम की है। दूर–दूर के ग्रामों के लोगों को इन दोनों महिलाओं के बारे में जानकारी मिल चुकी है और वे इनके कार्यों का स्वागत करते हैं। कहीं–कहीं तो इनकी नकल भी की जा रही है। अरक लाबी ने कई सरकारों को बचाया है। लेकिन पुडुकोट्टई की गरीब और नवसाक्षर महिलाओं के बीच इस लाबी को जबर्दस्त विरोधियों का सामना करना पड़ रहा है और यह लड़ाई तो अभी शुरू ही हुई है।

पुनश्च :

शराब विरोधी आंदोलन का रास्ता उतार–चढ़ाव से भरा है। एक तरफ महिलाओं का अरक विरोधी आंदोलन कुछ गांवों तक फैला तो दूसरी तरफ यह कई ऐसे स्थानों पर ध्वस्त भी हो गया जहां से शुरू हुआ था। यद्यपि इसके लिए उसी गति को बनाए रखना बहुत कठिन साबित हुआ लेकिन दो तरह के परिवर्तन देखने को मिले। पहली बात यह खुद औरतों के अंदर तब्दीली आयी। हो सकता है वे उस समय रक्षात्मक रुख अपना लेती

हों जब अरक लाबी उनपर पलटकर हमला करती हों या जब उनका सामना ऐसे अधिकारियों से होता हो जिनके इन मुद्दे के प्रति कम हमदर्दी है। लेकिन अरक के खिलाफ अभियान कभी–भी उनके मानसिक एजेंडा से ओझल नहीं हो सका और समय–समय पर यह भौतिक रूप में उभर जाता है। दूसरी बात यह है कि वे जानती हैं और उन्होंने यह साबित कर दिया है कि जहां भी गंभीरता के साथ प्रतिबंध लगाया गया, इसके उपभोग का स्तर प्रभावित हुआ है। इसी के साथ लोगों की आय में वृद्धि हुई है। इसलिए अगर तमिलनाडु सरकार इस आंदोलन को बाधा पहुंचा सकती है तो भी यह समाप्त नहीं होगा और बार–बार उभरकर सामने आएगा।

वन समितियां और गायब होते वृक्ष

लातेहार, पलामू (बिहार): यह ऐसा वन अधिकारी था जिसने पेड़ों के लिए जंगल को खो दिया। उसे पलामू के अपने इलाके लातेहार की घटनाओं के बारे में कोई जानकारी नहीं थी। जैसे ही उसकी गाड़ी चुराई लकड़ियों के साथ जंगल के कोने पर पहुंची ग्रामीणों के एक समूह ने रास्ता रोक दिया। ये लोग स्थानीय वन्य समिति के सदस्य थे। इनके छापे में पता चला कि अफसर की गाड़ी में लाखों रुपए की लकड़ी लद कर जा रही थी। अब उसके खिलाफ विभागीय कार्रवाई की जा रही है।

वन समिति के एक सदस्य मोहम्मद अब्बास अंसारी ने मुझसे कहा, 'ग्रामीणों का जीवन जंगलों पर ही निर्भर है। हम इसका विनाश रोकने के लिए संघर्ष करेंगे।' पलामू में किसी जमाने में बहुत बड़ी वन संपदा थी। लेकिन बड़े पैमाने पर गैर कानूनी ढंग से पेड़ों की कटाई और लकड़ी की तस्करी ने इस संसाधन को बर्बाद कर दिया। 1980 के दशक के मध्य में पलामू के गरीबों ने देखा कि वे जंगल कितनी बुरी तरह लुप्त होते जा रहे हैं। जिनकी उन्हें जरूरत है। इसलिए वे इस दिशा में कुछ कदम उठाने लगे।

जिले में लगभग 90 वन समितियों का गठन हुआ। लातेहार में तैनात युवा और लोकप्रिय डिविजनल फारेस्ट ऑफिसर एस.के.सिंह बताते हैं, 'इनमें से संभवत: 15 समितियां काफी कारगर है।' श्री सिंह की खुद की भूमिका भी बहुत प्रभावशाली है। वह एक यथार्थवादी भी हैं। वह महसूस करते हैं कि 'शेष समूहों को और भी ज्यादा अनुभव की जरूरत है लेकिन इनमें से अधिकांश बहुत उत्साही हैं।'

उत्साही कहना शायद सही शब्द होगा। अकेले एक गांव झबहर की वन समिति ने 60 हजार से अधिक पेड़ों के लगाए जाने की देखभाल की है। बालूमठ ब्लॉक के इस गांव के लिए, जिसकी आबादी 1200 से भी कम है यह एक महत्वपूर्ण बात है और इसने झबहर की समृद्धि में इजाफा किया है। इन प्रयासों से जो आय हुई है उससे एक सामुदायिक भवन, एक पानी का तालाब बनाया गया है और स्कूल की एक इमारत का विस्तार किया गया है।

ऐसा लगता है कि जवाहर ने एक प्रवृत्ति पैदा की है। लातेहार, चंदवा और बालूमठ प्रखंडों में भी लगभग 25 समितियों का गठन हुआ है और पलामू की वन समितियां अपना काम वहीं तक समाप्त नहीं समझती की लोग महज पेड़ लगा दें। ये समितियां गैरकानूनी ढंग से पेड़ों को काटे जाने और लकड़ी की तस्करी के खिलाफ भी

संघर्ष चला रही हैं। गांव के अंदर से ही निर्मित ये समितियां अब एक लोकप्रिय आंदोलन के रूप में विकसित होने का संकेत दे रही हैं। लेकिन इनका टिका रहना इतना आसान नहीं होगा।

पलामू सूखा आशंकित जिले के रूप में कुख्यात है और पिछले 25 वर्षों में दो बार यहां अकाल पड़ चुका है। पर्यावरण से संबंधित इसके संकट के बारे में हमें बहुत कम जानकारी है। यहां के जंगलों के विनाश से लोगों का जीवन तबाह हो रहा है। खास तौर से उन गरीब आदिवासियों का जिन्हें विरहोर, असूर और कुरवा के नाम से हम जानते हैं। उनके लिए यह जंगल ही सब कुछ देने वाला है। आदिवासियों की हालत यह है कि वे अपने खाने की पच्चीस प्रतिशत तक की जरूरतें जंगलों के छोटे मोटे उत्पादों से प्राप्त कर लेते हैं और इसी पर निर्भर रहते हैं। कुछ ऐसी जनजातियां भी हैं जिनकी निर्भरता 50 प्रतिशत से भी ज्यादा है।

पिछली शताब्दी के दौरान पलामू का लगभग 90 प्रतिशत हिस्सा जंगलों से भरा था। इस शताब्दी के प्रारंभ में यह घटकर 70 प्रतिशत हो गया। आज सरकारी तौर पर यह लगभग 40 प्रतिशत है। कुछ अधिकारी निजी तौर पर यह बताते हैं कि हो सकता है कि अब यहां 25 प्रतिशत ही जंगली क्षेत्र हो। जैसे–जैसे पेड़ों की कटाई होती गयी सूखे का खतरा बढ़ता गया।

पलामू के उपायुक्त संतोष मैथ्यू बताते हैं कि, 'जंगलों ने हमेशा शॉक एबजार्बर का काम किया। जंगलों की कटाई का अर्थ उस स्पंज जैसे प्रभाव का समाप्त होना है जो यहां के नदियों और नालों को सदानीरा बनाया रहता है।'

इस क्षेत्र में संभवत: साल वृक्षों की सबसे ज्यादा संख्या है और लकड़ी की तस्करी यहां का बहुत बड़ा धंधा है। जिला वन अधिकारी एस.के.सिंह का कहना है कि 'अगर लकड़ी अच्छी हो तो इससे 700 से 800 रुपए प्रति वर्ग फीट तक प्राप्त हो जाता है। एक औसत पेड़ 20 वर्ग फीट लकड़ी देता है जबकि अच्छे पेड़ों से 40 वर्ग फीट तक लकड़ी मिल जाती है।' श्री सिंह इस धंधे के खिलाफ संघर्ष चला रहे हैं।

उनका यह भी कहना है कि अगर कोई व्यक्ति चार अच्छे पेड़ों को काट लेता है और उसकी लकड़ी की तस्करी करता है तो अकेले इस धंधे में उसे एक लाख बीस हजार रुपए से अधिक की राशि मिल जाती है। तस्करों का यहां जाल बिछा हुआ है।

राजनीतिक कार्यकर्त्ता नरेन्द्र चौबे का कहना है कि मुनाफाखोरी का यहां इसके अलावा एक और तरीका है। 'खैरी नामक पेड़ से कत्था बनता है जिसका इस्तेमाल पान मसाले के लिए किया जाता है। इसका विक्रयमूल्य 300 रुपए प्रति किलो है। आप अनुमान लगा सकते हैं कि ऐसी हालत में कितने तरह के दबाव पड़ते होंगे।'

तबाव जबर्दस्त है और इनका जाल व्यापक। बालूमठ में उग्रवादी संगठन

माओवादी कम्युनिस्ट सेंटर (एम.सी.सी.) के लोग तस्करों से पैसा वसूलते हैं जिस दिन मैं बालूमठ पहुंचा, एम.सी.सी. के लोगों ने एक छोटे गांव की मुखिया की हत्या कर दी थी। वह खुद लकड़ी का एक तस्कर था और बताया जाता है कि कीमतें बढ़ने पर मुनाफे का हिस्सा एम.सी.सी. को देने में उसने आना–कानी की थी।

आदिवासी इलाकों में महाजन लोग (व्यापारी और सूदखोर) आदिवासियों पर दबाव डालते हैं कि वे पेड़ काटे। चूंकि वे कर्ज का भुगतान नहीं कर पाते। इसलिए अपने कर्जदाता की मांग पर उन्हें पेड़ काटने और लकड़ी की तस्करी करने पर मजबूर होना पड़ता है। जब वे पकड़े जाते हैं तब सब कुछ बता देते हैं।

जहां गरीबों को तरह–तरह की मुसीबतों का सामना करना पड़ता है, संगठित ढंग से काम करने वाले तस्करों के लिए भय नामक कोई चीज नहीं है। बालूमठ में एक वन अधिकारी ने मुझे बताया, 'हम लकड़ी को जब्त कर सकते हैं, उस तस्कर की गाड़ी भी जब्त कर सकते हैं और उस पर मुकदमा कायम कर सकते हैं। मुकदमा लम्बी अवधि तक चलता रहता है सिद्धांततः उन्हें छह वर्ष की सजा भी हो सकती है लेकिन आम तौर पर वे एक वर्ष से भी कम समय के लिए जेल में पड़े रहते हैं।'

कुछ वर्ष पूर्व झाबर के ग्रामवासियों ने जागृत नौजवान सभा नाम से युवकों के एक समूह का गठन किया। इस संगठन ने प्रवासी मजदूरों प्राथमिक शिक्षा विकास और पर्यावरण के मुद्दों को अपने हाथ में लिया। 1985 आते–आते यह समूह राजनीतिक तौर से एक सचेत समूह बन गया। 1989 में यह महसूस होने के बाद कि उनके आसपास के विशाल वनों का खात्मा होता जा रहा है इसने विधिवत पलामू की पहली वन समिति का गठन किया। नरेन्द्र चौबे बताते हैं कि 1990 में एस.के.सिंह के आने के बाद सचमुच काम तेज हुआ। उन्होंने इस समिति को प्रेरित किया और मदद पहुंचायी।

एस.के. सिंह के लिए यह बहुत साधारण चीज है। उनका कहना है कि 'गांव वाले ही अंतिम आशा की किरण हैं। कितने गांव पर छापा मारा जाएगा और कितने लोगों को अलग–थलग किया जाएगा। अगर जनता आपके साथ है तो बेहतर ढंग से रखवाली भी की जा सकती है। हमने उन्हें यह बताने की कोशिश की वृक्षों का लगाया जाना कितना लाभदायक है।' झाभर के गांव वालों को भी ऐसा ही महसूस हुआ वन समिति के कैलाश सिंह ने बताया कि 'पेड़ों के लगाने से कोई भी व्यक्ति प्रतिवर्ष 1500 रुपए कमा सकता है। हमें एक पेड़ लगाने पर 30–40 पैसे मिलते हैं और इसी के साथ बीज, पौधों और कभी–कभी थोड़ी बहुत खाद के लिए भी पैसा मिल जाता है।

समिति की कोशिश है कि वह ज्यादा से ज्यादा मानवीय हो। कैलाश सिंह कहते हैं कि 'जब गांव का कोई व्यक्ति अपना मकान बनाता है तो हम उसके मकान में लगे सामान की जांच करते हैं और तब हम बताते हैं कि इस मकान में कितनी लकड़ी की

जरूरत है। चाहे जो हो हमारी भवन निर्माण सामग्री लकड़ी ही तो है। इसके बाद समिति के आंकलन पर ध्यान देते हुए 'जंगल का रेंजर उतनी लकड़ी का आबंटन करता है।'

इस प्रकार जंगल के उत्पाद की बिक्री से जहां झबर को मुनाफा हो रहा है वहीं जंगल के काटे जाने का खतरा भी कम हो रहा है। समिति यह सुनिश्चित करती है कि पेड़ों से टहनियां काटने और पेड़ों के काटने पर नियंत्रण लगे तथा यह अलग–अलग चरणों में हों। पिछले वर्ष गैर कानूनी तरीके से पेड़ काटने के एवज में जुर्माने की राशि के रूप में 2500 रुपए की वसूली हुई तो भी उनके प्रयास को कई समस्याओं का सामना करना पड़ा। इसकी वजह यह है कि पेड़ों की एक बहुत बड़ी संख्या यूकलिप्टस के पेड़ों की है।

झालिंग गांव के गोविंद सिंह बताते हैं कि 'शुरू के दिनों में युकलिप्टस के पेड़ लगाने का पागलपन सवार था। हमें यह नहीं पता था कि यह पेड़ कितना खतरनाक है। यह अपने चारो ओर का पानी सोख लेता है। जिससे अन्य पेड़ों को नुकसान पहुंचता है। हमारी जमीन से उपजने वाले पेड़ खैरी, साल, शीशम, अकासी, गुमहर तथा अन्य कई पेड़ इससे बेहतर होते हैं।'

यह ज्ञान अब बढ़ रहा है हालांकि इसकी रफ्तार धीमी है। शुरू के दिनों में युकलिप्टस के लिए जो पागलपन था वह किसी दुर्घटनावश नहीं था। यह कारण भी नहीं था कि यह तेजी से बढ़ता है इसलिए लोग इसे लगा रहे हैं। दरअसल वर्षों तक वन विभाग पर अपना अच्छा असर रखने वाली एक शक्तिशाली औद्योगिक लाबी ने बहुत सोची समझी योजना के तहत इस काम को शुरू कराया। युकलिप्टस की लकड़ी का इस्तेमाल खद्यानों में छत बनाने की सामग्री के रूप में होता है तथा इसके और भी औद्योगिक इस्तेमाल हैं। लेकिन एस.के.सिंह का दावा है कि अब इस पेड़ में लोगों की दिलचस्पी समाप्त हो रही है।

श्री सिंह का कहना है कि 'पलामू के लिए सबसे लाभदायक स्थिति यह है कि इसके जंगलों में पेड़ स्वाभाविक रूप से पुनर्उत्पादन की क्रिया करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि यहां अपने–आप पौधे उग आते हैं। लेकिन इनकी हिफाजत की जानी चाहिए और इन्हें विकसित होने देना चाहिए।' जिस साल श्री एस.के.सिंह यहां आए उससे पहले तक एक भी हेक्टेयर जमीन वृक्षारोपण के अंतर्गत नहीं आई थी। पिछले वर्ष वन विभाग ने 400 हेक्टेयर में वृक्षारोपण किया। इसके अलावा वन समितियों ने भी इस काम को आगे बढ़ाया। इन समितियों ने विभिन्न किस्म के पौधों को लेकर प्रति एकड़ 2500 पौधे लगाए और इन पर प्रति पेड़ 3 रुपए की लागत आयी। ये लोग और ज्यादा इलाकों में पेड़ लगा सकते थे लेकिन पैसे की कमी थी।

यहां का दुश्मन केवल लकड़ी के तस्कर ही नहीं हैं जंगलों की कटाई ने एक

विकृत प्रक्रिया का रूप ले लिया है। आम धारणा के विपरीत अधिकांश वर्षों में पलामू में शानदार बारिश हुई है तो भी पेड़ों की अंधाधुंध कटाई ने न केवल जंगलों का बल्कि नदियों नालों का भी विनाश किया है और चूंकि यहां की बहुत बड़ी आबादी खुद को जिंदा रखने के लिए जंगलों पर निर्भर करती है इसलिए पलामू में सूखे और अकाल के बीच का फासला अन्य स्थानों के मुकाबले बहुत कम रह जाता है। जैसा कि नरेन्द्र चौबे ने बताया, 'यहां के गरीब लोग सूखे और अकाल के गंभीर कारणों से भी संघर्ष कर रहे हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि इन्होंने अपने जंगलों को और इस प्रकार खुद अपने आपको बचाने का संघर्ष शुरू कर दिया है।'

आखिर यह जंगल है किसका?

नवापाडा, (उड़ीसा): केंडुपट्टी के गांववालों को असिस्टेंट कंजाखेरा आफ फोरस्ट (ए.सी. एफ) समझाने में लगे थे जिनके आदमियों को गांव वाले रोक रहे थे कि वे पेड़ों के छुएं भी नहीं: 'हम लोग पेड़ों की मदद के लिए आए हैं। हम बस इन पेड़ों की कुछ टहनियों को काट–छांट कर ताकि वे सीधे बढ़ें और मजबूत हों।'

पेड़ों की रखवाली में लगे जागृत श्रमिक संगठन के पिचारू संघ ने ए.सी.एफ से पूछा: 'अगर हम आपके हाथ काट दें तो क्या आप सीधे बढ़ेंगे और मजबूत होंगे?'

केंडुपट्टी के जंगल की लड़ाई चरम बिंदु पर पहुंच गयी है।

1980 के दशक के मध्य में जब खरियार ब्लाक स्थित केंडुपट्टी के लोगों ने अपने आसपास के नष्ट होते जंगल को फिर से हरा भरा बनाने का फैसला लिया तो इन लोगों ने अनजाने में ही इस जंगल पर मिल्कियत के अजीबो–गरीब विवाद को न्यौता दे दिया। 1992 तक यह प्रयोग को जबर्दस्त सफलता मिली। इन्होंने 140 एकड़ में शानदार जंगल लगाया जिसमें लगभग पांच लाख पेड़ थे।

पिचारू का कहना है कि यह प्रयास बेहद सकल रहा। 'इसके बाद वन विभाग आया और इसने जंगल पर अपना दावा जताया। कुछ अन्य लोगों की भी ऐसी हरकतें दिखायी दीं' जैसे वे ही इस जगह के मालिक हों। दरअसल अगर यहां के गांव वाले नहीं होते तो यहां एक भी पेड़ नहीं उगा होता। हमारे जंगल की खूबसूरती को देखकर वन विभाग ने इसकी 'देखभाल के लिए' बस एक चौकीदार की नियुक्ति कर दी। जब यहां की जमीन बंजर पड़ी थी तब वे किस चीज की देखभाल कर रहे थे?'

विवाद की जड़ में इस उपलब्धि का श्रेय लेने की बात उतनी नहीं है जितनी यह कि इन पेड़ों का व्यापारिक महत्व बहुत ज्यादा है। मोहन बाग का कहना है कि 'ये लोग दरअसल इन पेड़ों को बेचना चाहते हैं।' वन विभाग के लोग यही करते हैं–उन पेड़ों को बेच देते हैं जिनकी हिफाजत करने की इनसे अपेक्षा की जाती है।' वन विभाग स्वीकार करता है कि पेड़ों और जंगल का अस्तित्व ही गांव वालों के प्रयास के कारण हैं। उनका कहना है कि ये पेड़ जिस जमीन पर लगे हैं वह सरकारी जमीन है न कि गांव की। इसलिए केंडुपट्टी के जंगलों पर निगरानी रखने के लिए 'चौकीदार' नियुक्त करने की जरूरत पड़ी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि पेड़ों के व्यापारिक महत्व के कारण ही वन विभाग के अंदर इनकी रक्षा के लिए चिंता पैदा हुई। यहां पेड़ों की कई किस्में हैं जिनमें से कुछ ऐसी हैं जो 250 रुपए प्रति वर्ग फुट की दर से बिकती हैं। ईश्वर पोर्ट यह मानते हैं कि गांव वाले ऐसी स्थिति में नहीं है कि वे अपने पेड़ों के एवज में वास्तविक मूल्य प्राप्त कर सकें तो भी वे इस स्थिति में तो हैं ही कि उनके पास सागवान के हजारों पेड़ हैं जो कम से कम 150 प्रति पेड़ की दर से कहीं भी बेची जा सकती है।

पोढ़ का कहना है कि एक एकड़ में सागवान के लगभग 70 पेड़ हैं। देखा जाए तो इस दर से इन पेड़ों से होने वाली आय चार करोड़ रुपए के आस–पास आती है। अगर बाजार भाव से देखें तो तो यह राशि सैकड़ों करोड़ में होगी। जो भी हो बहुत सामान्य दर पर भी देखें तो सागवान के अलावा जो अन्य पेड़ हैं उनकी कीमत प्रति पेड़ 75 रुपए से ज्यादा नहीं होगी और ऐसी हालत में भी इन ग्रामवासियों के पास करोड़ों रुपए की संपत्ति वाला जंगल है।

मोहन बाग का कहना है कि 'हमने पैसा उगाने के लिए पेड़ नहीं लगाया। इस इलाके को विकसित करने के लिए पेड़ों की जरूरत हुई और हमने वृक्षारोपण किया। हो सकता है कि मकान बनाने में अथवा किसी व्यक्तिगत काम में हम जंगल का कोई हिस्सा चुन लें और उसके 10वें भाग से कुछ पेड़ काट लें। यह भी हो सकता है कि गांव के लिए स्कूल की एक अच्छी इमारत बनाने अथवा अन्य सुविधाएं जुटाने के उद्देश्य से या खुद जंगल की रक्षा करने के लिए हम कोई कोष बनाएं और कुछ पेड़ों को बेचकर इसके लिए धन संग्रह करें। लेकिन हम किसी भी हाल में इस जंगल का विनाश नहीं बर्दाश्त करेंगे। हम ऐसा कर भी कैसे सकते हैं? इसे विकसित करने के लिए आखिर हमने इतनी मेहनत की है।

वन विभाग के साथ संघर्ष तेज होने पर कुछ बाहरी लुटेरे तत्वों ने भी इसमें प्रवेश किया। बगल के गांव के सरपंच ने जंगल में घुसपैठ की जिससे संघर्ष का पहलू और व्यापक हो गया। गांव वालों का कहना है कि सरपंच ने कुछ वन रक्षकों और चौकीदारों के साथ सांठ–गांठ करके जंगल में अतिक्रमण किया। इसके फलस्वरूप एक संघर्ष छिड़ गया। फिर वन विभाग का एक चौकीदार पेड़ काटते हुए पकड़ा गया और जब गांव वालों ने टहनियों को तोड़कर उसे मारना शुरू किया तब शायद उसे महसूस हुआ होगा कि जंगल की लकड़ी का स्वाद कैसा होता है।

गांव वालों पर तरह–तरह के आरोप लगाए गए और उनके खिलाफ मुकदमे दर्ज किये गए। आश्चर्य की बात है कि जब केंडुपट्टी के ग्रामीण जुलूस निकालकर थाने तक पहुंचे और पुलिस के सामने उन्होंने अपना पक्ष रखा तो पुलिस ने एक साकारात्मक रूख अख्तियार किया। पुलिस ने दूसरे पक्ष पर दबाव डाला कि वह कोई समझौता कर

केंडुपट्टी गांव के लोग उस जंगल में खड़े हैं जिसे उन्होंने अपने प्रयासों से तैयार किया है। अकेले इन पेड़ों की कीमत करोड़ों रुपये में है। गांव वालों को अब जंगल की रक्षा लुटेरों से करनी है – मसलन वन विभाग से।

ले और सारे आरोप वापस ले ले। बहरहाल अभी समस्या पहले की ही तरह बनी हुई है।

बाद में जंगल विभाग द्वारा नियुक्त एक व्यक्ति को गांव वालों ने उस समय पकड़ा जब उसने एक पेड़ की कुछ डालें काट दी थी। उसने भी जबाव में गांव वालों पर वही आरोप लगाया जिसके लिए उसे पकड़ा गया था। रेंज आफिसर ने पाया कि उसके आरोप झूठे हैं लेकिन मुख्य विवाद अभी भी बना हुआ है।

इसलिए सवाल यह है कि इस जंगल का मालिक कौन है? वे गांव वाले जिन्होंने इसे विकसित किया? अथवा सरकार जिसकी जमीन पर यह मौजूद है? या वन विभाग जिसकी जिम्मेदारी इस तरह के संसाधनों की देखभाल करनी है? यह प्रश्न उलझा हुआ लगता है। सिवाय इसके की सारा विवाद इसलिए पैदा हुआ क्योंकि गांव वालों ने एक बंजर जमीन को एक खूबसूरत और मूल्यवान जंगल का रूप दे दिया। दरअसल अब उन्हें सजा इस बात की मिलनी चाहिए कि उन्होंने ऐसा काम क्यों किया। जिसे सरकार और उसके वन विभाग को करना चाहिए था लेकिन इन दोनों ने जिसे कभी नहीं किया।

गांव वालों की निगाह में मामला बहुत सीधा–साधा है। मोहनबाग का कहना है कि 'अगर वन विभाग इस जंगल पर कब्जा करना चाहता है तो यहां के सभी मर्द, औरतें और बच्चे इसका विरोध करेंगे। हमलोग इसके लिए जेल जाने को भी तैयार हैं।' जागृत श्रमिक संगठन, जिसने गांव वाले को पेड़ लगाने के लिए प्रेरित किया इस लड़ाई को लड़ने के लिए तैयार है।

केंडुपट्टी को अब बात समझ में आ रही है कि असफलता भले ही अनाथ अवस्था में हो लेकिन सफलता का श्रेय लेने के लिए अनेक मां–बाप बन जाते हैं और मूल्यवान बच्चे को हथियाने के लिए संघर्ष करने लगते हैं।

कौन कहता है कि पेड़ों पर रुपए नहीं फलते?

नवापाडा, (उड़ीसा): रतुनायक ने थोड़ी पी रखी है और थोड़ा वह दुखी भी है लेकिन मुझसे कहता है, 'मैं दस वर्ष पहले जैसी हालत में था उससे आज बेहतर हालत में हूं। आज मेरे पास सौ पेड़ हैं और इस सीजन में मैं उनमें से कुछ को बेच दूंगा। यकीन मानिए बामूर का पेड़ बहुत अच्छा पेड़ है।'

कोमना ब्लॉक के कोनाबिरा गांव का एक छोटा किसान रतुनायक रिज फार्मिंग करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह अपने खेतों के सिरों पर अपने परिवार के सदस्यों के साथ पेड़ लगाता है। ऐसा नहीं कि वह कोई भी पेड़ लगा दे। उसे खासतौर से बामूर के पेड़ (जिसे बबूल भी कहते हैं।) बहुत पसंद है। पश्चिम उड़ीसा कृषिजीवि संघ के जगदीश प्रधान का कहना है कि यह कालाहांडी का चमत्कारिक पेड़ है।

उनका कहना सही होगा। तमाम आंकलनों से पता चलता है कि खेत के चारो ओर अगर बामूर के पेड़ लगा दिये जाएं तो प्रति वर्ष छोटे और मझोले किसानों की आय में छह हजार रुपए तक कि वृद्धि हो सकती है। कालाहांडी क्षेत्र के लिए यह बहुत बड़ी रकम है। बामूर (अकाशिया निलोटिका) के अनेक इस्तेमाल हैं।

रतुनायक बताता है कि इसकी पत्ती से खाद बहुत अच्छी बनती है। जब इसकी पत्तियां खेत में गिरती हैं तो धान की ऊपज बढ़ जाती है। इसकी लकड़ी से बैलगाड़ी, खेती के लिए काम आने वाले उपकरण, दरवाजों के चौखटें तथा अन्य घरेलू सामान बनाए जा सकते हैं। नायक अपने सारे पेड़ों को एक ही बार में नहीं काट देता है। वह बड़े योजनाबद्ध ढंग से इनकी कटाई करता है। इस सीजन में वह 10 से 20 पेड़ों को काटेगा।

वनवासी संघ और उड़ीसा पेड़ उत्पादक एसोसिएशन की मदद से पिछली बिक्री में नायक ने पांच हजार रुपए कमाए और इसके पेड़ों की संख्या में कोई खास कमी भी नहीं हुई। वह बताता है कि 'पेड़ों के लगाने में मैंने जितनी मेहनत की थी इसकी तिगुनी मेहनत करता तब कहीं जाकर खेती से इतने पैसे मिल पाते। नायक ने हमेशा अच्छे किस्म का बीज खरीदा और यही वजह है कि उसकी फसल भी असाधारण हुई।

वह बताता है कि 'वर्षों तक खेत जोतने के लिए मुझे बैलों को किराये पर लेना पड़ता था और बीज खरीदने के लिए पैसे उधार मांगने होते थे लेकिन अब आज ऐसी हालत नहीं है।' उसने अपनी गाड़ी और बैल खरीद लिया है और अब बीज खरीदने की भी स्थिति में है।

इस क्षेत्र में सरकार ने कुख्यात सुबाबूल पेड़ के लगाने का जो विनाशकारी प्रयोग किया था उसके विपरीत बामूर यहां की स्थानीय नस्ल का पेड़ है। नवापाडा के प्रोजेक्ट संभव के एक विशेषज्ञ सुनाधर बरसगधिया का कहना है कि यह पेड़ बड़ी तेजी से और बहुत अच्छी तरह हमारी मिट्टी में पैदा होता है इसकी पत्तियों और फल से मवेशियों का चारा तैयार होता है। इसलिए इस पेड़ से काफी पैसे की बचत होती है।

जगदीश प्रधान ने इस पेड़ की एक और दिलचस्प विशिष्टता बताई–'इसकी छाया बहुत घनी नहीं होती है इसलिए यह नीचे पैदा हो रही फसल पर सूरज की रोशनी पड़ने में बाधा नहीं बनता। अगर एक पेड़ से दूसरे पेड़ के बीच की दूरी को पांच से सात फीट रखा जाए तो सूरज की रोशनी मिलने में और भी आसानी होगी। इसकी पत्तियां नीचे बोई गई फसलों के लिए हरे खाद का काम करती है। इसके अलावा इसकी शाखाएं इतनी ऊंचाई से निकलती हैं कि आप इन पर अपना पुआल वगैरह रख सकते हैं। जो मवेशियों की पहुंच से दूर होगा। अगर पुआल बारिश में भीग गया हो तो सूखाने के लिए भी इनकी शाखाओं पर रखा जा सकता है।'

कालाहांडी क्षेत्र में छोटी–छोटी ऐसी पट्टियां दिखाई देती हैं जहां बामूर के पेड़ के ऊपर पुआल रखे हुए हैं। नवापाडा के कुछ गांव में ऐसा लगता है कि अब किसान योजनाबद्ध ढंग से इन पेड़ों को लगा रहे हैं।

किसानों ने बामूर पेड़ लगाना कैसे शुरू किया? कैसे उन्होंने युकलिप्टस जैसे पेड़ों को लगाने के लोभ से अपने को रोका? वर्गवन गांव के दुर्योधन सवर का कहना है कि हमारी क्षेत्र में जब बड़े पैमाने पर पेड़ों की कटाई हो गयी तो हमें बामूर के बारे में सोचना पड़ा। पिछले छह से दस वर्षों के दौरान ही हम यह समझ पाए कि अपने खेतों के चारों ओर अगर बामूर का पेड़ लगाए तो बहुत फायदा होगा।

इस रणनीति का महत्व इस वजह से बढ़ जाता है क्योंकि यहां लगातार लकड़ी की कमी होती जा रही है। पहले होता यह था कि बामूर का पेड़ अपने आप पैदा हो जाता था और किसान लोग बस इसकी थोड़ी देखभाल कर देते थे। लेकिन आज बामूर के अधिकांश पेड़ इस सचेत प्रयास के नतीजे के तौर पर लगाए जा रहे हैं। इसे नकद पैसा देने वाले साधन के रूप में लोकप्रियता मिल रही है। इस पेड़ को तालाबों के चारो ओर और सामूहिक जमीन में भी लगाया जा सकता है। इसके लिए न तो खाद की जरूरत होती है और न पानी की और सूख के दिनों में भी यह बड़े आराम से विकसित होता है।

इस पेड़ के लगाने में और इसके विकसित करने में कोई खर्चा भी नहीं है। लेकिन इसके बाद के कामों का अर्थशास्त्र कैसा है? अविभाजित पुराने कालाहांडी की कुल कृषि योग्य भूमि का क्षेत्रफल लगभग पांच लाख हेक्टेयर है। इसमें से तीन लाख हेक्टयर में धान तथा अन्य फसलें होती हैं। यहां एक व्यक्ति के पास औसत जोत आधा हेक्टेयर या इससे भी कम है। इसलिए अगर वे अपने खेत के चारो ओर बामूर के पेड़ लगाते हैं तो वे प्रति हेक्टेयर ढाई सौ पेड़ लगा सकते हैं।

अभी दस प्रतिशत से भी कम किसान इस काम में लगे हैं। प्रधान का कहना है कि अगर इनमें से 70 प्रतिशत किसान इन पेड़ों को लगाने लगे तो 2.1 लाख हेक्टेयर जमीन का इस्तेमाल हो जाएगा। प्रति हेक्टेयर ढाई सौ की दर से देखें तो ऐसी स्थिति में हमारे पास सवा पांच करोड़ बामूर के पेड़ होंगे। इनको एक क्रम में काटा जाए। प्रति वर्ष किसान कुल पेड़ों का सातवां हिस्सा काटे और जितने पेड़ काटे जाएं उतने ही नए पौधे लगा दिए जाएं। इस प्रकार प्रतिवर्ष 75 लाख पेड़ों को बेचा जा सकता है। इनकी मांग भी बहुत अच्छी है।

प्रत्येक पेड़ से पांच क्विंटल लकड़ी पैदा होती है और बाजार में लकड़ी की जो कम से कम दर है वह भी सौ रुपए प्रति क्विंटल है। हमारे पास छह वर्ष पुराने जो पेड़ हैं उनका आधार मूल्य 500 रुपए आंका जा सकता है। प्रधान का कहना है कि इस दर से देखें तो उत्पादकों को प्रति वर्ष 375 करोड़ रुपए की कुल आय हो सकती है। याद रखने की बात है कि इनमें से अधिकांश छोटे किसान हैं जिनके पास छोटी जोतें हैं। इस प्रयोग को समूचे उड़ीसा तक ले जाइए और इस राशि को दस गुना बढ़ा दीजिए। आप देखेंगे कि 4000 करोड़ रुपए के आसपास की आय होगी।

यह इतनी बड़ी राशि है कि जितनी उड़ीसा सरकार ने आने वाले वर्षों में राज्य से बाहर 16 चीनी मिलों तथा अन्य परियोजनाओं के लिए निर्धारित कर रखी है। उड़ीसा पेड़ उत्पादक एसोसिएशन का आकलन है कि इससे छोटे किसानों की आय में जबर्दस्त वृद्धि हो सकती है। वनवासी संघ के साथ मिलकर इसने विपणन की एक व्यवस्था भी तैयार की है। पहले यह सारा काम व्यापारियों और सूदखोर महाजनों के जरिए किया जाता था।

विपणन का काम बहुत आसान नहीं है। काफी पहले 1992 में यहां के व्यापारी लोग 25 रुपए प्रति क्विंटल या इससे कम दाम पर बामूर खरीदते थे। उन दिनों इधर से उधर लकड़ी पहुंचाने की परिवहन व्यवस्था भी आसान नहीं थी। इसके अगले वर्ष वनवासी संघ और जागृत श्रमिक संगठन ने किसानों को संगठिन करना शुरू किया। एक वर्ष बाद लकड़ी की कीमत प्रति क्विंटल सौ रुपए से ज्यादा हो गयी। विपणन के क्षेत्र में अपने कौशल से उन्होंने इसकी दर में लगातार वृद्धि की है। आज एक अच्छा पेड़ जो लगभग 15 साल पुराना हो और जिससे तकरीबन 15 क्विंटल लकड़ी मिल सकती हो उसकी कीमत 2000 रुपए हो गयी है।

इस विचार का जो सबसे दिलचस्प पहलू है वह यह है कि इसका जन्म किसानों के खुद के अनुभव से हुआ। जगदीश प्रधान इस मुद्दे को जोर देकर बताते हैं हालांकि बामूर के पेड़ को इतने महत्वपूर्ण ढंग से उपयोगी बनाने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका है क्योंकि उन्होंने ने ही सबसे पहले इस पर ध्यान दिया। उन्होंने बताया कि पहले के जमाने में बामूर को काफी महत्व दिया जाता था लेकिन कुछ दशक पूर्व से इसकी उपेक्षा शुरू हो गयी थी तो भी 1990 के दशक के शुरू के वर्षों में किसानों के बीच इस

विचार को पहुंचाने में बनवासी संघ और जागृत श्रमिक संगठन जैसे गैर सरकारी संगठनों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। हो सकता है कि इस काम में सफलता इसलिए भी मिली हो क्योंकि इन संस्थाओं की जड़ें पूरी तरह यहीं की मिट्टी में थीं।

बिक्री के जरिए जो पैसे मिलते हैं वह तो बामूर का एक पक्ष हुआ ही, इसके अलावा और भी कुछ बातें इससे से जुड़ी हुई हैं। जैसा कि एक किसान ने मुझसे कहा–'बाजार में यह कितना पैसा बनाता है इस पर मत जाइए यह जोड़िए कि खर्च के मामले में यह हम लोगों का कितना पैसा बचाता है। इसकी नाइट्रोजन युक्त जड़ों से मिट्टी की उत्पादकता बढ़ती है और इसकी शाखाएं हमारे पुआलों को खराब होने से बचाती हैं। सही अर्थों में यह किसानों का पेड़ है।'

पुनश्च :

एक वर्ष बाद जब मैं दुबारा कालाहांडी क्षेत्र गया तो यह प्रक्रिया काफी मजबूत हो गयी थी। व्यापारियों के एक संगठन की ओर से एक तार आया था जिसमें किसानों की उस मांग को मान लिया गया था जो पेड़ों के बेहतर मूल्य से संबंधित थी। किसानों के सामने जो मुख्य समस्या है वह वन विभाग की ओर से है। किसान जब अपने पेड़ों की लकड़ी लेकर बाजार जाते हैं तो प्रायः उन्हें अधिकारियों द्वारा रोक लिया जाता है और उन पर आरोप लगाया जाता है कि वे जंगल से लकड़ी चुरा कर ला रहे हैं। कुछ अफसर इसके लिए कमीशन की मांग करते हैं। जो भी हो किसानों का संगठन इस समस्या से निबटने की रणनीति बना रहा है।

'सब्जी लाने के लिए गए बाजार और हाथी ले के आए'

मटरिंगा, सरगुजा (मध्यप्रदेश): 'हमें इस बारे में कुछ भी पता नहीं था। हमसे पंचायत का सदस्य बनने को कहा गया और हम बन गए। हमने यह नहीं कहा था कि हमें चुना जाए लेकिन हम चुन लिए गए।' जगमनिया और गुरवारी दोनों मझवार आदिवासी हैं। मध्य प्रदेश में पहली बार गंभीरता से हुए पंचायत चुनाव में वे पंच चुने गये। यह निश्चित रूप से संवैधानिक संशोधन के बाद हुआ पहला चुनाव था।

अब दोनों मटरिंगा गांव में महिलाओं के लिए आरक्षित वार्ड का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। दोनों निर्विरोध चुने गये। फरवरी और अप्रैल 1994 के बीच खसरा और पेचिस की मिली–जुली घातक बीमारी के बाद सात बच्चों के अचानक मर जाने से मटरिंगा गांव को सभी लोग जानने लगे थे। यहां हुए पंचायत के चुनाव 10 दिनों तक चले जो 25 मई से शुरू हुए थे। पूरा चुनाव बहुत अफरा–तफरी भरा था। खासतौर से सरगुजा में, जहां 2793 पंचायतें हैं, स्थिति बहुत विकट थी।

जगमनिया और गुरवारी इस चुनावी दौड़ में कैसे शामिल हुए? उन्होंने बताया कि 'एक दिन जब हम बाजार गए तो पटवारी और पटेल ने हमें रोका और एक फार्म पर हमारे अंगूठे का निशान लगवा लिया। इसके बाद उन लोगों ने बताया कि हम पंचायत के लिए चुन लिए गए हैं। हमने इसका विरोध किया। लेकिन पटवारी ने कहा कि अगर हमने उनके कहे अनुसार काम नहीं किया तो गांव की इज्जत मिट्टी में मिल जाएगी।'

पड़ोस के एक व्यक्ति ने ठहाका लगाते हुए कहा, 'सब्जी लाने के लिए गए बाजार और हाथी लेके आए' क्या पटवारी ने उन्हें यह नहीं बताया कि क्यों इन पंचायतों में महिलाओं का होना महत्वपूर्ण है? 'नहीं', गुरवारी ने कहा, 'उसने हमसे कहा की तुम वही करो जो हम कह रहे हैं। बाद में हमारे पतियों ने भी हमसे यही कहा कि पटवारी जो चाहता है वही करो।'

पटवारी की चिंता का सरोकार पूरी तरह गांव की इज्जत से नहीं है। पिछले महीने खसरा–पेचिस से हुई मौतों के बाद वरिष्ठ अधिकारियों ने पटेल और पटवारी दोनों को मोअत्तल कर दिया था। इन दोनों में से किसी ने अधिकारियों को न तो कोई सूचना भेजी थी और न आगाह किया था कि वे बीमारी से ग्रस्त लोगों की मदद

करें। पटवारी ने देखा कि यह चुनाव ऐसा मौका है कि अगर इन दोनों औरतों को पंच बना दिया गया तो पंचायत पर उसकी पकड़ बनी रहेगी। तुरत की स्थिति को देखें तो हो सकता है कि उसकी बात सही भी हो। लेकिन दूरगामी दृष्टि से देखने पर लगता है कि वह शायद गलती कर रहा था।

अब पंचायत में आ जाने के बाद जगमनिया और गुरवारी बहुत दुखी नहीं हैं। दोनों इस बात से सहमत हैं कि महिलाओं को पंचायत में आना चाहिए हालांकि अभी भी 'सब के सामने बोलने में' वे घबराती हैं। वे बहुत गरीब किसान परिवार से आयीं हैं। दोनों में से किसी को न तो अपनी पंचायत का नाम मालूम है और न यह पता है कि किस वार्ड से वे चुनी गयी हैं। बावजूद इसके वह कुछ सीखना चाहती हैं।

बाद में मैंने ऐसी ही एक बेतुकी स्थिति झाबुआ जिले में देखी। वहां रामा ब्लॉक में रामागांव में महिलाओं की पंचायत का नेतृत्व गेंदूबाई करती हैं। पिछले कुछ समय से उनके यहां महिला सरपंच की व्यवस्था है। आश्चर्य की बात यह है कि इस गांव में वैसे तो महिलाओं के लिए केवल 65 प्रतिशत आरक्षित हैं लेकिन यह पूरी तरह से महिला पंचायत हो गयी–यहां सभी पंच महिलाएं ही हैं। इनमें से सबका चुनाव निर्विरोध हुआ है।

एक तरफ जहां इससे फायदा है इस समूची प्रक्रिया में पुरुषों की जो उदारता दिखाई देती है वह काफी संदिग्ध है। जैसा कि एक व्यक्ति ने मुझसे बताया, 'अगर दो तिहाई सदस्य औरतों में से होंगी तो हम पुरुष लोग औरतों के सामने अल्पसंख्यक संख्या में कैसे बैठेंगे? यह ठीक बात तो नहीं है। इसलिए हमने सोचा कि चलो सभी औरतें ही इस पंचायत को संभाले। आखिर उनको करना भी क्या है–बस उनका कागजों पर दस्तखत करना है जो उनके सामने पेश किये जाएं।'

समय बीतने के साथ पता चलेगा कि उनका यह सोचना एक गलत आंकलन था। इस प्रक्रिया का प्रभाव महिलाओं की जागरुकता पर पड़ेगा। वे अब एक महिला डाक्टर की जरूरत के बारे में बताती हैं, और नौकरियों के बारे में बात करती हैं। वे चाहती हैं कि स्कूल का विकास हो। फिर भी मौजूदा ढांचे में पुरुषों का प्रभुत्व जारी रहता है। अधिकांश निर्वाचित महिलाएं इतने दबाव में रहती हैं कि वे खुलकर न तो बोल पाती हैं और न अपनी स्थिति को जोरदार ढंग से स्थापित कर पाती हैं।

वापस सरगुजा में एक अधिकारी ने बताया–'यह चीज थोड़े ही समय तक चल सकती है कि पुरुष अपनी तिकड़मों से महिलाओं को अपने अनुकूल बनाए रखें। पंचायत में महिलाओं का प्रवेश मात्र आने वर्षों में स्थितियां बदल सकता है।' यह तस्वीर भी अलग–अलग स्थानों पर अलग–अलग रूप में दिखाई देती है। कुछ स्वयंसेवी संस्थाएं पंचायत में भागीदारी के लिए ग्रामवासियों को प्रशिक्षण दे रही हैं। मिसाल के तौर एकता परिषद ने इस दिशा में अगुवाई की है लखनपुर में चंदना पडवाल एक असाधारण उम्मीदवार हैं। वह इस अथवा अन्य अनेक ब्लाकों में एक

मात्र ऐसी महिला उम्मीदवार हैं जिसके पास समाजशास्त्र में एम.ए. की डिग्री है। उनका इरादा सरपंच बनने का है।

वह अपनी बातों को बहुत अच्छे ढंग से अभिव्यक्त कर पाती हैं और विश्वसनीय लगती हैं। उनकी विजय से इस इलाके में पुरुषों के प्रभुत्व को खतरा दिखाई देता है। .

फिर भी मटरिंगा में सरपंच के पद के लिए कोई उम्मीदवार नहीं है। उस पंचायत में अनेक ऐसे वार्ड हैं जहां चुनाव हुआ ही नहीं। किसी भी राजनीतिक दल ने सीधा–सीधा चुनाव प्रचार नहीं किया। (बेशक यहां एक भाजपा समर्थक उम्मीदवार है जिसने गांव में एक मंदिर बनवाने का वायदा किया है।) यहां चेतना का स्तर भी बहुत निम्न है। फिर भी अनेक सकारात्मक संकेत भी मिलते रहते हैं।

मटरिंगा, जजगी, उदयपुर और लखनपुर में अधिकांश पुरुष इस बात से सहमत हैं कि महिलाओं को पंचायत में होना चाहिए। मटरिंगा में घासीराम ने, जिसके तीन साल के बेटे की मृत्यु खसरा–पेचिस महामारी में हो गयी थी, बताया कि 'निश्चय ही महिलाओं का जो काम होगा वह पुरुषों से खराब तो नहीं ही होगा। अगर महिलाओं की बात अलग कर दें तो पुरानी और नयी पंचायतों में फर्क ही क्या है? जनता तो पहले की ही तरह मर रही है।'

भोपाल के एक वरिष्ठ अधिकारी ने कहा कि 'कम से कम कुछ उपयोगी ढांचे का आधार तो रख ही दिया गया है। पंचायत में एक तिहाई महिलाओं की मौजूदगी मात्र से ही आने वाले दिनों में इसका असर दिखाई देगा। इसमें कोई शक नहीं कि हम अभी बहुत सारे जोड़–तोड़ और दांव पेंच देखेंगे लेकिन हमें यह भी उम्मीद करनी चाहिए कि इसी के साथ जनतांत्रिक आंदोलन भी विकसित होंगे जो लोगों की चेतना के स्तर को उन्नत करेंगे। इन दोनों का संयोग बहुत लाभकारी होगा।' जो भी हो इस तरह के आंदोलन सरगुजा तथा मध्य प्रदेश के अनेक ग्रामीण इलाकों में उभरने से अभी रह गए हैं।

जिन जगहों में पंचायत के उम्मीदवार गंभीर किस्म के हैं वहां मुद्दे भी गंभीर दिखाई देते हैं। इन मुद्दों में गांव के लिए हैंडपंप लगवाने सड़क बनवाने से लेकर उन सड़कों पर काम करने वालों की मजदूरी के भुगतान का मुद्दा शामिल है। मटरिंगा में सड़क की तरह का एक निर्माण तब हुआ जब यहां बच्चों की मौत के बाद मंत्री के आने की योजना बनी। लेकिन जिन स्थानीय लोगों ने सड़क बनाने में हिस्सा लिया था उनकी मजदूरी अभी तक नहीं दी गयी। उदयपुर में जजगिर तथा अन्य स्थानों में तेंदु पत्ता इकट्ठा करने वालों को किए जाने वाले भुगतान में विलंब एक ज्वलंत मुद्दा है।

मध्य प्रदेश में 30294 ग्राम पंचायतें 459 जनपद पंचायतें और 44 जिला पंचायतें हैं। प्रत्येक ग्राम पंचायत में कम से कम दस सदस्य हैं। जिनकी संख्या 20

तक पहुंच जाती है जो गांव की आबादी 1000 बढ़ने के साथ तय होती है। यहां महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत सीटें आरक्षित हैं। अगर किसी ब्लाक में अनुसूचित जाति और जनजाति की आबादी 50 प्रतिशत से कम है तो वहां 25 प्रतिशत सीटें इनके लिए आरक्षित हैं। अगर यह आबादी 50 प्रतिशत से ज्यादा है तो आरक्षण 33 प्रतिशत तक हो जाता है। अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के लिए आरक्षित वार्डों में महिलाओं के लिए और भी ज्यादा आरक्षण हैं।

'केवल महिला' वार्डों के बनने से जिले के सुस्त चुनाव अधिकारियों को दिक्कत पैदा हो गयी। वे महिला उम्मीदवारों को बताने लगे कि वे इन सीटों पर केवल चुनाव लड़ सकती हैं। ऐसा होते ही कलक्टर को अपने अधिकारियों को यह समझाना पड़ा कि वे अन्य वार्डों के लिए महिलाओं को चुनाव लड़ने से नहीं रोक सकते। एक महिला उम्मीदवार ने हमें बताया कि 'अगर हम जनरल वार्ड से चुनाव नहीं लड़ सकतीं तो इसका मतलब कोई जनरल वार्ड है ही नहीं। फिर तो सभी आरक्षित वार्ड हो जाएंगे।

बेशक इसका अर्थ यह नहीं कि चुनाव में जबर्दस्त भागीदारी थी। सूरजपुर जैसे विशाल केंद्र में चुनाव प्रक्रिया शुरू होने के पहले दिन सरपंच के पद के लिए केवल एक व्यक्ति ने नामांकन पत्र भरा। जबकि इस केंद्र में सरपंच के 79 पद हैं। सूरजपुर ब्लाक में पहले दो दिनों के दौरान वार्ड मेंबर के पद के लिए पुरुषों अथवा महिलाओं में से किसी ने एक भी नामांकन पत्र नहीं भरा।

प्रभारी अधिकारी सत्यनारायण नेमा का कहना है कि–'फिलहाल गांव में राजनीतिक तिकड़मबाज अपना खेल चला रहे हैं। अंतिम दिनों में वे कोई पढ़ा–लिखा व्यक्ति लाएंगे जो ठीक से फार्म भर सके ताकि फार्म नामंजूर न हो सके।' अंतिम जानकारी मिलने तक कुछ फार्म भरे जा चुके थे। लेकिन कहीं भी यह काम उस स्तर पर नहीं हुआ था जैसा नेमा में देखने को मिला।

सूरजपुर केंद्र के एक अधिकारी ने मजाकिया अंदाज में कहा कि 'यहां फर्जी वोटों का कोई चक्कर नहीं चलेगा। यहां जो चाहे वह चुना जा सकता है।' सरपंच के पद के लिए महिलाओं, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के उम्मीदवारों को जमानत के रूप में 50 रुपए जमा करने होते हैं। सामान्य श्रेणी में चुनाव लड़ने वालों को 200 रुपए की जमानत राशि देनी होती है।

जो लोग राजनीतिक तौर पर ज्यादा सचेत हैं वे इस व्यवस्था के प्रति संदिग्ध हैं जिसमें स्थानीय विधायक और बैंक अधिकारियों को जिला पंचायतों का पदेन सदस्य बना दिया जाता है। यही स्थिति लोकसभा और राज्यसभा के सदस्यों की भी है। एक राजनीतिक कार्यकर्त्ता ने बहुत जोर देकर कहा कि 'ऐसा होने से गैरनिर्वाचित निहित स्वार्थों का पंचायत में प्रवेश हो जाता है।' वे पंचायतों के अधिकार को कम कर देते हैं। अब अगर कोई सांसद पंचायत में आकर बैठ जाता

है तो निर्वाचित सदस्य उसकी बात का विरोध कैसे करेंगे। बैंक मैनेजर की इच्छा का लोग उल्लंघन कैसे करेंगे जो इनके ऋणों पर नियंत्रण रखता है।'

उसकी बात में बहुत दम है। इस जिले में जहां कोई संगठित राजनीतिक आंदोलन नहीं है और लोगों की चेतना का स्तर बहुत निम्न है इस तरह की समस्याएं काफी गंभीर साबित हो सकती हैं। फिर भी कुछ ऐसी बातें भी हैं जो आश्चर्यचकित करती हैं। इस समूची प्रक्रिया में कुछ ऐसे परिवर्तन अंतर्निहित हैं जो सुखद आश्चर्य में डाल सकते हैं। हो सकता है कि अभी हम एक जबावी कार्रवाई भ्रूण रूप में देख रहे हों। जैसा कि जगमनिया और गुरवरू अपने चुनाव के बारे में बताती हैं–'आखिर औरतें हीं तो घर का सारा हिसाब रखती हैं?' हो सकता है पटवारी और पटेल उस दिन को कोसें जिस दिन उन्होंने इन दोनों औरतों को चुनाव जीतने में मदद की थी।

जहां पहिया है

पुडुकोट्टई, (तमिलनाडु): साइकिल चलाना एक सामाजिक आंदोलन है? कुछ अजीब सा लग रहा होगा। है न! लेकिन चौंकने की बात नहीं है पुडुकोट्टई जिले की हजारों नवसाक्षर ग्रामीण महिलाओं के लिए यह अब आम बात है। अपने पिछड़ेपन पर लात मारने का, अपना विरोध व्यक्त करने का, उन जंजीरों को तोड़ने का जिनमें वे जकड़े हुए हैं कोई न कोई तरीका लोग निकाल ही लेते हैं और कभी–कभी ये तरीके अजीबो–गरीब होते हैं।

भारत के इस सर्वाधिक गरीब जिलों में से एक पुडुकोट्टई में ऐसा लगता है कि ग्रामीण महिलाओं ने अपने को अभिव्यक्त करने के लिए साइकिल को ही चुना। पिछले 18 महिनों में एक लाख से भी अधिक ग्रामीण महिलाओं ने, जिनमें से अधिकांश नवसाक्षर हैं स्वाधीनता, आजादी और गतिशीलता के प्रतिक के रूप में साइकिल को चुना है। अगर हम 10 वर्ष से कम उम्र की लड़कियों को अलग कर दें तो इसका अर्थ यह होगा कि यहां ग्रामीण महिलाओं की एक चौथाई के हिस्से ने साइकिल चलाना सीख लिया है और इन औरतों में से 70 हजार से भी अधिक महिलाओं ने, 'प्रदर्शन एवं प्रतियोगिता' जैसे सार्वजनिक कार्यक्रमों में बड़े गर्व के साथ अपने इस नये कौशल का प्रदर्शन किया है और अभी भी साइकिल चलाना सीखने की इच्छा जारी है तथा कई 'प्रशिक्षण शिविर' चल रहे हैं।

ग्रामीण पुडुकोट्टई के मुख्य इलाकों में अत्यंत रूढ़िवादी पृष्ठभूमि से आयीं युवा मुस्लिम लड़कियां अपनी साइकिलों पर जाती हुई सड़कों पर दिखायी देती हैं। कुछ ने तो साइकिल चलाने के लिए बुरका उतार फेंका है। जमिला बीवी नामक एक मुस्लिम युवती ने, जिसने साइकिल चलाना शुरू किया है मुझसे कहा–'यह मेरा अधिकार है अब हम कहीं भी जा सकते हैं। अब हमें बस का इंतजार नहीं करना पड़ता। मुझे पता है कि जब मैंने साइकिल चलाना शुरू किया तो लोग फब्तियां कसते थे। लेकिन मैंने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया।'

फातिमा एक माध्यमिक स्कूल में पढ़ाती हैं और उन्हें साइकिल चलाने का ऐसा चाव लगा है कि वह हर शाम आधा घंटा के लिए किराये पर साइकिल लेती हैं। (एक नयी साइकिल खरीदने की उनकी हैसियत नहीं है क्योंकि कोई भी साइकिल 1200 रुपए से कम नहीं मिलती।) फातिमा ने बताया कि–'साइकिल चलाने में एक खास तरह की आजादी है। हमें किसी पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। मैं कभी इसे नहीं

छोड़ूंगी।' जमिला, फातिमा और और उनकी मित्र अवकन्नी–इन सबकी उम्र 20 वर्ष के आसपास है और इन्होंने अपने समुदाय की अनेक युवतियों को साइकिल चलाना सिखाया है।

इस जिले में साइकिल की धूम मची हुई है। इसकी प्रशंसकों में हैं महिला खेतिहर मजदूर, पत्थर खदानों में मजदूरी करने वाली औरतें और गांवों में काम करने वाली नर्सें। बालवाड़ी और आंगनवाड़ी कार्यकर्ता बेशकीमती पत्थरों को तराशने में लगी औरतें और स्कूल की अध्यापिकाएं भी साइकिल का जम कर इस्तेमाल कर रही हैं। ग्राम सेविकाएं और दोपहर का भोजन पहुंचाने वाली औरतें भी पीछे नहीं हैं। सबसे बड़ी संख्या उन लोगों की है जो अभी नवसाक्षर हुई हैं। अरिवोली अयक्कम (ज्ञान का प्रकाश आंदोलन) के नेतृत्व में चलाये गये जबर्दस्त साक्षरता अभियान ने तेजी से इस ऊर्जा पर ध्यान दिया। जिस भी नव साक्षर अथवा नयी नयी साइकिल चलाने वाली महिला से मैंने बातचीत की, उसने साइकिल चलाने और अपनी व्यक्तिगत आजादी के बीच एक सीधा संबंध बताया।

अरिवोली की मुख्य कोआर्डिनेटर और साइकिल आंदोलन की अगुआ एन. कन्नम्मल का कहना है, 'मुख्य बात यह है कि इसने महिलाओं को बहुत आत्मविश्वास प्रदान किया। महत्वपूर्ण यह है कि इसने पुरुषों पर उनकी निर्भरता कम कर दी। अब हम प्रायः देखते हैं कि कोई औरत अपनी साइकिल पर चार किलोमीटर तक की दूरी तय कर पानी लाने जाती है – कभी कभी साथ में उसके बच्चे भी होते हैं। यहां तक कि दूसरे स्थानों से सामान ढोने की व्यवस्था भी खुद ही की जा सकती है। लेकिन यकीन मानिए, जब इन्होंने साइकिल चलाना शुरू किया तो इनके चरित्र पर लोगों ने जम कर प्रहार किया जिसे इन्हें झेलना पड़ा। गंदी–गंदी टिप्पणियां की गयीं। लेकिन अरिवोली ने साइकिल चलाने को सामाजिक स्वीकृति दी। इसलिए महिलाओं ने इसे अपना लिया।'

इनमें से सबसे शुरुआती लोगों में खुद कन्नम्मल थी। विज्ञान से स्नातक होने के बावजूद उसने इससे पहले कभी भी साइकिल चलाने का 'साहस' नहीं किया था।

अरिवोली द्वारा संचालित 'साइकिल प्रशिक्षण शिविर' देखना एक असाधारण अनुभव है। किलाकुरुचि गांव में सभी सीखने वाली महिलाएं रविवार को इकट्ठी हुई थीं। साइकिल चलाने के आंदोलन के समर्थन में ऐसे आवेग देख कर कोई भी हैरान हुए बिना नहीं रह सकता। उन्हें इसे सीखना ही है। साइकिल ने उन्हें पुरुषों द्वारा थोपे गए दायरे के अंदर रोजमर्रा की घिसीपिटी चर्चा से बाहर निकलने का रास्ता दिखाया। ये नव–साइकिलचालक अरिवोली द्वारा तैयार किए गए वे गाने भी गाती हैं जिनमें साइकिल चलाने को प्रोत्साहन दिया गया है। इनमें से एक गाने की पंक्ति का भाव है : 'ओ बहिना, आ सीखें साइकिल, घूमें समय के पहिए संग...

अरिवोली के 'साइकिल प्रशिक्षण शिविर' को देखना एक असाधारण अनुभव था। साइकिल चलाना सीखने की इच्छुक महिलाएं खूब सज धज कर रविवार को इकट्ठी हुई थीं। पुडुकोट्टई में साइकिल आजादी का प्रतीक है।

जिन्हें साइकिल चलाने का प्रशिक्षण मिल चुका है उनमें से बहुत बड़ी संख्या में महिलाएं उनकी मदद के लिए आ जाती हैं जो अभी नया–नया सीख रही हैं। वे अरिवोली के 'मास्टर प्रशिक्षक' के रूप में निःशुल्क काम करती हैं। यहां न केवल सीखने की इच्छा दिखायी देती है बल्कि उनके बीच यह अहसास दिखायी देता है कि *सभी महिलाओं को साइकिल चलाना सीखना चाहिए।* बदले में उनके अनुभव ने साक्षरता आंदोलन को समृद्ध किया है। नयी साइकिल चलाना सीखी हुई महिलाएं पहले के

मुकाबले कहीं ज्यादा घनिष्ठ रूप से अरिवोली के साथ जुड़ी हुई हैं।

यह समूची परिघटना यहां की अत्यंत लोकप्रिय भूतपूर्व कलक्टर शीला रानी चुनकठ के दिमाक की उपज थी। 1991 में उनके दिमाक में यह ख्याल आया कि महिला कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित किया जाय ताकि दूर दराज के क्षेत्रों में रहने वाली महिलाओं तक साक्षरता पहुंचे। उन्होंने 'गतिशीलता' को साक्षरता अभियान के एक अंग के रूप में शामिल किया यह विचार इस तथ्य से उपजा था कि महिलाओं के बीच गतिशीलता की कमी ने उनके आत्मविश्वास को कमजोर बनाने मे महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। चुनकठ ने बेंकों को कहा कि महिलाओं को साइकिल खरीदने के लिए वे ऋण दें। उन्होंने इस अभियान को आगे बढ़ाने के लिए अलग–अलग ब्लाकों को कुछ खास जिम्मेदारियां सौंपीं। जिले की सर्वोच्च अधिकारी के रूप में उन्होंने व्यक्तिगत तौर पर इस पर बहुत ध्यान दिया।

पहले कार्यकर्ताओं ने साइकिल चलाना सीखा। इसके बाद नवसाक्षरों ने सीखना चाहा। प्रत्येक महिला सीखना चाहती थी। आश्चर्य नहीं कि लेडीज साइकिलों की कमी हो गयी। लेकिन श.. बात नहीं। 'जेण्ट्स' साइकिलों से आराम से काम चल गया। कुछ महिलाओं ने तो जेण्ट्स साइकिलों को ही पसंद किया क्योंकि इनमें सीट से हेंडल तक अतिरिक्त डंडा होता था। इस पर आप एक बच्चे को बैठा सकते हैं और आज यहां हजारों औरतें जेण्ट्स साइकिलें ही चलाती हैं। अन्य हजारों का सपना है कि एक दिन वे भी इस लायक होंगी कि साइकिल खरीद सकें।

1992 में अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस के बाद अब यह जिला कभी भी पहले जैसा नहीं हो सकता। हैंडल पर झंडियां लगाये, घंटियां बजाते हुए साइकिल पर सवार 1500 महिलाओं ने पुडुकोट्टई में तूफान ला दिया। महिलाओं की इस साइकिल तेयारी ने यहां रहने वालों को हक्का–बक्का कर दिया।

इस सारे मामले पर पुरुषों की क्या राय थी? इसके पक्ष में 'राम साइकिल्स' के मालिक एस. कनकराजन को तो होना ही था। इस अकेले डीलर के यहां लेडीज साइकिल की बिक्री में साल भर के अंदर 350 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस आंकड़े को दो कारणों से कम कर के आंका गया माना जा सकता है। पहली बात तो यह है कि– ढेर सारी महिलाओं ने, जो लेडीज साइकिल का इंतजार नहीं कर सकती थीं, जेण्ट्स साइकिलें खरीदीं। दूसरे कनकराजन ने बड़ी सतर्कता के साथ यह जानकारी मुझे दी थी– उसे लगा कि मैं बिक्री कर विभाग का कोई आदमी हूं।

जो भी इस बात को ले कर पुरुषों का रुख ... नहीं है। कुछ का रुख तो काफी उत्साहवर्द्धक भी है। मिसाल के तौर पर अरिवोली के एक पुरुष कार्यकर्ता मुथु भासकरन ने तो प्रसिद्ध साइकिल गीत लिख दिया जो उनका प्रमुख गान हो चुका है।

कुदिमिअनमलाई की चिलचिलाती धूप में पत्थर खदानों में दौड़ती – भागती

22 वर्षीय मनोरमनी को लोगों को साइकिल चलाना सिखाते देखना अद्‌भुत दृश्य है। मनोरमनी पत्थर खदान में मजदूरी करने के साथ साथ अरिवोली कार्यकर्ता भी हैं और उसका मानना है कि उसके साथियों को साइकिल चलाना आना ही चाहिए। उसने मुझे बताया– 'हमारा इलाका मुख्य शहर से कटा हुआ है। यहां जो साइकिलल चलाना जानते हें, उनकी गतिशीलता बढ़ जाती है। 1992 में अकेले एक सप्ताह में अरिवोली द्वारा आयोजित 'प्रदर्शन व प्रतियोगिता' में 70,000 से अधिक महिलाओं ने अपना साइकिल कौशल दिखाया। इससे 'यूनीसेफ' के लोग इतना प्रभावित हुए कि उन्होंने अरिवोली की महिला कार्यकर्ताओं के लिए पचास मोपेड की स्वीकृति दे दी।

साइकिल चलाने के बहुत निश्चित आर्थिक निहितार्थ थे। इससे आय में वृद्धि हुई है। यहां की कुछ औरतें कृषीय अथवा अन्य उत्पाद अगल–बगल के गांवों में बेच आती हैं। साइकिल की वजह से बसों के लिए इंतजार करने का उनका समय बच जाता है। खराब परिवहन व्यवस्था वाले स्थानों के लिए यह बहुत महत्वपूर्ण है। दूसरे, इससे इन्हें इतना समय मिल जाता है कि ये लोग अपने सामान बेचने पर ज्यादा ध्यान केंद्रित कर पाती हैं। तीसरे, इससे ये और अधिक इलाकों में जा पाती हैं। अंतिम बात यह है कि अगर आप चाहें तो इससे आराम करने का काफी समय मिल सकता है।

छोटे उत्पादकों को, जिन्हें बसों का इंताजार करना पड़ता था, बस स्टाप तक पहुंचने के लिए भी पिता, भाई, पति या बेटों पर निर्भर रहना पड़ता था। वे अपना सामान बेचने के लिए कुछ गिने चुने गांवों तक ही जा पाती थीं। कुछ को पैदल ही चलना पड़ता। जिनके पास साइकिल नहीं है वे अब भी पैदल ही जाती हैं। फिर उन्हें बच्चों की देखभाल के लिए या पीने का पानी लाने जेसे घरेलू कामों के लिए जल्दी ही भाग कर घर पहुंचना पड़ता था। जिनके पास साइकिलें हैं वे अब सारा काम बिना किसी दिक्कत के कर लेती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि अब आप किसी सुनसान रास्ते पर भी देख सकते हें कि कोई युवा मां साइकिल पर आगे अपने बच्चे को बैठाये, पीछे कैरियर पर सामान लादे चली जा रही है। वह अपने साथ पानी से भरे दो या तीन बर्तन लिए अपने घर या काम पर जाती देखी जा सकती है।

तो भी अन्य पहलुओं से ज्यादा आर्थिक पहलू पर ही बल देना गलत होगा। इसने महिलाओं के अंदर आत्म सम्मान की जो भावना पैदा की वह बहुत महत्वपूर्ण है। फातिमा का कहना है– 'बेशक मामला केवल आर्थिक नहीं है।' फातिमा ने यह बात ऐसे कही जिससे मुझे लगा कि मैं कितनी मूर्खतापूर्ण ढंग से सोच रहा था। उसने आग कहा – 'साइकिल चलाने से मेरी कौन सी कमाई होती हे। मैं तो पैसे ही गंवाती हूं। मेरे पास इतने पैसे नहीं हैं कि में साइकिल खरीद सकूं। लेकिन हर शाम मैं किराये पर साइकिल लेती हूं ताकि मैं आजादी का, खुशहाली का अनुभव कर सकूं।' पुडुकोट्टई पहुंचने से पहले मेंने इस विनम्र सवारी के बारे में कभी इस तरह सोचा ही नहीं था– मैंने कभी साइकिल आजादी का प्रतीक नहीं समझा था।

कन्नामल ने बताया– 'लोगों के लिए यह समझना बड़ा कठिन है कि ग्रामीण औरतों के लिए यह कितनी बड़ी चीज है। उनके लिए तो यह हवाई जहाज उड़ाने जैसी जबर्दस्त उपलब्धि है। लोग इस पर हंस सकते हैं लेकिन केवल यहां की औरतें ही समझ सकती हैं कि उनके लिए यह कितना महत्वपूर्ण है।'

मैं समझता हूं कि अच्छी पत्रकारिता के उसूलों की यह मांग है कि इसे 'संतुलित' रूप देने के लिए उन लोगों की टिप्पणियां भी उद्धत की जायं जो साइकिल आंदोलन के विरोधी हैं। सच कहूं तो उनकी परवाह ही किसे है? हजारों नव–साक्षर महिलाएं यहां साइकिलों पर घूम रही हैं और यही असली कहानी है।

जो पुरुष इसका विरोध करते हैं, वे जायं और टहलें क्योंकि जब साइकिल चलाने की बात आती है, वे महिलाओं की बराबरी कर ही नहीं सकते।

पुनश्च :

अप्रैल 1995 में जब मैं फिर पुडुकोट्टई आया, साइकिल चलाने की ललक पहले की तरह ही बनी हुई थी। लेकिन बड़ी संख्या में ऐसी औरतें भी जिनकी हैसियत साइकिल खरीदने की नहीं थी– अब इसकी कीमत लगभग 1400 रुपये हो गयी थी। अब एक नयी पीढ़ी उभर रही थी जो इतनी छोटी थी कि पिछली पीढ़ी से लाभ नहीं उठा सकती थी। लेकिन पुडुकोट्टई इस अर्थ में सचमुच एक अद्‌भुत जिला बना रहेगा कि यहां आश्चर्यजनक रूप से महिलाओं ने साइकिल को अपनाया और अन्य लोगों के अंदर इस कौशल को अपनाने का उत्साह पैदा किया।

गरीबी,
विकास
और प्रेस

विकास कतराने या टाल–मटोल करने की रणनीति है। अगर आप लोगों के लिए भूमि सुधार नहीं कर सकते तो उन्हें उन्नत नस्ल की गायें दे दीजिए। अगर आप बच्चों को स्कूल नहीं भेज सकते तो उन पर अनौपचारिक शिक्षा आजमाइये। अगर आप जनता को बुनियादी स्वास्थ्य सुविधा नहीं दे सकते तो स्वास्थ्य संबंधी बीमा की बात करिये। अगर उन्हें नौकरियां नहीं दे सकते तो कोई बात नहीं। बस 'रोजगार के अवसरों' जुमले को नयी परिभाषा दे दीजिए। गुलाम मजदूर के रूप में हो रहे बच्चों का इस्तेमाल खत्म नहीं करना चाहते तो कोई बात नहीं। 'बाल मजदूरों की हालत में सुधार' की बात शुरू कर दीजिए। यह सुनने में भी अच्छा लगता है। ऐसा करके आप कुछ पैसे भी बना सकते हैं।

विकास के बारे में यह बात सच है। यही भारतीय शैली है जो पिछले चार दशकों से भी अधिक समय से जारी है। इस दर्शन के मूल में यह विचार है कि ऐसा करके हक किसी तरह उस कष्टदायक और कठिन काम से बच सकते हैं जिन्हें सुधार कहा जाता है और जिनकी भारतीय समाज को सचमुच जरूरत है। क्या भूमि सुधार जैसी चिढ़ पैदा करने वाली बातों को लागू किए बिना जनता के हालात में हम किसी तरह का सुधार ला सकते हैं? यह संभव ही नहीं है लेकिन कुछ ऐसे ताकतवर लोग हैं जो इस पर यकीन करना चाहेंगे कि ऐसा हो सकता है।

इसी तरह का भ्रम उस शब्द के साथ भी जुड़ा है जिसे हम 'भूमंडलीकरण' कहते हैं और जिसने भारत के अभिजात्य वर्ग को उत्तेजित कर दिया है। 'हमें भूमंडलीकरण में शामिल होना चाहिए। बचने का कोई उपाय नहीं है। हर आदमी इसमें शामिल हो रहा है। जरा देखिये सिंगापुर, मलेशिया, इण्डोनेशिया, ताइवान, दक्षिण कोरिया को।'

बेशक, जो भी इसमें शामिल है उसने और भी बहुत कुछ किया है। इन सभी देशों में, अगर आप इन सत्तावादी राज्यों को एक मॉडल के रूप में लेते हैं, भूमि सुधार का कार्यक्रम लागू किया गया। उन्होंने अपने देश की जनता को साक्षरता और शिक्षा दी–उन्हें एक स्तर तक स्वास्थ्य, आवास और पोषण भी दिया। इस पर ध्यान दिलाइये और तब भारत के अभिजात्य वर्ग को हमारी 'सांस्कृतिक विलक्षणता' का पता चलेगा। यही बात बाल मजदूरी पर भी लागू होती है। दर्जनों अन्य समाजों ने इससे छुटकारा पा लिया। लेकिन 'भारत उनसे भिन्न हैं'। इसलिए भारत की विलक्षणता भूमंडलीकरण के मार्ग में कोई रुकावट नहीं है। यह रुकावट है भूमि सुधार में, शिक्षा में, स्वास्थ्य में। यह बात विदेशी एजेंसियों को ढेर सारे विषयों पर भारत के लिए नीतियां तैयार करने से नहीं रोकती। लेकिन यह बाल मजदूरी से छुटकारा पाने के मार्ग में बाधा बन जाती है।

भारतीय विकास का अनुभव पिछले साढ़े चार दशकों के दौरान चले इस तरह के पाखण्ड की दुर्गंध से भरा हुआ है। बड़े मुद्दों की लंबे समय के लिए उपेक्षा कर दीजिए

और अंततः उसे आप 'बासी' कह कर खारिज कर सकते हैं। किसी को सचमुच परवाह नहीं।

लेकिन जनता निश्चय ही परवाह करती है। जमीन, जंगल और जल स्रोतों की समस्याएं वास्तविक विकास के लिए आधारभूत रही हैं। गरीब लोग इसे पूरे शिद्दत के साथ समझते हैं। आखिरकार, भारतीय गरीब वर्ग का 85 प्रतिशत या तो भूमिहीन खेतिहर मजदूर है या छोटे और मध्यम किसान हैं। उन्हें पता है कि मर्मस्थल कहां है। वास्तविक विकास का मतलब बस उन्हें अभिजात्य वर्ग की योजनाओं से अवगत करा देना नहीं है। इसका मतलब विकास से संबंधित खास तौर से उनके विकास से संबंधित सभी फैसलों में उनकी भागीदारी है।

मान लीजिए, हम चिकित्सा से संबंधित विषय पर कोई विचार गोष्ठी आयोजित करें। अगर इसमें हम एक भी डाक्टर, नर्स, मरीज या चिकित्सा विशेषज्ञ को न बुलाएं तो काफी लोगों को यह बहुत अजीब लगेगा और ऐसा लगना ठीक भी है। अनेक विचार गोष्ठियों और सम्मेलनों में भूमि सुधार पर जो अनाप–शनाप बातें होती हैं उनकी वजह यही है। इसमें एक भी भूमिहीन खेतिहर मजदूर नहीं बुलाया जाता जो अपने मामले को रख सकें। अभिजनों के लिए यह बिल्कुल स्वाभाविक बात है। आखिर यही तो भारत की विलक्षणता है।

लाखों में एक भी ऐसा प्रवासी मजदूर नहीं हैं जो आपको यह न बता सके कि भूमि समस्या कितना महत्वपूर्ण मुद्दा है। लेकिन वे भला क्या जानते हैं? वे कभी सही स्कूलों में नहीं गए और वे पुराने छात्रों के नेटवर्क का भी अंग नहीं है। भूमि सुधार का कार्यक्रम हमारे अपने देश के अंदर हुआ है। इसका भी मुख्य काम महज 4 राज्यों तक सीमित रहा है। अगर यह जम्मू कश्मीर में संपन्न हुआ होता तो–केरल पश्चिम बंगाल और त्रिपुरा जैसे परिचित उदाहरणों से अलग हटकर–तो निश्चय ही राष्ट्र के और हिस्सों में ही यह संभव हो जाता।

समूचे देश को ध्यान में रखिये और आपको एक अलग ही तस्वीर मिलेगी। कुल कृषि योग्य भूमि का महज एक प्रतिशत से थोड़े अधिक हिस्से का ही पुनर्वितरण हुआ है। अर्थात् 45.5 करोड़ एकड़ में से केवल 45 लाख एकड़ का वितरण गरीबों के बीच हुआ है। आठवीं योजना बताती है कि लगभग 26 एकड़ जमीन का 'अभी भी वितरण होना बाकी है' अगर ऐसा हो जाता है तो भी कुल कृषि योग्य भूमि का लगभग 2 प्रतिशत हिस्सा ही इसके अंतर्गत आएगा। इसे पूरा करने के और भी तरीके हैं लेकिन बेहतर हो कि उन पुरानी कहानियों को फिर न सुना जाए।

भारत की विकास प्रक्रिया में एक जबर्दस्त अजनतांत्रिक प्रवृत्ति दिखाई देती है। बहिष्कार की समाप्ति विचार गोष्ठियों तक ही सीमित नहीं है। वास्तविक जीवन में भी

जमीन से संबंधित मुद्दों से किसानों को बहिष्कृत कर दिया गया है। जल तथा अन्य सामुदायिक संसाधनों पर नियंत्रण के मामले में किसानों की तेजी से लूट जारी है। आदिवासियों को जंगलों से अधिक से अधिक दूर रखा जा रहा है। बावजूद इसके अभिजात्य वर्ग की दृष्टि गरीबों और उनके अनुभवों को हिकारत से देखती है।

वास्तविक विकास का अर्थ होगा मनुष्य की स्थिति को उसके अस्तित्व के उच्चतर स्वरूप में रूपांतरित करना। विकास की लगभग सभी धारणाएं इसे स्वीकार करती हैं। लेकिन इस तरह के रूपांतरण में उन लोगों की भागीदारी और सहमति होनी चाहिए जो इससे प्रभावित हैं। निर्णय लेने की प्रक्रिया में उनका शामिल होना जरूरी है। इसके साथ ही उनके परिवेश, संस्कृति, जीवन और परंपरा में उस प्रक्रिया का हस्तक्षेप न्यूनतम होना चाहिए।

लेकिन ऐसा करने के लिए बहुत परिश्रम करने की जरूरत है। इसलिए आप एक नाटक का मंचन करिये। जिसमें मुख्य कलाकार वे हों जो श्रोताओं में बैठे हों। अगर इसे और वास्तविक बनाना है तो नाटक पटकथा को दुबारा लिखिए। 'परिवर्तन' के मौजूदा महारथियों को इसमें शामिल करिये। अभिजात्य वर्ग के लोगों में परिवर्तन की बात जो लोग चीख–चीख कर करते हैं वे वही लोग हैं जो पिछले चालीस वर्षों से भी अधिक समय से इस देश को चला रहे हैं। अगर आज सबकुछ गड़बड़ दिखाई दे रहा है तो इसके लिए काफी हद तक वे लोग ही जिम्मेदार हैं।

अर्थव्यवस्था पर बहस के लिए जो मुद्दे उठाए जाते हैं उनका सबसे आश्चर्यजनक पहलू परिवर्तन उस हद तक नहीं है जितना अन्य सारे तत्वों की निरंतरता का बने रहना। इसमें कोई शक नहीं कि अनेक मामलों में जून 1991 एक लम्बी छलांग का प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन यह छलांग किसी प्रगतिशील दिशा में नहीं थी। कोई नरसिंहाराव अथवा कोई मनमोहन सिंह उसी पुरानी व्यवस्था के प्रतिनिधियों के अनिवार्य रूप हैं जिसे वे 'बदलना' चाहते हैं। जो नीतियां आज कलंक के रूप में दिखाई दे रही हैं उनके अस्तित्व में आने में वे हिस्सेदार रहे हैं–यहां तक कि कुछ नीतियों को तो उन्होंने ने ही बनाया भी है। मजे की बात यह है कि इस विडंबना की तरफ मीडिया की दृष्टि नहीं जाती।

अगर 'परिवर्तन' होना ही है तो जो इसे सम्पन्न करना चाहते हैं उनकी एक विश्वसनीयता होनी चाहिए। यह विश्वसनीयता भी उनके शानदार कार्यों के संदर्भ में दिखाई देनी चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि मीडिया ने समवेत स्वर में उनकी प्रशंसा के गीत गा दिये और उनका उस बात से कोई सरोकार न हो जिसे लाखों करोड़ों भारतीय सोच रहे हों। जनसमुदाय के यथार्थ से जनसमुदाय की मीडिया का संबंध विच्छेद तेजी से बढ़ता जा रहा है और बद से बदतर हालत में पहुंचता जा रहा है।

कभी न पूरा होने वाला अजेंडा

बेशक अनुष्ठानों का बराबर पालन किया जाता है। अर्थव्यवस्था पर जो संपादकीय लिखे जाते हैं वे नीतियों का जबर्दस्त गुणगान करने के बाद अनिवार्य रूप से गरीबों के प्रति 'चिंता' व्यक्त करते हुए समाप्त होते हैं। अभिजनों द्वारा आयोजित समारोहों में अर्थव्यवस्था पर अधिकांश बहसें भी ऐसी ही होती हैं। बुद्धिजीवी, अर्थशास्त्री, नौकरशाह, नीति निर्माता–सभी एक बात पर सहमत होते हैं कि गरीबी के संदर्भ में कुछ किया जाना चाहिए। हर व्यक्ति इस मामले में एकमत है कि 'जो कुछ किया जा रहा है वह पर्याप्त नहीं है।'

इनमें से कई बहुत आवेग के साथ अपने भाषणों में इस बात पर जोर देते हैं कि 'दोनों' बातें साथ–साथ होनी चाहिए। अर्थात गरीबी दूर करने और आर्थिक सुधार तथा विकास की बातें। इसलिए सिद्धांत रूप में यह एजेंडा हमेशा दो भाग में होता है। इससे बहस में शामिल सभी लोग अच्छा महसूस करते हैं। प्रगति हो रही है। सुधारों का काम अच्छी तरह चल रहा है। लेकिन 'गरीबी के बारे में कुछ किया जाना चाहिए।'

गरीबी, शिक्षा, स्वास्थ्य... इनसे 'कभी न पूरा होने वाला अजेंडा' बनता है। यहां आकर बहस समाप्त हो जाती है, इसमें भाग लेने वाले वापस चले जाते हैं और उन कामों में लग जाते हैं जिन्हें वे सचमुच अंजाम देने में जुटे हैं। यह एजेंडा का दूसरा हिस्सा है। क्योंकि पहला हिस्सा एक धोखा है। लेकिन इससे आप बेहतर महसूस करते हैं। ऐसा है न?

भूतपूर्व प्रधानमंत्री नरसिम्हा राव की सरकार द्वारा गरीबी के खिलाफ संघर्ष चलाने के वायदे का पहला उदाहरण मार्च 1995 में दिखाई दिया। उस महीने उनकी सरकार ने युद्ध स्तर पर गरीबी का मुकाबला करने के लिए महत्वपूर्ण मंत्रालयों में अनेक नये विभागों के गठन की घोषणा की। 9 मार्च के अखबारों में प्रथम पृष्ठ पर इन खबर को स्थान मिला। आधिकारिक तौर पर जो विज्ञप्ति जारी की गयी थी उसमें कुछ अजीबो–गरीब बातें थीं लेकिन अखबार इन्हें नहीं देख सके।

खाद्य से संबंधित नये विभाग के लिए जिस पहली जिम्मेदारी का उल्लेख था, उसमें कहा गया था : 'खाद्य से संबंधित अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों तथा अन्य संगठनों में हिस्सा लेना. ..' और दूसरी बात? 'विदेशों के साथ संधियों और समझौतों को संपन्न करना...' इन प्राथमिकताओं से हमें काफी जानकारी मिल जाती है। शेष के बारे में चर्चा करना निरर्थक होगा।

1947 में देश की जो आबादी थी उसके मुकाबले आज भारत में गरीबों की संख्या ज्यादा है। फिर भी सरकार गरीबी में तेजी से आयी गिरावट का जश्न मनाती है। मीडिया का एक बहुत बड़ा हिस्सा भी इस काम में उसका साथ देता है। अब इस पर बहुत परेशान

होने की जरूरत नहीं है कि कोपेनहेगन में हमने कहा था कि 39.9 प्रतिशत आबादी गरीबी रेखा से नीचे जिंदगी बसर कर रही है। उस समय हमें दानदाता एजेंसियों से कुछ पैसे लेने थे। आज की हालत देखिए यह 19 प्रतिशत है!

अगर स्लीपिंग बैग को मकान की परिभाषा दे दी जाए तो भारत मकानों की कमी दूर करने की दिशा में तेजी से आगे बढ़ेगा। क्योंकि यह कमी लगभग 3 करोड़ 10 लाख इकाईयों की है। इस परिभाषा को स्वीकार कर लीजिए और फिर आप बड़े पैमाने पर स्लीपिंग बैग के उत्पादन में लग जाएंगे। इसके बाद हम इस बात पर जोरदार गोष्ठियां आयोजित कर सकेंगे की आवास समस्या को हल करने में हमने कितना जबर्दस्त काम किया है। पत्रिकाओं की आवरण कथाएं इस प्रकार होंगी–'क्या सचमुच यह संभव है?' इसके बाद एक पंक्ति होगी 'विचित्र किंतु सत्य'।

फिर सरकार बड़े दम के साथ यह दावा कर सकेगी कि इसने न केवल स्लीपिंग बैग का उत्पादन बढ़ा दिया है बल्कि अतिरिक्त मात्रा तैयार करने में भी इसने एक रिकार्ड कायम किया है। हमने 3 करोड़ 70 लाख बैग तैयार कर दिए। कुछ लोग यह भी सुझाव दे सकते हैं कि हमारा काम इतना अच्छा है कि अब समय आ गया है जब हमें 'अंतर्राष्ट्रीय मूल्य' पर इन बैगों का निर्यात करना चाहिए। कुछ लोग यह सोचकर उदास होते रहेंगे कि ये बैग उन तक नहीं पहुंचे जो सबसे गरीब हैं। निर्माताओं को दिये गये ठेकों की छानबीन में कुछ पत्रकार लग जाएंगे। क्या इन बैगों की कीमत जरूरत से ज्यादा रखी गयी? क्या इनकी क्वालिटी ठीक थी?

इसके साथ ही मकानों की कमी की समस्या समाप्त हो जाती है। अब केवल एक समस्या रह जाती है। कार्यक्रम के प्रारंभ में जिन लोगों के पास मकान नहीं थे वे कार्यक्रम के अंत में भी मकानों से वंचित ही रह गए। (बेशक इनमें से कुछ के पास स्लिपिंग बैग होंगे जो संभवत अंतर्राष्ट्रीय मूल्य पर मिले होंगे।)

ये सारी बातें अगर आपको बहुत मूर्खतापूर्ण लगती हैं तो इसलिए कि ये सचमुच मूर्खतापूर्ण हैं। फिर भी इस देश में गरीबी पर बहस का जो स्वरूप है वह इससे भिन्न नहीं है। एक मुकाम ऐसा आता है जिससे आगे जाकर मौजूदा परिभाषाओं पर आधारित संख्या का खेल उतना ही बेतुका हो जाता है जितना बेतुका स्लीपिंग बैग से संबंधित उपरोक्त कथन।

गरीबी के बारे में एक समझ कैलोरी से संबंधित नियमों पर आकर रुक जाती है। लेकिन इन बुनियादी बातों पर शायद ही कभी वे लोग सवाल उठाते हों जो गरीब नहीं है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि योजना आयोग के एकदम ताजा निरर्थक कथन पर ज्यादा ध्यान दिया जाए। मतलब यह कि उसके इस दावे पर जिसमें उसने कहा था कि गरीबी से नीचे जिंदगी बसर करने वालों की संख्या में जबर्दस्त कमी आयी है–1987–88 में यह 25.5 प्रतिशत थी जो 1993–94 में घटकर 19 प्रतिशत हो गयी। (गरीबी रेखा के बारे में सरकारी ब्यौरे तथा इस संख्या तक कैसे पहुंचा गया इसका विवरण परिशिष्ट–1 में मिलेगा)।

इस संदर्भ में एक रिपोर्ट अखबारों में देखने को मिली जो जनवरी 1996 में योजना आयोग द्वारा अपने नये आंकड़े के उद्‌घाटन से कुछ दिनों पहले प्रकाशित हुई थी। इसमें कहा गया था कि गरीबी में 'इतनी तेजी से गिरावट आयी है जितनी पहले कभी देखने को नहीं मिली।' इसने अपने निष्कर्ष के लिए 'उच्च पदों पर आसीन सरकारी अधिकारियों' को अपने स्रोत के रूप में बताया था।

इस तरह आपको गरीबी पर चल रही बहस का जायजा मिलता है। गरीबी में 'तेजी से' आयी गिरावट के लिए उन स्रोतों का सहारा लिया गया है जो उच्च पदों पर बैठे सरकारी अधिकारी हैं। इसमें अतिशय विनम्रता भी है। यह वैसी ही बात है जैसे आइंस्टीन यह न चाहते हों कि सापेक्षता के सिद्धांत के लिए उनको सार्वजनिक रूप से श्रेय दिया जाए। क्या गरीबी राज्य की कोई गोपनीय बात है? क्या यह ऐसी बात है जिसे सामने लाने के लिए उच्च पदों पर बैठे अधिकारियों को स्रोत के रूप में प्रस्तुत किया जाए?

योजना आयोग अपने खुद के विशेषज्ञ समूह के सुझावों को किनारे करते हुए नये अनुमानों तक पहुंचा। 1993 में इसने अपने रिपोर्ट में बताया कि कुल आबादी में गरीबों की संख्या 39 प्रतिशत है। अगर हम उन बदनाम पुराने तरीकों को स्वीकार भी कर लें जिन्हें आज आयोग इस्तेमाल करना चाहता है तो भी आर्थिक 'सुधारों' के वर्षों में गरीबी में किसी तरह की गिरावट नहीं दिखाई देती है। जो तस्वीर नजर आती है वह इसके विपरीत ही है। सबसे ज्यादा जिस परंपरागत तरीके का इस्तेमाल किया जाता है उससे भी यही पता चलता है कि गांव के स्तर पर जहां 1980 के दशक में गरीबी में कमी देखी जाती थी वहीं सुधारों के बाद के शुरुआती 18 महीनों में इसमें तेजी से वृद्धि हुई। आयोग ने खुद सुधारों का जो मध्यावधि मूल्यांकन किया है उससे भी बहुत दिलचस्प बातें सामने आती हैं।

लेकिन स्लीपिंग बैग जैसे झूठ की बात छोड़िए।

भारत में गरीबों का 85 प्रतिशत हिस्सा भूमिहीन खेतिहर मजदूरों और छोटे किसानों से बना है और इनके बारे में जानकारी हासिल कर हम कुछ ठोस बातें समझ सकते हैं। ये वे लोग हैं जो अनाजों के खरीददार नहीं है। अनाज के मूल्य में वृद्धि होने का सबसे बुरा असर इन पर पड़ता है। अनाज के मूल्य में वृद्धि और मुद्रास्फीति में या दूसरे शब्दों में कहें तो महंगाई में जबर्दस्त संबंध है। इसलिए इन वर्गों पर इसका प्रभाव हमेशा दुखदाई होता है।

मिसाल के तौर पर शहर में रहने वाला पेशेवर मध्य वर्ग औद्योगिक मजदूरों के मुकाबले अपनी आय का बहुत कम हिस्सा खाद्यान्न पर खर्च करता है। इसी प्रकार भूमिहीन मजदूरों और छोटे किसानों के मुकाबले उपरोक्त दोनों वर्गों के लोग खाद्यान्न पर कम पैसा खर्च करते हैं। इसलिए जब अनाज की कीमतें बढ़ती हैं तो उन्हीं पर सबसे

बुरा प्रभाव पड़ता है। जो अनाज पर ज्यादा पैसा खर्च करते हैं। औद्योगिक मजदूर तो नुकसान उठाता ही है, खेतिहर मजदूरों को और भी ज्यादा नुकसान उठाना पड़ता है।

लाखों लोग हैं जो कम खा रहे हैं। ऐसी हालत में कौन सा सुधार होगा? इस देश में प्रति व्यक्ति अनाज की उपलब्धता में गिरावट आयी है। खुद सरकार के आंकड़ों को देखें तो पता चलता है कि अनाज और दाल की दैनिक प्रति व्यक्ति उपलब्धता में गिरावट आती गयी हैं जो 1991 में 510 ग्राम से घटकर 1995-96 में 461 ग्राम हो गयी। महंगाई ने खेतिहर मजदूरों को पूरी तरह पीस दिया है। उनकी वास्तविक मजदूरी में गिरावट आयी है। लेकिन हमारे पास 3 करोड़ 70 लाख टन अनाज का अतिरिक्त भंडार है। जिसपर हम सभी गर्व कर सकते हैं। सचमुच स्लीपिंग बैग का सिद्धांत कितने काम का सिद्धांत है।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली का ध्वस्त होना

सार्वजनिक वितरण प्रणाली पतन की उन्नत अवस्था में पहुंच गयी है। 1995 के कुछ महीनों के संदर्भ में इसकी स्थिति में मामूली सुधार की जो बात कही जाती है वह एक घटिया मजाक है। चार वर्षों की अवधि में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के जरिए की जा रही अनाज की खरीद में जबर्दस्त गिरावट आयी। ऐसा क्यों हुआ? सरकार ने उस समय जारी मूल्यों में लगभग 85 प्रतिशत की वृद्धि की। आजादी के बाद के देश के इतिहास में ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। इसलिए सार्वजनिक वितरण प्रणाली से होने वाली खरीद में 60 लाख टन की गिरावट आयी। हम जिस जबर्दस्त अतिरिक्त भंडार की डींग हांकते हैं उसके पीछे काफी हद तक यह एक कारण है।

1995 में मार्च से जून के बीच में धुले (महाराष्ट्र) में गरीब आदिवासी परिवारों के उन्नीस बच्चे भूख से मर गए। यह जगह उन गोदामों से कुछ ही दूरी पर है जहां अनाज का भंडार बनाया गया है। उन परिवारों के पास न तो इतनी क्षमता थी कि वे अनाज खरीद सकें और न अनाज तक उनकी पहुंच का कोई जरिया था।

1992 में प्रधानमंत्री नरसिंह राव ने एक नयी योजना शुरू की जिसका नाम था पुनर्गठित सार्वजनिक वितरण प्रणाली। इसे 'निश्चित लक्ष्य प्राप्त करने वाली सत्ता' का एक अंग होना था। पुरानी सार्वजनिक वितरण प्रणाली में काफी बर्बादी होती थी। लेकिन अब यह सरकार सबकुछ ठीक कर देगी। इसने देश के अत्यंत पिछड़े 1778 प्रखण्डों को इस नयी प्रणाली के लिए चुना। इसने तय किया कि वह विशिष्टता के आधार पर गरीबों को अपना लक्ष्य बनाएगी।

ऐसा ही इसने किया। बिल्कुल उन्हीं प्रखण्डों में पिछले पांच वर्षों के दौरान भूख के कारण मौतें देखने को मिलीं। ये सभी मौतें महाराष्ट्र जैसे समृद्ध राज्य के थाने, धुले और अमरावती जिले में हुईं। मध्य प्रदेश के सरगुजा जिले में भी भूख से मौतें हुईं। इसके

अलावा कुछ अन्य प्रखण्डों में भी जहां पुनर्गठित सार्वजनिक वितरण प्रणाली लागू की गयी थी।

व्यवहार में इस नयी प्रणाली का अर्थ महज इतना ही था कि इसके जरिये इन प्रखण्डों में जो अनाज बेचा जाएगा उसकी कीमत अन्यों के मुकाबले प्रति किलोग्राम लगभग 50 पैसे कम होगी। चूंकि पहले से चली आ रही सार्वजनिक वितरण प्रणाली की दुकानों में भी कीमतें आठ रुपया प्रति किलोग्राम के आसपास थी इसलिए इससे कोई मदद नहीं मिले। 1994 में सरगुजा में जिले के तत्कालीन कलक्टर ने इस बात की पुष्टि की यहां लोगों को वर्ष में लगभग 125 दिनों के लिए ही रोजगार मिलता है। ऐसी हालत में वे अनाज का इतना मूल्य कैसे दे सकते हैं?

अनाज के मूल्यों में जो भी संशोधन किया गया उसका कभी–भी न्यूनतम दैनिक मजदूरी में की जाने वाली वृद्धि के साथ कोई तालमेल नहीं था। इन क्षेत्रों में न्यूनतम मजदूरी की मौजूदा दर 20 से 22 रुपए तक है। व्यवहार में बुरी तरह असंगठित मजदूरों को प्रतिदिन 15–16 रुपए से ज्यादा मजदूरी नहीं मिलती।

1995 में प्रधानमंत्री कार्यालय के श्री के.आर. वेणुगोपाल ने, जो गरीबी के मामले में मुख्य विशेषज्ञ थे, बहुत क्षोभ के साथ लिखा कि 'सार्वजनिक वितरण प्रणाली और पुनर्गठित सार्वजनिक वितरण प्रणाली अप्रासंगिक हो गयी हैं...'

गांव के गरीबों की इस पीड़ा और दुःस्वप्न से अभिजात्य वर्ग अविचलित रहा। कुछ ने तो अंतर्राष्ट्रीय मूल्य पर अनाज के निर्यात की भी बात कही। (भारतीय खेतिहरों का एक बहुत बड़ा वर्ग अनाज का खरीदार है।) देश के अंदर अनाज की कीमतें तेजी से बढ़ीं। भारतीय किसानों या मजदूरों के श्रम के लिए 'अंतर्राष्ट्रीय मूल्य' की बात कौन करता है? इसलिए भारतीय अंतर्राष्ट्रीय मूल्यों का सामना तो करते हैं पर उन्हें अंतर्राष्ट्रीय आय नहीं मिलती। संक्षेप में कहें तो मूल्यों का भूमंडलीकरण, और आय का भारतीयकरण।

अब जरा इस 'असमाप्त एजेंडे' पर सरकार द्वारा उठाए गए कदमों को देखें। दोपहर के भोजन की योजना जिस पर एक बच्चे के भोजन पर लगभग 57 पैसे की लागत आती है। एक आवास कार्यक्रम जो पूरी तरह ध्वस्त साबित हुआ। सार्वजनिक स्वास्थ्य के प्रति रवैया जिसके फलस्वरूप तमाम बीमारियों के अलावा मलेरिया बहुत बड़े पैमाने पर दोबारा यहां आ गया। ग्रामीण विकास का 'जबर्दस्त' बजट जिसके लिए लगभग 7000 करोड़ रुपए निर्धारित किये गए और जिसके अंतर्गत दो प्रमुख उर्वरकों (जो अधिकांशतः उन 95 जिलों में इस्तेमाल होते हैं जो प्रायः गरीब नहीं हैं।) पर सब्सिडी दी गयी।

इसके अलावा इस अवधि के दौरान अनेक मुद्दों पर जो दृष्टिकोण अपनाया गया वह भी देखने लायक है। इनमें सरकारों द्वारा किया गया वह प्रयास है जिसके जरिए नागरिकों के प्रति वह अपने कर्त्तव्यों के प्रति तिलांजलि देती है। जनता के अधिकारों की समाप्ति की शुरुआत नरसिंह राव से ही नहीं हुई (हालांकि इस प्रक्रिया को तीव्र करने का श्रेय वह ले सकते हैं।) चाहे बाल मजदूरी का सवाल हो या शिक्षा का क्षेत्र, एक के बाद एक जो सरकारें आयीं उनके क्रिया–कलापों ने संविधान का उल्लंघन ही किया।

अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री करने के अनेक रूप दिखाई देते हैं। हाल के दिनों में जो सबसे प्रचलित तरीका है वह है सभी काम गैर सरकारी संगठनों (एनजीओ) पर छोड़ देना। इन संगठनों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे करोड़ों लोगों को प्रभावित करने वाली विशाल समस्याओं का समाधान ढूंढेंगे। उन समस्याओं को हल करेंगे जिन्हें राज्य मशीनरी की पूरी ताकत से लैस निर्वाचित सरकारें हल करने में विफल रहीं।

दूसरे के मत्थे मढ़ देना

एन जी ओ कार्यकर्ताओं में जो उत्तम कोटि के हैं वे सरकार के इरादों को अच्छी तरह भांपते हैं। उनमें से कइयों के दिमाग में यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि अनेक बड़े मुद्दे ऐसे हैं जिन्हें सरकार ही हल कर सकती है। वे यह भी समझते हैं कि सरकार अपनी जिम्मेदारी उन पर थोपने की कोशिश कर रही है। लेकिन अनेक ऐसे हैं जिनके बारे में लगता है कि वे इस नए क्षेत्र का मजा लेना चाहते हैं। राज्य के साथ उनके बढ़ते संबंधों से और कुछ हो या न हो, वे गैर सरकारी तो नहीं ही रह जाते। तो भी, अनेक घोटालों के बावजूद कुछ खास तरह के एनजीओ अखबारों के लिए पवित्र गाय की तरह हैं– उनकी हरकतें इन्हें नजर ही नहीं आतीं। (प्रायः इस तरह के एनजीओ के संबंध कारपोरेट सेक्टर से होते हैं)

विकास से संबंधित मुद्दों पर अखबारों में जिस तरह की सामग्री आती है उससे काम नहीं बनता। जिसे अनेक लोग 'विकास संबंधी पत्रकारिता' कहते हैं वह मोटे तौर पर दो तरह की होती है। एक 'सरकारी' या 'आधिकारिक' ढंग की होती है और दूसरे का रास्ता 'गैर सरकारी संगठनों (एनजीओ) अथवा वैकल्पिक पत्रकारिता' का होता है। देखा जाए तो दोनों को असफलता मिली है। 'सरकारी' या 'आधिकारिक' ढंग की पत्रकारिता पर, जो पहले से ही साख खो चुकी है, थोड़ी बहस की जरूरत है। (हालांकि इस तरह की पत्रकारिता में भी कुछ आलोचक तत्व हैं जिन्हें यूं ही खारिज नहीं किया जा सकता।)

यह इसके बारे में है कि सरकारें क्या कर रही हैं जो महत्वपूर्ण है। (सरकारें कुछ तो ऐसे काम करती है जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती)। मिसाल के तौर पर सूखे की आशंका वाले एक क्षेत्र में पानी के 2000 कुएं खोदे गए। अब इस खबर में आलोचना का मुद्दा यह होगा–क्या उतने कुएं पर्याप्त थे? क्या वे जब खोदे गए तब तक जरूरत से ज्यादा देर हो चुकी थी? क्या इस इलाके में किसी और तरह के कुएं होने चाहिए थे?

लेकिन हां, एनजीओ अथवा विकास के वैकल्पिक तरीके वाली पत्रकारिता भी विफल हो गयी है। इससे भी बुरी बात यह है कि इसके चारों ओर सच्चरित्रता का जो प्रभामंडल है, वह आलोचना को पास फटकने भी नहीं देता। जब एनजीओ के साथ पत्रकारों का संबंध शुरू होता है तो अविश्वास की दीवारें गिरने लगती हैं।

विकास का धर्मशास्त्र यह मानकर चलता है कि गैरसरकारी संगठन (एनजीओ) सत्ता प्रतिष्ठान से अलग रहते हैं। वे सत्ता प्रतिष्ठान का एक विश्वसनीय विकल्प प्रस्तुत करते हैं। लेकिन अफसोस की बात है कि अधिकांश गैर सरकारी संगठन सत्ता के साथ, सरकार के साथ और दानदाता एजेंसियों के एजेंडे के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं।

थोड़े यथार्थ पर ध्यान देने की जरूरत है: सरकार इन गैर सरकारी संगठनों के साथ 'भागीदारी' चाहती है। ऐसा करने में उसे अपने उन संकल्पों से पल्ला झाड़ने का अवसर मिलता है जो उसने स्वास्थ्य, शिक्षा, आवास जैसी बुनियादी सुविधाएं अपनी 92 करोड़ 10 लाख जनता को प्रदान करने के लिए व्यक्त किया है। अब इन मुद्दों को गैर सरकारी संगठनों के लिए छोड़ दिया गया है और सरकार कुछ छोटे मोटे मुद्दों को निबटाने में लगी है मसलन सबसे धनी 5 प्रतिशत लोगों की संपत्ति को कैसे दुगुना किया जाए।

विश्व बैंक भी कम जोश में नहीं है। 22 सितंबर 1994 की इसकी बुलेटिन में कहा गया है कि 'विश्व बैंक की परियोजनाओं के साथ गैर सरकारी संगठनों के सम्मिलन में तेजी से वृद्धि हुई है।' इसने प्रशंसा भरे अंदाज में इस बात को रेखांकित किया कि बैंक परियोजनाओं के साथ गैर सरकारी संगठनों का जुड़ाव 30 से बढ़कर 50 प्रतिशत हो गया' और हम सभी जानते हैं कि विश्व बैंक कैसा संत सरीखा एनजीओ है।

पैसे देने वाली अंतर्राष्ट्रीय दानदाता एजेंसियां इन गैर सरकारी संगठनों का इस्तेमाल उर्वरकों, नुकसानदेह गर्भनिरोधकों और पुरानी पड़ गयी टेक्नालॉजी का गोदाम बनाने के लिए कर रही है। यहां तक कि कारपोरेट स्तर के बाजार अनुसंधान भी इनके द्वारा हो रहे हैं। कभी-कभी इन्हीं कामों के लिए एनजीओ बनाए जाते हैं। इस देश में ऐसे कई समूह हैं जिन्होंने उन जिलों में 'ड्रिप इरिगेशन' को बढ़ावा देने का प्रयास किया जहां अच्छी खासी वर्षा होती है। उन्होंने बारिश वाले क्षेत्रों के लिए ऐसी तकनीक का प्रचार किया जिसका इस्तेमाल इजरायल के मरुस्थलों में किया जाता था क्योंकि कुछ बड़ी कंपनियों को यही बेचना था। भारत में अनेक एनजीओ सरकारी योजनाओं के ठेकेदार हैं।

इनमें सफेदपोश नौकरियां भी हैं। पड़ोसी देश नेपाल में ही 10,000 से अधिक एनजीओ हैं—अर्थात हर 2000 नागरिक पर एक एनजीओ। जरा तुलना करिए कि प्रत्येक 2000 नागरिक पर यहां कितने अध्यापक, डाक्टर या नर्सें हैं। 150 एनजीओ खातों के जरिये यहां जो पैसा आ रहा है वह नेपाल के सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 12 प्रतिशत है।

यह पैसा किसके एजेंडे को आगे बढ़ा रहा है? भारत में कोई विश्वसनीय आंकड़ा भी तैयार करना मुश्किल है लेकिन डॉलर के रूप में देखेंगे तो यहां आने वाली राशि काफी बड़ी है।

कुछ सरकारी अधिकारियों के रिश्तेदार एनजीओ चला रहे हैं। कुछ अधिकारी ऐसे हैं जो रिटायर होते ही या तो कोई एनजीओ बना लेते हैं या किसी एनजीओ के प्रमुख बन जाते हैं। यह एक अच्छी आरामदायक नौकरी होती है। भारत में इन गैर सरकारी संगठनों को विदेशी धन लेने से पहले 'फारेन कांट्रिब्यूशंस रेगुलेशन ऐक्ट' (एफसीआरए) के अंतर्गत प्रमाणपत्र की जरूरत होती है। अगर आज खुद सरकारी अधिकारी हैं तो इसे पाने में ज्यादा आसानी होती है। कुछ तो यह प्रक्रिया उसी समय शुरू कर देते हैं जब ये रिटायर होने के करीब पहुंचते हैं और नौकरी का आखिरी साथ चल रहा होता है। उस समय तक उस एनजीओ का प्रमुख कोई और बना रहता है। रिटायर होने के बाद ये खुद इसके प्रमुख बन जाते हैं—एफसीआरए सर्टिफिकेट के साथ भूतपूर्व अधिकारियों—खासतौर से वरिष्ठ अधिकारियों को एक और लाभ है। वे फंडिंग के रास्ते को और सरकार की प्राथमिकताओं को अंदर से जानते हैं। इसलिए अपने प्रोजेक्ट इसी के अनुसार तैयार कर सकते हैं और करते भी हैं और उनके पास सभी काम वाले संपर्क हैं। इसका मतलब उनका काम अच्छी तरह चलता है। वैसे ही जैसे सेना का कोई रिटायर्ड अफसर हथियारों का अच्छा सेल्समैन हो सकता है।

उत्तर प्रदेश में कुछ जिलों में रातोंरात ऐसे एनजीओ पैदा हो गए जो खासतौर से जनसंख्या से संबंधित मुद्दों पर काम कर रहे थे। हुआ यह था कि महज 10 जिलों में आबादी—नियंत्रण के लिए 1992 में अमरीका ने एक कार्यक्रम के तहत 32 करोड़ 50 लाख डॉलर की राशि दी थी। भारत के शहरी इलाकों में आपको अनेक एनजीओ मिल जाएंगे जो एड्स से संबंधित कामों में लगे हैं, इसकी एक वजह यह भी है कि इसी मद में खूब पैसे हैं।

उड़ीसा के कंदमाल जिले में एक आदिवासी समूह ने पंद्रह गैर सरकारी संगठनों के भ्रष्टाचार के खिलाफ युद्ध छेड़ दिया—इनमें कुछ काफी मशहूर एनजीओ भी थे। इन संगठनों से कहा गया कि वे छः महीने के भीतर जिला छोड़कर चले जाएं। इसने अनेक संगठनों के उन कार्यकर्ताओं के नाम भी अखबारों में प्रकाशित कराये जिनके बारे में इनका मानना था कि वे भ्रष्ट और अपराधी पृष्ठभूमि के हैं। आज तक किसी ने उस सूची को चुनौती नहीं दी।

कपार्ट एक सरकारी संस्था है जो गैर सरकारी संगठनों को उदारतापूर्वक धन देती है। 1995-96 में इसने भ्रष्टाचार में लिप्त 350 से भी अधिक संगठनों की एक काली सूची तैयार की—इन्होंने करोड़ों रुपयों का भ्रष्टाचार किया। कपार्ट के अधिकारियों का कहना है कि यह तो महज एक शुरुआत है। यह सही है कि यह केवल एक तरफ की समस्या नहीं है और कुछ गैर सरकारी संगठनों के पास बताने के लिए ढेर सारी बातें

हैं जिनसे पता चलता है कि खुद कपार्ट किस तरह काम करता है। यह काली सूची कोई ऐतिहासिक शिलालेख भी नहीं है। इससे शायद ही गैर सरकारी संगठनों पर कोई अंकुश लगे बेशक इससे एक बात का अकाट्य रूप से पता चलता है कि एनजीओ सेक्टर में भ्रष्टाचार कितने गहरे तक अपनी पैठ बना चुका है।

फिर भी एनजीओ के शीशे से ही विकास को देखने का पूर्वाग्रह बना हुआ है। इसमें कोई शक नहीं कि कुछ गैर सरकारी संगठनों ने काफी काम किया है तो भी इस सेक्टर को बहुत रोमांटिक बनाकर देखना एक मूर्खता ही है।

भारत में काम कर रहे एक ब्रिटिश एनजीओ ने कई किश्तों का एक टीवी कार्यक्रम 'चेंज मेकर्स' बनाने का प्रस्ताव रखा। इस पर इतना खर्च आना है जितने में एक बम बनाया जा सकता है। इसके नायक के रूप में गांव वाले नहीं बल्कि एनजीओ कार्यकर्ता होंगे। परिवर्तन की शक्तियां जनता नहीं है, एनजीओ कार्यकर्ता हैं। जैसे कि एक जमाने में परिवर्तन का काम केवल मिशनरियां ही करती थीं।

विकास एक ऐसा उद्योग है जिसमें पैसे उपजाए जाते हैं। संयुक्त राष्ट्र की एक पत्रिका 'डेवलपमेंट बिजनेस' ने इस पर काफी जोर दिया है। यह एक ऐसी पाक्षिक निर्देशिका है जो समूची दुनिया में अवसर प्रदान करने के सिलसिले में सलाह मशविरा देती है। इस विकास उद्योग ने अनेक गैर सरकारी संगठनों को और काफी हद तक विकास पत्रकारिता को अपने अंदर समाहित कर लिया है।

अक्सर यह होता है कि विकास संबंधी मामलों पर लिखने वाले पत्रकार (जिनमें से कुछ बहुत संवेदनशील और अपने पेशे में प्रतिष्ठित लोग भी हैं) बिना झिझक एनजीओ प्रवक्ता की भूमिका स्वीकार कर लेते हैं। राजनीति या व्यापार पर रिपोर्टिंग के दौरान उनकी जो आलोचक दृष्टि होती है वह इस मोर्चे पर अचानक गायब हो जाती है। संदेहवाद का अभाव बुरी पत्रकारिता और बोझिल रिपोर्ट को जन्म देता है।

जहां तक खाली जगहों को भरने का सवाल है गैर सरकारी संगठन शानदार काम कर सकते हैं और कर भी रहे हैं। लेकिन वे किसी भी हालत में राज्य का स्थान नहीं लेते वे राज्य की जिम्मेदारियां नहीं पूरी कर सकते। इस देश में बुरी से बुरी सरकार क्यों न हो उसे पांच साल के बाद जनता का सामना करना पड़ता है। लेकिन यहां बुरा से बुरा एनजीओ केवल अपनी फंडिंग एजेंसी के लिए ही जवाबदेह है—जो उसका हर हाल में समर्थन करेगी भले ही वह ऐसी संदिग्ध गतिविधियों में क्यों न लगा हो जिससे गरीबों का कोई फायदा न हो रहा हो।

निश्चय ही कुछ गैर सरकारी संगठनों के कई काम ऐसे हैं जो बहुत मूल्यवान साबित हुए हैं। मैंने उनमे से कुछ का विवरण इस पुस्तक में देने का प्रयास किया है। तो भी इस तरह के कामों को कितना भी समर्थन क्यों न दिया जाए, कुछ ऐसे परिवर्तन भी जरूरी हैं जो उनकी पहुंच से परे हैं। देशभर में जितने भी एनजीओ हैं वे सब मिलकर जो हासिल करेंगे उसका प्रभाव अकेले किसी एक राज्य में किये गए भूमि सुधार से कम

ही होगा। जो अच्छे गैर सरकारी संगठन हैं वे और उनके कार्यकर्ताओं को यह पता है। वे सरकार के इन प्रयासों से काफी उलझन में हैं जिसका उद्देश्य उनके सेक्टर को अपना लेना और राज्य की खुद की जिम्मेदारियों को तिलांजलि दे देना है।

जहां तक सरकारी परियोजनाओं का सवाल है विकास के लिए अनेक ऐसे कार्यक्रम शुरू किये गए जो एक दूसरे से काफी भिन्न हैं और कभी—कभी तो परस्पर विरोधी भी हैं। इनकी आलोचना भले ही की गई हो लेकिन इस अवधारणा पर प्रायः सवाल नहीं उठाया गया कि इनसे कितना विकास होगा। ज्यादातर मामलों में जनता से बगैर सलाह—मशविरे के—उनकी भागीदारी की बात तो छोड़ ही दें—इन परियोजनाओं पर काम चलता रहता है यही वजह है कि इनके विफल होने की दर भी काफी ऊंची है। यह बात अच्छी से अच्छी योजना के साथ हो सकती है।

आप दोनों चीजें हासिल कर सकते हैं—नागरिकों के प्रति अपने कर्तव्य को पूरा करने के लिए राज्य पर दबाव और एनजीओ क्षेत्र में अच्छी गतिविधियां लेकिन इसके लिए एक खास समझ होनी चाहिए। जनता के विकास के बारे में, जनता को अधिकार दिये जाने के बारे में और वास्तविक सुधारों के बारे में जिनकी इस देश को जरूरत है। यह सुधार भूमि, जल और जंगल के संसाधनों के क्षेत्र में, शिक्षा, स्वास्थ्य, पोषक आहार और रोजगार के क्षेत्र में किया जाना चाहिए।

कमजोरी का संकेत

ऐसी स्थिति में अखबारों से क्या अपेक्षा है? विकास संबंधी खबरों पर लिखते समय जनता और उसकी जरूरतों को अपने समाचार के केंद्र में रखना चाहिए। जनता की जगह किसी बिचौलिए की जरूरत नहीं है भले ही वह कितना भी साधु पुरुष क्यों न हो।

गांवों में चल रही राजनीतिक प्रक्रिया पर बेहतर कवरेज दिया जाना चाहिए। इसमें राजनीतिक उठा—पटक नहीं बल्कि राजनीतिक कार्य और वर्ग संघर्ष पर ध्यान देने की जरूरत है। कई अच्छे पत्रकार इस क्षेत्र पर कलम उठाने में हिचकिचाते हैं। उनको शायद यह भय है कि, और जो एक हद तक सही भी है, कि उन्हें राजनीतिक (वामपंथी) करार सच्चाई से आंख चुराने से कोई फायदा नहीं होता और किसी का भला नहीं होता। वह समाज जो अपने को नहीं समझ पाता वह समस्याओं का मुकाबला कैसे करेगा। इसके अलावा विकास में खुद—ब—खुद राजनीतिक तत्व छिपे हुए हैं।

इससे यह भी अपेक्षा की जाती है कि भारतीयों के जीवन स्तर के बारे में वह सत्य का सामना करे।

विकास के चार दशक से भी ज्यादा बीत जाने के बाद ये सच्चाइयां अभी बरकरार हैं: दुनिया में तीन में से हर एक व्यक्ति जिसे स्वच्छ और पर्याप्त पेयजल नहीं

मिल रहा है वह भारतीय है। दुनिया में दो निरक्षरों में से लगभग एक निरक्षर इस देश का नागरिक है। इस पृथ्वी पर हर तीन में से एक बच्चा जो स्कूल नहीं जा रहा है वह भारतीय है।

इस देश में उन लोगों की संख्या सबसे ज्यादा है जो बेहद गरीब हैं। यही हालत उन लोगों की है जिनके पास रहने के लिए मकान नहीं हैं। समूचे विश्व के पैमाने पर प्रति व्यक्ति के अनुसार भारत के लोग ही ऐसे हैं जो कपड़े की सबसे कम खपत करते हैं। यूरोपीय समुदाय के **24** देशों के सम्मिलित आंकड़े को अगर देखें तो इनमें बेरोजगार लोगों की जो संख्या है उससे कहीं ज्यादा संख्या हमारे रोजगार दफ्तरों में पंजीकृत लोगों की है। फिर भी इस देश में चार करोड़ चालीस लाख बाल मजदूर हैं और दुनिया के पैमाने पर यह भी सबसे बड़ा आंकड़ा है। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम द्वारा प्रकाशित ह्युमन डेवलपमेंट इंडेक्स में भारत की जो दर्दनाक स्थिति है उसमें पिछले पांच वर्षों में कोई सुधार देखने को नहीं मिला। उल्टे उसकी हैसियत और नीचे ही आती गई।

दुनिया में कुष्ठ रोग से पीड़ित हर तीसरा व्यक्ति भारतीय है। इसी प्रकार जल–जनित अथवा जल से संबंधित रोगों से मरने वाला भी हर चौथा व्यक्ति भारतीय है। समूचे विश्व में किसी समय क्षय रोग से जितने लोग पीड़ित थे उसमें तीन चौथाई से ज्यादा लोग भारत के थे। दृष्टिहीनता के शिकार सबसे ज्यादा लोग भारत में ही हैं। कुपोषण के मामले में भी इसका पहला स्थान है।

कई दशक पूर्व अमरीका के एक अटार्नी ने न्याय दिलाने के मामले में अमरीकी अखबारों की भूमिका पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि ये अखबार "समाज की कमजोरी का संकेत देने में" विफल रहे। निश्चय ही एक अच्छे प्रेस जगत के न्यूनतम कर्तव्य की यह सबसे अच्छी परिभाषा है। उसे समाज की कमजोरियों का संकेत देने योग्य होना चाहिए। यह एक ऐसा कर्तव्य है जिसको पूरा करने में भारतीय प्रेस पूरी तरह विफल रहा है। सवाल चाहे मंडल का हो, अयोध्या का हो, या अर्थव्यवस्था का–इस मानदंड को हासिल करने में यहां का प्रेस अक्षम साबित हुआ है।

गरीब लोगों के अधिकारों के बारे में जितनी ही ज्यादा खबरें आएंगी जनता के लिए मददगार साबित होंगी। अगर प्रेस जगत सक्रिय रहता है तो वह स्थितियों में तब्दीली ला सकता है। इस देश में सरकारें अभी प्रेस में छपी खबरों पर ध्यान देती हैं और उन पर प्रतिक्रिया व्यक्त करती हैं। कुछ मामलों में भारतीय प्रेस काफी शक्तिशाली रहा है। मिसाल के तौर पर घटनाओं के कवरेज में यह दुनिया के सर्वोत्तम अखबारों का मुकाबला कर सकता है। यहां तक कि **1980** के दशक में कालाहांडी पर छपी खबरों ने दो प्रधानमंत्रियों को इस इलाके का दौरा करने के लिए मजबूर किया।

लेकिन प्रक्रियाओं के कवरेज के मामले में यह बहुत बेकार साबित हुआ है। खासतौर से विकास प्रक्रिया के मामले में। इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि इसका रुझान जितना ही आभिजात्य होगा उतना ही कम यह अपने मकसद को पूरा करेगा। यहां तक कि इससे धटनाओं पर इसके कवरेज पर भी असर पड़ेगा। अधिकांश बड़े अखबार तरह–तरह के मुद्दों पर अब सामग्री प्रकाशित करते हैं। जबकि अब से महज एक दशक पूर्व तक राजनीति, खेलकूद, व्यापार जगत आदि जैसे गिने–चुने विषय ही हुआ करते थे। आज हालत यह है कि एक ही अखबार में व्यापार पर कवरेज के लिए कई लोग होते हैं जो अलग–अलग पहलुओं की जिम्मेदारी संभालते हैं। आज के अखबारों में फैशन, डिजाइन तथा सोसायटी जैसे कालम हैं जो भव्यता का प्रदर्शन करते हैं। यहां तक कि खान–पान के बारे में भी अलग कालम है।

यह बहुत अच्छी बात है। लेकिन अगर आप चाहें तो सामाजिक क्षेत्र से जुड़े मुद्दों के लिए थोड़ी और जगह दे दें तो कितना अच्छा हो। आप खुद ही देखिए कि जेल में किसी राजन पिल्लई की मौत को अखबारों ने कितनी जगह दी और उसी समय धुले में बच्चों की मौत पर कितना छापा गया। इस देश के बड़े से बड़े अखबारों ने भुखमरी से हुई मौतों के मुकाबले इमरान खां की शादी को ज्यादा स्थान दिया। देश में कितने अखबार हैं जिन्होंने गांवों की गरीबी पर रिपोर्टिंग के लिए पूर्णकालिक रिपोर्टर रखें हैं? (मेरा मतलब विश्लेषकों से नहीं है हालांकि वे भी महत्वपूर्ण हैं। मेरा मतलब रिपोर्टरों से है।) अधिकांश अखबारों में शिक्षा से संबंधित मामलों को जो संवाददाता देखता है प्रायः उसे ही कुछ अन्य क्षेत्रों की भी रिपोर्टिंग करनी पड़ती है। यही बात सामाजिक क्षेत्र के अन्य विषयों के संदर्भ में भी कही जा सकती है। ऐसी स्थिति में 'असमाप्त एजेंडा' के प्रति न्याय कैसे हो सकता है।

भारतीय प्रेस की इस मामले में एक बड़ी शानदार परंपरा रही है। जिन लोगों ने स्वाधीनता संघर्ष का नेतृत्व किया वे इसके महत्व को समझते थे और अधिकांश राष्ट्रवादी नेताओं ने कभी न कभी पत्रकार भी भूमिका निभाई। निश्चय ही **1920,1930** और **1940** के दशक के पत्रकारों के पास साधनों का नितांत अभाव था। उस समय के अखबारों को कुछ लोग पैंफ्लेट भी कह सकते हैं। इसके बावजूद अपने सीमित साधनों में ही उन्होंने आज के मुकाबले में ज्यादा व्यापक सामाजिक सरोकारों को अभिव्यक्ति दी।

बहुत पहले **1893** में रायटर समाचार एजेंसी ने अपने एक संवाददाता एस. एच.एस. मियर विथर को भारत के अकालग्रस्त जिलों की रिपोर्टिंग के लिए भेजा। उस संवाददाता ने इन इलाकों की रिपोर्टिंग तो की ही, उसकी एक पुस्तक भी प्रकाशित हुई जिसका शीर्षक था "ए टूर थ्रू द फेमिन डिस्ट्रिक्ट्स ऑफ इंडिया'। अपनी इस पुस्तक में उसने लिखा है कि उसको यह जिम्मेदारी तब सौंपी गई जब ब्रिटेन की शाही सरकार ने रायटर से ऐसा कराने का अनुरोध किया था। दरअसल ब्रिटिश सरकार अन्य बातों के अलावा यहां के राष्ट्रवादी अखबारों में छप रही खबरों का खंडन कराना चाहती थी।

रायटर का वह संवाददाता ब्रिटिश राज की रक्षा के लिए खड़ा हुआ। उसने भारतीय अखबारों की "देशद्रोहपूर्ण" कार्रवाई की निंदा करते हुए लिखा कि "देसी अखबारों पर सेंसरशिप लगाना न केवल जरूरी है बल्कि यही हितकर भी है।"

यह बात बहुत अजीब लगती होगी कि इतने सीमित साधनों से निकलने वाले अखबारों का इतना बड़ा प्रभाव रहा होगा। इस घटना के एक सौ साल से भी अधिक बीत जाने के बाद आज अपेक्षाकृत ज्यादा साधन संपन्न प्रेस होने के बावजूद अखबारों का वैसा असर नहीं पड़ रहा है। करोड़ों भारतीयों के लिए जो महत्वपूर्ण मुद्दे हैं वे अखबारों से अपनी ओर ध्यान देने की मांग कर रहे हैं। लेकिन प्रेस ने अभी तक सरकार को किसी परेशानी में नहीं डाला।

इन सारी स्थितियों के बावजूद अभी भी अखबार बहुत कुछ कर सकते हैं। भारत में अनेक ऐसे पत्रकार हैं जिनकी योग्यता का कोई मुकाबला नहीं और इनमें से कई निश्चय ही यह चाहेंगे कि समाज की कमजोरियों का संकेत दिया जाए। आज ऐसा करने के लिए उनके पास साधनों की भी कमी नहीं है। सवाल यह है कि क्या वे ऐसा करना चाहेंगे?

आभार

मुझे वर्ष 1992 के लिए टाइम्स फेलोशिप दी गयी जिसका काम 1993 के मध्य से शुरू हुआ। यह पुस्तक फेलोशिप्स कौंसिल के आर्थिक सहयोग से 1 मई 1993 से 15 जून 1995 के बीच किये गये मेरे कामों का परिणाम है। यह फेलोशिप 30 अप्रैल 1994 तक यानी पूरे एक वर्ष तक मिली थी। इस सहयोग के लिए मैं टाइम्स ऑफ इंडिया ग्रुप के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूं।

टाइम्स फेलोशिप्स कौंसिल के साथ संबंधों का एक सकारात्मक अनुभव रहा। इस परियोजना के दौरान कौंसिल ने हमेशा भरपूर मदद की। मैं इसके सभी सदस्यों को हार्दिक धन्यवाद देता हूं। इसके अध्यक्ष अशोक जैन ने परियोजना के दौरान एकाधिक बार मुझसे बातचीत की और इस काम के प्रति अपना समर्थन व्यक्त किया। इससे मुझे काफी तसल्ली हुई और लगा कि यह एक उपयोगी काम हो रहा है।

कौंसिल के ऑनरेरी सेक्रेटरी के.बालाकृष्णन ने असाधारण भूमिका निभायी। उन्होंने ही मेरे लिए यह संभव बनाया कि मैं अपनी सारी ऊर्जा इस काम में लगा दूं और लेखन करता रहूं। उनसे और नारायणी मंटू से काफी मदद मिली। कई कामों में मेरे आलस्य की भरपाई उनकी क्षमता ने की। बालाकृष्णन एक प्रशिक्षित अर्थशास्त्री हैं और विभिन्न राज्यों के लिए जो मैं यात्राएं करता था उनकी तैयारी के लिए उनसे मुझे बहुत मूल्यवान सुझाव मिले। यही वजह थी कि हमेशा दिल्ली होते हुए इन राज्यों के लिए यात्रा शुरू करता था।

इस मामले में मैं खुशकिस्मत हूं कि मुझे उन सभी संपादकों से मदद मिली जिनके साथ मैंने काम किया। दिलीप पडगांवकर और डेरिल डिमांट ने उपयोगी सुझावों के साथ-साथ मुझे पूरी आजादी दी। इन लोगों को बहुत-बहुत धन्यवाद। मेरी अधिकांश रिपोर्टें उन्हीं दिनों प्रकाशित हुईं जिन दिनों ये लोग टाइम्स ऑफ इंडिया के संपादक थे। दिलीप ने हमेशा प्रोत्साहन दिया। डेरिल ने एक तरह से फोन पर आने वाले उन संदेशों का भी रिकॉर्ड रखा जो सचमुच

बहुत दूर–दराज के इलाकों से आते थे। उनके सुझावों की मदद से कालाहांडी की कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण रिपोर्टें तैयार हो सकीं। बाद में दीना वकील के साथ भी मुझे इसी तरह की आजादी मिली।

फ्रंटलाइन के संपादक एन. राम का मानना था कि यह परियोजना शुरू होने से पहले ही वापस ले ली जा सकती है। उनके प्रति भी मेरा हार्दिक आभार है। सुसन के प्रति मैं कृतज्ञ हूं कि उन्होंने दो अध्यायों के प्रारंभिक प्रारूपों को देखा।

जिन मित्रों ने हर स्तर पर मूल्यवान सामग्री प्रदान की उनमें से वेंकटेश आत्रेय, एन. डी. जयप्रकाश, अनिल चौधरी, के.नागराज और सीताराम यचूरी का मैं विशेष उल्लेख करना चाहूंगा।

ब्लिट्ज दिल्ली ब्यूरो के संजय कपूर, सुरेन्द्र, कमल तथा अन्य लोगों ने कई तरीकों से मदद की। सहयोग के लिए जया मेहता को हार्दिक धन्यवाद।

मैं उन असंख्य पत्रकारों को भी धन्यवाद देना चाहूंगा जो देश के विभिन्न हिस्सों में अलग–अलग अखबारों में काम करते हैं और जिन्होंने निःस्वार्थ भाव से मेरी मदद की।

मैं पी.वी. रामानैया राजा तथा राजा–लक्ष्मी फाउंडेशन के ट्रस्टियों का आभारी हूं कि उन्होंने बहुत नाजुक समय में उल्लेखनीय मदद की। उन्होंने जो पुरस्कार दिया उससे इस परियोजना के दो अन्य हिस्सों को पूरा किया जा सका : काम कर रहे लोगों के फोटोग्राफ्स और सैकड़ों लोगों से बातचीत का संकलन। मैं ह्यूमनस्केप के जयेश शाह तथा ह्यूमनस्केप फेलोशिप, स्टेट्समैन रूरल रिपोर्टिंग एवार्ड और पीयूसीएल मानवाधिकार पत्रकारिता पुरस्कार के निर्णायक मंडल को भी समर्थन के लिए धन्यवाद देता हूं। इस परियोजना के कारण जितनी कठिनाइयां, व्यवधान और खर्च उठाना पड़ा उसे जितने धीरज के साथ मेरी पत्नी सोनिया गिल ने झेला उतना शायद ही किसी ने झेला हो। उसकी ही वजह से आधिकारिक तौर पर फेलोशिप की अवधि समाप्त होने के बाद भी लम्बे समय तक मैं काम कर सका। मद्रास में चमत्कारी पुरुष पी. मोहन राम से मुझे जबर्दस्त मदद मिली।

तमिलनाडु : जी. रामाकृष्णन, अरिवोली इयक्कम, के. सुरेश, तमिलनाडु साइंस फोरम के कार्यकर्तागण

पुडुकोट्टई : एन. कन्नामल–इतने शानदार कार्यकर्ता बहुत कम मिलते हैं। प्रभाकरण, शिवरामकृष्णन, राजकुमार, विवेकानंदन, मन्नीकटाई, जी. शेखर तथा क्वेरी वीमेन वर्कर्स एसोएिशन, साथ ही तत्कालीन कलक्टर अनुराधा खाती–राजीवन।

रामनाड : मेरे मित्र काशीनाथदुरै, राजेन्द्रन, करुणानिधि, मुरलीकृष्णन तथा अरिवोली के अन्य कार्यकर्ता। अखिल भारतीय किसान सभा के ज्ञानवासलन। के. राजन, के. सुधीर, टी. पनीरसेलवम, तथा तत्कालीन कलक्टर एल. कृष्णन।

बिहार : यहां अगर मेरे पुराने मित्र एस. पी. तिवारी नहीं मिलते तो शायद मैं कुछ भी नहीं कर पाता। हमेशा सहायता के लिए तत्पर उत्तम सेन गुप्ता तथा टाइम्स ऑफ इंडिया, पटना के अन्य साथियों को बहुत–बहुत धन्यवाद। दिल्ली के उज्जवल सिंह तथा कुमार सुरेश सिंह को भी धन्यवाद जो सूचनाओं की खान हैं। दिल्ली के अरविंद दास को भी अनेकशः धन्यवाद।

गोड्डा : मंजुल कुमार दास, रामस्वरूप, इंदरजीत तिवारी, मोतीलाल, सुमन दरिधयार, एस. मुरमू तथा डोरियो गांव के लोग।

पलामू : बचन सिंह और उनका परिवार जो मेरे ऊटपटांग कार्यक्रमों और बीच–बीच में अचानक गायब हो जाने से भी विचलित नहीं हुए। मित्रवर नरेन्द्र चौबे का आभारी हूं जिन्होंने बिरहोर और पड़ैया समुदायों से मिलाया और उनके साथ मेरा रहना संभव हो सका। चौबे मुझे उन जगहों तक ले गए जहां जाना मेरे लिए संभव नहीं था। पास्कल मिंज, एफ. पेट्रास, विशंभर दुबे, दलीप कुमार और एस.के.सिंह। छोटानागपुर समाज विकास संस्थान के शत्रुघन और अर्जुन। मेरे मित्र स्वर्गीय बैद्यनाथ सिंह। लातेहार की दिलबसिया देवी और बालूमठ तथा नेतरहाट के अनेक परिवार जिनके साथ रहने का सौभाग्य मिला। तत्कालीन उपायुक्त संतोष मैथ्यू ने न केवल मदद की बल्कि जिले की समस्याओं पर भी खुलकर और ईमानदारी के साथ बातचीत की।

उड़ीसा : ब्लिट्ज के मेरे पूर्व सहकर्मी सूर्यदास ने मानव मशीन की तरह काम किया। मैं अभी तक नहीं समझ सका हूं कि उन्होंने यह कैसे संभव बनाया लेकिन उनके ही प्रयास से अनेक दूरदराज के इलाकों तक में मुझे फिल्में सुलभ हो सकीं और मैं तस्वीरें जुटा सका। अपने पुराने मित्र बालाजी पांडेय की जानकारी से मुझे बहुत मदद मिली। उन्होंने तथा इंस्टीट्यूट फॉर सोशियो एंड इकोनॉमिक डेवलपमेंट के कर्मचारियों ने और खासतौर से ह्रषिकेश ने आश्चर्यजनक रूप से मदद पहुंचायी। संतोष दास और जनार्दन पति को विशेष धन्यवाद। दिल्ली में वाल्टर फर्नांडीज से विस्थापन से संबंधित मुद्दों पर बेशुमार जानकारी मिली।

मलकानगिरी और कोरापुट : सुरेन्द्र खेमेन्दु ने बहुत मदद की और वह एक शानदार दुभाषिया साबित हुए। भुवनेश्वर के अजीत कुमार दास, बी. माझी, कामराज कवासी, आर. के. पात्रो, टी. एस. साबर, रघुनाथ माझी तथा के. के.

मोहंती और मलकानगिरी के कलक्टर जी. के ढल को बहुत–बहुत धन्यवाद।

नवापाडा और कालाहांडी : जगदीश प्रधान से मिलना इस परियोजना की विशेष उपलब्धियों में से एक थी। उन्होंने तो मेरे ज्ञान और नजरिए में जबर्दस्त इजाफा किया। उनसे मैंने जो कुछ सीखा उससे परियोजना के बाकी हिस्सों के लिए बहुत मदद मिली। उनसे बेहतर शायद ही कोई कालाहांडी को समझता हो। खरियार के भूतपूर्व विधायक कपिल नारायण तिवारी को विशेष धन्यवाद। मेरे मित्र एस. के. पटनायक ने काफी समय दिया और उनके ज्ञान का मुझे काफी लाभ मिला। घनश्याम बिठरिया, विशंभर जोशी तथा ए. वी. स्वामी को भी बहुत–बहुत धन्यवाद।

मध्य प्रदेश : मध्य प्रदेश विकास समिति के राजू आजाद को विशेष धन्यवाद जिन्होंने अपना सारा काम छोड़कर मुझे सरगुजा पहुंचाया। शैलेन्द्र शैली को भी मैं नहीं भूल सकता। आर. गोपालकृष्णन का मैं बहुत आभारी हूं–अब तक जिन नौकरशाहों से मैं मिला हूं उनमें संभवतः वह सबसे असाधारण साबित हुए हैं। उनसे बात करने से मुझे कई योजनाओं को तैयार करने में मदद मिली। एक बार फिर ब्लिट्ज का पुराना नेटवर्क काम आया–इसके लिए मनोज माथुर को अनेक धन्यवाद। विनोद रैना और अनिता रामपाल को भी हार्दिक ध्न्यवाद।

सरगुजा : मेहदी लाल यादव का आभारी हूं जिन्होंने इस विशाल जिले की यात्रा में मेरा साथ दिया। जितेन्द्र सिंह सोढ़ी, अर्जुन दास, ननका राम, अशोक कुमार दास सहित एच. एन. श्रीवास्तव, मोहन कुमार गिरी और एस. वर्मा जैसे एडवोकेटों को विशेष रूप से धन्यवाद देना चाहूंगा। निसारनाज, के. एस. यादव और दलीप कुमार को भी अनेक धन्यवाद।

झाबुआ : मै सचमुच खुशकिस्मत था कि मेरी मुलाकात अमिता बाविस्कर से हुई। वह इस इलाके की विशेषज्ञ और विद्वान तो है ही उन्होंने कुछ महत्वपूर्ण भेंट वार्ताओं में मेरे लिए दुभाषिया की भूमिका निभायी। अगर वह नहीं होतीं तो विस्थापन से संबंधित मुद्दों की अनेक बारीकियों को मैं नहीं समझ पाता। इसी प्रकार चित्रकार तथा अवकाशप्राप्त अध्यापक मिर्जा इस्माइल बेग और इंदौर के पुरुषोत्तम तिवारी से मुझे बहुत मदद मिली। हेमंत जैन ने सभी जरूरी आंकड़े जुटाकर मेरी मदद की। इसी प्रकार जगन्नाथ भारती, सुंदर लाल जैन और एम. वालिया ने भी काफी मदद की। अशोक मंडलोई ने मुझे अपना बहुमूल्य समय दिया। लुअरिया और उनके परिवार ने जलसिंधी में मुझे अपने साथ रखा और हर तरह से मदद की जिसका मैं आभारी हूं। खेदुत मजदूर चेतना संगठन के

जयश्री, अमित, चित्तरूपा पालित तथा अन्य कार्यकर्ताओं को बहुत बहुत धन्यवाद।

बंबई : बड़ी संख्या में लोगों ने, खास तौर से भूतपूर्व छात्रों ने शुरु से मदद की। डायने बुंशा और प्रियंका काकोदकर को विशेष धन्यवाद -- जिस समय यह पुस्तक तैयार हो रही थी, इन्होंने अनेक रपटों को कई बार पढ़ा और मुझे सहायता दी। डायने ने अथक मेहनत की और मुझे भाग–दौड़ से बचाया। शीतल मेहता को भी सहयोग के लिए विशेष धन्यवाद। राजेश वोरा तथा नरेश फर्नांडीज के प्रति भी विशेष आभार।

स्मृति कोप्पिकर ने बेहिसाब मदद की । शुरु से ही उन्होंने उन कामों को समन्वित करने में मदद पहुंचायी जो वहां से मेरे लिए संभव नहीं था जहां मैं था। फिल्मों, टेपों तथा अन्य सामानों की हमें जब और जहां ज़रूरत हुई, उनके द्वारा तुरंत पहुंचाने की व्यवस्था की गयी। आंकड़े जुटाने और बाद में उन्हें संपादित करने तथा हज़ारों निगेटिव और सैंकड़ों फोटोग्राफ को छांटने आदि में उन्होंने काफी मदद की। उनके विचार हमेशा लाभप्रद रहे और उन्होंने एकदम संपादक की तरह काम किया।

भारती सदाशिवम उस समय भारत में थीं और उनसे काफी मदद मिली। चित्रा सरुर से मिले सहयोग और प्रोत्साहन के लिए बहुत बहुत धन्यवाद। आंकड़ों के पक्ष को ले कर मुझे कभी चिंता नहीं करनी पड़ी। इसकी जिम्मेदारी, हर बार की तरह, मेरे पुराने मित्र अनूप बबानी ने संभाल ली। स्टैण्डर्ड फोटो सप्लाई के संजय शाह तथा फोर्ट कापीइंग सेंटर से हमेशा मदद मिली।

मेरे इस पूरे काम में लोगों के एक समूह की और एक व्यक्ति विशेष की अदृश्य मौजूदगी हमेशा बनी रही : 'ब्लिट्ज' के मेरे पुराने सहयोगियों की और मेरे पुराने संपादक आर. के. करंजिया की। अपने जूनियर पत्रकारों की उपलब्धि पर उन्हें उतना ही गर्व होता था जितना अपनी उपलब्धि पर। 1993 के शुरुआती दिनों में मैं ब्लिट्ज से जा चुका था लेकिन इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ा। इस प्रोजेक्ट को जो भी पुरस्कार मिलता, सबसे पहले उनकी डेस्क पर उसका उल्लेख हो जाता। सचमुच, गजब का व्यक्तित्व !

परिशिष्ट 1
आधिकारिक गरीबी रेखा

जनवरी 1979 में एक कार्य दल (टास्क फोर्स) ने गरीबी के आकलन के लिए एक पद्धति तैयार की जिसका इस्तेमाल उस समय से ही योजना आयोग कर रहा है। इसका नाम था 'न्यूनतम आवश्यकताओं और प्रभावकारी उपभोक्ता मांग के बारे में कार्य दल।'

इस कार्य दल ने गरीबी रेखा को परिभाषित करते हुए इसे प्रति व्यक्ति खर्च किए जाने वाले उस स्तर तक बताया जहां गांव में रहने वाले किसी व्यक्ति के लिए यह 2435 कैलोरी और शहर में रहने वाले व्यक्ति के लिए 2095 कैलोरी के औसत उपभोग से संबंधित है। इसने 1968 के पोषक तत्व विशेषज्ञ समूह द्वारा सुझाए गए नियमों को ध्यान में रखा। इसका इस्तेमाल करते हुए इसने अनुमान लगाया कि ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में आयु, लिंग और पेशे के अनुसार औसतन हर रोज कितनी कैलोरी की खपत होनी चाहिए। सुविधा के लिए इसने तय किया की ग्रामीण क्षेत्रों में रहने ताले लोग 2400 और शहरी क्षेत्रों के लोग 2100 कैलोरी प्रतिदिन ग्रहण करें।

योजना आयोग सरकार के नेशनल सैम्पुल सर्वे आर्गेनाइजेशन द्वारा संचालित उन सर्वेक्षणों का इस्तेमाल करता है जो इस संगठन द्वारा देश भर में पांच लाख से भी अधिक घरों के उपभोग के तौर–तरीकों के बारे में किया जाता है। यह सर्वेक्षण हर पांच साल पर एक बार किया जाता है। इसमें देश भर के 5,00,000 परिवारों के उपभोग के तरीकों पर ध्यान दिया जाता है। इन परिवारों में से व्यय करने वाले उस समूह का चयन किया जाता है जिनके खान–पान पर व्यय से एक ग्रामीण व्यक्ति को 2400 कैलोरी और एक शहरी व्यक्ति को 2100 कैलोरी मिलती है। इस प्रकार इस समूह का प्रति व्यक्ति व्यय 'रेखा' मान लिया जाता है। जिन समूहों का खर्च इससे नीचे होता है उन्हें गरीबी रेखा से नीचे मान लेते हैं।

फिलहाल शहरी इलाकों के लिए इस 'रेखा' को 1993–94 के मूल्यों पर प्रति व्यक्ति 264 रुपये के बराबर उपभोग करने वाले के रूप में परिभाषित किया गया है। ग्रामीण इलाकों के लिए यह राशि 1993–94 के मूल्यों पर प्रति व्यक्ति 229 रुपये प्रति माह है। इस गरीबी रेखा पर गांव में रहने वाले गरीबों के उपभोक्ता मद में खाद्यान्न की मात्रा लगभग 70 प्रतिशत होती है। (नेशनल सेम्पल सर्वे 48वां चक्र)

जो लोग इस प्रक्रिया का अनुवाद चाहते हैं उनके लिए इसे इस प्रकार कहा जा सकता है : मान लीजिए आप एक ऐसे भारतीय हैं जो गांव में रहता है और जिसके परिवार में पांच सदस्य हैं। अगर आपका कुल मासिक उपभोग प्रति माह 1145 रुपए से कम है (अर्थात् प्रति व्यक्ति 229 रुपए है) तो आप गरीबी रेखा से नीचे हैं। इस रेखा से थोड़ा सा अगर आप ऊपर हो जाएं तो भी आपकी गरीबी की समस्या हल नहीं होगी। लेकिन इससे सरकारी मानदंड को संतोष मिल जाएगा और आपको गरीबी रेखा से ऊपर के लोगों की श्रेणी में डाल दिया जाएगा।

1989 में योजना आयोग ने इस पद्धति के अध्ययन के लिए एक विशेषज्ञ समूह का गठन किया। 1993 में इसने अनेक सुझावों के साथ अपनी रिपोर्ट दी। (जिन्हें इसके बारे में और ज्यादा जानकारी चाहिए वे जून 1993 में भारत सरकार के योजना आयोग के पर्सपेक्टिव प्लानिंग डिवीजन द्वारा प्रकाशित 'रिपोर्ट ऑफ द एक्सपर्ट ग्रुप ऑन ए स्टीमेशन ऑफ प्रोपोर्शन एंड नंबर ऑफ पूअर' देखें)

विशेषज्ञ समूह द्वारा सुझाए गए संशोधित तरीकों को अगर अपनाया जाय तो गरीबी रेखा से नीचे रहने वालों की संख्या में बड़ी तेज वृद्धि हो जाएगी। मिसाल के तौर पर पुरानी पद्धति के जरिए गरीबों की संख्या के बारे में जो आकलन किया गया और विशेषज्ञ समूह द्वारा सुझाए गए तरीके को अपनाने के बाद जो अनुमान लगाया गया उन दोनों में बहुत फर्क है। 1987–88 के लिए विशेषज्ञ समूह ने गरीबी रेखा से नीचे रहने वालों की संख्या 31 करोड़ 20 लाख बतायी जबकि पुरानी पद्धति से यह संख्या 23 करोड़ 70 लाख तय की गयी थी। अब योजना आयोग ने विशेषज्ञ समूह की सिफारिशों को रद्दी की टोकरी में डाल दिया है। इसलिए इस 'रेखा' के ऊपर–नीचे आने–जाने वालों की संख्या का वास्तविकता से शायद ही कोई सरोकार रहता हो। अगर गणना के तरीकों में परिवर्तन कर दें तो यह बड़े आराम से ऊपर–नीचे हो सकता है।

विशेषज्ञ समूह ने 'गरीबी के आकलन की उपयोगिता और इसकी निरंतर

आवश्यकता' को स्वीकार किया। लेकिन इसने उस दृष्टिकोण की अनेक सीमाओं की ओर ध्यान दिलाया जिसे अपनाया जाता है। विशेषज्ञ समूह के कुछ निष्कर्ष उस समय भी बहुत वाजिब थे और अभी भी वाजिब हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं :–

- गरीबी रेखा गरीब लोगों को एक ऐसी 'श्रेणी' के रूप में देखने का अवधारणात्मक तर्क प्रदान करती है जिनको गरीबी निवारण कार्यक्रमों के जरिए लक्ष्य के रूप में निर्धारित किया जाता है। इसमें संरचनात्मक असमानताओं और उन अन्य कारकों पर ध्यान नहीं दिया जाता जो गरीबी को पैदा करते हैं, बरकरार रखते हैं और इसमें वृद्धि करते हैं।
- यह सामाजिक उपभोग की चीजों पर मसलन बुनियादी शिक्षा और स्वास्थ्य, पेयजल की आपूर्ति, सफाई, पर्यावरण संबंधी मानदंडों इत्यादि पर इस रूप में ध्यान नहीं देता कि यह सामान्य जरूरतें हैं या इन्हें प्रभावकारी ढंग से उपलब्ध होना चाहिए।
- गरीबी रेखा को संख्या के रूप में नापा जाता है। और इसलिए यह अपकारक है। यह गरीबी के महत्वपूर्ण पहलुओं पर ध्यान नहीं देता जैसे खराब स्वास्थ्य, निम्न शिक्षा प्राप्ति, भौगोलिक दृष्टि से अलग–थलग रहना, कानून तक कारगर पहुंच का न होना, सभ्य समाज में शक्ति विहीन बने रहना, जाति और/या लिंग आधारित नुकसान उठाना।
- गरीबी रेखा पर आधारित व्यक्तियों की गणना का अनुपात इस बात पर ध्यान नहीं देता कि गरीबी की सघनता कितनी है या इस पर ध्यान नहीं देता कि गरीबों के बीच उपभोग संबंधी व्यय का वितरण कैसा है।
- भारत जैसे विशाल और विविधता से भरे देश में समग्रता के आधार पर पूरे देश के पैमाने पर गरीबी रेखा निर्धारण में अलग–अलग राज्यों में उपभोग के तरीकों में अथवा मूल्यों के ढांचों में व्याप्त विभिन्नता की अवहेलना हो जाती है।
- 'पूर्ण गरीबी' की धारणा अपर्याप्त है क्योंकि 'सापेक्षिक गरीबी' भी गरीबी का उतना ही महत्वपूर्ण पहलू है और देखा जाय तो यथार्थ में एक निश्चित राष्ट्रीय आय के स्तर के हिसाब से पूर्ण गरीबी को निर्धारित करती है। इसके अलावा यद्यपि असमानता और गरीबी की अवधारणाएं अलग–अलग हैं फिर भी इनको निरंतर एक साथ रखकर देखने की जरूरत है क्योंकि इन अवधारणाओं में घनिष्ठ संबंध है।

भारत में गरीबी रेखा को परिभाषित करने का पहला प्रयास 1962 में हुआ। प्रमुख अर्थशास्त्रियों और सामाजिक विचारकों के एक कार्य समूह ने संतुलित आहार के बारे में इंडियन कौंसिल ऑफ मेडिकल रिसर्च की पोषक तत्व सलाहकार समिति की सिफारिशों को ध्यान में रखकर इस पर विचार किया। इस कार्य समूह में प्रोफेसर डी.आर. गाडगिल, डा. अशोक मेहता, डा. वी.के.आर. वी. राव, श्रीमन्नारायण, अन्ना साहब सहस्रबुद्धे, बी.एन. गांगुली, डा. पी.एस. लोकनाथन, पीताम्बर पंत और एम.आर. मसानी जैसे विख्यात लोग थे।

इतने विख्यात और श्रेष्ठ लोगों ने जो 'राष्ट्रीय न्यूनतम' निर्धारित किया उसमें से स्वास्थ्य और शिक्षा पर होने वाले व्यय जैसी बातों को क्यों अलग रखा? इसकी वजह यह है कि वे ईमानदार और आदर्शवादी नागरिक थे जो यह मानकर चलते थे कि राज्य की कुछ जिम्मेदारियां हैं जिन्हें वह पूरा करेगा ही। मिसाल के तौर पर उन्हें यह विश्वास था कि राज्य अपने नागरिकों को स्वास्थ्य और शिक्षा प्रदान करने के लिए संविधान तथा अन्य संकल्पों से बंधा हुआ है।

यह एक क्रूर मजाक है कि पैंतीस वर्षों बाद भी राज्य ने इनमें से कुछ भी अपनी जनता को प्रदान नहीं किया। इसने इसी तरह के अन्य दायित्वों को भी पूरा नहीं किया। बावजूद इसके हम कैलोरी और निजी उपभोग व्यय की अवधारणा से चिपके हुए हैं। गोया इसके अंतर्गत वे सभी चीजें आ जाती हैं जो महत्वपूर्ण हैं। लेकिन हम जनता के प्रति राज्य के दायित्वों के मामले में चुप रहते हैं।

परिशिष्ट - 2

जिलों के कुछ संकेतक

इन जिलों में से कुछ के संकेतकों में कुछ चीजें एक–दूसरे पर ओवरलैप कर जाती हैं लेकिन इनसे बच पाना मुश्किल है। मिसाल के तौर पर कोरापुट, कालाहांडी, रामनाद पिछले कुछ वर्षों के दौरान दो अथवा अध्कि जिलों में विभाजित कर दिए गए। यहां तक कि पलामू को तोड़ कर गढ़वा नाम से एक नया जिला बनाया गया। इसी प्रकार पुराने संथाल परगना को विभाजित कर गोड्डा का गठन हुआ।

अभी तक इन नये जिलों का अपना कोई गजेटियर अथवा प्रकाशित आंकड़ा नहीं है। इसलिए पुराने और नये जिलों के बीच आंकड़े एक–दूसरे पर ओवरलैप करते हैं। लेकिन यहां कालाहांडी को पुरानी अविभाजित इकाई के रूप में रखा गया है जिसमें नवापाडा शामिल है जो फिलहाल एक स्वतंत्र जिला बन गया है। इसी प्रकार कोरापुट का जहां संदर्भ आता है उसका ताल्लुक पुराने अविभाजित कोरापुट से है जिसमें मलकानगिरी भी शामिल है जो अब एक अलग जिला बन चुका है।

दूसरी बात यह है कि इन्हीं कारणों से कुछ संकेतकों के आधार वर्ष भी अलग–अलग हैं। वैसे तो अधिकांश संकेतक 1991 पर टिके हैं लेकिन इसका समूचे तौर पर कड़ाई से पालन नहीं किया गया। उदाहरण के लिए अविभाजित कालाहांडी में प्रति व्यक्ति खाद्यान्न का उत्पादन 1989–90 के आंकड़ों से लिया गया है। इसलिए उड़ीसा और भारत के आंकड़ों में भी भिन्नता है। मलकानगिरी और नवापाडा के मामले में प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उत्पादन के आंकड़े अपेक्षाकृत नये हैं जो 1993–94 के हैं।

इसके अलावा अलग–अलग जिलों के जनसंख्या संबंधी आंकड़े भी कुछ बहुत धीमी रफ्तार से आते हैं। कुछ मामलों में साक्षरता के आंकड़ों से इसका आभास

होता है। प्रत्येक सेट के नीचे मैंने उस अवध्रि का जिक्र किया है जिसमें मैं उस खास जिले में रहा था।

जिला : गोड्डा

राज्य : बिहार

क्षेत्रफल : 2,110 वर्ग किमी.

जंगल : 239.34 वर्ग किमी.

कुल बुवाई क्षेत्र : 966.09 वर्ग किमी.

कुल सिंचित क्षेत्र : 108.97 वर्ग किमी.

जनसंख्या : 8,61,180

पुरुष : 4,48,070

महिलाएं : 4,13,110

महिला साक्षरता : 18 प्रतिशत (बिहार : 22.89 प्रतिशत, भारत : 39.29 प्रतिशत)

पुरुष साक्षरता : 48.56 प्रतिशत (बिहार : 52.49 प्रतिशत, भारत : 64.13 प्रतिशत)

प्रति व्यक्ति अनाज उत्पादन : 105 किग्रा. (बिहार : 118, भारत : 173)

जिला मुख्यालय रेल मार्ग से नहीं जुड़ा है।

मैं सितंबर/अक्टूबर 1993 के दौरान यहां रुका।

जिला : झाबुआ

राज्य : मध्य प्रदेश

क्षेत्रफल : 6,782 वर्ग किमी.

जंगल : 1133.18 वर्ग किमी.

कुल बुवाई क्षेत्र : उपलब्ध नहीं

कुल सिंचित क्षेत्र : 84.59 वर्ग किमी.

जनसंख्या : 11,30,400

पुरुष : 5,71,760

महिलाएं : 5,58,640

महिला साक्षरता : 8.79 प्रतिशत (मध्य प्रदेश : 28.85 प्रतिशत, भारत : 39.29 प्रतिशत)

पुरुष साक्षरता : 20.15 प्रतिशत (मध्य प्रदेश : 58.42 प्रतिशत, भारत : 64.

13 प्रतिशत)
प्रति व्यक्ति अनाज उत्पादन : 148 किग्रा. (मध्य प्रदेश : 208, भारत : 173)
जिला मुख्यालय रेल मार्ग से नहीं जुड़ा है।
मैं मई–जून 1994 के दौरान यहां रुका।

जिला : कालाहांडी
राज्य : उड़ीसा
क्षेत्रफल : 11,772 वर्ग किमी.
जंगल : 4,770 वर्ग किमी.
कुल बुवाई क्षेत्र : 5,890 वर्ग किमी.
कुल सिंचित क्षेत्र : 620 वर्ग किमी.
जनसंख्या : 16,00,380
पुरुष : 8,00,060
महिलाएं : 8,00,330
महिला साक्षरता : 14.56 प्रतिशत (उड़ीसा : 34.68 प्रतिशत, भारत : 39.29 प्रतिशत)
पुरुष साक्षरता : 45.54 प्रतिशत (उड़ीसा : 63.09 प्रतिशत, भारत : 64.13 प्रतिशत)
प्रति व्यक्ति अनाज उत्पादन : 331.86 किग्रा. (उड़ीसा : 253.03, भारत : 203.13)
(पुराने कालाहांडी में अनाज उत्पादन के लिए आधार वर्ष अन्यों से भिन्न है। इसीलिए उड़ीसा और भारत के आंकड़े भी भिन्न हैं। यह आंकड़ा 1989–90 के लिए हैं)।
जाहिर है कि यहां मेरे यात्रा की अवधि भी नवापाडा से, जिस पर मैने मुख्य रूप से ध्यान दिया था, ओवरलैप कर जाती है।

जिला : कोरापुट
राज्य : उड़ीसा
क्षेत्रफल : 26,961 वर्ग किमी.
जंगल : 12.300 वर्ग किमी.

कुल बुवाई क्षेत्र : 7,690 वर्ग किमी.
कुल सिंचित क्षेत्र : 890 वर्ग किमी.
जनसंख्या : 30,12,550
पुरुष : 15,10,520
महिलाएं : 15,02,030
महिला साक्षरता : 13.09 प्रतिशत (उड़ीसा : 34.68 प्रतिशत, भारत : 39.29 प्रतिशत)
पुरुष साक्षरता : 32.15 प्रतिशत (उड़ीसा : 63.09 प्रतिशत, भारत : 64.13 प्रतिशत)
प्रति व्यक्ति अनाज उत्पादन : 193 किग्रा. (उड़ीसा : 162 किग्रा., भारत : 173) ठहरने का समय : मलकानगिरी से ओवरलैप करता है जो मेरे अध्ययन का मुख्य केंद्र था।

जिला : मलकानगिरि
राज्य : उड़ीसा
क्षेत्रफल : 6,115.3 वर्ग किमी.
जंगल : 1,553 वर्ग किमी.
कुल बुवाई क्षेत्र : 1,500 वर्ग किमी.
कुल सिंचित क्षेत्र : उपलब्ध नहीं
जनसंख्या : 4,22,000
पुरुष : 2,13,000
महिलाएं : 2,09,000
महिला साक्षरता : 11.69 प्रतिशत (उड़ीसा : 34.68 प्रतिशत, भारत : 39.29 प्रतिशत)
पुरुष साक्षरता : 28.22 प्रतिशत (उड़ीसा) 63.09 प्रतिशत, भारत : 64.13 प्रतिशत)
प्रति व्यक्ति अनाज उत्पादन : 268 किग्रा. (उड़ीसा : 201, भारत : 205)
जिला मुख्यालय रेल मार्ग से नहीं जुड़ा है।
ठहरने का समय :
यहां मैं दिसंबर 1993–जनवरी 1994 के बीच रहा। जून 1995 में पास के रायगढ़ क्षेत्र की यात्रा की।

जिला : नवापाडा
राज्य : उड़ीसा
क्षेत्रफल : 3,407.5 वर्ग किमी.
जंगल : 1,803 वर्ग किमी.
कुल बुवाई क्षेत्र : 1,480 वर्ग किमी.
कुल सिंचित क्षेत्र : उपलब्ध नहीं
जनसंख्या : 4,69,000
पुरुष : 2,34,000
महिलाएं : 2,35,000
महिला साक्षरता : 12.78 प्रतिशत (उड़ीसा : 34.68 प्रतिशत, भारत : 39.29 प्रतिशत)
पुरुष साक्षरता : 42.31 प्रतिशत (उड़ीसा : 63.09 प्रतिशत, भारत : 64.13 प्रतिशत)
प्रति व्यक्ति अनाज उत्पादन : 235 किग्रा. (उड़ीसा : 201, भारत : 205)
जिला मुख्यालय रेल मार्ग से नहीं जुड़ा है।
ठहरने का समय :
यहां फरवरी–मार्च 1994 के दौरान रहा। इस जिले की अंतिम बार मई–जून 1995 में यात्रा की।

जिला : पलामू
राज्य : बिहार
क्षेत्रफल : 12,749 वर्ग किमी.
जंगल : 5.569 वर्ग किमी.
कुल बुवाई क्षेत्र : 2254.31 वर्ग किमी.
कुल सिंचित क्षेत्र : 480.76 वर्ग किमी.
जनसंख्या : 24,51,490
पुरुष : 12,69,810
महिलाएं : 11,81,380
महिला साक्षरता : 16.15 प्रतिशत (बिहार : 22.89 प्रतिशत, भारत : 39.29 प्रतिशत)
पुरुष साक्षरता : 44.80 प्रतिशत (बिहार : 52.49 प्रतिशत, भारत : 64.13 प्रतिशत)

प्रति व्यक्ति अनाज उत्पादन : 61 किग्रा. (बिहार : 118, भारत : 173)
अक्तूबर–नवंबर 1993 के दौरान यहां रूका। दुबारा कुछ समय के लिए मई 1994 में आया।

जिला : पुडुकोट्टई
राज्य : तमिलनाडु
क्षेत्रफल : 4,651 वर्ग किमी.
जंगल : 237 वर्ग किमी.
कुल बुवाई क्षेत्र : 1987.40 वर्ग किमी.
कुल सिंचित क्षेत्र : 1024.13 वर्ग किमी.
जनसंख्या : 13,27,150
पुरुष : 6,61,780
महिलाएं : 6,65,370
महिला साक्षरता : 43.62 प्रतिशत (तमिलनाडु : 51.33 प्रतिशत, भारत : 39.29 प्रतिशत)
पुरुष साक्षरता : 71.78 प्रतिशत (तमिलनाडु : 73.75 प्रतिशत, भारत : 64.13 प्रतिशत)
प्रति व्यक्ति अनाज उत्पादन : 184 किग्रा. (तमिलनाडु : 124 किग्रा., भारत : 173 किग्रा.)
(टिप्पणी : इस जिले के साक्षरता संबंधी आंकड़े यहां साक्षरता आंदोलन शुरू होने से पहले के हैं। आंदोलन के एक बार जड़ जमा लेने के बाद ऐसी स्थिति बनी कि पुडुकोट्टई को केरल से बाहर का ऐसा जिला घोषित किया गया जहां 100 प्रतिशत साक्षरता है। मैंने पुराने आंकड़े दिए हैं ताकि आंदोलन के बाद का फर्क उजागर हो सके। इस आंदोलन ने तीन वर्ष के अंदर ही 100 प्रतिशत साक्षरता का अपना लक्ष्य पूरा कर लिया। यहां मैं मई 1993 में रहा। अप्रैल 1995 में मैं दुबारा इस जिले में आया।

जिला : रामनाथपुरम (रामनाद)
राज्य : तमिलनाडु
क्षेत्रफल : 4,232 वर्ग किमी.
जंगल : 45 वर्ग किमी.

कुल बुवाई क्षेत्र : 2060.18 वर्ग किमी.
कुल सिंचित क्षेत्र : 627.41 वर्ग किमी.
जनसंख्या : 11,44,040
पुरुष : 5,68,670
महिलाएं : 5,75,370
महिला साक्षरता : 48.70 प्रतिशत (तमिलनाडु : 51.33 प्रतिशत, भारत : 39.29 प्रतिशत)
पुरुष साक्षरता : 74.76 प्रतिशत (तमिलनाडु : 73.75 प्रतिशत, भारत : 64.13 प्रतिशत)
प्रति व्यक्ति अनाज उत्पादन : 111 किग्रा. (तमिलनाडु : 124, भारत : 173 किग्रा.)
मैं जून 1994 के दौरान यहां रुका।

जिला : सरगुजा
राज्य : मध्य प्रदेश
क्षेत्रफल : 23,000 वर्ग किमी.
जंगल : 10.830 वर्ग किमी.
कुल बुवाई क्षेत्र : 5,933.43 वर्ग किमी.
कुल सिंचित क्षेत्र : 204.16 वर्ग किमी.
जनसंख्या : 20,82,630
पुरुष : 10,64,630
महिलाएं : 10,18,000
महिला साक्षरता : 17.40 प्रतिशत (मध्य प्रदेश : 28.85 प्रतिशत, भारत : 39.29 प्रतिशत)
पुरुष साक्षरता : 42.13 प्रतिशत (मध्य प्रदेश : 58.42 प्रतिशत, भारत : 64.23 प्रतिशत)
प्रति व्यक्ति अनाज उत्पादन : 170 किग्रा. (मध्य प्रदेश : 208, भारत : 173)
जिला मुख्यालय रेल मार्ग से नहीं जुड़ा है।
मैं अप्रैल, मई 1994 के दौरान यहां रुका।

स्रोत :
जनगणना संबंधी आंकड़े
प्रोफाइल्स ऑफ डिस्ट्रिक्ट्स, नवंबर 1993, सेंटर फॉर मॉनिटरिंग इंडियन इकोनॉमी (सीएमआइई), बम्बई
राज्यों की आंकड़ों संबंधी पुस्तिकाएं।
जिले के सांख्यिकी कार्यालयों के आंकड़े।
राज्य सरकार के तथा अन्य सरकारी प्रकाशन

संदर्भ

इस पुस्तक में संदर्भों के देने का तरीका थोड़ा अलग किस्म का है लेकिन इसे समझना आसान है। ऐसा करने के पीछे पाठकों को ढेर सारी टिप्पणियों के बोझ से बचाना था। वैसे तो जिलों की जो वास्तविक रपटें हैं उनमें इनकी जरूरत भी नहीं है। इनके लिए सारे स्रोत खुद रपटों के अंदर ही मिल जाते हैं। इसके अलावा जिले से संबंधित जो आंकड़े हैं वे प्रायः सरकारी आंकड़े हैं—वैकल्पिक स्रोतों से प्राप्त आंकड़े बहुत थोड़े हैं। इसलिए स्रोतों या आंकड़ों से संबंधित संदर्भों को देने का सवाल उन लेखों के मामले में पैदा होता है जो पुस्तक के कुछ खण्डों से पूर्व दिये गये हैं।

इसे आसान बनाने के लिए संदर्भ संबंधी टिप्पणी से पूर्व आम तौर पर कोष्ठकों में उस उद्धरण का संकेत दिया गया है जिसका लेख में जिक्र है। मिसाल के तौर पर अगर आप दमा, निमोनिया अथवा पेचिस से संबंधित मामलों में आंकड़ों का स्रोत जानना चाहते हैं तो इसका संदर्भ स्वास्थ्य संबंधी खण्ड में मिल जाएगा। यह टिप्पणियां इस पुस्तक के विभिन्न खण्डों के अनुसार दी गयी हैं हालांकि सभी खण्डों को इनकी जरूरत नहीं है।

जो रिसते हुए नीचे पहुंचता है
(करोड़ों के लिए स्वास्थ्य)

(तपेदिक से संबंधित वार्षिक मौतें तथा अन्य आंकड़े) : नेशनल ट्यूबरक्लोसिस इंस्टीट्यूट से प्राप्त आंकड़े

(पेचिस से हुई मौत के आंकड़े) : 'ए प्रोफाइल ऑफ कॉमन डिजीजेज़ इन इंडिया', *फ्यूचर*, खण्ड 13, 1984–85, पृष्ठ 43

(पेचिस, दमा और निमोनिया) : *'कंबाइंड सर्वेज़ ऑफ एआरआई, डायरिया ऐण्ड इपीआई'* से, नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ कम्युनिकेबुल डिजीजेज़, नयी दिल्ली, 1988

(यूएसएड : जनसंख्या नियंत्रण के लिए 32 करोड़ 50 लाख डालर) : सरोज पचौरी, 'पापुलेशन ऐण्ड प्लानिंग' *सेमिनार*, अंक संख्या 410, अक्तूबर 1993, नयी दिल्ली, पृ. 17

(सकल राष्ट्रीय उत्पाद के प्रतिशत के रूप में पोषण पर होने वाला खर्च) : के. सीता प्रभु तथा एस. चटर्जी, *सोशल सेक्टर एक्सपेन्डीचर्स ऐण्ड ह्यूमन डेवलपमेंट*, रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया, बंबई, 1993, पृ. 13

(भारत तथा अन्य देशों में सकल राष्ट्रीय उत्पाद के प्रतिशत के रूप में स्वास्थ्य पर होने वाला खर्च) : इन्वेस्टिंग इन हेल्थ, वर्ल्ड डेवलपमेंट रिपोर्ट, वर्ल्ड बैंक, वाशिंगटन, 1993, तालिका ए–9, पृष्ठ 210–211

(पंचवर्षीय योजनाओं के अंश के रूप में स्वास्थ्य पर भारत में होने वाला व्यय) : पंचवर्षीय योजनाओं से संबंधित अलग–अलग दस्तावेज, भारत सरकार।

(पंजीकृत डाक्टरों और नर्सों की संख्या) : *हेल्थ इनफॉरमेशन ऑफ इंडिया*, भारत सरकार, सेंट्रल बोर्ड ऑफ हेल्थ इनफॉरमेशन, नयी दिल्ली, 1992, पृ.11। बाद के आंकड़े प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिंह राव के भाषण से, 14 सितंबर 1995

(गुजरात और महाराष्ट्र के निवेश संबंधी आंकड़े) : प्रकाश कारत, 'दि वेजेज़ ऑफ लिबरलाइजेशन', *फ्रंटलाइन*, मद्रास, 18 नवंबर 1994, पृ. 120

(केरल बाल मृत्युदर तथा अन्य आंकड़े) : वी.के. रामचन्द्रन, 'केरलाज़ डेवलपमेंट एचीवमेंट्स : ऐन ओवरव्यू', इंदिरा गांधी विकास अनुसंधान संस्थान, बंबई में पढ़ा गया पर्चा, 1995, तालिका 7 और 10। सेन और ड्रेज की पुस्तक 'इंडियन डेवलपमेंट, सेलेक्टेड रिजनल पर्सपेक्टिस' में अध्याय के रूप में प्रकाशित, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड और दिल्ली, 1996

(गुजरात और महाराष्ट्र के लिए बाल मृत्यु दर तथा सामान्य मृत्युदर से संबंधित आंकड़े) : *हेल्थ इनफॉरमेशन ऑफ इंडिया*, भारत सरकार, सेंट्रल बोर्ड ऑफ हेल्थ इनफॉरमेशन, नयी दिल्ली, 1992

(ग्रामीण क्षेत्रों में जन स्वास्थ्य केंद्र प्रत्येक सौ मरीजों में से केवल नौ की देखभाल कर पाते हैं) : के. सीता प्रभु एवं एस. चटर्जी, सोशल सेक्टर एक्सपेंडिचर्स, पृ. 10

शिक्षा की अलबेली चाल
(ग्रामीण भारत में शिक्षा पाने का सुख)

(हमारी शिक्षा प्रणाली की 'क्षमता' के बारे में उद्धरण) : अनीता रामपाल *एजुकेशन फॉर ऑल, रेटोरिक ऐण्ड रियलिटी, दि मध्य प्रदेश ह्यूमन डेवलपमेंट रिपोर्ट 1995,* एमपीएचडीआर प्रोजेक्ट ऑफिस, भोपाल 1995, पृ. 30

(दाखिला, सुविधाओं, आधारभूत ढांचे, दूरियों से संबंधित आंकड़े) : *फिफ्थ ऑल इंडिया एजुकेशनल सर्वे, सेलेक्टेड स्टेटिस्टिक्स,* राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (एनसीईआरटी), नयी दिल्ली–1989

(योजना के बजट में शिक्षा पर व्यय की जाने वाली राशि प्रतिशत के रूप में): अलग–अलग पंचवर्षीय योजनाओं से संबंधित दस्तावेजों पर आधारित आंकड़े।

(तांजानिया, केन्या, मलयेशिया में होने वाले खर्चों की तुलना) : मायरन वीनर, *दि चाइल्ड ऐण्ड स्टेट इन इंडिया,* ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली, 1992, पृ. 14

(पढ़ाई अधूरी छोड़ने वालों में 40 प्रतिशत के पीछे आर्थिक कारण हैं) : तिलक और वर्गीज़, 1992 तथा सीएमआईई 1992 के आकलन जिसका के. सीता प्रभु तथा एस.चटर्जी ने *सोशल सेक्टर एक्सपेंडीचर्स एण्ड ह्यूमन डेवलपमेंट* में उल्लेख किया है। रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया, बंबई, 1993, पृ. 10

(123 जिलों में महिला साक्षरता) : अनिल सदगोपाल, शिक्षा पर अप्रकाशित आधारपत्र, नयी दिल्ली, 1995, पृ. 72

(अनुसूचित जाति/जनजाति तथा अन्य लोगों के बीच शिक्षा स्तर में वास्तविक अंतर) : वही।

(स्मृति संबंधित नियमों का उल्लेख) : प्रभावती सिन्हा, *स्मृति पोलिटिकल एण्ड लीगल सिस्टम, ए सोशियो–इकोनॉमिक स्टडी,* पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1982, पृ. 75–76

(अनुसूचित जाति/जनजाति के छात्रों द्वारा बीच में पढ़ाई छोड़ने की दर तथा अन्य तुलनाएं) : शील सी नुना, मुचकुंद दुबे द्वारा संपादित *इंडियन सोसायटी टुडे* नामक पुस्तक में *एजुकेशन ऐण्ड सोशल डेवलपमेंट* शीर्षक अध्याय, हर आनंद पब्लिशर्स, नयी दिल्ली, 1995, पृ. 60–61

(अन्य राष्ट्रों के मुकाबले भारत में साक्षरता दर पर सेन एवं ड्रेज) : पॉयोनियर, नयी दिल्ली में उद्धृत, 19 अगस्त 1995, पृ. 12। अमर्त्य सेन एवं जीन ड्रेज की पुस्तक *'इंडिया : इकोनॉमिक डेवलपमेंट ऐण्ड सोशल अपर्चुनिटी'* भी देखें, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1995,

(अनौपचारिक शिक्षा से संबंधित आंकड़े मध्य प्रदेश और भारत) : अनीता रामपाल, *एजुकेशन फॉर आल,* पृ. 33

(सरकार द्वारा स्कूलों पर व्यय की जाने वाली 60 प्रतिशत राशि निजी संस्थाओं को तथा आर्थिक सहायता के रूप में चली जाती है) : के. सीता प्रभु और एस.चटर्जी, *सोशल सेक्टर एक्सपेंडीचर्स ऐण्ड ह्यूमन डेवलपमेंट,* रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया, बंबई, 1993, पृ. 11

(निरक्षरता और गरीबी पर जॉन के. गालब्रेथ) : ए.के. शिव कुमार द्वारा उद्धृत, *इंडियन सोसायटी* टुडे शीर्षक पुस्तक में 'इंडियाज डेवलपमेंट ऐण्ड दि वेलबीइंग ऑफ चिल्ड्रेन' पृष्ठ 290

और विनम्र ही धरती का वारिस होगा
(जबतक कोई परियोजना नहीं शुरू होती)

भारत में विस्थापन से संबंधित आकलन निम्न स्रोतों से लिये गये हैं :

वाल्टर फर्नांडीज, 'पॉवर ऐण्ड पॉवरलेसनेस : डेवलपमेंट प्रोजेक्ट्स ऐण्ड डिसप्लेसमेंट ऑफ ट्राइबल्स' *सोशल ऐक्शन,* सं. 41, जुलाई–सितंबर, नयी दिल्ली, 1991, पृ. 243–270

वाल्टर फर्नांडीज और एस. एंथोनी राज, *डेवलपमेंट डिसप्लेसमेंट ऐण्ड रिहैबीलिटेशन इन दि ट्राइबल एरियाज़ ऑफ उड़ीसा,* इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट, नयी दिल्ली, 1993, पृ. 1–36

विजय परांजपे, *इवेलुएटिंग दि टेहरी डैम : ऐन एक्सटेंडेड कास्ट–बेनिफिट प्रोपोजल,* इंडियन नेशनल ट्रस्ट फॉर आर्ट एण्ड कल्चरल हेरिटेज, नयी दिल्ली, 1988

एल.के.महापात्र, 'दि रिहैबिलिटेशन ऑफ ट्राइबल्स एफैक्टेड बाई मेजर डैम्स ऐण्ड अदर प्रोजेक्ट्स इन उड़ीसा', जो एलोसियस पी फर्नांडीज द्वारा संपादित *वर्कशॉप ऑन रिहैबिलिटेशन ऑफ पर्सन्स डिसप्लेस्ड बाई डेवलपमेंट प्रोजेक्ट्स,*

में उद्धृत है। इंस्टीट्यूट फॉर सोशल ऐण्ड इकोनॉमिक चेंज तथा 'माईराडा', बंगलोर, 1990, पृ. 85–99

एल.के.महापात्र, *ट्राइबल डेवलपमेंट इन इंडिया, मिथ ऐण्ड रियलिटी,* विकास, नयी दिल्ली, 1994

बालाजी पांडेय, इंस्टीट्यूट फार सोशियो–इकोनॉमिक डेवलपमेंट, भुवनेश्वर द्वारा जारी पर्चा 'डेवलपमेंट इंड्यूस्ड डिसप्लेसमेंट : ऐन एजेंडा फॉर दि सोशल समिट', 1995

जगन्नाथ पाथी, इंस्टीट्यूट फार सोशियो–इकोनॉमिक डेवलपमेंट, भुवनेश्वर द्वारा विकास परियोजनाओं और विस्थापित व्यक्तियों के पुनर्वास विषय पर आयोजित सेमिनार में 'डेवलपमेंट सिंड्रोम ऐण्ड डिसपजेशंस ऑफ दि डिफेंसलेस' शीर्षक पर्चा, 1994, पृ. 8–10

अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त की रिपोर्ट, 29वीं रिपोर्ट (1987–89), भारत सरकार, नयी दिल्ली

पुनर्वास के तौर तरीकों पर सरकार की स्थिति के बारे में निम्न स्रोतों से जानकारी ली गयी है :

(लगभग 75 प्रतिशत पुनर्वास की 'प्रतीक्षा में') : *नेशनल पॉलिसी फॉर रिहैबिलिटेशन ऑफ पर्सन्स डिसप्लेस्ड ऐज ए कांसीक्वेंस ऑफ एक्वीजिशन ऑफ लैंड,* ग्रामीण विकास मंत्रालय (तीसरा प्रारूप) भारत सरकार, नयी दिल्ली। मुख्य संदर्भ और उद्धरण पृ. 1–16 से

भूमि अधिग्रहण और पुनर्वास के लिए नियम बनाने के मकसद से मंत्रियों की जो समिति गठित की गयी थी उसकी सिफारिशों का प्रारूप, भारत सरकार, नयी दिल्ली, 1982

विशाल परियोजनाओं के कारण भूमि अधिग्रहण तथा विस्थापित लोगों के पुनर्वास के बारे में सरकार द्वारा जारी पत्रक, उद्योग मंत्रालय, डिपार्टमेंट ऑफ पब्लिक इंटरप्राइजेज, ब्यूरो ऑफ पब्लिक इंटरप्राइजेज, नयी दिल्ली, 1986

विश्व के पैमाने पर विस्थापन तथा सेर्निया से संबंधित उद्धरण निम्न स्रोतों से लिये गये हैं :

माइकल एम. सेर्निया, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में विकासजनित विस्थापन

एवं गरीबी पर आयोजित अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में 'अंडरस्टैडिंग ऐण्ड प्रिवेंटिंग इम्पॉवरिशमेंट फ्राम डिसप्लेसमेंट (रिफ्लेक्संस आन दि स्टेट ऑफ नॉलेज़) शीर्षक से दिया गया महत्वपूर्ण उद्घाटन भाषण, 1995, पृ. 10–15

माइकल एम. सेर्निया, पुटिंग पीपुल--फर्स्ट, वर्ल्ड बैंक पब्लिकेशंस ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, अमरीका, 1991

माइकल एम. सेर्निया, *इंटरनल रिफ्यूजीज़ ऐण्ड डेवलपमेंट काज्ड पॉपुलेशन डिसप्लेसमेंट,* वर्ल्ड बैंक डिस्कशन पेपर नं. 345, हार्वर्ड इंस्टीट्यूट फॉर इंटरनेशनल डेवलपमेंट, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी, 1991

देनदार, लेनदार और कर्ज देने वालों का गिरोह
(सूदखोरी, कर्ज और ग्रामीण भारतीय)

(घरेलू ऋण संबंधी आंकड़े) : *ऑल इंडिया डेट ऐण्ड इन्वेस्टमेंट सर्वे,* 1981–82, भारत सरकार

(समेकित ग्रामीण विकास परियोजना के कोष का दुरुपयोग) :

रिपोर्ट ऑफ दि कम्पट्रोलर ऐण्ड ऑडिटर जनरल, भारत सरकार, नयी दिल्ली, 1985, पृ. 14–18

(100 शहरों में कुल ऋण का 65 प्रतिशत) : आर.पी. गुरपुर, 'बैंकिंग ब्लूज़' *सेमिनार,* सं. 395, नयी दिल्ली, जुलाई 1992, पृ. 39–43

(समेकित ग्रामीण विकास परियोजना–बीमा संबंधी दावों की विफलता) : वी. के. रामचन्द्रन, *वेज लेबर ऐण्ड अनफ्रीडम इन एग्रीकल्चर, ऐन इंडियन केस स्टडी,* क्लेरेण्डन प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 1990, पृ. 246

(छोटे किसानों और बड़े व्यापारियों के ऋण) : लोकसभा में पूछे गये सवालों पर संबद्ध मंत्री के जवाब तथा संसद में हुई बहस में से ली गयी सामग्री, आंकड़े मार्च–1994 तक वैध। कोचीन से प्रकाशित *दि वीक* के 26 फरवरी 1995 के अंक में भी उद्धृत, पृ. 33

(कर्ज पर विधि निर्माता मनु का उद्धरण) : जार्ज बुहलर्ग, *दि लॉ ऑफ मनु,* सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, संपादक मैक्समूलर, अंक 25, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1984, पृ. 253–262 और पृ. 382

तीसरी फसल

(पानी की समस्या - वास्तविक और कृत्रिम)

(रु. 1,170 करोड़ का महाराष्ट्र का खर्च) : सरकारी आंकड़ों से परिकलित। इसमें बजट संबंधी आंकड़े तथा राजस्व, वन, वित्त विभागों के आपातकालीन खर्च भी शामिल हैं। सिंचित क्षेत्र के आंकड़े सरकार के बजट पूर्व सर्वेक्षण से लिये गये हैं।

(रु. 4,557 करोड़ उड़ीसा के सूखे के लिए) : परियोजना को कोरापुट में शुरू करते समय प्रधानमंत्री के भाषण से, अगस्त 1995। आंकड़ों को दुबारा *टाइम्स ऑफ इंडिया* में उद्धृत किया गया, 16 मार्च 1996, पृ. 8

डीपीएपी ब्लाक्स के आंकड़े आधिकारिक तथा संबद्ध विभागों से लिये गये हैं जो अपने–अपने राज्यों में कार्यरत हैं जिनकी संख्या भी दी गयी है।

बारिश से संबंधित आंकड़े कलेक्ट्रेट तथा जिला सांख्यिकी कार्यालयों से लिये गये हैं। वर्षा से संबंधित पुराने आंकड़े विभिन्न जिलों के गजेटियर से लिये गये हैं।

(कालाहांडी का बीस वर्ष की वर्षा का विश्लेषण) जगदीश प्रधान, 'ड्रॉट इन कालाहांडी : दि रियल स्टोरी', *इकोनॉमिक ऐण्ड पोलिटिकल वीकली,* बंबई, 29 मई 1993, पृ. 1084–88

महाराष्ट्र में वर्षा, गन्ना की पैदावार तथा फसल से संबंधित समस्याओं पर विचार करने के लिए देखें : डी.एन. धनाग्रे, 1992 'ड्रॉट इन महाराष्ट्र, मिसप्लेस्ड प्रायोरिटीज, मिसमैनेजमेंट ऑफ वाटर रिसोर्सेज', *इकानॉमिक ऐण्ड पोलिटिकल वीकली,* बंबई, 4 जुलाई 1992, पृ. 1421–1425।

एच.एम. देसेरदा का 'इज ओनली नेचर टु ब्लेम फॉर दिस ड्रॉट?' भी देखें, *'दि इनडिपेंडेंट',* बंबई, 9 मई 1992, पृ. 4

गरीबी, विकास और प्रेस

(भूमि वितरण संबंधी आंकड़े... 26 लाख एकड़ भूमि अभी–भी वितरित की जानी है) : आंठवी पंचवर्षीय योजना के दस्तावेज

(खाद्य विभाग के लिए नयी प्राथमिकताएं... 'पार्टीसिपेशन इन इंटरनेशनल कांफ्रेंसेज़') : आधिकारिक अधिसूचना, दस्तावेज सं. सीडी–163/95, राष्ट्रपति भवन, नयी दिल्ली, 8 मार्च 1995, पृ. 6

(गरीबी रेखा से नीचे का विशेषज्ञ समूह का 39 प्रतिशत वाला आंकड़ा) : *रिपोर्ट ऑफ दि एक्सपर्ट ग्रुप ऑन एस्टीमेशन ऑफ प्रपोर्शन ऐण्ड नम्बर ऑफ पूअर,* पर्सपेक्टिव प्लॉनिंग डिवीजन, योजना आयोग, नयी दिल्ली, जून 1993

(प्रति व्यक्ति अनाज की उपलब्धता में गिरावट) : *इकोनॉमिक सर्वे* भारत सरकार, नयी दिल्ली, 1995। और आठवीं योजना के मध्यावधि मूल्यांकन का विश्लेषण। 1994 तक के आंकड़ों का *इंडियन एक्सप्रेस* (बंबई, 21 अगस्त 1995) में भी उल्लेख है।

(पीडीएस और आरपीडीएस की अप्रासंगिकता) : के.आर. वेणुगोपाल, 'पूअर स्ट्रेटेजीज : राइजिंग फूड स्टॉक्स, बट नो न्यूट्रिशन सेक्योरिटी', *फ्रंटलाइन,* मद्रास, 28 जुलाई 1995, पृ. 98

(विश्व बैंक की परियोजनाओं में एनजीओ के शामिल होने पर विश्व बैंक की राय) : *वर्ल्ड बैंक न्यूज,* खण्ड 13, सं. 35, पेरिस, 22 सितम्बर 1994, पृ. 5

(नेपाल में एनजीओ–नागरिक अनुपात तथा धन मिलने से संबंधित आंकड़े) : चंद्राणी घोष, स्लिपिंग इन टु ऐन एड ट्रैप', *बिजनेस स्टैंडर्ड कलकत्ता,* 22 मार्च 1995, पृ. 12

(आदिवासी संगठनों द्वारा गैर सरकारी संगठनों के खिलाफ युद्ध की घोषणा): कांधमल विकास परिषद तथा आंचलिक विकास समिति नामक दो संगठनों ने 1994 के उत्तरार्द्ध में और फिर 1995 के प्रारंभ में संयुक्त रूप से इस आशय की एक घोषणा जारी की। इसके दूसरे संस्करण का शीर्षक था : 'प्रमोशन ऑफ सेक्सुअल एक्सप्लॉयटेशन, ऐण्टी सोशल ऐक्शन ऐण्ड करप्शन इन दि नेम ऑफ ए कॉमन ऐक्शन प्रोग्राम इन कांधमल।'

(रायटर के संवाददाता की पुस्तक से उद्धरण) : एस.एच.एस. मेरेवेथर, *ए टूर थ्रू द फेमिन डिस्ट्रिक्ट्स ऑफ इंडिया,* ए.डी इन्स ऐण्ड कंपनी, लंदन, 1898, पृ. 11